श्रीमत्सुरेश्वराचार्यकृता

नैष्कर्म्यसिद्धिः

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
वाराणसी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला- १५

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यकृता

नैष्कर्म्यसिद्धिः

श्रीचित्सुखाचार्यकृता

भावतत्त्वप्रकाशिका

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

के निर्देशानुसार

श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती

द्वारा सानुवाद सम्पादित

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक —
श्री दक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी. ४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०

❑

प्रथम संस्करण : भगवत्पादाब्द १२०८
वैक्रमाब्द २०५३
खैष्टाब्द १९९६
द्वितीय संस्करण : वैक्रमाब्द २०६६

❑

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

❑

मूल्य : २००.०० (रुपये दो सौ मात्र)

❑

मुद्रक —
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी ईमली, वाराणसी

भूमिका

बौद्ध धर्म के ह्रास का कारण उनके दर्शन का अन्तर्विरोध एवं उससे प्रसूत धार्मिक अराजकता थी, जिसमें नैतिकता व आध्यात्मिकता दोनों का नाश हो गया था। आचार्य कुमारिल व शंकरभगवत्पाद ने वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में इस कमी को न आने देने का अथक व प्रशंसनीय कार्य किया था। उन्हीं के प्रयास से भारत ने पुनः अपने नष्ट गौरव को प्राप्त किया था। नायनार व आलवारों ने जो ध्यान एकेश्वरवाद की ओर दिलाया था शंकर ने उसे भी पुष्ट किया एवं उसके भावनात्मक पक्ष को वेदान्त की पृष्ठभूमि भी प्रदान की। यह कार्य अद्वैत की पृष्ठभूमि पर सम्पन्न किया गया व आज १२०० वर्ष बाद भी यह नींव किसी भी विदेशी दर्शन व धर्म से हिलाई नहीं जा सकी है।

बुद्ध के जीवनकाल में ही देवदत्त आदि बौद्धों ने अनेक फिरकों की ओर बढ़ने का प्रयास किया था किन्तु बुद्ध के व्यक्तित्व के सामने वे टिक नहीं सके थे। परन्तु व्यक्ति के जाने के साथ ही वे प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। राजगृह के प्रथम सम्मेलन में **थेरवाद** ने जोर पकड़ा तो द्वितीय वैशाली सम्मेलन में पुनः विनयपिटक पर बहस छिड़ गई। स्थविरों ने विरोध करके यद्यपि पुनः थेरवाद को दृढ करने का प्रयास किया परन्तु बीच के १०० वर्षों में **महासंघियों** की संख्या काफी बढ़ चुकी थी। अब उन्होंने महासंगीति सम्मेलन करके अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम किया जिसके बारे में स्थविरों का दृष्टिकोण दीपवंश में स्पष्ट किया गया है। दीपवंश के अनुसार महासंघियों ने बुद्ध के सन्देश की आत्मा का हनन करके निकायों के सिद्धान्त व उपदेशों को नष्टप्राय करके धर्म व प्राचीन शास्त्रों को उलट दिया। बुद्धत्व के बारे में दोनों में प्रबल मतभेद था। **स्थविरवाद** के अनुसार विनय की दृढ अनुपालना से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है जो एक नवीन गुण है। महासंघियों के अनुसार प्रत्येक जीव में यह स्वभाव से है एवं उसके व्यक्तीकरण के द्वारा तथागतभाव को प्रकट किया जा सकता है। लंका का बौद्ध धर्म स्थविरों का वंशज है तो तिब्बत का महासंघियों का वंशज। द्वितीय शताब्दी ख्रीष्टाब्द में ही बौद्धों के १८ मान्य फिरके बन चुके थे एवं उनमें से प्रत्येक अपने को वास्तविक बुद्धानुयायी घोषित करते थे। अशोक ने बुद्ध के २५० वर्ष बाद हिन्दुओं के एक मतवाद

को स्वतन्त्र विश्वधर्म का रूप प्रदान करके अण्टियोकस द्वितीय के राज्य सीरिया में, टोलेमी द्वितीय के राज्य मिश्र में, एण्टिगोनस गोनाटेस के राज्य मेसिडोनिया (ग्रीस) व सिकन्दर द्वितीय के एपिरस में अपने प्रचारक भेजे थे। काबुल से गंगासागर व हिमालय से विन्ध्य तक तो उसका अपना ही राज्य था। तृतीय शताब्दी में कश्मीर व लंका में प्रविष्ट होकर नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान, मंगोल आदि में बुद्ध धर्म का शनैःशनैः फैलाव हुआ। परन्तु इसी फैलाव ने फिरकों को प्रश्रय देकर बौद्ध धर्म की नींव को कमजोर कर दिया। नये बौद्ध बुद्ध की थाती से परिचित नहीं थे। बौद्ध धर्म की स्वीकृति उनकी अपनी परम्पराओं की मान्यता के आधार पर ही हो सकती थी। अतः यह प्रत्येक देश में अलग-अलग रूपों को धारण करता गया। बुद्ध के व्यक्तित्व को अन्धविश्वास व जादूगरी से ढाँक दिया गया।

आचार्य शंकर ने इन सब चीजों को भली प्रकार समझा था, व सनातन धर्म के पुनरुद्धार में उन्होंने यथासंभव इनसे बचने का प्रयास किया। बुद्ध ने अपने दार्शनिक आधार को सुस्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया था। जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर ही उन्होंने अपना ध्यान केन्द्रित किया था। अतः उनके जाने के बाद "आत्मदीपो भव" का उनका सन्देश फिरके बनाने में उपयुक्त हुआ। बुद्ध की मान्यता थी कि दार्शनिक विवादों में पड़कर साधक साधना को गौण कर देता है। पर उनकी दृष्टि इस बात पर नहीं गई कि उनके अभाव में प्रत्येक विनय किसी दार्शनिक दृष्टि से ही संगत किया जा सकता है, एवं दार्शनिक भेद अन्ततोगत्वा व्यवहारभेद में प्रतिफलित होकर विनय को भ्रष्ट कर देगा। शंकर भगवत्पाद ने इसीलिये अपने दार्शनिक पक्ष को सर्वथा सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया एवं विनय को उसी के आधार पर प्रतिष्ठित किया। अपने व्यक्तित्व को उन्होंने सर्वथा गौण रखकर बुद्ध के व्यक्तित्व की जगह अद्वैत दर्शन के व्यक्तित्व को उजागर किया। आज बारह शताब्दी के बाद भी शंकर के विचारों को समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती, जबकि बुद्ध के साक्षात् अनुयायियों के जाने के बाद १०० वर्षों में ही बुद्ध के विचार धूमिल हो उठे थे। न केवल स्वयं, वरन् अपने शिष्यों को भी उन्होंने इसी प्रकार दार्शनिक पक्ष को सुस्पष्ट करने का आदेश दिया। इसी प्रवाह में उनके प्रधान शिष्यों ने ग्रन्थरचना की। सुरेश्वराचार्य उनके प्रधान शिष्यों में अन्यतम थे। उनके द्वारा अपने विशालतम उपनिषद्भाष्य पर विस्तृत विचार बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक के द्वारा करवाया तो दूसरे शिष्य पद्मपाद के द्वारा ब्रह्मसूत्र की टीका लिखवाई। यह पद्धति आज तक चल रही है। वेदान्तानुयायी सभी विषयों पर दर्शन की भित्ति को अक्षुण्ण रख कर ही विचार करता है। आज के वैज्ञानिक विचार के युग

में इसी वजह से उसे सर्वत्र सफलता मिलती है। वह विज्ञान के अनुरूप वेदान्त को नहीं, वरन् अपने वेदान्त के अनुरूप विज्ञान को ढालने में समर्थ है।

दार्शनिक पक्ष सरल रूप से समझाने के लिये स्वयं श्री शंकर ने अनेक सरल प्रकरण ग्रन्थों की रचना की, एवं उनके शिष्य प्रशिष्य भी इस विधा का अवलम्बन करते रहे। उपदेशसाहस्री उनके ऐसे ग्रन्थों में श्रेष्ठ है। सुरेश्वराचार्य को भी उन्होंने सर्वप्रथम ऐसा प्रकरण ग्रन्थ लिखने में प्रवृत्त किया। कहा जाता है कि सुरेश्वराचार्य अपने पूर्वाश्रम में विशिष्ट मीमांसक थे। अतः कई लोग उनके परिवर्त्तन को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। ऐसे लोगों का संदेह निवारण करने के लिये उन्हें प्रवृत्त किया गया। उन्होंने अपने ग्रन्थ का नामकरण **नैष्कर्म्यसिद्धि** करके अपनी पूर्व मान्यताओं का समापन द्योतित किया। ग्रन्थ में प्रधानतः पूर्वमीमांसा का ही खण्डन परिलक्षित होता है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में सांख्य ही प्रधानमल्ल है। इस ग्रन्थ में सांख्य को प्रधानमल्ल न मानकर कर्मकाण्ड को ही प्रधानमल्ल माना गया है। परन्तु वेदान्तदर्शन का अत्युत्तम प्रक्रियाग्रन्थ भी इसे मानना पड़ता है। **उपदेशसाहस्री, नैष्कर्म्यसिद्धि** व **संक्षेपशारीरक** का त्रैत अत्यन्त प्रसिद्ध है। गुरु की प्रेरणा से ग्रन्थ लिखा गया है इस बात को ग्रन्थ में स्पष्टतः 'वक्ष्ये गुर्वनुशिक्षया' से बताया है। ग्रन्थ के द्वारा उसमें प्रतिपादित ज्ञान सम्यक् है या नहीं इसकी परीक्षा ब्रह्मवेत्ता कर सकते हैं 'स्वबोधपरिशुद्ध्यर्थं ब्रह्मविन्निकषाश्मसु।' 'मा भूदत्र विरोधिनी मतिरतः सद्भिः परीक्ष्यं बुधैः' में सूक्ष्म संकेत है कि उनके बारे में लोगों में विरोधी भाव था। अतः 'संसेव्य लब्ध्वा' से स्पष्ट किया कि गुरुचरणों की सेवा के पूर्व सभी को अज्ञान रहता है, अतः सभी को ज्ञान के पश्चात् ही परखा जाना चाहिये।

इन्हीं सब बातों को शंकरदिग्विजयों में साहित्यिक विधा से उपस्थापित किया गया है। सुरेश्वराचार्य के समय तक गौडपंचक व द्राविडपंचक ब्राह्मणों का भेद सुनिश्चित हो चुका था। स्कन्दपुराण में 'कर्णाटाश्चैव तैलङ्गा गुर्जरा राष्ट्रवासिनः। आन्ध्राश्च द्राविडाः पञ्च विन्ध्यदक्षिणवासिनः॥' कहकर तामिलनाडु, जिसका अंग वर्तमान केरल भी था, आन्ध्र, गुजरात, मराठी व त्रिलिंग या तेलंगाना के ब्राह्मणों को पंचद्राविडों के अन्तर्भूत किया है। चित्सुखाचार्य के समय केरल देश प्रसिद्ध था अतः उन्होंने स्पष्टतः 'केरलानामपि द्रविडत्वप्रसिद्धेः' कहा है। प्रकाशित चन्द्रिका टीका में 'केवलानामपि द्रविडत्वप्रसिद्धेः' मिलता है जो सम्भवतः लिपिकार की अशुद्धि है। विल्सन के विष्णुपुराण खण्ड २ पृष्ठ १६५ में भी इसी भ्रम से केवल व केरल को पाठभेद मान लिया है। 'सारस्वताः कान्यकुब्जाः गौडा उत्कलमैथिलाः। गौडा पञ्च समाख्याता

विन्ध्यस्योत्तरवासिनः।।' से पंचगौडों को निर्दिष्ट किया गया है। इनमें से प्रत्येक गौड होने से केवल बंगाली ही गौड कहे जावें यह नियम नहीं बनता। प्रसिद्ध गौड ब्राह्मण भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा व पूर्व राजस्थान में ही पाये जाते हैं। बद्रीनारायण के आगे गौडपादशिला आज भी मिलती है जहाँ कारिका का प्रणयन किया गया। सुरेश्वराचार्य ने दशविध ब्राह्मणों की परम्परा अद्वैतपरक है यह सर्वविप्रसमन्वय के मार्ग से कहा है। विशेषत: वे स्वयं गौड व उनके गुरु द्रविड थे। परवर्त्ती काल में वैष्णवों के सभी आलवार, रामानुज, मध्व व अन्य आचार्य द्रविड ही थे एवं उनके अनुयायी भी गौडों में नहीं हो पाये। अत: सर्वविप्रस्वीकृत तो केवलाद्वैतवाद आज भी है। इस भेद का बीज ही माधव आदि ने अपने दिग्विजयों में काव्यात्मक रूपक से प्रतिपादित किया है। पद्मपाद द्रविड थे व सुरेश्वर गौड। किसी किसी ने तो अद्वैत को गौडादि-गौडान्त दर्शन कहा है क्योंकि गौडपाद से गौड ब्रह्मानन्द तक अद्वैत है। दूसरों ने द्रविडाचार्य से शङ्कर पर्यन्त औपनिषद मत को द्रविडादि-द्रविडान्त सिद्धान्त भी कहा है। द्रविडान्त से कुछ लोग सूत्रभाष्यवार्तिककार अभिनव द्राविडाचार्य बालकृष्णानन्द सरस्वती का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यही एकमात्र सार्वभौम सिद्धान्त कहा जा सकता है। द्रविड़ों से सुरेश्वर को धोखा अवश्य मिला था क्योंकि अस्थिरता में उन्होंने "द्रविडेष्विवसंगतम्" (३.९३) द्रविडों की मित्रता को दृष्टान्त बनाया है। यह रोष बृहदारण्यक वार्त्तिक में शान्त हो गया था। अत: वहाँ इसी श्लोक की 'पण्यस्त्रीगमनं यथा' वेश्या के प्रेम के दृष्टान्त से पूर्ण किया है। उत्तमों का क्रोध जल की लकीर की तरह होता है, न कि मूर्खों के क्रोध की तरह पत्थर की लकीर।

नैष्कर्म्यसिद्धि पर सर्वप्रथम स्वयं सुरेश्वर ने सम्बन्धोक्ति लिखी। यद्यपि 'प्रतिश्लोकं उदाहृता' कहा है फिर भी इसे प्रायोवाद ही मानना चाहिये क्योंकि अनेक श्लोकों में उसका अभाव है। वर्त्तमान टीका **भावतत्त्वप्रकाशिका** वादप्रस्थान के अप्रतिम प्रतिभाधनी आचार्य **चित्सुख** की रचना है। इत: पूर्व छपी हुई **ज्ञानोत्तम** की **चन्द्रिका** का मूल यही है, यद्यपि वह इसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत व सरल है। वेदान्तदेशिका ने अपनी सर्वार्थसिद्धि (पृ. ३१३.१५) में चित्सुख को विषय बनाया है अत: १३५० ख्रीष्टाब्द से पूर्व चित्सुख वेदान्त के प्रामाणिक विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे यह निश्चित है। पंजाब में अमृतसर के वासी वसिष्ठगोत्रोत्पन्न श्रीजस्पति के पौत्र तथा वजीरचन्द्र के पुत्र **रामदत्त** ने **सारार्थ** नामक विस्तृत टीका लिखी है। प्राध्यापक हिरयण्णा को यह मैसूर के धर्माधिकारी वेंकटाचलशास्त्री से उपलब्ध हुई थी। यह अतिविस्तृत व्याख्या है। उत्तमामृत के शिष्य **ज्ञानामृत** की **विद्यासुरभि** भी विस्तृत

व्याख्या है, पर उतनी उपादेय नहीं है। दशरथप्रिय के शिष्य **अखिलात्मा** का **विवरण** भी संक्षिप्त, पर स्थलविशेषों में विशेष प्रकाश डालने वाला व्याख्यान है। कर्नल जैकब व हिरयण्णा का चन्द्रिका संस्करण ही अभी तक मुद्रित हुआ है। श्रीरामकृष्ण मिशन ने इसका आंग्लानुवाद तथा भार्गव पुस्तकालय ने हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसका अनुवाद हुआ है।

४२३ श्लोकों के अत्यल्प कलेवर में समग्रवेदान्त को प्रकट करना इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। इसके ३६ श्लोक बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक में भी हैं। प्राय: १८ श्लोक उपदेशसाहस्री में से उद्धृत हैं। जिनमें सर्वाधिक १३ तो अठारहवें प्रकरण से लिये गये हैं। ब्रह्मसूत्र व कारिका से प्रारब्ध चतुरध्यायी परम्परा यहाँ भी निभाई गई है। ग्रन्थ को स्वयं ग्रन्थकार 'अशेष-वेदान्त-सार-संग्रह-प्रकरण' (पृ. ८) कहते हैं। किसी भी दर्शन में बृहत्तम रचना करने वाले बारह हजार श्लोकों के बृहदारण्यक-भाष्यवार्तिककार का यह ग्रन्थ संग्रह रूप होने पर भी सिद्धान्त को गागर में सागर की तरह भर देता है। शैली रुचिकर है एवं युक्ति से भरी हुई है। स्पष्टार्थता के लिये न उपनिषदों में पुनरावृत्ति के प्रति रुचि का अभाव है, न गौडपाद, शंकर व सुरेश्वर में। वे स्वयं कहते हैं 'पुनरुच्यते' (पृ. २६६)। अनुवादक ने इस पर लघुचंद्रिका उद्धृत कर इसकी आवश्यकता को स्फुट किया है। संस्कृत उनकी सहज मातृभाषा होने से वे प्रचलित भाषा का प्रयोग अधिक करते हैं। अत: पाणिनि के विरुद्ध अनेक प्रयोग उन लोगों को खटक सकते हैं जो केवल व्याकरण के बल पर संस्कृत को जानते हैं। पर यह उनके भाषाधिकार का द्योतन करता है। नियम है कि जो भाषा पर अधिकार रखते हैं वे व्याकरण के गुलाम नहीं रहते। उनके **मानसोल्लास** का प्रथम संस्करण निकालने पर काशी के एक विद्वान् ने उसमें व्याकरण की भूलें निकालीं क्योंकि उन्होंने सोचा यह किसी आधुनिक की रचना है। पर लेखक का नाम पता लगते ही वे अत्यधिक शर्मिन्दा हो गये।

चित्सुखाचार्य के विषय में तो सभी वेदान्तरसिक जानते हैं। वे श्रीदक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय के परमहंस थे अत: अपने ग्रन्थों में दक्षिणामूर्ति स्मरणरूप मंगल अवश्य करते हैं। 'ज्योतिर्यद्दक्षिणामूर्ति.' यहाँ की तरह तत्त्वप्रदीपिका, भाष्यभावप्रकाशिका आदि सभी में मिलता है। इनकी टीकाओं के नामों में दीप, प्रकाश आदि शब्द मिलते ही हैं। यहाँ भी **भावतत्त्वप्रकाशिका** नाम दिया गया है। यह ग्रन्थव्याख्या भाष्यभावप्रकाशिका शैली की है। नव्यन्याय की शब्दावली का इसमें अतिन्यून प्रयोग है। परन्तु ग्रन्थ को स्पष्ट करना और वह भी अत्यल्प शब्दों में, इसकी विशेषता है। ग्रन्थ सम्प्रदायानुसार व्याख्यात है 'पूर्वाचार्यवचानुगा' (पृ. २)। अत: सारावली में उक्त प्रकार सरल होने पर

भी अन्त:करण में आभासोदय के द्वारा आभासवाद स्वीकार करना ही उचित है। 'अन्त:करणाभासोदयात् स्फुटतरव्यवहारयोग्यत्वे सति' (पृ. १२)।

स्वामी प्रज्ञानानन्द वेदान्त के मनन करनेवाले विद्वान् हैं। आपने प्रसिद्ध स. सुब्रह्मण्यशास्त्री पंडितराजजी से वेदान्त के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया व इस ग्रन्थ के अनुवाद में भी शास्त्री जी का सहयोग रहा। यह उन्होंने पी-एच.डी. के लिए चुना था। अनुवाद व टिप्पणी में चन्द्रिका के पाठ भी देकर अस्पष्ट स्थलों को स्पष्ट किया है। कई स्थल सामान्य वेदान्तविद्यार्थी भी समझ सके इस प्रकार लिखे गये हैं। स्वामी सच्चिदानन्द के विचार सम्प्रदायविरुद्ध जहाँ हैं वहाँ उनका युक्तिपूर्ण खण्डन भी किया है। पृ. ८ में अज्ञान की भावरूपता का जो निषेध सच्चिदानन्देन्द्रजी ने किया है उसका समुचित उत्तर दिया है। अज्ञान को अनर्थ का कारण भी मानना, उसका उच्छेद भी मानना (क्लेशापहारिणी पृ. ९) व फिर भी उसे अभाव मानना कैसे संगत हो सकता है!

यदि मीमांसा स्वर्ग को ही कर्म का फल मानती तो वेदान्त के साथ उसका विरोध भी न होता और उभय मीमांसा की एकशास्त्रता भी किसी प्रकार बन जाती, यद्यपि अधिकारी, विषय, प्रयोजन व फल चारों का भेद होने से कल्पना में क्लिष्टता तो होती ही। परन्तु योगसूत्र में सिद्धियों की स्थिति की तरह इसे कर भी सकते थे। परन्तु मीमांसा कर्म से मोक्ष स्वीकारती है। काम्य कर्मों के न करने से स्वर्ग आदि पारलौकिक सुख के लिये जन्म न होगा और प्रतिषिद्ध का त्याग करने से नरक आदि दु:खों के भोगों के लिए भी जन्म न होगा। नित्य, नैमित्तिक कर्मों को यथावत् करने से प्रत्यवाय भी न होगा। इस प्रकार जन्ममृत्यु का निरोध हो जाना रूप मोक्ष प्राप्त हो जायगा। सुरेश्वर इस मत का ऊहापोह से खण्डन करते हैं। जन्ममृत्यु प्रवाह का कारण तो वे भी कर्म को मानते हैं, परन्तु कर्म के कारणों पर विस्तृत विचार करते हैं। मीमांसा कर्म-प्रवृत्ति का कारण जीव का स्वातन्त्र्य मानती है। सुरेश्वर बताते हैं कि यह स्वातन्त्र्य व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं क्योंकि जीव की वास्तविकता तो शुद्ध शिव है और कर्त्ता अविद्या से बुद्धि, इन्द्रिय व देह को अपने से एक अनुभव करने वाला है। इस प्रकार का स्वातन्त्र्य अन्त:करण व उसकी वासनाओं से अभिन्न होने पर ही है। यह अविद्या-प्रसूत अभेद न मिटने पर कर्म से बचा नहीं जा सकता एवं इस अविद्या की निवृत्ति होकर शिवरूप होने पर उस रूप में कभी वास्तविक कर्तृता नहीं रह सकती। इस शिवात्म-ज्ञान से ही कर्त्तारूप का बाध होकर संचित कर्म समाप्त हो सकते हैं। नित्य कर्म भी कर्म होने से अविद्या काल में ही संभव है। किं च कर्म में श्रद्धा वाला ही अधिकारी होता है, अत:

अपने देह, बुद्धि आदि रूप से विवेक होने के बाद इनसे भेद का अनुभव न होने पर भी, अभेद में श्रद्धा नहीं रह जाती। अत: नित्य कर्म भी व्यर्थ हो जाते है। तब निवृत्ति व श्रवण आदि जो शिव का निश्चय कराने वाले हैं वे ही कर्त्तव्य होने से विविदिषा संन्यास की सिद्धि हो जाती है। नैष्कर्म्य व संन्यास तो एक ही अवस्था के द्योतक हैं।

बृहदारण्यक भाष्य में शंकर स्पष्ट करते हैं कि देहभिन्न आत्मा या परलोकगामी आत्मा प्रत्यक्ष व अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता, उनसे संभावित मात्र हो सकता है। शास्त्र ही इसमें एकमात्र प्रमाण है। अत: आत्मा के स्वरूप का निश्चय शास्त्र से ही संभव है एवं वह इसे अकर्ता, अभोक्ता, व्यापक आदि बताता है। अज्ञान से होने वाले अध्यास से अहंकार का कर्तृत्व आत्मा में अभिन्न रूप से प्रतीत होता है एवं कर्मकाण्ड उसी का अनुवाद करके कर्म का विधान करता है। अत: जैमिनि ने आत्मा का विचार नहीं किया। आज भी अधिकतर लोगों की जिज्ञासा होती है कि हम क्या करें? बहुत कम ही जिज्ञासा करते हैं कि हम कौन हैं? अत: जितना लोग आत्मज्ञान के फल के बारे में जानना चाहते हैं, आत्मज्ञान के बाद जगत्प्रतीति का क्या स्वरूप है इसको जानना चाहते हैं, उतना आत्मस्वरूप को नहीं। इसीलिए प्रभाकर आदि का कथन है कि क्रियान्वित वाक्य या पदार्थ का ज्ञान ही संभव है एवं आत्मा तथा ब्रह्म की एकता का 'ध्यान करो' इस क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर ही श्रुति का अर्थ बनेगा। वेदान्त शुद्ध पदार्थ या वाक्यार्थ का ज्ञान भी शब्द से संभव बताता है। चूँकि यह इस ज्ञान को स्वीकारता है अत: वह वेदान्त के निकटवर्ती माना गया है। वाक्य से अकर्तृत्वात्मता का ज्ञान होने पर फिर कर्माधिकार जों कर्तृत्वाभिमान प्रयुक्त था, रह ही कैसे सकता है— इस विषय में ब्रह्मदत्त वा मण्डन का मत भी (१.६७) समीक्षित है। यह मत सम्बन्ध-वार्तिक में विशेष विवेचित है। पृ. ३७८ में टिप्पणीकार ने जिस पाठ का मूल में संकेत दिया है वह कहाँ मुद्रित है यह अन्वेषणीय है। ४.२४ के अनुवाद में अनुवादक ने सच्चिदानन्देन्द्र जी का उपयुक्त निराकरण किया है। शंकरप्रक्रिया की उद्घोषणा शंकर के ग्रन्थ का पूर्वापरालोचन के बिना किया गया है यह यहाँ स्पष्ट हो जाता है। ४.४१ में भी भावरूप अविद्या है, अभावरूप नहीं इस मूलाविद्यानिरासकार के मत का सुन्दर निराकरण है। अन्यत्र सुरेश्वर ने 'अविद्या प्रथते मौली व्यक्ताव्यक्तात्मनाखिलम्' (बृ.वा. १.२.१३६) कहकर स्पष्ट मूलाविद्या को कहा है। सत्सम्प्रदाय में सदेवेति वाक्य से स्फुटतरा प्रमा स्वीकारी है (४.३३)। अत: ज्ञानोत्तर स्वरूपस्थिति ही रहती है। निवृत्ति आत्मा का स्वरूप है अत: वही प्रकट होती है। (४.६१) नाम आदि सनत्कुमारप्रतिपादित एवं अन्नमयादि वरुणप्रतिपादित उपाधियों को छोड़ने पर भी

महावाक्य ज्ञानोत्पत्ति न कर सकें तो उन्हें व्यर्थ ही मानना पड़ेगा। (३.१२२) अभाव का विस्तृत विचार आनन्दगिरि व चित्सुख के प्रकाश में अनुवादक स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती जी का इस ग्रन्थ में विशेष उपादेय स्थल है (२.११४) क्योंकि किसी भी अन्य टीका में इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। इसी प्रकार २.११७ में विद्वान् अनुवादक ने गुरुशिष्य इत्यादि को प्रातिभासिक मानना सुरेश्वर प्रस्थानानुकूल नहीं है यह हृद्यप्रकारेण प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार २.१०८ में साक्षी का विस्तृत विवेचन है जो एकत्र प्राप्त होना कठिन है। इसी प्रकार २.९० में सच्चिदानन्द जी के व्याख्यान में अनुवादक ने चन्द्रिका व्याख्यान में प्रदर्शित दूषण का सदुद्धार कर सम्प्रदायसिद्ध अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार २.८५ के "तार्किकश्वभि:" को युक्तिभक्ति में लगाकर मनोहर अर्थ कर दिया है। २.८० का अर्थ—दण्ड से युक्त दण्डी को दण्ड द्वारा ही जानता है। इसी प्रकार सुख से युक्त बुद्धि को उससे वियुक्त होकर ही साक्षी जानता है तथा सुख के द्वारा प्रतिबिम्ब को सुखी भी जानता है—अधिक संभव है। २.६९ में सांख्य व बौद्ध से भेद भी अत्यन्त सुन्दर रूप से अनुवाद में उपस्थापित किया गया है। यहाँ सच्चिदानन्दजी ने भी विश्लेषण किया है एवं प्रज्ञानानन्द जी उनसे उपकृत भी हैं। २.६० में तर्क को अप्रतिष्ठित करके भी अनुभवशरणतारूपी युक्ति से भी वेदान्त की सिद्धि सिद्धिकार ने की है यह अनुवाद में स्पष्ट किया है।

इस प्रकार अनुवादक विद्वान् ने न केवल ग्रन्थ को सर्वसुलभ भाषा में उपस्थित किया है वरन् अनेक स्थलों पर अपनी बोधचन्द्रिका के प्रकाश से दीप्त भी किया है। वेदान्त में वे इस प्रकार अन्य ग्रन्थों पर भी विचार करके जनसामान्य का उपकार करेंगे ऐसी आशा है। हमारे वे अपने प्रिय हैं अत: उनकी सर्वविध स्वस्थता व उन्नति के लिए भगवान् दक्षिणामूर्ति से प्रार्थना ही कर सकते हैं।

ग्रन्थ के सुन्दर व शीघ्र प्रकाशन के लिये डिवाइन प्रिण्टर्स के कार्यकर्ताओं को आशीर्वाद है। विशेष, मद्रास विश्वविद्यालय से चित्सुखाचार्य की टीका की मातृका का भाचित्र प्राप्त हुआ जिसके लिए दक्षिणामूर्ति मठ उनका अधमर्ण है।

धनुसंक्रान्ति २०५२
श्रीदक्षिणामूर्त्ति मठ

भगवत्पादीयो
महेशानन्द गिरिः

द्वितीय संस्करण का वक्तव्य

आचार्य श्रीसुरेश्वर की स्वतन्त्र रचना नैष्कर्म्यसिद्धि अद्वैत जगत् में अत्यन्त प्रतिष्ठित आकर ग्रन्थ रहा है। अनेक टीकाओं से मण्डित यह प्रकरण आचार्य चित्सुखमुनिकी प्रथम बार मुद्रित भावतत्त्वप्रकाशिका व्याख्या सहित तेरह वर्ष पूर्व श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित किया गया था। साथ ही उसमें विस्तृत हिन्दी व्याख्यान भी था। यों दो टीकाओं से युक्त वह संस्करण अतिशीघ्र समाप्त हो गया। नये संस्करण की आवश्यकता होने पर यह निर्णय किया गया कि संस्कृत टीका में हस्तलेख की कमियों के कारण आयी दुरूहता को चन्द्रिका टीका की सहायता से यथासम्भव दूर किया जाये। चन्द्रिका पूर्णत: भावतत्त्वप्रकाशिका पर आधारित है यह स्पष्ट ही है अत: यह प्रयास समुचित है, फिर भी यदि भावतत्त्वप्रकाशिका के अन्य हस्तलेख मिलें तो पाठ में साधिकार परिवर्तन सम्भव होगा। सम्पादक श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती जी ने इस संस्करण के लिये भी सम्पूर्ण योगदान दिया है जिसके लिये संस्था आभारी है।

'श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन' संस्था के संस्थापक श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर १०८ **श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज** सं. २०६५ कार्तिक वदि २ को ब्रह्मलीन हो गये, किन्तु उनकी असीम कृपा से आचार्य महामण्डलेश्वर १०८ श्री स्वामी पुण्यानन्द गिरि जी महाराज की अध्यक्षता में संस्था यथापूर्व कार्यरत है एवं शांकर साहित्य के प्रकाशन में संलग्न बनी रहेगी।

प्रकाशक

प्राक्कथन

ज्योतिर्यद्दक्षिणामूर्तिव्यासशङ्करशब्दितम् ।
अखण्डानन्दं तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम् ॥

प्राय: मनुष्य अपनी उन्नति के लिये पुरुषार्थत्रय की प्राप्ति में तत्पर रहने पर भी कोई कोई संसारानल संतप्त मुमुक्षु सर्वोत्कृष्ट मोक्षस्वरूप परमपुरुषार्थ की ओर अग्रसर होते हैं। वह मोक्ष वेदान्तोक्त ब्रह्मविज्ञान द्वारा ही प्राप्त होता है ऐसा श्रुति, युक्ति एवं विद्वानों के अनुभव द्वारा प्रतिपादित हुआ है। अनादिकाल से माया-मोहग्रस्त जीव कदाचित् एक बार महावाक्य के श्रवण से ही मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये आचार्यों ने वेदान्त-विचारात्मक अनेक ग्रन्थ निर्माण किये हैं। क्योंकि भगवान सूत्रकार ने भी कहा—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र.सू. ४.१.१) जैसे कि छान्दोग्योपनिषद के षष्ठ प्रपाठक में वेदान्ततत्त्वविज्ञान के लिये श्वेतकेतुको नौ बार 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार मेरे जैसे मन्दाधिकारियों के लिये नौ बार भी कम ही है। सुतरां बारम्बार वेदान्त विचार की सुविधा प्रदान करने के लिये आचार्यों का प्रयास परम अनुकम्पा का ही निदर्शन है। इसी प्रकार बहुग्रन्थ रहते हुए भी अपने ज्ञान की पुष्टि के लिये या जिज्ञासुओं के उपकारार्थ श्रीसुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि की रचना की तथा साधारण बुद्धिवालों के उपकारार्थ श्रीचित्सुखाचार्य जी ने इसके ऊपर 'भावतत्त्वप्रकाशिका' नामक संस्कृत भाषा में एक टीका की वह टीका अब तक अप्रकाशित थी। प.पू. निरञ्जनपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर **अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि महाराज जी** की अनुकम्पा तथा प्रेरणा से वह अब विद्वानों के हाथों में आ रही है।

नैष्कर्म्यसिद्धि यह नाम भी अपने में अत्यन्त वैशिष्ट्य रखता है। इस नाम में दो शब्द है—पहला नैष्कर्म्य, दूसरा सिद्धि। निष्कर्म का भाव नैष्कर्म्य ऐसी व्युत्पत्ति करने पर प्रश्न होगा निष्कर्म किसे कहते हैं? जिससे कर्म निर्गत हो गये या कर्म हैं ही नहीं अथवा जहाँ कर्म न हो। यहाँ प्रथम पक्ष में पुन: प्रश्न होता है कि कर्मों का निर्गमन किसे कहते हैं। क्या आत्मा में अध्यारोपित कर्म नहीं है, या आत्मा कर्म-साध्य नहीं अथवा अध्यारोपित कर्म रहने पर भी कर्मों की पारमार्थिकता नहीं। यहाँ पर द्वितीय पक्ष 'कर्म

है ही नहीं', यह नहीं कह सकते, क्योंकि कर्मों के अनुभूत होने के कारण सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। निर्गमन से कर्मों के अध्यारोप का अभाव—यह प्रथम पक्ष युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा ही निखिल प्रपञ्च का अधिष्ठान होने के कारण कर्म का भी अधिकरण आत्मा ही है। सुतरां अध्यारोपित कर्म आत्मा में है नहीं—यह कहना युक्तिविरुद्ध ही है। अन्य जो पक्ष कहे गये हैं, उनमें कोई भी पक्ष ग्रहण करने पर आत्मा या ब्रह्म ही नैष्कर्म्य शब्द से गृहीत होता है। उसकी सिद्धि अर्थात् निश्चय ही नैष्कर्म्य-सिद्धि का शब्दार्थ है।

श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान् ने कहा है—'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति'। यहाँ भाष्यादि विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'नैष्कर्म्यसिद्धि' निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षण ब्रह्म का निश्चय या प्राप्ति ही आचार्यों का अभिप्राय है। सुतरां इस भाव को लेकर ही ग्रन्थकार ने इस प्रकरण की रचना की है। प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय भी वही है, क्योंकि अज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मों का कारण है। और वेदान्त प्रमाण से उत्पन्न निष्कर्मात्मस्वरूपज्ञान से ही उसका निराकरण सम्भव है। इसीलिये आचार्य भी कहते हैं—

'वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञानाऽऽशुशुक्षणि: ।
दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माप्रतिकूलत:' ॥१-८॥

वस्तुत: अध्यारोपित वस्तु की अधिष्ठान सत्ता से अतिरिक्त सत्ता होती ही नहीं। नैष्कर्म्यसिद्धि में भी वही आत्मतत्त्व ही विशेष रूप से निरूपित हुआ है। यहाँ प्रथम प्रकरण में बताया गया—सकल अनर्थ के कारण अविद्या ब्रह्मविद्या के द्वारा ही दूरीभूत होती है। इसलिये केवल कर्म से या ज्ञानकर्म-समुच्चय से मुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कर्म अविद्या से उत्पन्न होने के कारण अविद्या का विनाशक नहीं बन सकता। परन्तु आरादुपकारकत्वेन कर्म को भी मुक्ति का हेतु माना जा सकता है। अर्थात् कर्म से अन्त:करण की शुद्धि तथा वैराग्य की प्राप्ति होने पर ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। परन्तु ज्ञान किसी कर्म का फल नहीं है, यह होने के कारण अप्रमेय स्वत:सिद्ध आत्मस्वरूप है। इसलिये ज्ञान से ही मुक्ति है, कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती। इस अध्याय को मोक्षनिरूपणात्मक अध्याय भी कहा जा सकता है।

द्वितीय अध्याय में तत्त्वमसि महावाक्य के 'त्वं' पदार्थ का विवेचन किया गया है। एकात्मविज्ञान के प्रतिबन्धक-अपनोदन करने के लिये ही इस अध्याय का अवतरण हुआ है। शरीर-इन्द्रिय आदि का अनात्मत्व प्रदर्शनपूर्वक संसार से वैराग्य, मुक्ति की इच्छा, गुरु-समीप गमन, महावाक्य श्रवण एवं अन्वयव्यतिरेकजन्य पद-पदार्थ के

ज्ञानलाभ की प्रक्रिया बताई गई है। त्वं-पदार्थ का सम्यग्ज्ञान तथा अनात्म पदार्थों की निवृत्ति ही प्रयोजन है। आत्मा प्रत्येक कार्य का स्वत:सिद्ध साक्षी है। अहंकार से आत्मा का ही बन्धन होता है एवं श्रुति के उपदेश से वह मुक्त हो जाता है। किन्तु परमार्थत: आत्मा बन्धन एवं मुक्ति से भिन्न है।

तृतीय अध्याय में महावाक्य की व्याख्या अच्छी तरह की गयी है। क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के विचार से ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार बोध होता है, जिससे अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान को अनिर्वचनीय भावरूप बताया गया है। घटाकाश एवं महाकाश की तरह तत्त्वमस्यादि महावाक्य का अखण्डार्थ सिद्ध होता है। 'तत्' एवं 'त्वम्' पदार्थ का वाक्यार्थ ग्राह्य नहीं है। इसलिये यहाँ पर लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध माना गया। सर्प बाधित होने पर जैसे रस्सी दिखाई पड़ती है उसी प्रकार अहंकारादि के बाधित होने पर वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस अध्याय में प्रसंख्यानवाद का भी निराकरण किया गया। 'त्वं' पदार्थ के लिये भी श्रवण विधि स्वीकार की गयी है, अतएव तदङ्गरूप सर्वकर्मसंन्यास विधानपूर्वक परमहंसीय आचरण को भी शास्त्रीय ही बताया गया है।

चतुर्थ अध्याय में सम्पूर्ण प्रकरण का संक्षेप से निरूपण किया गया है। इस अध्याय में आत्मा एवं अनात्मा का विवेक सम्यक् उक्त हुआ है। लोक में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा एवं अनात्मा का विवेक होने पर भी अनात्म वस्तुओं की सिद्धि आत्मा की सिद्धि के बिना हो नहीं सकती। जैसे सर्पज्ञान दूर होने पर भी कुछ देर तक कम्पन रहता है उसी प्रकार ज्ञान होने पर भी व्यवहार रहता है। इसी प्रकार सद्योमुक्ति एवं जीवन्मुक्ति का निरूपण है। ज्ञानी के लिये निन्दित आचार का भी निषेध किया गया है। तथा उपसंहार करते हुए कहा गया कि ग्रन्थ गुरु-सम्प्रदाय के अनुसार है, एवं सज्जनों से यह परीक्षणीय भी है। अन्त में भी गुरुप्रणतिपूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति की गई है।

यहाँ पर अज्ञान को अनाद्यनिर्वचनीय भावरूप तथा स्वत:सिद्ध बताया गया, क्योंकि प्रमाण से निवृत्त होने वाली वस्तुओं का प्रमाण से उपपन्न होना सम्भव नहीं। सम्भवत: तृतीय अध्याय के सप्तम श्लोक की उत्थानिका में आचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में न्यायमत अवलम्बन करके 'अज्ञानं हि नाम ज्ञानाभाव.....' इत्यादि जो कहा, उससे इस ग्रन्थ के अन्यतम टीकाकार स्वामी श्रीसच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती जी को भ्रम हुआ होगा जिससे उन्होंने अपनी टीका में अज्ञान को अभावरूप सिद्ध करने के लिये व्यर्थ प्रयास किये हैं। किन्तु उत्तर श्लोक में ही आचार्य अज्ञान की भावरूपता-प्रतिपादन करते हैं—

'एकेनैव सता संश्च सन्नज्ञातो भवेत्तत:'॥३-७॥

न्यायमत में भी जो अज्ञान को अभावरूप बताया गया वह सर्वथा श्रुति, युक्ति तथा अनुभव-विरुद्ध है। क्योंकि न्याय मत में ही प्रतियोगी के ज्ञान के बिना अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, सुतरां ज्ञान का अभाव सिद्ध करने के लिये प्रतियोगिस्वरूप ज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। अतएव ज्ञान का ज्ञान रहते हुए ज्ञान का अभाव मानना वदतो व्याघात दोष ही होगा।

सुषुप्ति के बाद उस अवस्था की स्मृति का 'न किञ्चिदवेदिषम्' यही अनुभव है। जाग्रत् में भी 'मैं नहीं जानता हूँ' इस प्रकार अनुभूति होती है तथा 'अनृतेन प्रत्यूढा:' (छा. ८.३.२) 'तम आसीत्' (ऋग्वेद १०.११.१२९) 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति:' (श्वे. १.१०) 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (श्वे. ४.१०) इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है।

सुतरां क्लेशापहारिणी टीका बहुत स्थलों पर प्राञ्जल व्याख्या करने पर भी बहुत स्थलों पर अपसिद्धान्त-प्रतिपादन करने के कारण क्लेशकारिणी भी सिद्ध हुई है।

प्राय: स्थानों पर 'तत्त्वमसि' महावाक्य का विशेष रूप से विवेचन होने पर भी चारों महावाक्यों का एक ही ब्रह्मात्मैक्य बोध में तात्पर्य होने के कारण इसे उपलक्षण माना जा सकता है। अथवा समझाने की दृष्टि से यह महावाक्य अधिक उपयोगी भी सिद्ध होने के कारण आचार्यों ने इसका विचार शब्दत: किया है। वैसे चारों महावाक्यों का हम इस प्रकार प्रक्रियाभेद से विभाजन भी कर सकते हैं कि निरूपणात्मक महावाक्य है 'प्रज्ञानं ब्रह्म', निदर्शनात्मक महावाक्य है 'अयमात्मा ब्रह्म', उपदेशात्मक महावाक्य है 'तत्त्वमसि' तथा अनुभवात्मक महावाक्य है 'अहं ब्रह्मास्मि'। तत्त्वजिज्ञासु के लिये चारों महावाक्यों की अपने-अपने स्थान पर उपयोगिता सिद्ध होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय पृष्ठ के तृतीय टिप्पण में बताया गया है कि 'पूर्वाचार्यवचोनुगा' इस अंश को लेकर जो लोग श्रीचित्सुखाचार्य जी को नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका चन्द्रिका के रचयिता श्रीज्ञानोत्तम मिश्र का शिष्य मानते हैं, वह उचित नहीं है, क्योंकि—

१. श्री चित्सुखाचार्य जी के गुरुजी ज्ञानोत्तमाचार्य गौडदेशीय थे। उन्होंने तत्त्वप्रदीपिका समाप्ति में कहा है कि—'इति गौडेश्वराचार्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-ज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य...' इत्यादि। नैष्कर्म्यसिद्धि की चन्द्रिका के लेखक 'ज्ञानोत्तम' चोलदेशीय थे। यह बात उन्होंने खुद ही अपने मंगलचारण में कही है—

चोलेषु मंगलमिति प्रथितार्थनाम्नि
ग्रामे वसन्पितृगुरोरभिधां दधान: ।
ज्ञानोत्तम: सकलदर्शनपारदृश्वा
नैष्कर्म्यसिद्धिविवृतिं कुरुते यथावत् ।।

२. आचार्य ज्ञानोत्तम संन्यासी थे क्योंकि श्री चित्सुखाचार्य तत्त्वप्रदीपिका के अन्त में 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' यह संन्यासवाचक शब्दों के द्वारा अभिनन्दन करते हैं। नैष्कर्म्यसिद्धिचन्द्रिकाकार ज्ञानोत्तम मिश्र गृहस्थ थे क्योंकि नैष्कर्म्यसिद्धिचन्द्रिका के अन्त में 'श्री महोपाध्यायज्ञानोत्तममिश्रविरचितायां' यह कहा गया है।

३. श्रीचित्सुखाचार्य की नैष्कर्म्यसिद्धि टीका में जो कुछ है, वह प्राय: ज्ञानोत्तमकृत चन्द्रिका में है। परन्तु चन्द्रिका का वैशिष्ट्य वहाँ नहीं है। यदि चन्द्रिकाकार श्रीचित्सुखाचार्यजी से पुराने होते तो श्रीचित्सुखाचार्य उनके वाक्यों को ग्रहण करते, किन्तु यहाँ विपरीत हुआ है।

४. जि.ए. जैकब जी ने भी नैष्कर्म्यसिद्धि भूमिका में चन्द्रिकाकार ज्ञानोत्तममिश्रजी को श्री चित्सुखाचार्य जी की अपेक्षा अर्वाचीन बताया है।

अतएव नैष्कर्म्यसिद्धि, इष्टसिद्धि आदि के टीकाकार ज्ञानोत्तम मिश्र श्रीचित्सुखाचार्य जी के गुरु श्रीज्ञानोत्तमजी से भिन्न हैं यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है।

अन्त में पूज्य महाराजश्री के आशीर्वाद-प्रेरणा से जो शास्त्र-चिन्तन एवं शास्त्र-रक्षण में प्रवृत्ति हुई इसके लिये चिरकृतज्ञ रहूँगा और आगे भी ऐसी प्रवृत्ति के लिये आशीष-प्रार्थना कर रहा हूँ। पूज्य महाराजजी के कृपाधन्य किसी माध्यम से प्रकाशित होने के अनिच्छुक किसी गुप्त साधक के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, क्योंकि उनकी सहायता सर्वदा अविस्मरणीय रहेगी। सम्पादन काल में अपनी असावधानीवशत: कहीं कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों तो मरालधर्मी पाठक वर्ग उसे संशोधन करके सूचित कर दे तो अधिक आनन्दित रहूँगा। अत: प्रार्थना है—

अयुक्तं यदिह प्रोक्तं प्रमादेन भ्रमेण वा ।
वचो मया दयावन्त: सन्त: संशोधयन्तु तत् ।।

इति

चैत्र शुक्ल, २०५३

श्री गुरुचरणाश्रित
स्वामी प्रज्ञानानन्द

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
	दु:खादि सकल अनर्थों के कारण अज्ञान का निवारण ज्ञान का प्रयोजन है।	२-८
१-२	मंगलाचरण	९-११
३	गुरुजी की इच्छानुसार ग्रन्थ का निर्माण	१२
४	ग्रन्थ का विषय आत्मस्वरूप-निरूपण है	१२
५	उक्त विषय वेद का सिद्धान्त तथा गुरु-कर्तृक उपदिष्ट है	१४
६	ग्रन्थरचना का उद्देश्य	१४
७-८	अनर्थरूप संसार का कारण अविद्या तथा पुरुषार्थ-रूप मुक्ति का कारण ब्रह्मविद्या है, परन्तु कर्म नहीं	१५-१७
९-१९	**कर्मवादियों का पूर्वपक्ष–**	**१८-२४**
९	केवल कर्म के द्वारा ही मुक्ति होती है	१८
१०-१३	कर्म द्वारा मुक्ति का कौशल	१९-२०
१४-१६	श्रुति और स्मृति में कर्म का ही विधान है	२१-२२
१७	वेदवाक्य क्रियापरक है	२२
१८	यावज्जीवन कर्मानुष्ठान श्रुतिसम्मत है	२३
१९	क्रिया-असम्बद्ध ज्ञान वाक्य द्वारा प्रमाणित नहीं होता है	२४
२०-२१	ज्ञानकर्मसमुच्चय ही मुक्ति का कारण है, ऐसा पूर्वपक्ष	२४-२५

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
२२-२८	'केवल कर्म द्वारा मुक्ति' रूप पूर्वपक्ष का खण्डन	२८-३५
२९-४०	**अज्ञान के विनाशक रूप से भी कर्म मोक्ष का साधन नहीं है**	**३९-५१**
२९-३४	सब कर्मों की प्रवृत्ति का हेतुनिरूपण एवं आत्मज्ञान से ही समस्त संसार की निवृत्ति के पक्ष का दृढीकरण	३९-४४
३५	अज्ञानज कर्म अज्ञान-निवारक नहीं हो सकता	४५
३६	श्रुति प्रमाण-जात सम्यक् ज्ञान बाधित नहीं होता और पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये कर्म की आवश्यकता नहीं है	४८
३८	बाधित अविद्या पुन: विद्या को बाधित नहीं कर सकती	५०
३९	वर्णाश्रमाद्यभिमानी वेदकिङ्कर है	५१
४०	ब्रह्मज्ञ वेदकिङ्कर नहीं है	५१
४१-४४	संसार वर्णन तथा उसकी निवृत्ति का उपाय कामवर्जन	५१-५४
४५-५२	**कर्म परम्परा से मोक्ष के प्रति कारण है**	**५५-५६**
४५-४७	कर्मों से चित्तशुद्धि के द्वारा वैराग्य की उत्पत्ति	५७
४८	प्रत्यगात्मज्ञान की इच्छा	
५०	चित्तशुद्धि के लिये नित्यनैमित्तिक कर्म की आवश्यकता	५८
५२	परम्परा से कर्म मुक्ति का कारण है	६०
५३	मुक्ति कर्मों के चारों फलों में एक भी नहीं है	६१
५४-५९	ज्ञान और कर्म का समुच्चय भी मुक्ति का कारण नहीं है	६२-६५

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
६०	जहाँ ज्ञान और कर्म का नित्यनैमित्तिक भाव है, वहाँ दोनों का समुच्चय भी सिद्ध है	६६
६१-६७	अद्वैत आत्मतत्त्वज्ञान तथा ज्ञान-कर्म का समुच्चय असम्भव है	६७-७२
६८-७९	द्वैताद्वैतवादियों के मत में भी ज्ञान-कर्म का समुच्चय असम्भव है	७४-८७
८०	'केवल कर्म से ही मुक्ति' इस पूर्वपक्ष का खण्डन	८९
८१	काम्य कर्मों का त्याग तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग असम्भव है	९१
८२	फलहीन होने के नाते नित्यकर्म काम्यकर्मों का निवारक नहीं हो सकता	९२
८३	नित्यकर्म काम्यनाशक होने का शास्त्र में वर्णन नहीं है	९२
८५	कर्मफल अनन्त है एवं कार्मियों की संख्या भी अनन्त होने के नाते श्रुति में भी अनेक स्थानों पर कर्म की व्यवस्था हो गयी है	९३
८६	कर्मविधानबाहुल्य से ज्ञान का अप्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता	९४
८७	आत्मज्ञान के लिये श्रवणादिविधायिनी श्रुतियों की विद्यमानता	९५
८८	आत्मा या आत्मोपासना के विषय में अपूर्व आदि विधि श्रुति का अभाव	९८
८९	वाक्यैकगम्य धर्माधर्म के विषय में श्रुतिवाक्य के बिना अविश्वास होने पर भी अप्रमेय स्वत: सिद्ध आत्मा में अविश्वास करने का कारण नहीं है	१००
९०	ज्ञान निष्फल नहीं है	१०१

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
९१	वेद में कर्मकाण्ड की ही क्रियार्थता है, ज्ञानकाण्ड की नहीं	१०२
९२	आत्मा का कर्तृत्व अप्रामाणिक है, अत: प्रवृत्ति असम्भव है	१०३
९५	आत्मा में स्वर्गादि सुखसम्बन्ध का अभाव	१०५
९६	यावज्जीवन कर्मविधान अज्ञों के लिए है ज्ञानियों के लिए नहीं	१०५
९८	स्वत:सिद्ध वस्तु के ज्ञान के सिवाय तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का अर्थान्तर नहीं है	१०७
९९	ज्ञान से ही मुक्ति होती है, कर्म से नहीं	१०८

द्वितीय अध्याय

तत्त्वमसि वाक्यस्थ 'त्वं' पद का अर्थ निर्णय

१-४	वाक्यरूप प्रमाण से ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार वाक्यार्थ का ज्ञान होता है	११०-११५
५	प्रत्यक्षादि के साथ तत्त्वमस्यादि वाक्यों का विरोध नहीं है	११६
६-८	वैराग्यादियों का ज्ञान के प्रति कारणत्व निरूपण	११७
९-१०	वाक्यार्थबोध से अज्ञान का ध्वंसरूप मोक्ष	११७-११८
११-२१	स्थूल शरीर से आत्मा का विवेक	११८-१२३
२२-४४	सूक्ष्मदेह से आत्मा का विवेक	१२७-१४४
४५	द्वैत आत्मा में कल्पित होने के नाते मिथ्या है	१४५
४६	आत्मा में भेदबुद्धि अज्ञानविजृम्भित है	१४६
४७-५०	अज्ञान ही सब प्राणियों में विद्यमान एक आत्मा में बहुत्व-बुद्धि का कारण है	१४६-१४९

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
५१-५२	मोहमात्र उपादान होने के कारण यह संसार थोड़ा सा भी आत्मस्पर्शी नहीं है	१५०-१५१
५३	आत्मा और अनात्मा के सम्बन्धकारक अहंकार के नाश से ही अद्वैतसिद्धि	१५२
५४-५७	आत्मा में अहंकार की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के विचारपूर्वक आत्मा का लक्ष्य वस्तु के रूप में निर्णय तथा लक्षणावृत्ति आदि का विचार	१५४-१५७
५८-९५	सांख्य प्रक्रिया से बुद्धि के परिणामित्व का वर्णन साक्षी-आत्मा के कर्तृत्व आदि सर्वप्रकार परिणामों का निषेध तथा उसी के लिए कुछ दृष्टान्त	१५९-१८७
९६	आत्मा और अनात्मा का विवेक ही अनुमान से सिद्ध होता है, अद्वैत आत्मज्ञान नहीं	१८८
९७	द्रष्टा, दृश्य और दर्शनात्मक यह जगत् अनात्मरूप से त्याज्य होने पर भी अनात्मरूप प्रकृति पदार्थ में आश्रित नहीं है, परन्तु आत्माश्रित और आत्मविषयक अज्ञान में ही आश्रित है	१९०
९८-९९	पूर्वकारण से ही आत्मा की अप्रमेयत्व-सिद्धि	१९१-१९२
१००-१०२	आत्मा और अनात्मा का परस्पराध्यास	१९३-१९४
१०३-१०४	आत्मतत्त्वज्ञान से ही अध्यास की निवृत्ति	१९४-१९५
१०५	अविद्यानाश ही आत्मतत्त्वज्ञान है परन्तु आत्मतत्त्वज्ञान अज्ञातार्थ की अवगतिरूप नहीं है	१९६
१०६-१०७	दृश्य, दर्शन, द्रष्टा आत्मसाक्षिक है	१९६-१९७
१०८	इसलिए आत्मा सर्व कारक, क्रिया, फल और विभागात्मक संसारशून्य है	२०१
१०९	द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की विभागसिद्धि आत्मा के साक्षित्व में ही होती है	२०२

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
११०	स्वत:सिद्ध आत्मा का साक्षित्व अन्य साक्षिपूर्वक नहीं है	२०४
१११	उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार में जो निर्विकार अवगतिरूप से रहते हैं, उन्हें ही 'मैं' के रूप से जानना चाहिये	२०४
११२-११३	अज्ञानजात और इतरेतर के सिद्धि सापेक्ष द्वैतवर्ग के बाध से अद्वैत की सिद्धि होती हैं, इस विषय में श्रुति का उदाहरण	२०६-२०७
११४-११५	आत्मा से भिन्न बुद्ध्यादि अनात्मपदार्थ पूरी तरह मिथ्या है, क्योंकि आत्मचैतन्य के आश्रय में ही उनकी सिद्धि, अन्यथा नहीं	२०८-२१२
११६-११९	श्रुति के उपदेश से अहंकार के द्वारा बद्ध आत्मा की मुक्ति होती है, किन्तु परमार्थत: आत्मा बन्धन एवं मुक्ति दोनों से रहित है	२१३-२१६
	तृतीय अध्याय	
	तत्त्वमसि आदि वाक्यजात ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है, इसलिए वाक्यों की व्याख्या और वाक्यार्थ अवबोध के लिये 'तत्' और 'त्वं' पदार्थों का निर्णय	**२१७**
१	तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान से ही मुक्ति है	२२८
२	वाक्यस्थ 'त्वं' पद की सन्निधि से 'तत्' पदार्थ का अनात्मत्व और 'तत्' पद की सन्निधि से 'त्वं' पदार्थ का दु:खित्व निषिद्ध होता है	२३१
३	वाक्यस्थ पदद्वय का सामानाधिकरण्य, पदार्थद्वय का विशेषण-विशेष्यता तथा वाच्यार्थद्वय और वाक्यतात्पर्यविषय प्रत्यगात्मा का लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध	२३२

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
४-५	वाक्यार्थज्ञान के साधनविषय में विधि प्रयुक्त है	२३६-२३८
६	सांख्यशास्त्रोक्त विवेकरूप भेदज्ञान साक्षी आत्मा में अश्रुत होने के कारण वह विवेक भ्रान्ति है	२४१
७-८	अनादि अनिर्वचनीय भावरूप अज्ञान स्वत:सिद्ध साक्षिचैतन्य से सिद्ध है, क्योंकि प्रमाण-निवर्त्तनीय वस्तु प्रमाण के द्वारा उपपन्न नहीं हो सकती	२४४-२४७
९	'घटाकाश महाकाश' आदि वाक्य की तरह 'तत् त्वम्' आदि वाक्य भी अखण्डार्थ का बोधक है	२५३
१०	'तत्' पदार्थ के द्वारा विशेषित होने के कारण त्वमर्थ का दु:खित्व और 'त्वं' पदार्थ के सान्निध्य से तदर्थ की प्रत्यक्ता सम्पादित होती है	२५४
११	बुद्धिगत बोद्धृता और अहन्ता के द्वारा आत्मा लक्षित होता है	२५५
१२-१३	बोद्धृता और प्रत्यक्ता का निरूपण तथा आत्मा में विद्यमान बोद्धृत्व और कर्तृत्व में भेद नहीं है	२५७-२५८
१४	आत्मा की बोद्धृता और प्रत्यक्ता पृथक् नहीं है	२५९
१५	कूटस्थ बोध के प्रसाद से ही बुद्धि की बोद्धृता सिद्ध होती है, बुद्धि खुद अनित्य है	२६०
१६-१७	परिणामी तथा कूटस्थ का लक्षण	२६०-२६१
१८-१९	आत्मा और बुद्धि का तथा बोद्धृत्व और प्रत्यक्त्व का असाधारण लक्षण	२६१-२६२
२०-२१	कूटस्थ आत्मा और परिणामी बुद्धि का सम्बन्ध अज्ञान से होने के नाते बुद्धि का भावाभाव आत्मा में भ्रम से व्यवहृत होता है	२६३-२६४
२२	इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकसहकृत वाक्य ही अज्ञान का निवर्त्तक है	२६४

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
२३-२४	'त्वं' पद और 'तत्' पद का वाच्यार्थ प्रतिपादनीय नहीं है	२६८
२५	उद्दिश्यमान और विधीयमान दोनों पदों के वाच्यार्थों का विरोध होने के कारण 'त्वं' पदार्थ का दु:खित्व एवं 'तत्' पदार्थ का परोक्षत्व अविवक्षित नहीं है	२६९
२६	'तत्' एवं 'त्वं' पदार्थों का विशेष्यविशेषणभाव एवं पूर्वोक्त विरोध के नाते दोनों पदार्थों से प्रत्यगात्मा लक्षित होता है	२७०
२७	सर्प के बाधित होने से रज्जुप्रतिपत्ति की तरह अहंकार से बाधित होकर वाक्यार्थ की प्रतीति होती है	२७१
२८	जैसे-जैसे विरोधी परिच्छेदाभिमान दूर होता है वैसे-वैसे 'तत्' पदार्थ 'त्वं' पदार्थ के निकटवर्त्ती होता है	२७२
२९-३१	देहादि व्यवधान से आत्मस्वरूप होने पर भी ब्रह्म परोक्षरूप से ही ज्ञात होता है, इस विषय में दृष्टान्त	२७५
३२	पद की वृत्ति सामान्य में होने पर भी श्रुति-लिङ्ग आदि के द्वारा प्रतिबद्ध होकर पद विशेषार्थ का व्यञ्जक होता है	२७६
३३-३४	अनुमान से बुद्ध्यादि का अनात्मत्व निश्चित होने पर भी अज्ञान की निवृत्ति न होने से वाक्य ही आश्रयणीय है	२७७-२७८
३५-३८	श्रुति का प्रमाण्य ही नि:सन्दिग्ध है, क्योंकि श्रुति प्रमाणान्तर से अनधिगत वस्तु का प्रतिपादन करती है, कुछ भी विपरीत प्रतिपादन नहीं करती, संशयित या अप्रतिपादन भी नहीं करती	२७९-२८१

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
३९-४२	श्रुति द्वारा अनुगृहीत अन्वयव्यतिरेक न्याय का उदाहरण	२८१-२८४
४३	अपने स्वरूप के विलय से ही अहं-वृत्ति वाक्यार्थज्ञान का कारण होती है	२८४
४४-४६	'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के साथ प्रत्यक्षादि का विरोध नहीं है	२८५-२८६
४७-५२	प्रमाणान्तर से निरपेक्ष न होने से 'तत्त्वमसि' आदि अभिधाश्रुति वाक्य आत्मवस्तु के प्रमाणन में असमर्थ है—इस आपत्ति के उत्तर में, आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा अनधिगम्य होने के कारण कहे हुए विषय में अभिधाश्रुति के सामर्थ्य का वर्णन	२८८-२९०
५३	अत: कृत-अन्वयव्यतिरेक जिज्ञासु, वाक्य से ही तत्त्वज्ञानलाभ करता है	२९०
५४-५५	आत्मा और अनात्मा का विवेकप्रदर्शन	२९१-२९४
५६	देहेन्द्रियादि की तरह दृश्य होने के कारण अहंकार भी अनात्मा है	२९५
५७	अनुमान अस्तित्वमात्र-निष्ठ होने के नाते उससे आत्मा की साक्षात् प्रतीति नहीं होती	२९७
५८	अभिव्यञ्जक अन्त:करण के न रहने के कारण सुषुप्ति में अज्ञान का स्पष्ट अनुभव नहीं होता	३००
५९	दाह्य काष्ठ और दाहक अग्नि की तरह अहंकार और आत्मा का एकत्र ज्ञेयज्ञातृत्व होता है	३०२
६०-६२	ज्ञाता उपक्रियमाण या अपक्रियमाण होने पर ही विषय में ज्ञाता का मम-ज्ञान उत्पन्न होता है, नहीं तो इदं ज्ञान उत्पन्न होता है	३०४-३०६

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
६३-७०	अन्वयव्यतिरेकजात अनुभव आदि से आत्मा और अनात्मा का विवेक ज्ञांत होता है, किन्तु अज्ञान की हानि वाक्य से ही होती है। इस विषय में 'दशम' वाक्य का दृष्टान्त	३०७-३१३
७१-७२	बुद्धि चिदाभास के द्वारा प्रदीप्त होकर प्रत्यगात्मा की तरह लक्षित होती है। यही बुद्धि में आत्मभ्रान्ति का कारण है	३१४
७३-७४	भ्रान्तिप्रसिद्ध वस्तुओं के अनुवाद से तत्त्वमसि आदि वाक्यों का उपदेश होता है	३१५-३१६
७५	तत् और त्वं पदों का वाच्यार्थ अविवक्षित है। विरोधी अंश के परित्यागपूर्वक उसका अविरुद्धांश ही व्यवस्थित है	३१७
७६	इस प्रकार लक्षणभूत तत् और त्वं पदों का पर्यवसान ही लक्ष्यभूत द्वित्व और पारोक्ष्यवर्जित अखण्डैकरस आत्मा है	३१९
७७	'त्वं' पदार्थ का अहंकारांश और 'तत्' पदार्थ की परोक्षता हेय है	३२१
७८	'तत्' और 'त्वं' पदार्थों के विरुद्धांश का परित्याग	३२२
७९	अद्वितीयत्व और प्रत्यक्त्व के साथ संसारिता और पारोक्ष्य का विरोध होने के नाते अन्तिम दोनों ही बाधित होते हैं	३२३
८०	'त्वं' और 'तत्' पदार्थों का ऐक्य ही पुरुषार्थ होने के नाते उनके विरोधी संसारिता और परोक्षता ही बाधित होते हैं	३२४
८१-१२६	**प्रसंख्यानवाद का निराकरण–**	**३२५-३६६**

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
८१-८२	वाक्य केवलमात्र वस्तुनिष्ठ है, अतएव वाक्य दृष्टिविधायक है यह कल्पित नहीं हो सकता	३२५-३२६
८३-८६	हर प्रमाण का अपने विषय में प्रामाण्य है। प्रमाण-समूह परस्पर विरुद्ध नहीं है	३२८-३३०
८७	सुखदु:खादि प्रत्यक्ष होने के नाते आत्मसमवेत नहीं है	३३१
८८	प्रामाणिक होने पर दु:ख दूर होना असम्भव है	३३२
८९	सम्यक् अनुष्ठित प्रसंख्यान आत्मा का दु:खित्व निराकरण नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्षादि के विरोध के कारण प्रमा का उत्पादन नहीं कर सकता	३३२
९०	अभ्यास से जो उत्पन्न होता है वह चित्त की एकाग्रता ही है, प्रमाण नहीं	३३३
९१	अभ्यास से दु:ख की निवृत्ति एकान्तिक नहीं है	३३४
९२	अल्प अभ्यासजनित भावना कल्पकोटिस्थायी दु:ख का ध्वंस कर नहीं सकती	३३४
९३	भावना का फल अनित्य है	३३५
९४	आगमवाक्य द्वारा आत्मा का निर्दु:खित्व प्रतीत होने के कारण प्रत्यक्षादि विश्वसनीय नहीं है	३३७
९५	श्रुति भी प्रत्यक्षादि की बहिर्मुखता कहती है	३३९
९६	'मैं दु:खी हूँ' इस प्रकार की प्रत्यक्षता आत्मा में गौण है	३४०
९७-१०४	**अहं वृत्ति के द्वारा आत्मा लक्षित होता है**	**३४२-३५०**
९७	इस विषय में दृष्टान्त—'अग्नि अध्ययन कर रहा है'	३४३

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
९८	'मैं', 'तुम' आदि शब्दों के बिना आत्मा के अवबोध का दूसरा उपाय नहीं है; ये आत्मा में गौणरूप से प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि शब्द-प्रवृत्ति का हेतु जो षष्ठी, गुण, क्रिया, जाति और रूढि—ये आत्मा में नहीं हैं इसलिये आत्मा किसी भी शब्द का अभिधेय नहीं है	३४४
१०५-१०६	अपने नाम से आहूत व्यक्ति जिस प्रकार निद्रा से प्रबुद्ध होता है, उसी प्रकार तत्त्वमस्यादि वाक्य द्वारा अविद्या निद्रा से प्रबुद्ध होता है	३५०-३५१
१०७	ज्ञान और अज्ञान आत्मा को स्पर्श नहीं करता, किन्तु ज्ञान अज्ञान को ध्वंस करता है	३५३
१०८-१०९	मिथ्या उपाय के द्वारा भी सत्य का निर्णय हो सकता है	३५४
११०	आत्मा स्वप्रकाश होने के नाते अप्रबोधरूप हो नहीं सकता	३५६
१११	अविद्या की धृष्टता आश्चर्यकर है	३५७
११२	क्रियाकारकवर्जित आत्मा में अविद्या की सम्भावना नहीं है	३५८
११३	अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा आत्मा से अनात्मा पृथक् होने पर आत्मा में जो अभावरूपता की प्रतीति होती है, वह वाक्य द्वारा आत्मस्वरूप होने पर दूर हो जाती है	३५८
११४-११५	वह अभावरूपता की निवृत्ति अनुमान के द्वारा नहीं हो सकती, वाक्य से ही होती है	३५९
११६	विद्यालाभ के पूर्व या उसके बाद 'आत्मा में अविद्या की सम्भावना नहीं है' यह आपत्ति सम्भव नहीं है	३६०

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
११७	सुतरां तत्त्वमस्यादि वाक्य के अनादरपूर्वक प्रसंख्यान आदि का आश्रय करना उचित नहीं है।	३६१
११८	जो 'तत्त्वमसि' आदि वेदवाक्यों में विश्वास नहीं करते हैं, वे अन्य प्रमाण पर कैसे विश्वास करेंगे?	३६१
११९	'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से प्रमिति की उत्पत्ति होती है; इसलिये यहाँ विधिपरत्व नहीं हो सकता	३६२
१२०-१२१	अनात्मा को आत्मा से पृथक् करके जिसने 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार वाक्यार्थ का बोध किया हो, उसे उपासना की क्या आवश्यकता है?	३६३
१२२	श्रुत वाक्यों से प्रमा की उत्पत्ति न होने पर वाक्य का प्रामाण्य भंग हो जाता है	३६४
१२३	प्रसंख्यान के द्वारा वाक्यार्थ की अवगति होने पर श्रुति पीडित होती है	३६४
१२४	प्रसंख्यान के अनुष्ठान से पूर्व युक्ति और शब्द से प्रमा उत्पन्न न होने पर बाद में कैसे होगी?	३६५
१२५	श्रुत प्रसंख्यान श्रवणादि के समय प्रयोक्तव्य है, किन्तु तत्साध्य ज्ञान में नहीं	३६५
१२६	प्रसंख्यान-विधि स्वीकृत न होने पर भी परमहंसीय आचरण शास्त्रीय है	३६७

चतुर्थ अध्याय

१	उत्तर ग्रन्थ का सम्बन्ध	३६८
२	विस्तारितरूप से कथित विषयों के संक्षेप के लिये यह अध्याय है	३६८
३	प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा और अनात्मा प्रमाणित होने पर भी अनात्मा की सिद्धि आत्मपूर्वक है	३६९

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
४	घटादि वस्तुओं का अनात्मत्व प्रसिद्ध है। आत्मा ज्ञाता के रूप से प्रसिद्ध है, पर शरीरेन्द्रियादि के विषय में संशय है	३६९
५	देह से बुद्धि तक सबके सब अनात्मा हैं	३७०
६	अहं-बुद्धि और इदं-बुद्धि दोनों ही देह के बारे में प्रतीत होने के नाते मोह होता है	३७०
७-८	अहंकार का इदमंश परित्यक्त होने पर शेष अंश तत्त्वमसि वाक्य से प्रत्यक् रूप से ज्ञात होता है	३७१
९-१३	केवल आत्मा और अनात्मा के विवेक से ही आत्मस्वरूप ज्ञात नहीं किया जा सकता। वाक्य के बिना आत्मस्वरूप का अवबोध नहीं हो सकता	३७२-३७५
१४	कहा हुआ विवेक बुद्धि में ही रहता है, बुद्धि ही इसको नष्ट करती है	३७६
१५-१७	इस भेदावलम्बी विवेक से आत्मसाक्षात्कार असम्भव है। वाक्य से ही आत्मसाक्षात्कार होता है। इस विषय में श्रुति का उदाहरण	३७८
१८	आत्मा और अनात्मा के विवेकज्ञ व्यक्ति को ही श्रुति 'तुम ब्रह्म हो' इस प्रकार उपदेश प्रदान करती है	३७९
१९-३५	श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत उपदेशसाहस्री के उदाहरण से वर्तमान ग्रन्थ के गुरुसम्प्रदायपूर्वकत्व का वर्णन है	३८०-३९०
३६-३७	स्वाप्निक निमित्त से स्वप्नद्रष्टा जगने के बाद जिस प्रकार स्वप्न के करण, कर्म तथा कर्त्ता, कुछ भी देख नहीं पाता, उसी प्रकार अज्ञान निद्रा से श्रुति द्वारा प्रबुद्ध व्यक्ति प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त गुरु-शास्त्र-शिष्य आदि कुछ भी देख नहीं पाता	३९०-३९१

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
३८-४४	दण्ड का ज्ञान होने पर दण्डसर्प जैसे दण्डावसान निष्ठ हो जाता है, वाक्य से प्रत्यगात्मज्ञान होने पर जगत् उसी प्रकार प्रत्यगात्मनिष्ठ हो जाता है। नींद में केवल मात्र द्वैतग्रहण का अभाव होने के कारण श्रुति द्वैत का अभाव बताती है, किन्तु उसी समय अज्ञान के अभाव से द्वैत ग्रहण का अभाव नहीं कहती। अत: सुषुप्ति अज्ञान का अभाव नहीं है। इस विषय में गौडपादीय तथा भाष्यकारजी के उदाहरण	३९१-३९५
४५	वह अज्ञान भी आत्मसम्बन्धित नहीं है	३९६
४६	यह बीजरूपी अज्ञान का ही द्वैतसम्बन्ध है, अविकारी आत्मा का नहीं	३९७
४७	कहे हुए विषय ही अन्वय-व्यतिरेक द्वारा प्रदर्शित हैं	३९८
४८-५०	ज्ञानमूर्त्ति आत्मा तीनों अवस्थाओं में ही अविकारी है, इस विषय में दृष्टान्त	३९९
५१	विद्वान् हर विषय में अनुमोदन तथा निषेध करते हैं	४००
५२	ग्रन्थ का उपसंहार	४००
५३	'मेरे से अतिरिक्त ज्ञान और अज्ञान का आश्रय कोई नहीं है', इस प्रकार ज्ञानी ही श्रेष्ठ ब्रह्मवित् है	४०१
५४-५९	ज्ञानी व्यक्ति प्रवृत्ति-निवृत्ति से शून्य होते हैं, उनका कोई कार्य शेष नहीं रह जाता, यही सद्योमुक्ति का पक्ष है	४०४
६०-६१	फलोपभोग से ही प्रारब्ध कर्म का क्षय होकर विद्वान् देहत्याग करते हैं। यह जीवन्मुक्ति पक्ष है। इस पक्ष में भी वे प्रवृत्ति-निवृत्तिशून्य होते हैं। उनकी प्रवृत्ति विधिजन्य नहीं है	४०५

श्लोकाङ्क		पृष्ठाङ्क
६२-६७	'अलेपक' पक्ष में विद्वान् का स्वैराचरण सम्भव है। अलेपक पक्ष का सम्पूर्ण रूप से खण्डन तथा इसमें भाष्यकारजी की सम्मति	४०६-४१०
६८	अमानित्वादि तथा द्वेषशून्यतादि विद्या का साधन है, परन्तु बहिर्मुखी व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो सकता	४११
६९	विद्वान् के लिए ये गुण स्वभाव से सिद्ध हैं, प्रयत्नाधीन नहीं	४१४
७०	इस ग्रन्थ को ग्रहण करने के लिए अमानित्वादि का अनुष्ठान और दुर्वृत्तादि का परित्याग करना चाहिये	४१४
७१-७३	संसार से विरक्त, संयमी, सर्वकर्मपरित्यागी, प्रत्यक्प्रवणबुद्धि निष्काम और शान्त यतिगण इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं	४१५-१६
७४	श्रीमच्छङ्करभगवत्पाद के अनुग्रह से प्राप्त ज्ञान यहाँ प्रकरण के रूप में निबद्ध किया गया है। साधुओं के द्वारा यह परीक्षणीय	४१७
७५	विशुद्धचित्त व्यक्ति के निकट चारु और सुभाषित प्रतिभात होता है	४१७
७६	सर्वदा ब्रह्मसंस्थ आचार्य की सेवा से सम्यक् ज्ञान लाभ करके दुःखियों के जन्ममृत्यु-निवारण के लिए ग्रन्थ में बताया गया है	४१८
७७	ज्ञानदाता श्रीगुरु को नमस्कार	४१९
७८	सम्बन्धोक्ति का उपसंहार	४१९
	श्लोकानुक्रमणिका	४२१
	उद्धरणसूची	४२९

●

।। श्रीदक्षिणामूर्तये नमः ।।

नैष्कर्म्यसिद्धिः

प्रथमोऽध्यायः

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यत्साक्षात्सच्चिदानन्दं प्रत्यगद्वयमक्रियम्।
तन्नमामि नृसिंहस्य[1] योगिगम्यं परं पदम्॥

हिन्दी व्याख्या

यो दित्सति ज्ञानमथापि मौनी वटश्रितोधो जगदाश्रयोसौ।
नमस्यतामेति न यो नमस्यस्तस्मै नमोऽनुत्तरदिङ्मुखाय॥

गुरूनत्त्वा महेशाख्यान् शङ्करं च सुरेश्वरम्।
नैष्कर्म्यसिद्धेर्भाषायां प्रपञ्चः क्रियतेऽधुना॥
व्याख्यायाश्चन्द्रिकायास्तु प्रायोऽत्र सङ्ग्रहोऽभवत्।
क्लेशापहारिणीटीका साहाय्यं कुत्रचिद् ददौ॥
यः साम्प्रदायिकार्थस्य विरोधस्तत्र दर्शितः।
यथाशक्ति निराकारि ग्रन्थार्थव्याकृतात्र सः॥
यद्यप्यज्ञातविविधदर्शनो मन्दधीरहम्।
तथापि देशिककृपासुधासम्पर्कतो बली॥

श्रीमद्गुरुपदाम्भोजरजराजिनविग्रहः।
टिप्पणीं भक्तितश्चक्रे प्रज्ञानानन्दमस्करी॥

१. पुण्यपत्तनतः प्रकाशितायाः सचन्द्रिकाव्याख्यानैष्कर्म्यसिद्धिभूमिकाया अन्ते टिप्पण-रूपेणोद्धृताया भावतत्त्वप्रकाशिकाया मङ्गलाचरणे 'नृसिंहाख्यम्' इति पाठो वर्तते।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तैः सर्वप्राणिभिः सर्वप्रकारस्यापिदुःखस्य स्वरसत

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्योतिर्यद्दक्षिणापूर्व[1] व्यासशङ्करशब्दितम्।
ज्ञानोत्तमाख्यं तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम्[2] ॥
संसारगरसन्तापनिर्वापणसुधापगाम् ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं यश्चक्रे तन्नमामि सुरेश्वरम् ॥
नैष्कर्म्यसिद्धेः क्रियते पूर्वाचार्यवचोनुगा[3] ।
मुनिना चित्सुखाख्येन *भावतत्त्वप्रकाशिका* ॥

व्याचिख्यासिताया: श्कोकसन्दर्भरूपाया: नैष्कर्म्यसिद्धेरधिकारिप्रयोजन-तत्साधन-सम्बन्ध-विषयाणामभावादनारम्भमाशङ्क्य, सम्बन्धोक्तिकारः प्रकरणारम्भसिद्धये क्रमेण तानुपपादयति–आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तैरित्यादिना प्रकरणमिदमारभ्यत **इत्यन्तेन ग्रन्थेन। तत्राधिकारिणमुपपादयति**–तन्निवृत्यर्था

न परालोचनार्थं तु निजबोधस्य शोधनम्।
शिष्यतामाप्नुयां 'तेन मोपसीदेति' शास्त्रतः ॥

निष्कर्मा शिव के स्वरूप का निश्चायक प्रकरणग्रन्थ[4]

चतुर्मुख ब्रह्मा से निरुद्धगति वृक्षों तक, सभी प्राणी स्वभावतः ही हर तरह के

१. दक्षिणापूर्वम्—दक्षिणाशब्दः पूर्वं यस्य, 'दक्षिणामूर्त्तिः' इति भावः। अथवा दक्षिणापूर्वकमूर्त्तिपदप्रतिपाद्यं यज्ज्योतिरित्यर्थः।
पुण्यपत्तनतः प्रकाशितायां चन्द्रिकाव्याख्यासम्वलितायां नैष्कर्म्यसिद्धेः भूमिकायां टिप्पणरूपेणोद्धृतभावतत्त्वप्रकाशिकाया मङ्गलाचरणे 'दक्षिणामूर्त्ति' शब्द एव वर्तते इति। भाष्यभावप्रकाशिका-चित्सुख्यादिष्वपि एतदेवास्ति।

२. सत्यानन्दपदाभ्यां प्रकाशितं, अथवा सत्यानन्दात्मकं यत्पदं पद्यते इति पदं, तेन स्फुरितम्, इत्यम्भावे तृतीया।अनेन च गुरुदेवतयोरैक्यमुक्तम्। (नयनप्रसादिनी २)। भाष्यभावप्रकाशिकायान्तु सत्यानन्दपदोत्थितमिति पाठो वर्त्तते।

३. पूर्वाचार्यवचोनुगा—इत्यंशं गृहीत्वा केचन आक्षिपन्ति यदेते नैष्कर्म्यसिद्धिटीका-चन्द्रिका-काराणामेव शिष्याः। परन्तु तदयुक्तम्। विषयेऽस्मिन् विस्तररूपेण भूमिकायां द्रष्टव्यम्।

४. निर्गतं कर्म यस्मात्स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं, तस्य सिद्धिर्निश्चयो यतो ग्रन्थात्सोप्युपचारेण नैष्कर्म्यसिद्धिः। 'निष्क्रिय'मिति (श्वे. ६.१९) श्रुतेः शिवो निष्कर्मा। शारीरकमीमांसाया एकदेशः—कर्मणोऽमोक्षहेतुता ज्ञानस्य तद्धेतुता, ज्ञापकवाक्यार्थ-प्रतिपत्तिकारणं, वाक्यार्थः, फलं नैष्कर्म्यं चेति—अत्र प्रकाशितो, न तु समन्वयादि-समस्तः शास्त्रार्थ इति प्रकरणमिदम्।

एव जिहासितत्वात्, तन्निवृत्त्यर्था प्रवृत्तिरस्ति स्वरसत एव। दुःखस्य च देहोपादानैकहेतुत्वात्, देहस्य च पूर्वोपचितधर्माधर्ममूल्वात्, अनुच्छित्तिः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रवृत्तिरस्ति स्वरसत एवेत्यनेन **ग्रन्थेन। आब्रह्म च ते स्तम्बपर्यन्ताश्चेत्या-ब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः, तैश्चतुर्मुखप्रभृतिभिः स्तम्बावसानैः** प्राणिभिरिति यावत्। **सर्वप्रकारस्याऽऽध्यात्मिकादिभेदभिन्नस्य**[1] स्वरसत एव **स्वभावत एव, अन्तरेणापि शास्त्राधेयसंस्कारमिति यावत्।**

इदमत्र तात्पर्यम्–**यद्यपि दुःखमतीतमतीत्वादेव न निवर्त्यम्; नापि वर्तमानं, स्वत एव निवृत्तेः; नाप्यनागतम्**[2], **अनुपस्थितेरेव निवर्तयितुमशक्यत्वात्; तथाप्यनागतं दुःखं तद्धेतुनिवर्तनेन शक्यमेव हन्तुम्, अतस्सम्भवत्येव निखिलदुःखनिवृत्तिकामोऽधिकारी। न च शङ्कनीयम्**–**अशेषदुःखकारणनिवृत्तौ सुखस्यापि निवृत्तेर्न दुःखकारणनिवृत्तिः पुरुषार्थ**–**इति; विषयदोषदर्शिनां वीतरागाणां वैषयिकं सुखं विषसंपृक्तान्नवद् दुःखपक्षनिक्षिप्तं पश्यतामत्र पुरुषार्थबुद्ध्यनुत्पत्तेः। अतो वैषयिकसुखाभिलाषप्रतिबन्धानामप्रवृत्तावपि, स्वतः सर्वदुःखनिवृत्तिकामस्सुलभ एवाधिकारीति।**

नन्वाध्यात्मिकदुःखस्य आधिव्याधिप्रसवस्य आयुर्वेदविहितोपायैः, आधिभौतिकस्य च शत्रुव्याघ्रादिजनितस्य, अन्वयव्यतिरेकसिद्धतत्तत्साधनैः, आधिदैविकस्य चातिवाव्यतिवर्षणादिनिमित्तस्य शान्तिकपौष्टिकादिना निवृत्तेः, न दुःखनिवृत्तिः प्रकरणस्य प्रयोजनम्, अन्यत एत सिद्धेरित्याशंक्य; आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिलक्षणप्रयोजनस्य प्रकरणप्रतिपाद्यात्मविद्याव्यतिरिक्त-साधनान्तराऽसाध्यत्वं दर्शयति–दुःखस्य **चेत्यादिना** अशेषपुरुषार्थपरि-समाप्तिरित्यन्तेन **ग्रन्थेन। देहस्य कार्यकारणसङ्घातलक्षणस्य उपादानम् अहं-**

दुःख से बचना चाहते हैं। इस स्वारसिक इच्छा के कारण दुःख हटाने की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। दुःख का प्राथमिक कारण है स्थूल व सूक्ष्म शरीर को 'मैं' और 'मेरा' समझना तथा शरीर-परम्परा क्योंकि पूर्व-पूर्व जन्मों में अर्जित पाप-पुण्य के फलस्वरूप अनवरत

१. आध्यात्मिकादि—आदिपदेन आधिभौतिकं आधिदैविकञ्चेति। तत्र आध्यात्मिकम्—ज्वरादिशारीरिकं, प्रियवियोगात्मकमानसञ्चेति द्विविधम्। अन्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकम् (सां.त.कौ.) आधिभौतिकम्—भूतान्यधिकृत्योत्पन्नं (दुःखम्) जरायुजाण्डजादिभ्य इति भावः। आधिदैविकम्—दैवमधिकृत्य यदुपजायते, अतिवृष्टि-अनावृष्ट्यादिकम्।

२. हेयं दुःखमनागतम् (पा.यो.द. २.१६)।

तयोश्च विहितप्रतिषिद्धकर्ममूलत्वादनिवृत्तिः। कर्मणश्च रागद्वेषास्पदत्वात्, रागद्वेषयोश्च शोभनाशोभनाध्यासनिबन्धनत्वात्[१], अध्यासस्य

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ममग्रहः स एव एको मुख्यो हेतुर्यस्य तद् दुःखं देहोपादानैकहेतुस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद्; दुःखस्यानुच्छित्तिरिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः।

अत्रायमभिसन्धिः; सत्यपि देहे यद्यपि कदाचित् किञ्चिद् दुःखं निवर्त्यमानमुपलभ्यते तथापि समानाधिकरणदुःखान्तरप्रागभावासमानकालीन-दुःखनिवृत्तेर्देहोपादाने सत्यसम्भवात् तन्निवृत्तिरुपायान्तरसाध्येति।

एवमपि धर्माधर्मयोरुपभोगेनोपक्षये कारणाभावाद् देहसन्तानस्यापि विच्छेदो भविष्यतीति? तत्राह–तयोश्चेति। तयोरपि धर्माधर्मयोर्विहितप्रतिषिद्धे ये कर्मणी यजनब्रह्महननादिव्यापारलक्षणे[२] तज्जन्यत्वात् तयोस्स्थितौ न तन्निवृत्तिरित्यर्थः।

तयोरप्यनित्यत्वात् स्वयमेव विच्छेदो भविष्यति? इत्यत आह–कर्मणश्चेति। व्यक्तिरूपेण विच्छिद्यमानस्यापि कर्मजातस्य रागद्वेषप्रयोज्यत्वात्तयोः स्थितौ न तत्सन्तानविच्छेद इत्यर्थः। रागद्वेषयोरपि स्वत एव निवृत्तिमाशङ्क्याह–रागद्वेषयोश्चेति। विषयेषु 'इदं शोभनं, रमणीयमिदम्' इति यः प्रत्ययः, यश्च तद्विपरीम् 'अशोभनमिदम्' इति प्रत्ययः तावव्यभिचारिणि विषये व्यभिचारित्वाद्विभ्रमभूमौ, तयोश्च स्थितयोर्न तज्जन्यरागद्वेषसन्तानस्य विच्छेद इत्यर्थः।

तयोरप्यध्यासयोरनित्यत्वात् स्वत एव निवृत्तिमाशङ्क्याह–अध्यासस्य चेति।

चलती है अतः सरलता से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो पाती। देहकारणीभूत कर्म कभी समाप्त नहीं होते क्योंकि शास्त्र में विहित या निषिद्ध कर्म व्यक्ति करता ही रहता है। कर्म करने के पीछे कारण है 'यह मुझे मिले, मेरे पास बना रहे'—ऐसा राग तथा 'यह मुझे न मिले, मुझसे हट जाये'—ऐसा द्वेष। राग-द्वेष तब होते हैं जब वस्तु आदि को 'अच्छा' या 'बुरा' समझा जाता है। यह अच्छा या बुरा मानना इसीलिये है

१. वस्तुनि रमणीयबोधजन्याध्यासः शोभनाध्यासः। तत्र रागो भवति। वस्तुनि अरमणीयबोधजन्यद्वेषात्मकोऽध्यासोऽशोभनाध्यासः।

२. 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादीनि विहितानि कर्माणि यजनपदार्थः।
'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'कलञ्जं न भक्षयेद्' इत्यादीनि प्रतिषिद्धानि श्रुतिप्रमाणात्।

चाविचारितसिद्धद्वैतवस्तुनिमित्तत्वात् द्वैतस्य च शुक्तिकारजतादिवत् सर्वस्यापि स्वतःसिद्धाद्वितीयात्मानवबोधमात्रोपादानत्वात्, अव्यावृत्तिः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सर्वस्यापि विभ्रमप्रसरस्य, स्वतस्सिद्धत्वात् स्वयम्प्रभत्वाद् अद्वितीयो द्वितीयशून्यो योऽयमात्मा; द्वितीयस्य हि जडस्य स्वतस्सिध्यनुपपत्तेरात्मसिद्ध्यभिसम्बन्धात् सिद्धिरेष्टव्या, सम्बन्धस्समवाय-तादात्म्यादिलक्षणस्तु हिमदहनवद्विरुद्धस्वभाव-योर्जडाजडयोरनुपपन्न इति जडस्याजडतादात्म्याध्यासात् सिद्धिरभ्युपेया। अतः कल्पितत्वात् द्वैतस्य सिद्ध आत्माऽद्वितीयः; तस्य तस्मिन्[१] योऽयम् अनवबोधः स्वतस्सिद्धतया सततमद्वैतरूपेण प्रकाशप्राप्तौ तथा प्रकाशादर्शनाद्विपरीत-रूपप्रकाशदर्शनाच्च, तद्धेतुतया परिकल्पितः तन्मात्रोपादानत्वात् तस्मिन्विद्यमाने नाध्यासस्य निवृत्तिरित्यर्थः। तदेवमज्ञानस्याध्यासराग[२]-द्वेष[३]-प्रवृत्ति[४]-धर्माधर्म-देहोपादानपरम्परया[५] दुःखहेतुत्वात्तस्मिन् सति

कि विचार के बिना ही यथाप्रतीत भेद, नानात्व स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार शुक्तिका को यथावत् न जानने से उसमें रजतबुद्धि होती है, उसी प्रकार नित्य अनुभूयमान तथा सर्वभेदरहित आत्मस्वरूप को न जानने से ही भेदप्रपंच अवस्थित है व जब तक वह न जानना रूप अज्ञान रहेगा, प्रपंच भी बना रहेगा। अतः समस्त कष्ट

१. तस्य तस्मिन्—तस्य विषयभूतस्य तस्मिन् आश्रयभूते। उक्तं हि संक्षेपशारीरके—
'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः'॥ (सं.शा. १.३१९)

२. रागः—सुखानुशयी रागः (पा.यो.द. २-७) सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स रागः इति व्यासभाष्ये। काम-मत्सर-स्पृहा-तृष्णा-लोभादयोऽपि रागशब्दान्तर्गता इति नैयायिकाः।

३. द्वेषः—दुःखानुशयी द्वेषः। (पा.यो.द. २.८) दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति व्यासभाष्ये। प्रतिकूलेष्वर्थेषु द्वेषः। (न्या.द.वा.भा. १.१.२) एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् दुःखहेतौ द्वेषः (न्या.द.वा.भा. १.१.१०)।

४. प्रवृत्तिः—प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्मौ प्रवृत्तिशब्देनोक्तौ, यथान्नसाधनाः प्राणाः।
(न्या.द.वा.भा. १.१.२)

५. देहोपादानत्वात् परम्परयेति भावः।

अतः सर्वानर्थहेतुरात्मानवबोध[१] एव। सुखस्य चानागमापायिनोऽपरतन्त्रस्य[२] आत्मस्वभावत्वात् तस्यानवबोधः पिधानम्[३]। अतस्तस्यात्यन्तोच्छित्तौ अशेषपुरुषार्थपरिसमाप्तिः। अज्ञाननिवृत्तेश्च

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दुःखस्योपायान्तरेण न निवृत्तिरित्युपसंहरति– अत इति।

न केवलमसौ सर्वाऽनर्थहेतुरपि त्वात्मस्वभावतया सततमपरोक्षप्रकाशयोग्यतां प्राप्तस्य सुखस्यापि तिरोधायकस्ततस्तन्निवृत्तौ निरतिशयसुखावाप्तिरप्यस्मन्मते सम्यग्दर्शनात् सिध्यतीत्यभिप्रेत्याह–सुखस्य चेति। आगमश्चाऽपायश्चागमापायावुदयास्तमयौ तौ विद्येते यस्य तदागमापायि, न आगमापाय्यनागमापायि तस्य। तदेव कुत इत्यत आह–अपरतन्त्रस्येति। कारणानधीनस्येति यावत्। एतदपि स्वभावादात्मवद्। यद्वा, आत्मा सुखस्वभावः निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वात्, सुखवदिति प्रयोगः। विपक्षे च निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वासिद्धिरेव बाधिका। नहि दुःखनिवृत्तिरूपतया तस्य प्रेमास्पदत्वं, भावत्वाद्; नापि सुखसाधनतया दुःखनिवृत्तिसाधनतया वा, तयोर्निरुपाधिक प्रेमेति[४]। तदेवमनुमानात् 'एषोऽस्य परम आनन्द' इत्यागमतश्चात्मनस्सुखस्वभावत्वात्तस्य चापराधीनप्रकाशतया तत्त्वात्तथा प्राप्तप्रकाशस्य प्रतिबन्धकोऽनवबोध इत्यर्थः। फलितमाह–अतस्तस्येति। तस्य अनवबोधस्य अत्यन्तम् अनवशेषेण। 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति' रिति

का निश्चित निदान है आत्मयाथात्म्य को न जानना। अज्ञान[५] सब दुःखों का मूल है इतना ही नहीं, यह उस निस्सीम आनन्द को भी तिरोहित कर देता है जो आत्मा का, हमारा स्वाभाविक स्वरूप है। इसलिये आत्मा के अज्ञान की समाप्ति के कारण ही जीवमात्र का अभीप्सित दुःखनिवृत्तिपूर्वक परमसुखलाभ सम्भव है। क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति कर्म आदि

१. सर्वानर्थहेतुरात्मानवबोध एव। सुखस्य चेत्यादि—अज्ञानस्य विक्षेपलक्षणानर्थहेतुतामेवमुपपाद्यानन्दाद्वयस्वरूपाप्रतीतिलक्षणविक्षेपकारणावरणहेतुतामुपपादयति सुखस्य चेति सारार्थः। (अत्राप्रतीतिलक्षण इत्यस्यावरणेऽन्वयः)।

२. अपरतन्त्रः—वस्तुतन्त्रः। सुखस्य विद्यमानत्वे सति सर्वे तस्यानुभवं कुर्वन्त्येव। सुखे विद्यमाने सुखं नानुभवामि, नानुभूतम्वेति न कोऽपि कथयति। सुखस्य ज्ञातैकसत्त्वात्।

३. तस्यानवबोधः पिधानम्—तस्य सुखात्मनोऽनवबोधः पिधानमावरणम्। सुखाप्रतीत्या विपरीतप्रतीतिहेतुः। (सारार्थः)

४. प्रमेयत्वमिति मातृकापाठः। 'तयोर्निरुपाधिकं न प्रेमेति'—इति युक्तः।

५. अज्ञानस्यावरणकृत्यमभिधाय विक्षेपकतामाहेतः।

सम्यग्ज्ञानस्वरूपलाभमात्रहेतुत्वात् तदुपादानम्। अशेषानर्थहेत्वात्मानवबोधविषयस्य चानागमिकप्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणाविषयत्वात्,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

न्यायेनोच्छिन्नाऽवशेषस्य सकलदुःखनिवृत्तिरूपस्य निरतिशयानन्दाप्तिलक्षणस्य पुरुषार्थस्य परिसमाप्तिः स्यादित्यर्थः।

भवत्वेवं तथापि कर्मोपासनादि परिहारेण विशिष्टाधिकारिणः सम्यग्दर्शन एव कुतः प्रवृत्तिर्येन सम्यग्दर्शनाय प्रकरणारम्भसम्भव इत्यत आह–अज्ञाननिवृत्तेश्चेति। सम्यग्ग्रहणेनोपासनाज्ञानं व्यावर्तयति, स्वरूपलाभग्रहणेन ज्ञानाभ्यासं, मात्रपदेन च कर्मापेक्षाम्। तदेवमुपायान्तरपरिहारेणाऽधिकारिणः सम्यक्ज्ञानोपादानमेव सम्भवतीत्यर्थः। यद्यपि सम्यक् ज्ञानोपादानम्, तथापि तस्य प्रमाणान्तरादप्युपपत्तेर्वेदान्तप्रकरणादिषु तदर्थिनः कुतो नियमेन प्रवृत्तिरित्यत आह–अशेषेति। आगमिकमागमवाक्यजन्यमात्मसाक्षात्कारलक्षणमनुमानञ्च 'यत्प्राणेन प्राणिति'[१] 'येन वा पश्यति' इत्याद्यस्ति, तद्विषयत्वनिरासाशङ्कापनोदायाह–अनागमिकेति। कानि तानीत्याह–लौकिकप्रमाणेति। तेषां चात्मा न विषयः रूपाद्यभावात्, तत्संबन्यलिङ्गाद्यदर्शनाच्च। तदेवमनन्यसाधारणत्वादुपनिषदामेवात्मा विषय इत्याह–वेदान्तेति। आगमग्रहणञ्च 'वेदोषरा[२] वेदान्ता' इति मतनिरासेन प्रामाण्यसूचनाय। वाक्यग्रहणञ्च[३] न कर्मवाक्यशेषतया तत्रैकवाक्यत्वं किन्तु स्वतन्त्रतयैवेति द्योतनाय, एवकारश्च वाक्याभासादे[४]र्ज्ञानकारणत्वनिरासाय।

से निरपेक्ष आत्मप्रमा से ही हो सकती है, अतः वही उपादेय है। समस्तदुःखनिदानभूत आत्माऽज्ञान का विषय आत्मा शास्त्र से भिन्न लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमासाधनों का विषय नहीं, फलतः वेदान्तशास्त्रसारभूत महावाक्यों से ही आत्मप्रमा उत्पन्न होती है। क्योंकि

१. 'यत्प्राणेन प्राणिति' इति वाक्यं उपनिषत्सु न दृश्यते। किन्तु 'यः प्राणेन प्राणिति' (बृ.उ. ३.४.१) इति श्रुतिः।

२. वेदोषरा—उषरः = मरुस्थलम्, तथैव वेदान्तस्य व्यर्थत्वमिति भावः।

३. तत्त्वमस्यादिमहावाक्यद्योतनायेति भावः।

४. आदिपदेन युक्त्याभासः ग्राह्यः। वाक्याभासः = मिथ्यावाक्यं श्रुतेः कदर्थो वा। तथाहि—'असद्वा इदमग्र आसीत्' (छा. ६.२.१) इति श्रुतिवाक्यं बौद्धाः असद्वादसमर्थकत्वेन यत् योजयन्ति तद्वाक्याभासः। युक्त्याभासोऽपि तथैव यद्वस्तु तच्छून्यावसानं, यथा दीपः।

वेदान्तागमवाक्यादेव सम्यग्ज्ञानम्। अतोऽशेषवेदान्तसारसंग्रह-प्रकरणमिदमारभ्यते।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीं प्रकरणलक्षणमुपपादयन् प्रकरणारम्भमुपपादितमुपसंहरति– अतोऽशेषेति। **यत उक्तरीत्या प्रयोजनादीनां सद्भावः साधनान्तरानधीनञ्च प्रयोजनमत इत्यर्थः। अत्राशेषवेदान्तशब्देन शास्त्रं दर्शितम्। तत्रापि निष्प्रपञ्च-ब्रह्मप्रतिपादकशास्त्रैकदेशेन सम्बन्धद्योतनाय** सारग्रहणम्। **तत्रापि विस्तरेण प्रतिपादितस्य संक्षेपेण प्रतिपादनं कार्यान्तरं दर्शयितुं सङ्ग्रहग्रहणम्। तदेवम्–**

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विचक्षणाः॥

(प.उप.पु. १८.२१.२२)

इत्युक्तलक्षणलक्षितमिदं प्रकरणमिति।

इस प्रकार इस महत्प्रयोजन का लाभ साधनान्तर से असम्भव है। इसलिये निखिल वेदान्तों के मुख्य प्रतिपाद्य का संक्षेपरूप यह प्रकरणग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है।

कुछ आधुनिक व्याख्याता सम्प्रदायसिद्ध अज्ञानस्वरूप का प्रत्याख्यान कर 'अनवबोधो नाम अज्ञानं ज्ञानाभाव एव'—यह निराधार कल्पना प्रस्तुत करते हैं। प्रसंगतः इस मत का तत्तत्स्थल पर निरास किया जायेगा। मिथ्याज्ञान के लिये अज्ञान की आवश्यकता उक्त विद्वान् स्वीकारते ही हैं—'आत्माऽज्ञानमात्राद् द्वैतप्रतीतिस्तन्मात्रादेव च सुखस्यानवगमः'। विचार करने पर स्पष्ट होता है कि अज्ञान को अभावरूप मानना मनोरथमात्र है। अभाव से ध्वंस तो अभिप्रेत नहीं है यह तो स्पष्ट है। यदि भेद विवक्षित हो—ज्ञानभिन्नमज्ञानम्—तब कोई विवाद नहीं। यदि तात्पर्य अत्यन्ताभाव से हो, तब 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' (श्व. १.११) आदि श्रुति ही निराकरण कर देगी क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य होता है। ज्ञानसामान्याभाव को अज्ञान मानने पर व्याघात दोष ध्रुव है, कारण कि प्रतियोगी और अनुयोगी के ज्ञान के रहते ज्ञानसामान्याभाव का अस्तित्व कोई निर्लज्ज ही स्वीकारेगा। ज्ञानविशेषाभाव को अभिप्रेत करने पर सौषुप्तानुभाव-विरोध से अतिरिक्त, घटज्ञानाभाव ही अज्ञान होकर घटज्ञान को मोक्षदायक बना हास्य का ही उत्पादक होगा, मतोपपत्ति का नहीं। ज्ञानप्रागभाव अज्ञान है, यह भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रागभाव ही अनभिमत है। प्रागभाव विशेषाभाव है अतः 'पट नहीं है' आदि ज्ञान उसे सिद्ध नहीं कर सकता। प्रतियोगी उत्पन्न ही नहीं हुआ और अभावनिरूपण के

तत्राभिलषितार्थप्रचयाय प्रकरणार्थसंसूत्रणाय चायमाद्यः श्लोकः–

खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तं स्रक्फणीवोद्गतं यतः।
ध्वान्तच्छिदे नमस्तस्मै हरये बुद्धिसाक्षिणे॥१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीं प्रतिश्लोकं सम्बन्धोक्तिमारभमाणः प्रथमश्लोकस्य तात्पर्यं दर्शयन् सम्बन्धमाह– तत्राभिलषितार्थेति। तत्र **प्रकरणे** आद्यश्लोकोऽभिलषितार्थस्य, अभिलषितोऽर्थः **प्रकरणान्तस्तस्य** प्रचयाय **तस्य प्रचयश्शिष्यपरम्परया शिष्टपरिग्रहः,** तस्मै। **उपलक्षणमिदमविघ्नेन परिसमाप्तिशिष्टाचार-परिपालनयोरिष्टदेवतानमस्कारस्य विद्यायामन्तरङ्गसाधनत्वसूचनस्य च। प्रकरणस्यार्थो विषयः प्रयोजनञ्च तयोस्सम्यक् सूत्रणं संक्षेपेण सूचनं, तस्मै च। तत्र हेतुः**–आद्यश्लोक **इति। यस्मादयमाद्यस्तस्माच्छ्रोतॄणां प्रवृत्यङ्गतया सुखावबोधाय चात्रैव सूचनीयमुभयमिष्टदेवतानमस्कारश्च करणीय इति।** खानिलेति[१]। **अत्र** उद्गतमिति **कार्यजातमुच्यते। तदेव विशेष्यं, तस्यैव**

लिये उपलब्ध हो गया, यह भला कौन विचारशील मानेगा। 'घट बनेगा' आदि प्रतीति को प्रमाणतया उद्धृत करने वाले भूल जाते हैं कि इस प्रतीति में अभावमात्र ही विषय नहीं बन रहा, नञादि अभावबोधक पद भी नहीं है, तो प्रागभाव क्योंकर सिद्ध होगा! यह प्रतीति तो बननारूप धात्वर्थ की भविष्यत्ता को विषय करती है। भविष्यत्ता का अर्थ है प्रतियोगी और उसके ध्वंस के अनाधारभूत काल से सम्बन्ध (अद्वै.सि., पृ. ५५२)। अतः प्रागभाव ही जब अप्रसिद्ध है तो ज्ञानप्रागभाव से व्यवहार चल जाने की सम्भावना ही कहाँ? अतः बलात् अज्ञान को अभावविलक्षण मानना होगा और पारम्परिक अर्थ स्वीकारना होगा। सिद्धान्ती जब साग्रह अज्ञान को भावरूप सिद्ध करता है तब उसका तात्पर्य केवल उसे मिथ्या सिद्ध करने में है—'भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्याऽभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारात्' (चित्सु., पृ. ९७); और यदि यह स्वीकृत हो तो विवादभूमि नहीं।

यह ग्रन्थ सम्प्रदाय-परम्परा से समझा जाता रहे, इस इच्छा से प्रकरण के विषय और प्रयोजन को संक्षेप में सूचित करते हुए इष्टनमनरूप मङ्गल प्रथम श्लोक से किया जाता है—**आकाश, वायु, आग, पानी और पृथ्वीरूप भूत भौतिक**

---

१. खानिलेति—खञ्चानिलश्चापश्चेति। अत्र अन्तशब्दः स्वरूपवचनः स्वप्नान्तं बुद्धान्तमित्यादिवत्। खानिलाग्न्यब्धरित्रीस्वरूपम्। यद्वा खानिलाग्न्यब्धरित्रीशब्देन

स्वसंप्रदायस्य चोदितप्रमाणपूर्वकत्वज्ञापनाय विशिष्टगुणसंबंध-संकीर्तनपूर्विका गुरोर्नमस्कारक्रिया–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कार्यजातस्य विशेषणम् खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तमिति[1]। **तत्र** स्रक्फणीव **यतो भवति** तस्मै ध्वान्तच्छिदे बुद्धिसाक्षिणे हरये नमः **इति सम्बन्धः**। **तत्र** स्रक्फणीवेत्यारम्भपरिणामव्युदासाय[2], हरये बुद्धिसाक्षिणे **इति सामानाधिकरण्यं प्रत्यगात्मपरमात्मनोरेकत्वलक्षणविषयद्योतनाय**। ध्वान्त **इति अज्ञाननिवृत्ति-लक्षणप्रयोजनकथनाय।।१।।**

उत्तर श्लोकतात्पर्यमाह–स्वसम्प्रदायस्येति[3]। **स्वेन प्राप्तो विद्योपदेशस्तस्य। च**शब्दो **देवतानमस्कारेण गुरुनमस्कारस्य समुच्चयार्थः। तस्य सम्प्रदायस्य** उदितः प्रमाणमाचार्यः–'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादिश्रुतिभ्यः[4] तत्पूर्वकत्व-

---

प्रपंच जिसे न जानने से वैसे ही उत्पन्न हुआ है जैसे माला को न जानने से साँप; अज्ञान का समापन करने वाले, बुद्धि-साक्षी उस भगवान् श्रीहरि को नमस्कार है।।१।। यहाँ बुद्धिसाक्षितया श्रीहरि के निरूपण से अभेदरूप विषय और उन्हें अज्ञानसमापक बता प्रयोजन सूचित किया। एवं च अज्ञानसमाप्तिपूर्वक श्रीहरि से अभेद चाहने वाला अधिकारी है।

गुरु के उपदेश से ही हमें ज्ञान होता है, यह समझाने के लिये गुरु से महान् गुणों का नित्य सम्बन्ध बताते हुए इस श्लोक द्वारा उनका अभिनन्दन किया—**जिनसे**

पञ्चीकृतानि पञ्चमहाभूतानि उच्यन्ते, तानि भूतान्यन्तं लयं यस्य भौतिकस्य जगतस्तत्खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तम्। यद्वा खानिलाग्न्यब्धरित्रीशब्देनापञ्चीकृतानि पञ्च-महाभूतान्युच्यन्ते, तानि भूतान्यन्तं यस्य पञ्चीकृतभूतलक्षणस्य जगतस्तत्खानिलाग्न्यब्ध-रित्र्यन्तमित्यनुपात्तं विशेष्यं बहुव्रीहित्वाज्जगदित्येकं पदमध्याहरणीयम्। अथवा उद्गतमिति कार्यजातमुच्यते। तदेव विशेष्यम्। तत्खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तं कार्यजातं यतो भवतीति क्रियाध्याहारः। (नै.सि.च.)

१. धरित्री यस्यान्तं तद्धरित्र्यन्तमिति भावः।

२. विवर्त्तवाद एव स्वीकृत इति भावः।

३. सम्प्रदायः—सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेतिसम्प्रदायः वेदः। (न्या.कु.प्र.)

४. आदिशब्देन 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' इत्यादि ग्राह्यम्।

अलब्ध्वातिशयं यस्माद् व्यावृत्तास्तमबादयः।
गरीयसे नमस्तस्मा अविद्याग्रन्थिभेदिने ॥२॥

नमस्कारनिमित्तस्वाशयाविष्करणार्थः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्ञापनाय। उचितप्रमाणेति[1] **वाक्येऽप्ययमेवार्थः**। विशिष्टगुणैराचार्यस्य **यस्सम्बन्धः तत्सङ्कीर्तनपूर्विका** गुरोर्नमस्कारक्रिया **प्रदर्श्यत इति शेषः। यद्वा, येयं नमस्कारक्रिया सा स्वसम्प्रदायस्योचितप्रमाणपूर्वकत्वज्ञापनायेति सम्बन्धः।**

अलब्ध्वेति। यस्माद् **गुरोरन्यत्र** अतिशयमलब्ध्वा तमबादयः **प्रत्ययाः विषयाभावादेव व्यावृत्य यस्मिन्नेव परिनिष्ठितास्तस्मै** गरीयसे नम **इत्यन्वयः। तत्र हेतुः** अविद्याग्रन्थिभेदिन **इति। स्वस्मादन्यैरभेद्याविद्याग्रन्थिभेदिन इति। स्वस्मादन्यैरभेद्याविद्याग्रन्थिभेदित्वात् गुरोरेवंविधता सिद्धैवेत्यर्थः।।२।।**

समनन्तरश्लोकाभिप्रायमाह–नमस्कारेति। **नमस्कारस्य निमित्तभूतो यस्स्वस्याशयोऽभिप्रायविशेषः, येनाभिप्रायेण नमस्कारः कृतः, तस्या-विष्करणार्थमुत्तरश्लोकः इत्यर्थः।**

उत्कृष्टतर कुछ न पाकर उत्कर्षसीमा के द्योतक तमप्-आदि प्रत्यय जिनमें ही स्थित हैं, अज्ञानरूप गाँठ खोलने वाले, उन सर्वश्रेष्ठ गुरु को प्रणाम है।।२।। गुरु का नाम लेना निषिद्ध होने से यहाँ नहीं लिया गया। साथ ही हर अध्येता निज गुरु को इस श्लोक से प्रणाम कर ले, इस भाव से भी नामग्रहण नहीं है। गुरु का यही उत्कर्ष है कि वह शिष्य के अज्ञान का निराकरण करे। आचार्य श्रीशंकर ने भगवान् सुरेश्वर को विद्योपदेश किया और उन्हें मोक्षपद प्राप्त कराया था, यह इतिहास प्रसिद्ध है। इसे 'अज्ञानरूप गाँठ को खोलने वाले' कह कर बताया। इससे आचार्य की ब्रह्मनिष्ठता भी कह दी क्योंकि अविद्याग्रन्थि को वही खोल सकता है जो आत्मज्ञानी हो—'एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति' (मु. २.१.१०) यह आथर्वण मन्त्र है। 'गरीयस्' शब्द से स्पष्ट किया कि जो कोई भी गुरु है, उससे आचार्यपाद गुरुतर ही हैं। किं च तमबादि ही नहीं तरबादि भी इन्हीं में स्थिति पाते हैं यह सूचित कर दिया। श्रुति भी 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च' (श्वे. ६.८) कहती है।

जिस अभिप्राय से नमन किया उसे बताते हैं—**यद्यपि अन्य विद्वानों ने इस विषय पर प्रभूत प्रकाश डाला है तथापि गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए, अशुद्ध मति वालों द्वारा जाने न जा सकने वाले, उपनिषदों में प्रतिपादित, तथा**

---

१. 'चोदितप्रमाणेति वा पदच्छेदः, तत्रायमेवार्थः' इति चन्द्रिकाकारः।

वेदान्तोदरसंगूढ संसारोत्सारि वस्तुगम्।
ज्ञानं व्याकृतमप्यन्यैर्वक्ष्ये गुर्वनुशिक्षया ॥३॥
किंविषयं प्रकरणमिति चेत्? तदुपन्यासः–
यत्सिद्धाविदमः सिद्धिर्यदसिद्धौ न किञ्चन[1]।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वेदान्तविज्ञानं[2] वक्ष्य इति सम्बन्धः। किंप्रमाणकं तदिति अत आह– वेदान्तोदरसंगूढमिति। **वेदान्तानामुदरेष्वन्तः संगूढं संछन्नमशुद्धबुद्धिभिरप्राप्यत्वात्। किंविषयं तज्ज्ञानमित्यत्राह**–वस्तुगमिति। **समस्तद्वैतकल्पनाऽधिष्ठानभूतात्मतत्त्वविषयं तदित्यर्थः। बहुभिर्व्याकृतत्वात् किमिति त्वया तत्कथ्यत इत्यत आह**–व्याकृतमपीति। **बहुभिर्व्याकृतमपि** गुर्वनुशिक्षया **'त्वया ग्रन्थः करणीय' इति गुरोरनुशासनात् तदाज्ञापरिपालनायाहं वक्ष्ये इत्यर्थः।।३।।**

सामान्यतस्सिद्धं विशेषतोऽप्रसिद्धञ्च वस्तु विषयो भवति, ब्रह्म तु निस्सामान्यविशेषमद्वितीयत्वाद्, अतः कथन्तद्विषयत्वं प्रकरणस्येत्याक्षिपति–किं विषयमिति। **तत्साधनायोत्तरश्लोक इत्याह**–तदुपन्यास **इति। यद्विषयमिदं प्रकरणं तस्य विषयस्योपन्यास इति यावत्।**

यत्सिद्धाविति। **यस्य चिदात्मनः सिद्धौ अन्तःकरणादाभासोदयात्**

जिसे जान लेने पर समस्त दुःखरूप संसार समाप्त हो जाता है, उस आत्मज्ञान को मैं इस प्रकरण में समझाऊँगा॥३॥ मेरा प्रयास सफल हो इसके लिये प्रणाम किया। यद्यपि उचित होने से प्रणामरूप मंगल का ग्रन्थ प्रारम्भ में आचरण संगत है तथापि वह सफलकृत्य है यह बताते हुए उसमें रुचि उत्पन्न की गयी है। गुरु की आज्ञा से ग्रन्थ की रचना सूचित कर अपना अनभिनिवेश और कृतकार्यत्व स्पष्ट किया।

प्रकरण-प्रतिपाद्य विषय बताया—**अन्तःकरण से जिसका सम्बन्ध होने पर 'यह'–इस प्रकार बताया जा सकने वाला सारा प्रपंच ज्ञात होता है, जिसका**

---

१. यत्सिद्धाविदमः...किञ्चन 'अध्यस्तस्याधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताऽनङ्गीकारात्', 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुन' इति स्मरणात्, ब्रह्मैव सर्वेषामधिष्ठानम्।

२. विज्ञानमिति हस्तलिखितपुस्तके वर्त्तते।मूलानुसारेण 'ज्ञानम्' इत्येव युक्तमिति। 'ज्ञानं वक्ष्ये' इति चन्द्रिकाकारोऽपि। अत्र ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्तिः। अत्र खलु वाक्यप्रयोगानुकूलव्यापारो 'वच' धातोरर्थः। ततोऽन्वयः।

प्रत्यग्धर्मैकनिष्ठस्य याथात्म्यं वक्ष्यते स्फुटम् ॥४॥

विवक्षितप्रकरणार्थप्ररोचनाय अनुक्तदुरुक्ताप्रामाण्यकारणशङ्काव्युदासेन स्वगुरोः प्रामाण्योपवर्णनम्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्फुटतरव्यवहारयोग्यत्वे सति इदमः **प्रमातृत्वादेरनात्मनो जडस्य** सिद्धिः **स्फुरणम्,** यदसिद्धौ **यस्यात्मनोऽन्तःकरणादाभासानुदयादप्रसिद्धौ स्फुटतरव्यवहारायोग्यत्वे सति** न किञ्चन[1] **प्रमात्रादिजडं सिद्ध्यतीति शेषः। तदेवं ब्रह्मणस्सामान्यतस्सिद्धिरुक्ता। अनिर्णीतप्रमाणाप्रमाणकरणिकाया[2] लोकप्रसिद्धेश्चिदात्मनि तस्मिन्भावात्। यद्यपि ब्रह्मासामान्यविशेषं तथापि तस्य सच्चिदात्मादि-साधारणाकारेण सिद्धावपि सर्वप्रपञ्चविभ्रमाधिष्ठाननित्यशुद्धबुद्ध-मुक्ताऽद्वितीयानन्दलक्षणासाधारणाकारेणासिद्धेस्सम्भवति प्रकरणविषयत्वमिति आह**–प्रत्यग्धर्मेति। **देहादिष्वात्मानात्मविवेकादनात्मतया बहिर्भावमापाद्यमानेषु प्रातिलोम्येनान्तरं[3] च वेत्ति इति प्रत्यगुच्यते साक्षी स चासौ धर्मश्चेति** प्रत्यग्धर्मः। **अविद्यातत्कार्ययोः स्वात्मन्यध्यस्तयोरधिष्ठानत्वेन धारणात् प्रत्यग्धर्म एकोऽसाधारणः निष्ठा पर्यवसानमस्येति प्रत्यग्धर्मैकनिष्ठस्तस्य। आत्मानमनतिक्रम्य वर्तत इति यथात्मं तस्य भावो** याथात्म्यमारोपित-**प्रपञ्चस्वभावविरोधि ब्रह्मतत्त्वम् तदेतदितस्ततो विस्तरेण शारीरके दर्शितमित्यस्पष्टमिह तु संक्षिप्यैकत्र विस्पष्टमुच्यत इत्याह**–वक्ष्यते स्फुटमिति।।४।।

स्फुटं वक्ष्यत इत्युक्तत्वात्, गुरुणा सम्यग्वेदान्तार्थो नोक्तो दुरुक्तो वेति गुरोरप्रामाण्यमज्ञानलक्षणं विपर्यासलक्षणं वा प्राप्तं तद्द्वारास्वस्यापि तत्प्राप्तम्, अतस्तन्निरासायोत्तरश्लोक इति सम्बन्धं दर्शयति– विवक्षितप्रकरणेति। **वक्तुमिष्टे**

सम्बन्ध न होने पर विषयतया कुछ भी नहीं जाना जाता तथा जिसे समझ लेने से भूत भौतिक समस्त जगत् निवृत्त हो जाता है उस साक्षी के स्वरूप को यहाँ स्पष्ट किया जायेगा॥४॥

उस अर्थ में रुचि उत्पन्न करने के लिये १. न कहना, २. पूरा न कहना या ३. गलत कहना रूप अप्रामाणिकता के कारणों की शंका हटाते हुए अपने गुरु की

---

१. न कस्यचन इति केचित्।

२. प्रमाणकरणीयलोक...इति चन्द्रिकापाठः। अत्र करणीयः = करणविषय इति भावः।

३. प्रातिलोम्येनान्तरमञ्चतीवेति चन्द्रिकायाम्।

गुरूक्तो वेदराद्धान्तस्तत्र नो वच्म्यशक्तितः ।
सहस्रकिरणव्याप्ते[1] खद्योतः किं प्रकाशयेत् ॥५॥

गुरुणैव वेदार्थस्य परिसमापितत्वात्, प्रकरणोक्तौ ख्यात्याद्य-प्रामाण्यकारणाशङ्का इति चेत्, तद्व्युदासार्थमुपन्यासः[2]–

न ख्यातिलाभपूजार्थं ग्रन्थोऽस्माभिरुदीर्यते ।
स्वबोधपरिशुद्ध्यर्थं ब्रह्मविन्निकषाश्मसु ॥६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रकरणस्यार्थे शिष्याणां रुच्युत्पादनाय अनुक्तदुरुक्तलक्षणयोरप्रामाण्यज्ञप्ति-हेतुभूतयोर्व्युदासेन स्वगुरोः प्रामाण्योपवर्णनं क्रियत इत्यर्थः।

गुरूक्त इति। **उक्तत्वादेवानुक्तिलक्षणमप्रामाण्यं नास्ति, वेदराद्धान्त-स्यैवोक्तत्वात् दुरुक्तिलक्षणमप्रामाण्यञ्च नास्तीति दर्शितम्। तत् किमभ्यधिकं त्वयोच्यत इति? नेत्याह**–तत्रेति। तत्र **वेदान्तराद्धान्ते न** वच्मि **अधिकमिति शेषः। तत्र हेतुः** अशक्तितः इति। **तत्र दृष्टान्तमाह**–सहस्रकिरणेति। **यद्वा, तत्रानुक्तं दुरुक्तं वा न वच्मीत्यर्थः।।५।।**

परिसमापितत्वात् **कात्स्न्येन सम्यगुक्तत्वात्। ख्यात्यादिकम्[3] एवाप्रामाण्यस्य कारणमग्रहणान्यथाग्रहणपूर्वकत्वात् ख्यात्याद्यर्थितायाः। तर्हि गुरुणैव वेदान्तराद्धान्तस्योपदेशसाहस्रिकादिप्रकरणे स्फुटं सम्यगुक्तत्वात् प्रकरणोक्ति-स्तवानर्थिकेत्यत आह**–स्वबोधेति। **निकषन्ति येषु हेम परीक्षितुं ते निकषाश्मानः। इह तु ब्रह्मविद एव निकषाश्मानस्तेषु स्वबोधस्य परिशोधनार्थमेतत् प्रकरणम्।**

प्रामाणिकता बताते हैं। आप्त गुरु द्वारा बताया होने से से विषय रुचिकर हो यह स्वाभाविक है—**श्रीगुरु द्वारा बताये वेदसिद्धान्त से अधिक मैं कुछ नहीं बताऊँगा क्योंकि उनसे अधिक बताने की मुझमें क्षमता नहीं। जब भगवान् भास्कर का प्रकाश व्याप्त हो तब जुगनू उस रोशनी में बढ़ोत्तरी नहीं कर सकता**।।५।। वैदिकता से प्रामाणिकता तथा गुरु-प्रबोधितता से साम्प्रदायिकता सूचित की।

जब वेद के पुरातन सिद्धान्त को गुरु ने ही बता दिया तो मेरा प्रयास प्रसिद्धि आदि अर्जित करने के लिये होगा, फलतः कृति में अप्रामाणिकता होगी, इस शंका की निवृत्ति के लिये कहा—**यह ग्रन्थ हम प्रसिद्धि, धनादि, या पूज्यता अर्जित करने के लिये**

१. सहस्रकिरणव्याप्ते 'गगने' इति शेषः।
२. 'आह' इति केचित्।
३. आदिपदेन लाभपूजानाम् ग्रहणम्।

अनर्थानर्थहेतुपुरुषार्थतद्धेतुप्रकरणार्थसंग्रहज्ञापनायोपन्यासः–

ऐकात्म्याप्रतिपत्तिर्या स्वात्मानुभवसंश्रया ।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अनुक्तौ स्वबोधस्य परैः परीक्षितुमशक्यत्वाद्। एवं वक्तुः प्रयोजनमिदं दर्शितम्। श्रोतृणान्तु 'वक्ष्यते स्फुटमि'त्यत्रैव प्रयोजनं दर्शितम्।।६।।

तर्हि कियन्तोऽर्थाः प्रकरणेन प्रतिपाद्यन्त इत्याह–अनर्थेति। **अनर्थः, अनर्थहेतुः, पुरुषार्थः, तद्धेतुः इति प्रकरणेन चत्वारोऽर्थाः पूर्वोक्तविषयस्यैव प्रतिपादनाय प्रदर्श्यन्ते। ते चोत्तरश्लोकाभ्यां संगृह्योच्यन्त इत्यर्थः।**

ऐकात्म्येति। **एकोऽद्वितीय आत्मा एकात्मा तस्य भावः ऐकात्म्यं तद्विषया अप्रतिपत्तिरैकात्म्याप्रतिपत्तिरित्यविद्याया विषयो दर्शितः। इदानीमाश्रयोऽपि स एवेत्याह**–स्वात्मेति। **स्वश्चासौ आत्मेति स्वात्मा; स्वशब्देनारोपितात्मभावान् अहंकारादीन् व्यावर्तयति। स्वात्मा चासौ अनुभवश्चेति स्वात्मानुभवः स एव संश्रयो यस्यास्सा तथोक्ता। एवंभूताऽविद्या संसारस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य**

नहीं लिख रहे। इसे तो इसलिये लिख रहे हैं कि आत्मवेत्ता गुरुजन रूप कसौटी पर हमारा ज्ञान परखा जाये।।६।।

परखने के लिये उपस्थापित वस्तु स्वच्छतम होती है, यह प्रसिद्ध है, अतः यहाँ प्रकट विचार सर्वथा परिष्कृत है यह ध्वनि है। ख्याति आदि यदि प्रयोजन हो तो तदनुकूल प्रतिपादन होने से प्रामाणिक न होगा। जैसे प्रशंसादि में तात्पर्य वाले अर्थवादों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध रह जाती है, वैसे ही ग्रन्थ की स्थिति होगी। अतः स्पष्ट किया कि वे सब प्रयोजन नहीं। ज्ञान की शुद्धि की पहचान इसलिये आवश्यक है क्योंकि तभी गलतियों को सुधारा जा सकता है। वस्तुतः तो यह विनयोक्तिमात्र है, आचार्य के ज्ञान में न्यूनता की गन्ध भी सम्भव नहीं। अतएव ग्रन्थान्त में वे स्वयं कहेंगे कि दुःखी जनता के जन्मादि प्रवाह-अवरोध के उपाय-प्रदर्शन के लिये यह ग्रन्थ है (४.७६)। यह भी शंका नहीं की जा सकती कि पूर्वाचार्य की रचनाओं से प्रस्तुत प्रयास गतार्थ है क्योंकि सम्प्रदाय परम्परा का तात्पर्य ही यह है कि प्रत्येक आचार्य अपने अनुभव से परिशोधित कर विषय को यथोचित व यथावश्यक परिष्कृत कर उपस्थापित करें। बोधशोध व उपदेश दोनों प्रयोजन विरुद्ध नहीं, कारण कि उपदेशन करते हुए स्वयं ही शोधन होता जाता है। अतः वस्तुतः यहाँ ब्रह्मवित्त्वेन स्वयं का ही परामर्श समझना चाहिये। आचार्य स्वयं ब्रह्मवेत्ता हैं अतः जब वे ब्रह्मविचार व्यक्त करेंगे तब स्वयं अभिव्यक्ति का आलोचन हो जायेगा। यहाँ तक ग्रन्थ की भूमिका या प्राक्कथन समझना चाहिये।

प्रस्तुत प्रकरण में अनर्थ, उसका कारण, जीवों का इष्ट पुरुषार्थ और उसका

साऽविद्या संसृतेर्बीजं[1] तन्नाशो मुक्तिरात्मनः ॥७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

बीजमुपादनमनर्थहेतुञ्च[2] दर्शयति–साऽविद्येति। **इदानीं पुरुषार्थं दर्शयति**–तन्नाशः **इति**। आत्मनो मुक्तिर्नाम **तस्याः अविद्याया निवृत्तिः। नान्या भावरूपोपासनासाध्याऽस्तीत्यर्थः।।७।।**

साधन—इन्हें बताना है, यह सूचित करते हैं—**अनुभव-स्वरूप आत्मा का अपनी ही वास्तविकता का अज्ञान ही 'मैं करने व भोगने वाला हूँ' इत्यादि रूप संसार का कारण है। उसका नाश, अर्थात् आत्मा का अपनी वास्तविकता को समझ लेना ही मोक्ष है**॥७॥ संसार ही अनर्थ है। संसार से घट पटादि वस्तुओं को न समझा जाये, क्योंकि वे स्वरूपतः अनर्थ नहीं, इसलिये 'मैं करने व भोगने वाला हूँ' इत्यादि संसार का स्वरूप स्पष्ट किया। संसार का हेतु अविद्या है यह ग्रन्थमुख में कहा जा चुका है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गी. ५.१५) इत्यादि भगवद्वचन इसमें प्रमाण है। युक्तितः भी यही संगत है। संसार भेदमूलक है और भेद अविचारमात्रसिद्ध होने से मिथ्या अतएव आज्ञानिक है। भेद की निर्युक्तिकता का विस्तार आगे (२.७५) किया जायेगा। किं च आत्मस्थिति में कोई दुःख नहीं यह सौषुप्तादि अनुभव और इस लोकव्यवहार से सिद्ध है कि दुःख का ही कारण जिज्ञास्य होता है, स्वास्थ्यरूप आनन्द का नहीं। पुरुषार्थ मोक्ष ही है। यद्यपि पुरुषार्थ चतुष्टय प्रसिद्ध है तथापि मोक्ष से भिन्न स्थितियों में गौण पुमर्थता ही समझनी चाहिये। प्राच्य दर्शन किसी-न-किसी रूप में मोक्षवादी हैं। पाश्चात्य दर्शन-परम्परा ने मोक्ष की पुरुषार्थता को प्रमुखता नहीं दी। पाप और उसके फल से छुटकारा, जो कि प्रभु या मसीहे की शरण लेने का फल है, इतना ही प्रायः ईसाई आदि का मोक्ष है। आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति इस प्रकार अभिप्रेत समझी भी जा सके तो भी परमानन्द प्राप्ति तो सर्वथा अनभिहित है। भारतीय आस्तिकों में जो मोक्ष में सुख नहीं मानते वे केवल पुण्यफलभूत सुख का निषेध करते हैं। नास्तिकों में तो केवल नकारात्मक मोक्ष मानने की दृढ प्रवृत्ति है। वस्तुतः जगत्-सत्यत्व का आग्रह रखने पर जैसा भी मोक्ष माना जा सकता है वह बन्धन ही है; 'द्वितीयाद्वै भयम्' (बृ. १.४.२), 'उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयम्' (तै. २.७.१)—यह वैदिक

१. संसृतिः—कर्तृत्वभोक्तृत्वरूपसंसारः। स एवानर्थहेतुः। अविद्यैव मुख्यतयाऽनर्थहेतुः, किन्तु कार्यकारणयोरभेदात् तादृशसंसारोऽपि अनर्थहेतुः भवति।

२. अनर्थमनर्थहेतुं चेति चन्द्रिकानुरोधात् पठनीयम्।

पुरुषार्थहेतोरवशिष्टत्वात् तदभिव्याहारः–

वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञानाशुशुक्षणिः[1] ।
[2]दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माप्रतिकूलतः ॥८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रतिज्ञातेषु त्रयाणामुक्तत्वाच्चतुर्थस्योपन्यासायोत्तरश्लोकइत्याह–पुरुषार्थहेतोरिति। वेदावसानेति। **तत्र** सम्यग्ग्रहणमुपासनाज्ञाननिवृत्त्यर्थम्। **सम्यग्ज्ञानाग्नेरविद्यातत्कार्यादिरशेषतो निवर्त्तकत्वलक्षणातिशयाभिप्रायेण दन्दहीतीति यङ्लुक् प्रयोगः। आशुशुक्षणिसादृश्यञ्च समर्थस्यापि प्रतिबन्धवशाद्दाह्यैकदेशस्य प्रारब्धभोगादेरनिवर्तकत्वाभिप्रायेण। एवं मोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनं ज्ञानमेवेत्युक्तम्। तत्र कर्मणो ज्ञानेन समुच्चितस्यासमुच्चितस्य वा मुक्तिसाधनत्वं विस्तरेण निराचिकीर्षुस्संक्षिप्य तावत् प्रतिजानीते**–न कर्मेति। **तत्र हेतुः** अप्रतिकूलत **इति। निवर्त्येन बन्येन स्वरूपतो विषयद्वारा वा जडस्याप्रमाणभूतस्य कर्मणो विरोधाभावादित्यर्थः।।८।।**

डिण्डिम है। अतः भोगसाम्यरूप सायुज्य को ही मोक्ष मानने वाले रामानुजीय दर्शन भी श्रुति-सम्मत मोक्ष को नहीं स्वीकारता यह जानना चाहिये। अतएव नितान्त द्वैती माध्वादि भी श्रौत मोक्षवादी नहीं समझे जा सकते। एवं च अद्वैत दर्शन ही वास्तविक मोक्षवादी है जिसमें मोक्ष ही स्वरूप अतः सत्य है।

पुरुषार्थ का साधन बताना अवशिष्ट है, उसे बताते हैं—**वेदसिद्धांत के बोधक वाक्य-श्रवण से उत्पन्न यथार्थ ज्ञानरूप अग्नि आत्मसम्बन्धी अज्ञानरूप अन्धकार को ऐसा समाप्त कर देती है कि वह पुनः हो न पाये। यह कार्य मानस या कायिक कर्म नहीं कर सकते क्योंकि जड कर्म न स्वरूप से अविद्या-विरोधी है और न उनके विषय ही उसके विरोधी हैं**॥८॥ यतः अज्ञान बन्धनिदान है अतः ज्ञान ही मोक्षहेतु सम्भव है। यथार्थ ज्ञान प्रमाण से ही होता है; अप्रमाणजन्य ज्ञान

१. सम्यग्ज्ञानाशुशुक्षणिः—आशुशुक्षणिः = अग्निः आशोष्टुमिच्छति, आङ्पूर्वाच्छुष्यतेः। (दि.प.अ.) सन्नन्तात् (अङि शुषेः सनश्छन्दसि) (उ. २.१०६) इत्यनिः। छान्दसानामपि क्वचिद्भाषायां प्रयोगः। अध्वर्युक्रतु—(२.४.४) इति ज्ञापकात्। आशु शीघ्रं आशुं व्रीहिं वा शु क्षणोति। 'क्षणु हिंसायाम्' (त.उ.से.) इन् (उ. ४.११८) शु इति पूजार्थमव्ययम्। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'(गीता ४.३७)।

२. दन्दहीति—समूलघातं हन्ति। ऐकान्तिकात्यन्तिकोच्छेदं करोतीति भावः।

प्रतिज्ञातार्थसंशुद्ध्यर्थं पूर्वपक्षोक्तिः। तत्र ज्ञानमभ्युपगम्य तावदुपन्यासः–

मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वाज्ज्ञानं तत्र करोति किम्।
कथं चेच्छृणु तत्सर्वं प्रणिधाय मनो यथा ॥९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थनिर्णय इति न्यायात् ज्ञानमेव मुक्तिसाधनं न कर्मेति प्रतिज्ञातस्यार्थस्य संशुद्ध्यर्थं पूर्वपक्षोक्तिः क्रियत इति उत्तरग्रन्थसन्दर्भस्य तात्पर्यमाह–प्रतिज्ञातेति। तत्र पूर्वपक्षो द्विविधः–यथाऽवस्थिताऽऽत्मवस्तुविषयं ज्ञानं केचिदिच्छन्ति, केचिन्नेच्छन्ति। तत्र ये तावदेवंविधं ज्ञानमभ्युपगम्यापि कर्मैव मोक्षसाधनमिति मन्यन्ते तन्मतप्रदर्शनाय 'अभ्युपेत्यैवमुच्यत' इत्यतः (श्लो. १४) प्राक्तनो ग्रन्थ इत्याह–तत्र ज्ञानमिति। ज्ञानिनोऽपि यागादि, श्रुतिचोदितकर्मणामकरणे[1] प्रत्यवायहेतूनामवश्यानुष्ठेयत्वात्, तैरेव मोक्ष-सिद्धेर्विद्यमानमपि विज्ञानमकिञ्चित्करमित्याह–मुक्तेरिति[2]। कर्मणामनित्य-फलसाधनानां[3] कथं नित्यमोक्षसाधनत्वमिति शङ्कते–कथञ्चेदिति। स्वरूपावस्थानलक्षणायाः मुक्तेरसाध्याया अपि प्रतिबन्धतिरोधानात्सिद्धिं सम्भावयाम इत्याह–शृण्विति।।९।।

संसारस्याविद्याहेतुत्वमभ्युपगच्छतापि कर्महेतुत्वस्य 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति' 'कर्मणा बध्यते जन्तु'रित्यादिश्रुतिस्मृतिभ्योऽवश्याश्रयणीयत्वात्

असमीचीन होने से मोक्षोपयोगी कथमपि सम्भव नहीं। अतः प्रमाणभूत वेदान्तों का मननादिसहकृत श्रवण ही मोक्ष का असपत्न उपाय है।

प्रतिज्ञात वास्तविकता के निर्णयार्थ 'ज्ञान से कोई लाभ नहीं'—ऐसा मानने वाले सिद्धान्त की ओर से युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। पहले उनका मत बताते हैं जो निष्फल ही सही, वास्तविक ज्ञान स्वीकारते हैं; **मोक्षलाभ क्रियासाध्य है, उसके लिये ज्ञान क्या कर सकता है? कर्म कैसे मोक्ष देगा? बताते हैं, ध्यान देकर सारी प्रक्रिया सुनो॥९॥ वेदादि में जिसे करने का निषेध है उसे, तथा कामनाप्रयुक्त कर्म को न करते हुए जो व्यक्ति उन कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान**

१. 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुह्वादि'त्यादियावज्जीवादिश्रुतिचोदितकर्मणामकरणइति भावः।
२. कर्मणैव मोक्षस्य सिद्धत्वात् ब्रह्मज्ञानमनर्थकं विद्यमानस्याप्यकिञ्चित्करत्वादिति भाट्टाः प्रतिपेदिरे इति भावः।
३. 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति च श्रुतेः।

अकुर्वतः क्रियाः काम्या निषिद्धास्त्यजतस्तथा।
नित्यनैमित्तिकं कर्म विधिवच्चानुतिष्ठतः ॥१०॥
किमतो भवति?
काम्यकर्मफलं तस्माद्देवादीमं न ढौकते।
निषिद्धस्य निरस्तत्वान्नारकीं नैत्यधोजनिम् ॥११॥

देहारम्भकयोश्च धर्माधर्मयोर्ज्ञानिना सह कर्मिणः समानौ चोद्यपरिहारौ–

वर्तमानमिदं याभ्यां शरीरं सुखदुःखदम्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

काम्यप्रतिषिद्धविहिताकरणलक्षणनिमित्तपरिहारेण[1] नैमित्तिकस्य तस्य स्वरूपावस्थानच्युतिलक्षणस्य परिहारात् स्वरूपावस्थितिलक्षणा मुक्तिर्ज्ञानं विनापि सिद्ध्यतीत्याह–अकुर्वत इति। मुक्तिर्भवतीति शेषः।।१०।।

अतः काम्यादिवर्जनादिसाधनात् स्वरूपेण साधनान्मुक्तिः[2] केन द्वारेण भवतीति पृच्छति–किमत इति। देवादि देवतादिफलं[3] काम्यकर्मत्यागिनम् इमं न ढौकते न स्पृशति निमित्ताभावात् निषिद्धस्य निरस्तत्वात् परिहृतत्वात् नारकीं नरकसम्बन्धिनीं जनिं शरीरग्रहणं न प्राप्नोति। उपलक्षणमेतत् तिर्यगादिजन्मप्राप्तेरपि।।११।।

भवत्वेवमप्रारब्धफलयोः कर्मणोः परिहारः, प्रारब्धफलयोस्तु कथमित्यत आह–देहेति। प्रारब्धफलयोः कर्मणोः भोगादेव क्षय इत्यत्र नावयोर्विवाद इत्युत्तरश्लोकस्य तात्पर्यमुक्तम्।।१२।।

करता है जिन्हें प्रतिदिन या कारणविशेष उपस्थित होने पर करने का शास्त्रीय विधान है, उसकी मुक्ति हो जाती है॥१०॥

ऐसा करने से क्या होगा, यह बताया—**क्योंकि कामना से कर्म नहीं किया गया अतः कामनापूर्वक किये कर्म का जो देवतास्वरूप की प्राप्ति आदि फल होना चाहिये, वह प्राप्त नहीं होगा। निषिद्ध कर्म न करने से शरीर-ग्रहणरूप नरक का नीच जन्म न होगा॥११॥** अवश्य करणीय कर्म—नित्य व नैमित्तिक—किसी फल के उत्पादक नहीं माने जाते।

वर्तमान देह में जिन पुण्य-पापों ने फल प्रदान प्रारम्भ कर दिया उनके विषय में

१. 'काम्यप्रतिषिद्धकरण-विहिताऽकरणलक्षण...' इत्यादिचन्द्रिकानुसारीपाठो युक्तः।
२. 'स्वरूपावस्थानलक्षणामुक्तिः' इति चन्द्रिकापाठ इहापि भवेत्। ३. देवत्वादीत्यर्थः।

आरब्धं पुण्यपापाभ्यां भोगादेव तयोः क्षयः ॥१२॥

काम्यप्रतिषिद्धकर्मफलत्वात् संसारस्य तन्निरासेनैव अशेषानर्थनिरासस्य सिद्धत्वात् किं नित्यानुष्ठानेनेति चेत्? तन्न। तदकरणादप्यनर्थप्रसक्तेः–

नित्यानुष्ठानतश्चैनं प्रत्यवायो न संस्पृशेत्।
अनादृत्यात्मविज्ञानमतः कर्माणि संश्रयेत् ॥१३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

काम्यप्रतिषिद्धकर्मनिमित्तत्वात् संसारस्य भवतु तत्परिहारेण परिहारः, नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं पुनरनुपयुक्तं तयोस्सुखदुःखासाधनत्वात् मोक्षस्य कर्मजन्यत्वानङ्गीकाराच्चेत्याक्षिपति–काम्येति। **समाधत्ते**–न, तदकरणादपीति। **नित्याकरणस्य संसारानर्थकारणप्रत्यवायहेतुत्वात्। प्रत्यवायपरिहारद्वारेण तदनुष्ठानमप्युपयुक्तम्। कथमकरणादभावात् प्रत्यवायस्य भावस्योत्पत्तिरिति च नाशङ्कनीयम्। योग्यानुपलब्धेरेव ज्ञानहेतुत्ववदकरणस्यापि प्रत्यवाय-हेतुत्वोपपत्तेरिति भावः। तदेतदाह**–नित्यानुष्ठानत इति। **अवान्तरप्रकरण-मुपसंहरति**–अनादृत्येति। **अभ्युपगतेऽपि ज्ञाने कर्मैव मोक्षसाधन-मित्यर्थः।।१३।।**

ज्ञान भी रोक नहीं लगा सकता ऐसा ज्ञान से मोक्ष मानने वाले को स्वीकृत है; अतः इस विषय में कर्म से मोक्षवादी और ज्ञान से मोक्षवादी का ऐकमत्य है कि प्रारब्ध भोग से ही निवर्त्य है।—**सुख-दुःख देने वाला यह वर्तमान शरीर जिन पुण्य-पापों से प्रारम्भ हुआ है, वे तो भोग चुकने पर समाप्त हो जायेंगे**॥१२॥

इच्छापूर्वक किये कर्म व निषिद्ध कर्मानुष्ठान संसाररूप फल देते हैं। इन दोनों के अभाव में अनर्थनिवृत्ति अर्थसिद्ध है। जब इतना ही पर्याप्त है तब अवश्य कर्तव्य नित्य-नैमित्तिक कर्म व्यर्थ हैं, ऐसा नहीं मान लेना चाहिये; कारण कि उन्हें करने से यद्यपि कोई फल नहीं होता तथापि न करने से अनर्थ-प्राप्ति निश्चित है।

जो तो अवश्य करणीय कर्म कर लेता है उसे उन्हें न करने से होने वाला पाप भी नहीं होता जो किसी अनर्थ का कारण बने। अतः कर्म से मोक्ष होने के कारण आत्मा को जानने का निष्फल प्रयास न कर उक्त प्रकार से कर्म ही करने चाहिये।।१३॥

अभ्युपेत्यैवमुच्यते, न तु यथावस्थितात्मवस्तुविषयं ज्ञानमस्ति तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्।

यावन्त्यश्चेह विद्यन्ते श्रुतयः स्मृतिभिः सह।
विदधत्युरुयत्नेन कर्मातो भूरिसाधनम् ॥१४॥
स्यात् प्रमाणासम्भवो भवदपराधाद् इति चेत्? तन्न। यतः–
यत्नतो वीक्षमाणोऽपि विधिं ज्ञानस्य न क्वचित्।
श्रुतौ स्मृतौ वा पश्यामि विश्वासो नान्यतोऽस्ति नः ॥१५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अभ्युपगतञ्चेत् ज्ञानं तत एव मुक्तिः स्वीक्रियतां 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती'त्यादिश्रुतेरित्याशङ्क्य, इदानीं द्वितीयं[1] पूर्वपक्षमाह–अभ्युपेत्येति। **प्रमाणाभावमेव दर्शयति**–यावन्त्य इति। उरुयत्नेन **महता तात्पर्येण** भूरिसाधनं **मोक्षं प्रत्यपि पुष्कलं कारणमित्यर्थः।।१४।।**

वेदानां शक्तितात्पर्यापरिज्ञानविजृम्भितमिदं प्रमाणाभाववचनमिति शङ्कते–स्यात्प्रमाणेति। **एतदुत्तरत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति**–तत्रेति। **अध्ययनविधि-परिगृहीतानां[2] वैदिकशब्दानां निष्प्रयोजनतानुपपत्तेः प्रयोजनस्य च प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यत्वात् प्रवृत्तिनिवृत्योश्च क्रियाविषययोः परिनिष्पन्ने वस्तुन्यसम्भवात् सिद्धार्थे वेदान्तानां तात्पर्यं न सम्भवतीत्याह**–यत्नत इति। यत्नतस्तात्पर्यतः वीक्षमाणः **पर्यालोचयन्नपि ज्ञानस्य** विधिं **विज्ञानविषयं विधिं 'द्रष्टव्य' इत्यादिवाक्यं पश्यन्नपि प्रदर्शितप्रयोजकपर्यालोचनया** न पश्यामि, **कर्मप्रवृत्तिहेतुभूतकर्त्रात्मज्ञानविधिपरत्वात्तस्य मोक्षसाधनज्ञानविषयत्वा-भावादित्यर्थः। श्रुतिस्मृतिनिरपेक्षाणामपि मोक्षाय ज्ञाने प्रवृत्तिस्सौगतादेर्दृश्यत इत्यत्राह**–विश्वास इति। **वेदप्रमाणानुसारिणामस्माकं श्रुतिस्मृतिव्यतिरेकेण न प्रवृत्तिः, इतरप्रवृत्तेर्भ्रान्तिमूलकतया प्रामाणिकत्वाऽनङ्गीकारादित्यर्थः।।१५।।**

'ज्ञान से कोई लाभ नहीं' यह तो इतना मानकर कहा कि आत्मस्वरूप का ज्ञान हुआ करता है। वस्तुतः तो आत्मा की वास्तविकता का ज्ञान होता ही नहीं क्योंकि उसका उत्पादक कोई प्रमाण नहीं। **सभी विद्यमान स्मृतियों व श्रुतियों का कर्मविधान में ही तात्पर्य है, वे कर्म का ही विधान करती हैं, अतः कर्म ही मोक्ष का पुष्कल साधन है**॥१४॥

'सम्भव है प्रमाण हो, आपके ढूँढने की कसर से आपको न मिला हो?'—ऐसी

---

१. श्लोक ९ अवतरणिकाटीकायामुपन्यस्तम्।
२. 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै.आ. २.१५.७) इति श्रुतेः।

स्यात् प्रवृत्तिरन्तरेणापि विधिं, लोकवद् इति चेत्? तन्न। यतः–
अन्तरेण विधिं मोहाद्यः कुर्यात्सांपरायिकम्।
न तत्स्यादुपकाराय भस्मनीव हुतं हविः ॥१६॥

अभ्युपगतप्रामाण्यवेदार्थविज्जैमिन्यनुशासनाच्च–
आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमितोऽन्यथा।
इति साटोपमाहोच्चैर्वेदविज्जैमिनिः स्वयम् ॥१७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्ञानादज्ञाननिवृत्तेरन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् किमत्र विधिनेत्याशङ्क्योत्तर-श्लोकमवतारयति–स्यात्प्रवृत्तिरिति। **सत्यमज्ञाननिवृत्तिमात्ररूपं चेत् कैवल्यं तदैवं स्यात्, नत्वेवम्, अशरीरत्वलक्षणस्य कैवल्यस्य देहपातोत्तरकालीनतया अदृष्टफलत्वात् ज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्साधनत्वावगमानुपपत्तेः, जीवन्मुक्तेश्च परिभाषामात्रत्वादित्याह**–अन्तरेणेति। साम्परायिकं **पारलौकिकफलं कर्म।।१६।।**

न केवलं युक्तिभिरेव, आप्तवाक्यादपि वस्तुपरत्वं वेदस्य न सिध्यतीत्याह–अभ्युपगतेति। **अभ्युपगतं प्रामाण्यं यस्य सोऽभ्युपगतप्रामाण्यः स चासौ** वेदार्थविच्चेति **समासः। तस्य जैमिनेः** अनुशासनाद् **वाक्यादित्यर्थः।** आम्नायस्य **वेदस्य** क्रियार्थत्वात् **कार्यपरत्वाद् अतः**[1] अन्यथाऽक्रियार्थत्वे

शंका मत रखना, क्योंकि—**बहुत प्रयत्न से खोजने पर भी वेद व तदनुसारी स्मृतियों में ज्ञान की विधि कहीं न मिली। इनसे अतिरिक्त ग्रन्थों पर तो विश्वास नहीं किया जा सकता**॥१५॥

'देखने में आता है कि जिसे जान लेते हैं उसका अज्ञान हट जाता है। इस अनुभव के अनुसार आत्मा को जानने की शास्त्रीय विधि के बिना भी उसे जानने का प्रयत्न सम्भव है। और उसे जान लेने पर अनर्थ निवृत्त हो जायेगा'।—ऐसा भी नहीं कह सकते। मोक्ष तो मृत्यु के बाद होता है, अतः उसके सम्बन्ध में लोक दृष्ट नियम नहीं, शास्त्रीय नियम ही कार्यकारी होता है।—**विधि के बिना अविवेक से यदि कोई पारलौकिक कर्म किया जाये, तो वह राख में डाली सामग्री की तरह कोई लाभ नहीं करता**॥१६॥ मोक्ष भी पारलौकिक फल होने से यथाविधि ही प्राप्य है।

वेदार्थ के ज्ञाता, जिनकी प्रामाणिकता सर्वमान्य है, ऐसे महर्षि जैमिनी ने भी यही

१. अत्र 'इत' इतिमूलानुरोधात्पठनीयम्।

मन्त्रवर्णाच्च–
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
इति मन्त्रोऽपि निःशेषं कर्मण्यायुरवासृजत् ॥१८॥

ज्ञानिनश्च वस्तुनि वाक्यप्रामाण्याभ्युपगमात्, वाक्यस्य च क्रियापदप्रधानत्वात्, ततश्च अभिप्रेतज्ञानाभावः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सत्यानर्थक्यं, **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामि'ति** वदता **दर्शितमित्यर्थः।** साटोपं **ससम्भ्रमं** आहेति **क्रियाविशेषणम्।।१७।।**

वेदवचनादप्येवमित्याह–मन्त्रवर्णाच्चेति। **अध्यात्माधिकारे पठितोऽयं मन्त्रो मुमुक्षोरपि** निश्शेषमायुः कर्मणि **कर्मानुष्ठान एव** अवासृजद् **उत्सृष्टवान् विनियुक्तवान्, यावज्जीवं कर्मैवानुष्ठेयमिति दर्शितवानित्यर्थः।।१८।।**

एवं तात्पर्याभावाद्वस्तुपरतेत्युत्तरश्लोकतात्पर्यमाह[1]–ज्ञानिनश्चेति। ज्ञानिनोऽपि वस्तुनि **वाक्यं प्रमाणमित्यत्र न विवादः। तच्च वाक्यं सत्येव क्रियापदे निराकांक्षबुद्ध्युत्पादकम्। 'शुक्लां दण्डेन गाम्' इत्येतावन्मात्रप्रयोगे सति, असति क्रियापदे, निराकांक्षबुद्ध्युत्पत्त्यदर्शनात्। एवञ्च वेदस्यापि क्रियापरत्वात्, क्रियायाश्च साध्यैकविषयत्वात्, न सिद्धवस्तुपरो वेदभागोऽस्तीत्यर्थः।**

पदार्थानां स्वरूपेण प्रमाणान्तरसिद्धत्वाच्छ्रोतृणां तावन्मात्रप्रतिपत्तये पदानां प्रयोगायोगात्, संसर्गबोधाय तेषां प्रयोगोऽभ्युपेयः। स च संसर्गः कारकाणां न

कहा है—**वेद का तात्पर्य कुछ करना बताने में ही है। जो वेदभाग कुछ करने को न बताये वह बिना तात्पर्य से कहा जानना चाहिये। जैमिनि ने बहुत विचारपूर्वक यह सिद्ध किया है**॥१७॥मीमांसासूत्र १.२.१ का यहाँ परामर्श है।

आत्मा के बारे में बताने को प्रवृत्त हुआ वेदभाग भी यही कहता है—**'कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे'। यह मन्त्र (ईश. २) भी सम्पूर्ण जीवन को कर्म से व्याप्त करता है**॥१८॥

ज्ञान से मोक्ष मानने वाले भी आत्मा के विषय में वेदवाक्य को ही प्रमाण मानते हैं। वाक्य तभी होता है जब उसमें क्रियावाचक कोई शब्द हो। अतः वाक्य क्रिया बताने वाला ही हो सकता है। इसलिये औपनिषदों का अभीष्ट कर्मासम्बद्ध ज्ञान कथमपि सिद्ध

१. 'एवं तात्पर्याभावाद् वस्तुपरत्वं वेदस्य निराकृत्य सांप्रतं सिद्धार्थावबोधने सामर्थ्याऽभावादपि पदानां न वस्तुपरता—इत्युत्तरश्लोकतात्पर्यमाह' इति चन्द्रिका पाठः स एवात्र बोध्यः।

विरहय्य क्रियां नैव संहन्यन्ते[1] पदान्यपि।
न समस्त्यपदं वाक्यं यत्स्याज्ज्ञानविधायकम् ॥१९॥
ज्ञानाभ्युपगमेऽपि न दोषः। यतः–
कर्मणोऽङ्गाङ्गिभावेन स्वप्रधानतयाऽथ वा।
सम्बन्धस्येह संसिद्धेर्ज्ञाने सत्यप्यदोषता[2] ॥२०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

क्रियां विनेति सर्वपदानां कार्यान्विते शक्तिरित्याह–विरहय्येति। **न च मन्तव्यं पदानां कार्यपरत्वेऽपि वाक्यात्सिद्धं वस्तु प्रतिपत्स्यामह इति, पदानामेव संहत्यार्थमभिदधतां वाक्यत्वात् तद्व्यतिरिक्तवाक्यस्याभावादित्याह**–न समस्तीति॥१९॥

एवं केवलेभ्यः कर्मभ्यः कैवल्यं, न सिद्धवस्तुविषयं ज्ञानमस्तीत्युक्तम्। इदानीं ज्ञानाभ्युपगमेऽपि, न तावन्मात्रं कैवल्यसाधनं, किन्तु कर्मसमुच्चित-मित्युत्तरश्लोकसम्बन्धमाह–ज्ञानेति। **कर्मणो नित्यनैमित्तिकादेरङ्गत्वेन ज्ञानस्य 'यदेव विद्यया करोती'तिवाक्यात्,** तदङ्गित्वेन वा **'यज्ञेन विविदिषन्ती' त्यादिवाक्येभ्यः,** स्वप्रधानतया **'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सहे' त्यादिश्रुतिभ्यः परस्परं** सम्बन्धस्य **समुच्चयस्य** इह **कैवल्ये फले सिद्धेः** सत्यपि ज्ञाने **कर्मणः कैवल्यसाधनत्वे न कश्चिद्दोष इत्याह**–कर्मण **इति॥२०॥**

नहीं हो सकता।—**क्रिया के बिना शब्दों का अर्थ भी जाना नहीं जा सकता। बिना शब्दों का तो कोई वाक्य सम्भव नहीं जो क्रिया को छोड़ ज्ञान में तात्पर्य रखे। जब घटक ही क्रिया-सम्बद्ध हैं, तब तद्घटित वाक्य क्रिया-सम्बद्ध होना निश्चित है**॥१९॥ शब्दार्थ का प्राथमिक ज्ञान अन्यों के व्यवहार से होता है यह मान्य रीति है। बालक सुनता है कि किसी ने किसी अन्य को कहा 'गाय लाओ' और देखता है कि जिसे कहा गया वह सास्नादिवाले पदार्थ को ले आया। अतः बालक को 'गाय' शब्द का जो अर्थ ज्ञात होता है वह लाना-क्रिया से सम्बद्ध ही होता है। इसी मान्यता से यहाँ कहा कि शब्दार्थ क्रिया-सम्बद्ध होता है।

यदि मान भी लिया जाये कि वाक्य का तात्पर्य केवल ज्ञान में सम्भव है, तब भी हानि नहीं, क्योंकि—**या ज्ञान कर्म का अंग होगा, या कर्म ज्ञान का अंग होगा और या दोनों की बराबर प्रधानता होगी। इस प्रकार मोक्ष के लिये ज्ञान-कर्म**

१. न संहन्यन्ते—अन्वयबोधजनकवाक्यघटकतां न लभन्तइति भावः।
२. सत्यप्यदोषत इति पाठान्तरम्।

यस्मात् ज्ञानाभ्युपगमेऽनभ्युपगमेऽपि न ज्ञानान्मुक्तिः–
अतः सर्वाश्रमाणां हि वाङ्मनःकायकर्मभिः[1]।
स्वनुष्ठितैर्यथाशक्ति मुक्तिः स्यान्नान्यसाधनात् ॥२१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

निरपेक्षं[2] ज्ञानं मुक्तिसाधनं न भवतीत्युक्तार्थोपसंहारभूतोत्तर-श्लोकगतातश्शब्दपरामृष्टं हेतुं दर्शयति–यस्मादिति। **नान्यसाधनत्वात् केवलात् ज्ञानान्मुक्तिः[3] स्यादित्यर्थः॥२१॥**

का समुच्चय आवश्यक होने से कर्म की मोक्षसाधनता पर आँच न आयेगी॥२०॥ तात्पर्य है कि शास्त्रीय ज्ञान कर्म से सर्वथा छूट नहीं सकता क्योंकि शास्त्र-वाक्यों से ही इनका सम्बन्ध भी ज्ञात है। 'जानकर करने से अधिक फल होता है' (छा. १.१.१०) आदि वाक्य ज्ञान को अंग बताते हैं। 'यज्ञादि से जानने की इच्छा करनी चाहिये' (बृ. ४.४.२२) आदि वाक्य कर्म को अंग बताते हैं। 'ज्ञान और कर्म का साथ-साथ अनुष्ठान मृत्यु को पार करा अमृत प्रदान करता है' (ईश. १५) आदि वाक्य दोनों की तुल्य प्रधानता बताते हैं। अतः मोक्ष की कारणता कर्म में सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं।

इस प्रकार ज्ञान हो चाहे न हो, मोक्ष में तो वह उपयोगी नहीं, इसलिये **ब्रह्मचारी आदि सब आश्रम वालों को मोक्ष यथाशक्ति शास्त्रोक्तविधि से वाणी, मन और शरीर से निर्वर्त्य कर्मों द्वारा ही होना निश्चित है, और किसी साधन से नहीं**॥२१॥ मीमांसक भी मोक्ष मानते हैं और ज्ञान (उपासना) का उसमें सहकार स्वीकारते हैं। भट्टमत के मोक्षका मधुसूदनस्वामी ने इस प्रकार अनुवाद किया है—'ज्ञानकर्मसमुच्चयादेवात्मनो जडबोधात्मकस्य नित्यज्ञानं नित्यसुखं चोदेति, ततश्च विषयविशेषानपेक्षया नित्यज्ञानेन नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मोक्षः' (वे.क. पृ. ७)। मानमेयोदयकार ने भी इसी प्रकार का मोक्ष बताया है—'दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति

१. वाङ्मनःकायकर्मभिः—'तत्र वाक्कर्माणि सत्यमितहितभाषणादीनि गुरुपूर्वकनिर्दोष-वेदाध्ययनानि च। मनःकर्माणि प्रसादभावशुद्ध्यादीनि। कायकर्माणि शौचाचारादीनि नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्ताचरणादीनि च यथायथं ज्ञेयानि।
२. कर्मनिरपेक्षमिति भावः।
३. यस्मान्मुक्तेः कर्मणोऽन्यत् साधनं न तस्मान्न केवलज्ञानान्मुक्तिरित्यर्थः। अत्र 'ज्ञानान्न मुक्तिः' इति चंद्रिकानुसरणेन पठनीयम्। चन्द्रिका तु अन्यसाधनात्-पदं केवलाज्ज्ञानादित्यनेन व्याकरोति।

प्रागात्मवर्तिनः। सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः'॥ (द्रव्य. २५) देहेन्द्रियादि के आत्यन्तिक ध्वंस से सहकृत मन आत्मवर्ति-नित्यानन्द के ग्रहण का साधन है अतः संसारावस्था में उसका अननुभव है। मोक्ष में सुख व उसके ज्ञान की उत्पत्ति भाट्टाभिमत है ऐसा न्यायचन्द्रिका में भी बताया है (पृ. ५५०)। किन्तु शास्त्रदीपिका में प्रपंचसम्बन्धविलय को मोक्ष कहा है (पृ. १२५)। शरीर, इन्द्रिय और भोग्य विषय ही बन्धन करते हैं अतः इनसे अत्यन्त असम्बन्ध हो जाना मोक्ष है। मुक्ति-अवस्था में आनन्दानुभव का जन्यत्वेन अनित्यतापत्ति के कारण पार्थसारथि ने निराकरण किया है। तथा स्वरूपस्थिति, स्वस्थता ही मुक्तिस्वरूप कहा है—'ये ह्यागमापायिनो धर्मा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारास्तानपहाय यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते' (पृ. १३०)। नित्य आनन्द आत्मधर्म है जो मनसे अनुभूत होता है, इसका उन्होंने यह कहकर अनादर किया है। मोक्ष में मन का न होना श्रुति को अभिमत है—'न च मनसानुभवः सम्भवतीति मुक्तस्य मनसोऽभावात् अमनस्कत्वश्रुतेः' (पृ. १३०)। अत एव वे मोक्ष में आत्मानुभव भी नहीं मानते। इसलिये वे विज्ञानश्रुतियों का शक्ति में और आनन्दश्रुतियों का पुरुषार्थत्व में उपचार मान लेते हैं। दुःखाभाव से ही पुरुषार्थता हो सकती है अतः विरोध नहीं। इस प्रकार 'सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते। स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः॥ नहि कारणवत् किंचित् अक्षयित्वेन गम्यते। तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते॥ न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्'। (सम्बन्ध.श्लो. १०५-७) आदि वार्तिकों के आधार पर शास्त्रदीपिका का निर्णय है—'तस्मान्निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः' (पृ. १२८)। भगवान् भाष्यकार ने जहाँ मीमांसकमोक्ष का अनुवाद किया है, वहाँ उसे 'स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यम्' (ब्र.सू. ४.३.५.१४, पृ. ८८६) कहा है। अतः यही भाट्टों का मुख्य पक्ष मानना उचित है। मोक्ष में आनन्दानुभूति उनके एकदेशियों का मत स्वीकारा जा सकता है। प्राभाकरमत में तो स्पष्ट ही आनन्दस्थिति प्रत्याख्यात है। कल्पलतिका में सरस्वतीस्वामी ने उस पक्ष को बताया है—'वैदिककर्मानुष्ठानात् विहितात्मज्ञानपूर्वकात्, देहेन्द्रियादिसम्बन्धस्य धर्माधर्मपरिक्षयनिमित्तं आत्यन्तिकोच्छेद-लक्षणं मोक्षं मन्यन्ते' (पृ. ७)। नारायण पण्डित भी 'सकलबुद्ध्यादिविशेषगुणविलये सत्यात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति प्रभाकरमतम्' (मान.मे., पृ. १९९) स्वीकारते हैं। भाट्टचिन्तामणि में भी प्राभाकर सिद्धान्त में अभावात्मकमोक्ष का वर्णन किया है—'आत्यन्तिकदुःखप्रागभावो मोक्ष इति गुरवः' (पृ. ४२)। स्वयं शालिकनाथ ने तत्त्वालोकप्रकरण में मोक्ष पर विचार किया है। मोक्ष की पुरुषार्थता बताते हुए वे कहते हैं 'सांसारिकविविधदुःखोपरमरूपत्वान्मोक्षस्य' (पृ. २३४)। इतने से ही पुरुषार्थता सिद्ध

असदर्थप्रलापोऽयमिति दूषणसंभावनायाह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रदर्शितं पूर्वपक्षमुपहसितुमुत्तरश्लोक इत्याह–असदर्थेति। इति **एवंविधाः**

हो जाने पर 'एवं च परमानन्दाभ्युपगमोऽपि मन्दफल एव' (पृ. ३३५)। श्रुति-प्रोक्त आनन्द का अर्थ दुःखाभाव ही समझना चाहिये (५.३३८)। अतः उनका निगमन है 'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्ष इति युक्तम्' (पृ. ३४१)। उभयमत में ही ज्ञानकर्मसमुच्चय से मोक्ष है,ज्ञानशब्द से उपासना विवक्षित है। न्यायरत्नाकर में (सम्बन्ध.श्लो. ११०) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' (गी. ४.३७) आदि स्मृति को 'उपासनाभिप्रायमेव' कहा है। शालिकनाथ ने भी 'आत्मज्ञानेन 'न स पुनरावर्तत' इत्यपुनरावृत्तये चोदितेन' (पृ. ३४१) कहकर उपासना सूचित की है। काम्यप्रतिषिद्धत्याग पूर्वक नित्यनैमित्तिक को करना भी भाट्टों व प्राभाकरों में तुल्य है। शालिकनाथ ने 'शमदमब्रह्मचर्यादिकांगोपबृंहितेन (ज्ञानेन)' (पृ. ३४१) अधिक स्पष्ट कहा है जबकि वार्तिक में इतना ही सूचित किया गया है—मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया' (सम्बन्ध. ११०)॥ तन्त्रवार्तिक में (१.३.८, पृ. २८८ प्रभृति) आत्मज्ञान को संयोगपृथक्त्वन्याय से[1] क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ, दोनों माना है। वहाँ भी ज्ञान उपासनापरक ही है। इस प्रकार कर्म से मोक्षवाद मीमांसकाभिमत है।

पूर्वोक्त कर्मजडों का मत असंगत है यह सिद्ध करना प्रारम्भ करने के लिये उसका

१. मीमांसादर्शन में (४.३.३.६) शंका उठी कि 'यूपं छिनत्ति' के प्रकरण में 'खादिरो यूपो भवति' तथा 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' ये वाक्य आते हैं जिनसे संशय होता है कि यूप की खादिरता (कत्थे की लकड़ी से बना होना) क्या वीर्यफलकमात्र—पुरुषार्थमात्र—है या यज्ञपूर्ति के लिए भी आवश्यक है—क्रत्वर्थ है। निर्णय किया है कि वह पुरुषार्थ और क्रत्वर्थ दोनों ही है और इसमें कारण है 'संयोगपृथक्त्व'। संयोग का अर्थ है वाक्य और पृथक्त्व का अर्थ है उसकी द्विरूपता। 'खादिरो यूप' इत्यादि क्रत्वर्थता बोधक और 'खादिरं' इत्यादि पुरुषार्थ द्योतक है। क्योंकि दोनों वाक्य निराकांक्ष हैं अतः शेषशेषिभाव भी सम्भव नहीं। इसी प्रकार 'सर्वांश्च लोकानाप्नोति' (छा. ८.७.१) और 'न स पुनरावर्तते' (छां. ८.१५.१) आदि स्वतंत्र वाक्य आत्मज्ञान (उपासना) को लोकप्राप्ति और मोक्षप्राप्ति दोनों का साधन बताते हैं; यह मीमांसक-अभिप्राय है।

इति हृष्टधियां वाचः स्वप्रज्ञाऽऽध्मातचेतसाम्।
घुष्यन्ते यज्ञशालासु धूमानद्धधियां किल॥२२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पूर्वोक्ताः वाचो यज्ञशालासु घुष्यन्ते किलेति **सम्बन्धः। वक्तृद्वारा वाचां दूषणं सम्भावयति**–इति हृष्टधियामिति। **वित्तपुत्रकलत्रादिपरित्यागपुरस्सरं ज्ञाननिष्ठा-लक्षणबहुलायासमन्तरेण कर्मभ्य एव स्वर्गापवर्गावस्माकं सुखेनैव सिध्यत इति हृष्टा धीर्येषां तेषां; एतावता तद्वचसां कथमप्रामाणिकत्वमित्यत आह**–स्वप्रज्ञेति। **स्वकीया प्रज्ञा युक्त्युपदेशबहिष्कृता कर्मनिमित्तत्वात् संसारस्य तत्परिहारेण परिहारः स्यादिति केवलोत्प्रेक्षालक्षणा तया** आध्मात**मुपबृंहितं चेतो येषान्ते तथोक्ताः। तत्प्रज्ञायाः यथार्थायाः**[1]**। अभावे श्रुतिस्मृतिलिङ्गानि सन्तीति सूचयति**–धूमानद्धेति। **धूमेनानद्धा आबद्धा सम्यग्ग्रहणे प्रतिबद्धा धीर्येषान्ते धूमानद्धधियः। एवं हि श्रौतानि स्मार्तानि लिङ्गानि च दृश्यन्ते 'अग्निमुग्धो हैव धूमतान्ताः स्वं लोकं न प्रतिप्रजानाति'। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'। 'न तं विदाथ'। 'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः'।**

'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥'

इत्येवमादीनि। तस्मात्तदीयं ज्ञानमयथार्थमेवातस्तद्वाचस्सम्भावितदोषा एवेति भावः॥२२॥

उपसंहार करते हैं—**इस प्रकार, कुछ भी त्याग किये बिना ही मोक्ष हो जायेगा ऐसा मानकर हर्षित, अपनी ही निःसार युक्तियों से अपनी बुद्धि को खुशी से फुला लेने वाले, यज्ञ करते हुए उठने वाले धुएँ से ढकी मति वाले मीमांसकों की बातें यज्ञशालाओं में गूँजा करती हैं॥२२॥** कर्मत्याग के बिना मोक्ष की आशा पुंयोग के बिना पुत्रेच्छा की तरह है। श्रुति 'न कर्मणा' (कै. २) 'अदृढा यज्ञरूपाः' (मुं. १.२.७) 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ. ४.४.२२) 'त्रयो धर्मस्कन्धाः...एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा. २.१३.१) 'न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवाऽसाधुना कनीयान्' (कौ. ३.९) इत्यादि सभी वेदों में स्थित प्रसंगों में कर्म से मोक्ष की आशा भी नहीं यही कहती है।

---

१. यथार्थताया इति सुवचम्।

दूषणोपक्रमावधिज्ञापनायाह–

अत्राभिदध्महे दोषान् क्रमशो न्यायबृंहितैः।
वचोभिः पूर्वपक्षोक्तिघातिभिर्नातिसंभ्रमात्॥२३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सम्प्रति सम्भावितदोषान् प्रकटीकर्तुमुत्तरग्रन्थसन्दर्भ इति तात्पर्यमाह–दूषणेति। **व्युत्क्रमदोषं परिहरति**–क्रमश इति। **स्वपक्षस्थापनोपयोगिन्यायसम्पन्नतां दर्शयति**–(न्यायबृंहितैरिति)। **न केवलमेतावदेव, परपक्षप्रतिक्षेप-सामर्थ्यमप्यस्तीत्याह**–पूर्वपक्षेति। **इदानीं छलजातिनिग्रहस्थानादिभिः**[1] **न परोक्तयो निरस्यन्त इत्याह**–नातिसम्भ्रमादिति। **तेनैकत्वनिर्णयावसानानि पदकरूपाणि (वादकथारूपाणि) अस्मद्वचांसीति भावः॥२३॥**

अब उपस्थित मत की समालोचना प्रारम्भ करते हैं—**'केवल कर्म ही मुक्ति का साधन है' इस पक्ष की असंगतियाँ उसी क्रम से बतायेंगे जिस क्रम से उसके उपपादन की युक्तियाँ बतायी थी, जिससे उन तर्काभासों का खोखलापन और वास्तविक युक्ति-संगत सिद्धान्त, दोनों स्पष्ट होंगे॥२३॥** 'केवल कर्म' इस दृष्टि से कि उस मत में मोक्ष का हेतु कर्म ही सम्भव है, विद्या सहायमात्र है। जैसे काष्णाजिनिमत से विचार करने पर कर्म ही उत्तमादि योनियों का प्रापक है, आचरण सहायकमात्र है, उसी प्रकार समझना चाहिये। 'विद्यया...वीर्यवत्तरम्' (छां. १.१.१०) आदि श्रुतियों का काशावलम्बन कर वैसा तात्पर्य माना जाता है।

---

१. **छलम्**—वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्। (न्या.द. १.१.१०)
यथा बालोऽयं नवकम्बलविशिष्टः इति नवीनकम्बलमुद्दिश्य कथिते सति उत्तरं भवति, एक एवास्य कम्बलोऽस्ति, न तु नवसंख्यकः इति छलम्। **जातिः**—असदुत्तरमिति भावः। न त्वत्र गोत्वादयो ग्राह्याः। 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः' (न्या.द. १.२.१८) प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते सा जातिः। स च प्रसङ्गः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिबोधः इति। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः इत्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। तथा उदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः इत्यस्योदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति।
(न्या.द.वा.भा. १.२.१८)
निग्रहस्थानम्—शास्त्रार्थे पराजयस्य हेतुभूतवाक्यम्, विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। (न्या.द. १.२.१९) तत्र खलुप्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरः, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः,

चतुर्विधस्यापि कर्मकार्यस्य मुक्तावसंभवान्न मुक्तेः कर्मकार्यत्वम्।
अज्ञानहानिमात्रत्वाद्[१] मुक्तेः कर्म न साधनम्।
कर्मापमार्ष्टि नाज्ञानं तमसीवोत्थितं तमः ॥२४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नित्यसिद्धात्मस्वरूपावस्थानप्रतिबन्धकसकार्याज्ञाननिवृत्तिव्यतिरेकेण [२]उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतिलक्षणचतुर्विधकर्मकार्यरूपताभावान्मुक्तेर्न कर्म-साध्यत्वमित्याह–चतुर्विधस्यापीति। **स्वरूपावस्थानस्य नित्यसिद्धतया कर्मसाध्यत्वेऽपि अज्ञाननिवृत्तेरागन्तुक्याः कर्मसाध्यता किं न स्यादित्यत आह**–कर्मेति। **तत्र दृष्टान्तमाह**–तमसीवेति। तमसि सत्येव उत्थितं **रज्जोरगभ्रमादि यथा** तमो **न निवर्तयति तद्धेतुकत्वात्, एवमज्ञानहेतुकं कर्म नाज्ञानं निवर्तयति। तेन स्वभावतो विषयतश्च विरोधाभावादित्यर्थः।।२४।।**

उत्पन्न होना, प्राप्त होना, सुधरना व बिगड़ना—ये चार ही कर्मफल सम्भव हैं व मोक्ष इनमें से किसी भी स्वरूप वाला न हो सकने के कारण कर्म का फल मोक्ष हो यह अयुक्त है। आत्मरूप मोक्ष उत्पत्तिरूप नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा नित्य है। आत्मा स्वरूप होने से प्राप्य भी नहीं और कूटस्थ होने से सुधारे या बिगाड़े जाने वाला भी वह नहीं हो सकता। यदि मोक्ष आत्मा से पृथक् कुछ हो तो मिथ्या व अनित्य होने से मोक्ष ही नहीं रह जायेगा।

अज्ञान का हटनामात्र मुक्ति का साधन है, न कि कर्म। कर्म अज्ञान को उसी प्रकार निवृत्त नहीं कर सकता जिस प्रकार अंधकार के कारण प्रतीत होने

हेत्वन्तरः, अर्थान्तरः, निरर्थकः, अविज्ञातार्थः, अपार्थकः, अप्राप्तकालः, न्यूनः, अधिकः, पुनरुक्तः, अननुभाषणः, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासः, इति द्वाविंशतिप्रकाराणि निग्रहस्थानानि वर्तन्ते।

१. 'अज्ञानहानमात्रत्वात्' इति पाठान्तरम्।

२. उत्पत्तिः—यथा घटं करोति। अत्र क्रियायाःफलं घटोत्पत्तिः।
आप्तिः (प्राप्तिः)—ग्रामं गच्छति, गमनक्रियायाः फलम्—ग्रामप्राप्तिः।
विकृतिः—तण्डुलं पचति, अत्र पाकक्रियायाः फलं तण्डुलविक्रियात्मकः विकारः।
संस्कृतिः—व्रीहीन् प्रोक्षति, अत्र प्रोक्षणक्रियायाः फलं व्रीहिगतसंस्कारः।

कर्मकार्यत्वाभ्युपगमेऽपि दोष एव।
एकेन वा भवेन्मुक्तिर्यदि वा सर्वकर्मभिः।
प्रत्येकं चेद् वृथान्यानि सर्वेभ्योऽप्येककर्मता ॥२५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सर्वेभ्योऽपीति **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-पशु-सोमादीनां मिलितानां मोक्षसाधनत्वे सति एकमुमुक्षुनियोगविषयतयैककर्मत्वं प्राप्तम्, तच्चायुक्तम्। सर्वाश्रमकर्मणाम् एकेनाऽऽश्रमिणाऽनुष्ठातुमशक्यत्वात्। प्रत्येकाश्रमविहितसर्वकर्मभ्यो मोक्ष इति पक्षेऽपि, सामग्रीवैचित्र्यात् फलेऽपि वैचित्र्यं प्राप्नोति। न च तद्युक्तम्, मुक्तेरेकरूपत्वात्। न चोक्तविकल्पदोषदुष्टत्वाद् अन्तःकरणशुद्धिद्वारा कर्मणां ज्ञानसाधनत्वमपि न स्यात् (इति) अपि शङ्कनीयं, चिरचिरतरचिरतमत्वाल्पत्वमहत्त्वादिभिश्शुद्धेः कालतः स्वरूपतश्च वैचित्र्याभ्युपगमादिति भावः।।२५।।**

वाला रज्जुसर्पादि अन्धकार को हटा नहीं सकता।।२४।। दृष्टान्त इतने अंश में है कि भ्रमसिद्धवस्तु भ्रमकारण का उच्छेद नहीं कर सकती। सूखी रेत में भ्रम से दीखने वाला जल रेत को गीला नहीं बना सकता, जैसा कि सर्वज्ञमुनि का वचन है—'नहि भूमिरूषरवती मृगतृड् जलवाहिनीं सरितमुद्वहति। मृगवारिपूरपरिवारवती न नदी तथोषरभुवं स्पृशति' (३.२)।

कर्मफल उत्पत्ति आदि जिस रूप का भी हो सकता है, मोक्ष वैसा नहीं, अतः कर्मकार्य नहीं, यह कहा। अब यह बताते हैं कि कर्म से मोक्ष मानने में दोष भी है—**क्या किसी एक कर्म को करने से मुक्ति होगी, या सब को? यदि एक से ही हो जाये तो बाकी कर्म व्यर्थ मानने होंगे। यदि सब को करने से मोक्ष हो तब तो सब मिलकर एक कर्म है यह सिद्ध होगा जो उनके भिन्न-भिन्न बताये फलों से विरुद्ध पड़ेगा**।।२५।। एक ही कर्म को मोक्ष-साधन मानने पर यह निर्धारण भी असंभव है कि वह कर्म कौन-सा है क्योंकि, जैसा कि आचार्यपाद ने कहा है, 'न ह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं—मोक्षार्थीत्थं समाचरेद्—इति। न चैतत्तर्कयितुमपि शक्यते' (ब्र.सू. ४.३१)। सब कर्म मिलकर यदि मोक्षफलक मानें तो प्रथमतः यह दोष है कि मोक्ष असंभव होगा, कारण कि अनेक वर्षों में सम्पन्न होने वाले, धनादि सापेक्ष कतिपय कर्म करने में ही जीवन व्यतीत हो जायेगा, सब कर्मों को कर पाना सम्भव नहीं।

सर्वप्रकारस्यापि कर्मण उत्पत्तित एव विशिष्टसाध्याभिसंबन्धान्न पारिशेष्यन्यायसिद्धिः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नित्यनैमित्तिकानां फलान्तराश्र(य)वणात् मोक्षस्य च फलत्वेन साधनाकाङ्क्षत्वाद् अन्योन्याकाङ्क्षया सम्बन्धः पारिशेष्यन्यायेन सिद्ध्यति। एवमन्येषामप्यज्ञातफलानां कर्मणां मोक्ष-साधनत्वं सेत्स्यति इत्याशङ्क्याह– सर्वेति। **इष्टसाधनरूपत्वाद्विधेयस्य साध्यस्य चेष्टत्वाद् मोक्षस्य चासाध्यत्वाद्**

किं च सदा सब कर्म किये भी नहीं जा सकते, प्रत्येक वर्णाश्रम के धर्म अन्य वर्णाश्रम में अननुष्ठेय होते हैं। विकल्प मानने पर शास्त्रीय आठ दोषों[१] से अतिरिक्त मोक्ष पर यह आपत्ति आयेगी कि उसमें ऐकरूप्य नहीं रह पायेगा, कारण-वैलक्षण्य से कार्य-वैलक्षण्य स्वभाविक है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि—अवश्यकरणीय नित्यनैमित्तिक कर्मों का कोई फल नहीं बताया गया है और फलरूप मोक्षका कोई साधन नहीं बताया गया है जिससे उन कर्मों को फल की और मोक्ष को साधन की आवश्यकता है, अतः नित्यनैमित्तिक कर्मों का फल मोक्ष मान लेना चाहिये। कारण कि, विधि इच्छित के साधन को बताती है और साधन से प्राप्य इच्छित वस्तु साध्य, लभ्य, होती है जब कि मोक्ष सिद्ध, नित्यलब्धस्वरूप है। नित्यादि कर्मों की विधि ही यह सूचित करती है कि उनमें साध्य कोई फल अवश्य है, क्योंकि प्रमाणभूत शास्त्र निष्फल कर्म का विधायक हो नहीं सकता। भावना की 'किम्' यह आकांक्षा पूरी होनी ही पड़ेगी। मीमांसा के विश्वजिदधिकरण से (४.३.१५) पता चलता है कि जिन कर्मों का अन्य फल न बताया हो उनका फल स्वर्ग होता है। इसलिये नित्यादि कर्मों का फल मोक्ष मानना असंभव है। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि मोक्ष के भी साधन उपदिष्ट हैं ही, अतः मोक्ष भी साध्य ही है। कारण कि, अविद्यानिवृत्ति ही साध्य है, मोक्ष आत्मरूप होने से साध्य नहीं। 'अविद्यास्तमयो मोक्षः' (ब्र.सि.पृ. ११९) आदि वचनों का भी अर्थ है कि

---

१. प्रथम पक्ष में स्वीकृत अप्रामाण्यका त्याग, अस्वीकृत प्रामाण्य का ग्रहण, स्वीकृत प्रामाण्य का त्याग और अस्वीकृत अप्रामाण्य का ग्रहण। द्वितीय पक्ष में भी ये ही चार पुनः आते हैं, इस प्रकार विकल्प मानने पर आठ दोष होते हैं यह जैमिनीय मीमांसा के द्वितीयाध्याय द्वितीयपाद में विचारित है।

दुरितक्षपणार्थत्वान्न नित्यं स्याद्विमुक्तये।
स्वर्गादिफलसंबन्धात्काम्यं कर्म तथैव नः ॥२६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

'अग्निहोत्रं जुहोती' त्याद्युत्पत्तिविधिवाक्यादेव विशिष्टेष्टसाधनत्वप्रतीतेरश्रूयमाणफलकेष्वपि विश्वजिदादिषु[१] स्वर्गकामाधिकरणन्यायेन[२] स स्वर्गस्स्यादिति स्वर्गस्यैव फलत्वेन श्रवणान्न पारिशेष्यसिद्धिरित्यर्थः। 'येन केनचन यजेतापि दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवती' त्यादि वाक्येभ्यो नित्यानां कर्मणां दुरितक्षपणार्थत्वं[३] द्रष्टव्यम्।।२६।।

अविद्यानिवृत्त्युपलक्षित आत्मा मोक्ष है। अतः जैसे 'कृष्णकाकवद् देवदत्तगृहम्' कहने से देवदत्तगृह काला नहीं माना जाता है वैसे ही साध्य अज्ञाननिवृत्ति से उपलक्षित आत्मरूप मोक्ष को साध्य मानना असंगत है। ज्ञानघनाचार्य इसी दृष्टि से ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति बताकर स्वरूपस्थिति को मोक्षरूप वेदान्तानुसार सिद्ध करते हैं— 'तत्त्वमस्यादिवाक्यजनिताऽपरोक्षब्रह्मविद्यया अनाद्यविद्यापटलसमुत्पाटनेन नित्यसिद्धनिरतिशयानन्दप्रत्यगद्वितीयपरमात्मचैतन्यात्मनाऽवस्थानमपवर्ग इति भगवतो भाष्यकारस्य मतमाश्रयणीयं निःश्रेयसार्थिभिः' (तत्त्वपरिशुद्धि प्र.-४६ पृ.-७४५)।

अवश्य करणीय नित्यादि कर्म पापको हटाने में गतार्थ होने से व इच्छापूर्वक किये कर्म स्वर्गादि फलवाले होने से मुक्ति के साधन नहीं हो सकते।।२६।। यद्यपि शास्त्र नित्यादि कर्मों का फल पितृलोक-प्राप्ति बताता है तथापि यहाँ पापनिवृत्ति को मीमांसकमतानुसार फल कह दिया है जिससे स्पष्ट हो कि वह जब यह स्वीकार कर चुका कि वे पापनिवृत्तिफलक हैं तब उन्हें मोक्षफलक मानना उसकी कितनी बड़ी भूल है।

---

१. यथा विश्वजिदधिकरणे हि 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र फलस्याश्रवणात्फलमन्तरेण च विधिश्रुतेरनुपपत्तेरवश्यं फले कल्पयितव्ये सर्वाभिलषितत्वेन स्वर्गः फलमित्युक्तम्। एवं च यत्रार्थवादवाक्ये विधिवाक्ये फलं न श्रूयते तत्र स्वर्गः फलं कल्प्यत इति प्रकृतन्यायविषयः। एवमन्यत्रापूह्यमिति।

२. स्वर्गकामाधिकरणम् पूर्वमीमांसादर्शनस्य षष्ठाध्याये। यजेत स्वर्गकाम इति स्वर्गस्यैव फलत्वं निर्णितम्, न तु यागस्य इति भावः।

३. नित्यानि अकरणे प्रत्यवायसाधनानीति वेदान्तसारकारः। (वे.सा. ७)
विषयेऽस्मिन् वार्तिककारः—

प्रमाणासंभवाच्च–

साध्यसाधनभावोऽयं वचनात्पारलौकिकः ।
नाश्रौषं मोक्षदं कर्म श्रुतेर्वक्त्रात् कथञ्चन ॥२७॥
अभ्युपगताभ्युपगमाच्च श्वश्रूनिर्गच्छोक्तिवद्[1] भवतो निष्प्रयोजनः

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

मोक्षोद्देशेन कर्मणां विधानाभावादपि न तत्साधनत्वमित्याह– प्रमाणेति।।२७।।

यदुक्तम् 'अकुर्वतः क्रियाः काम्याः' इति, तदस्माभिरभ्युपगतमेव त्वयाप्युक्तं नाधिकमित्याह–अभ्युपगतेति। **ननु कर्मणां मोक्षसाधनत्वं**

साथ ही कर्म मोक्ष के साधन हैं, यह प्रमाणसिद्ध भी नहीं—**पारलौकिक साध्य से साधन का ज्ञान शास्त्र से ही होता है और श्रुति-स्मृति में ऐसा कहीं भी नहीं सुना जाता कि कर्म का फल मोक्ष है**॥२७॥ मोक्ष की पारलौकिकता भी मीमांसक के अनुसार ही जाननी चाहिये। यद्वा मोक्षस्वरूप और उसकी साधनता लोकसिद्ध न होने से पारलौकिक कहा है। लोक में साँकल आदि का बन्धन व उनसे मोक्ष ही प्रसिद्ध है, अज्ञान ही बन्ध और तन्निवृत्तिरूप आत्मा मोक्ष है—यह शास्त्रैकगम्य ही है, यह भाव है। 'इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः' (कठ. २.६.४) 'इह चेदवेदीत्' (केन २.१३) 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (बृ. ४.४.७) इत्यादि श्रुतियों से स्वर्गादि की तरह पारलौकिक मोक्ष माना नहीं जाता।

नित्यानां चाक्रियाऽभावः प्रत्यवायस्ततः कुतः ।
न ह्यभावाद्भवेद्भावो मानं यस्मान्न विद्यते ॥
पूर्वोपचितकर्मभ्यस्तस्मात्कर्तारमेति या ।
प्रत्यवायक्रिया तस्या लक्षणार्थः शता भवेत् ॥
नित्यानामक्रिया यस्माल्लक्षयित्वैव सत्वरा ।
प्रत्यवायक्रियां तस्माल्लक्षणार्थे शता भवेत् ॥ (तै.भा.वा. १-१९,२०,२१)

अत्र आनन्दगिरिः—
यदि यथावन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं स्यात्तदा सञ्चितदुरितक्षयोऽपि भवेन्न चायं विहितमकार्षीत्ततः प्रत्यवायी भविष्यतीति शिष्टैर्लक्ष्यते तेन शतृप्रत्ययस्यान्यथाऽपि सिद्धत्वान्न तद्बलादकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वसिद्धिरित्यर्थः। (तै.भा.वा. आ.-१-२१)

१. यत्र परकृतनिषेधं निराकृत्य स्वयं निषेधति, तत्रायं न्यायः प्रवर्तते।

प्रलापः–

निषिद्धकाम्ययोस्त्यागस्त्वयापीष्टो यथा मया ।
नित्यस्याफलवत्त्वाच्च न मोक्षः कर्मसाधनः ॥२८॥
एवं तावत् 'मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वात्' (१-९) इति निरस्तोऽयं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

त्वयाऽनभ्युपगतमपि मयोक्तमिति? तत्राह–नित्यस्येति।।२८।।

वृत्तानुद्रवणपूर्वकं वर्त्तिष्यमाणस्य ग्रन्थसन्दर्भस्य तात्पर्यमाह–एवं तावदिति। **इदानीं सर्वकर्मसु प्रवृत्तौ यो हेतुर्मिथ्याज्ञानादिलक्षणस्तस्य प्रवर्त्तकस्य निरूपणेन कर्मणामविद्याकार्यतया विद्यासाध्याऽविद्यानिवृत्ति-**

वस्तुतः तो मीमांसक ने वेदान्ती के उपयोगी बात ही सिद्ध कर यह किस्सा चरितार्थ किया—किसी घर में भिक्षा देने का रिवाज नहीं था। वहाँ एक भिक्षुक आया तो बहू ने कुछ भी देने से मना कर उसे लौटा दिया। उसकी सास ने यह देखने पर बहू को डाँटा और भिक्षुक को वापस बुलाकर कहा 'घर की बड़ी होने से मुझे ही यह अधिकार है कि मैं तुम्हें भिक्षा के लिये मना करूँ : भिक्षा नहीं मिलेगी, जाओ।' यह किस्सा चरितार्थ किया यह कैसे? बताते हैं—**जिन कर्मों को करने का निषेध है उन्हें तथा जो फलेच्छा से किये जाते हैं उन्हें छोड़ा जाये यह वेदान्ती की तरह मीमांसक को भी स्वीकृत है तथा अवश्य करणीय नित्यादि कर्म निष्फल[1] हैं यह भी उसकी मान्यता है, अतः कोई भी कर्म मोक्ष का साधन नहीं यही उसने सिद्ध किया**॥२८॥ नित्यादि से भिन्न कर्मों का त्याग स्वयं मीमांसक को अभिमत है अतः वे मोक्षफलक उसके मत से भी नहीं, नित्यादि को वह पापनिवृत्ति से अतिरिक्त किसी फल वाला मानता नहीं अतः वे भी उसी के मत से मोक्षफलक नहीं। इस प्रकार जब सभी कर्म मोक्षफलक नहीं तो 'मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वात्' कहना अत्यन्त असंगत प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं। कर्मत्याग मोक्ष-फलक होने से प्रतियोगिविधया कर्म भी मोक्षसाधन हो गया—यह मानना वैसा ही होगा जैसे कोई माने कि जहर न खाना जीने के लिये आवश्यक होने से जहर भी जीवन के लिये आवश्यक है! किं च केवल

---

१. अत्र विद्यासुरभिः—'अत्रोक्तस्य नित्यस्याफलवत्वं च दुरितक्षयादिव्यतिरिक्तभावविषयमेव, अन्यथा 'नित्यानुष्ठानतश्चैनं प्रत्यवायो न संस्पृशेत्' (१.१३) इत्यनेन विरोधः स्यात्।'

पक्षः। अथाधुना सर्वकर्मप्रवृत्तिहेतुनिरूपणेन यथावस्थितात्मवस्तु-विषयकेवलज्ञानमात्रादेव सकलसंसारानर्थनिवृत्तिरितीमं पक्षं द्रढयितुकाम आह।

इह चेदं परीक्ष्यते–किं यथा प्रतिषिद्धेषु यादृच्छिकेषु च कर्मसु स्वाभाविकस्वाशयोत्थनिमित्तवशादेव 'इदं हितम्, इदम् अहितम्'–इति विशेषान् परिकल्प्य मृगतृष्णिकोदकपिपासुरिव लौकिकप्रमाण-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

लक्षणमोक्षोपयोगात्[1] कर्मासमुच्चिताभ्यासनिरपेक्षात्मज्ञानादेव कैवल्यमिति प्रदर्श्यत इत्यर्थः। ननु कथं कर्मसु प्रवृत्तेर्मिथ्याज्ञानं हेतुः तेषां यथायोगं लौकिकवैदिकप्रमाणज्ञानमूलत्वात्? इत्याशङ्क्य, कर्मप्रवृत्तिहेतुनिरूपणार्थं विमृशति–इह चेति। प्रतिषिद्धेषु कलञ्जभक्षणादिषु स्वाभिमतः शास्त्रानाधेयो[2] यस्स्वाभिप्रायः 'अहमप्राप्तसुखोऽपरिहृतदुःखश्च तेन मम प्राप्तव्यम् परिहरणीयं

कर्मत्याग किसी भी फल का साधन नहीं हो सकता, कोई भावकारण ही भावफल का कारण हो सकता है। कर्मत्याग की कारणता कथंचित् अभ्युपगत हो तो केवल प्रतिबन्धकाभावविधया ही होगी। जैसे मण्यभाव दाह का कारण नहीं, वह्नि ही उसका कारण है, वैसे कर्मत्याग मोक्ष का कारण नहीं, ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, कर्मत्याग मण्यभाव के स्थान पर है। अतएव मुण्डकभाष्य में आचार्य का उद्घोष है—'ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणामधिकारः, तथापि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं, न कर्मसहिता' (उपोद्घात)। जैसे मणिकी सन्निधि में वह्नि दाहसाधन नहीं, वैसे ही समझना चाहिये। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'मोक्ष क्रियाफल है' (श्लो. ९) यह पक्ष दोषपूर्ण है।

अब यह बताते हुए कि सब कर्मों में प्रवृत्ति का कारण अयथावत् ज्ञान है, व्यापक आत्मा का वास्तविक स्वरूप जैसा है उसका वैसा ज्ञान होने से ही संसाररूप समस्त अनर्थ की निवृत्ति होती है, इस पक्ष को दृढ करने के लिये विचार करेंगे। कर्म अज्ञाननिवृत्तिरूप मोक्ष के लिये अनुपयोगी है क्योंकि वे अज्ञानजन्य और तद्विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। अतः उनसे असंबद्ध ही ज्ञान मोक्षसाधन है। शंका[3] होती है कि कर्म

१. चन्द्रिकायान्तु—'विद्यासाध्याविद्यानिवृत्तिलक्षणे मोक्षेऽनुपयोगात् कर्मसमुच्चिताभ्यासादि-निरपेक्षात्मज्ञानादेव कैवल्यमिति' इति मुद्रितम्। तत्र कर्मसमुच्चितनिरपेक्षादभ्या-सादिनिरपेक्षाच्च इति योजनीयम्। २. शास्त्रज्ञानानाधेय इति भावः।

३. सिद्धान्ती का अभिप्राय आत्मयाथात्म्य के अज्ञान से है, यह न समझने से ही शंकोदय जानना चाहिये। अतः सिद्धान्त का क्रम अविद्या-काम-कर्म प्रसिद्ध है।

प्रसिद्धान्येव साधनान्युपादाय हितप्राप्तयेऽहितनिरासाय च स्वयमेव प्रवर्तते निवर्तते च, तथैवादृष्टार्थेषु काम्येषु नित्येषु च कर्मसु, किं वा अन्यदेव तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तमिति।

किञ्चातः; यद्येवम् शृणु। यदि तावद् यथावस्थितवस्तुसम्यग्ज्ञानं प्रमाणभूतं लौकिकम् आगमिकं[1] वा प्रवृत्तिनिमित्तमिति निश्चीयते,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

चास्ती'ति मिथ्याज्ञानं तदुत्थनिमित्तं रागादि तद्वशात् प्रवृत्तेर्विषय-विशेषालम्बनत्वाद् 'इदं पुरोवर्ति हितमनुकूलमिदं चाहितम्प्रतिकूलमि'ति कल्पनामात्रेण निश्चित्य स्वयमेव शास्त्रनिरपेक्षं लौकिकप्रमाणसिद्धान्येव च साधनानि साधनत्वेनोपादाय यथा प्रवर्तते तथैवादृष्टार्थेष्वन्वय-व्यतिरेकासिद्धफलेषु[2]। तान्येवाह–काम्येष्विति। किं प्रवर्तत इति शेषः।

एवं सिद्धान्तहृदयमभिधाय पूर्वपक्षहृदयमाह–किं वाऽन्यदिति। शास्त्रादिजनितसम्यग्ज्ञानमित्यर्थः। 'सन्दिग्धं सप्रयोजनञ्च विचार्यमिति'[3] न्यायात् सन्देहप्रदर्शनानन्तरं प्रश्नपूर्वकं प्रयोजनं दर्शयति–किञ्चात इत्यादिना। विषयतो वस्तुतश्च ज्ञानस्य निर्दोषतामाह–यथावस्तुप्रमाणभूतमिति[4]। भवत्वेवं कर्मसु सम्यग्ज्ञानात् प्रवृत्तिस्तथापि सर्वकर्मसंन्यासेऽपि सम्यग् ज्ञानेनैव

तो लौकिक या शास्त्रीयज्ञान से होता है—ज्ञान इच्छा-क्रिया यह क्रम है—अज्ञान से ही होता है यह क्योंकर कहा जा सकता है? इस शंका की निवृत्ति के लिये यह विचार करते हैं कि कर्म में प्रवृत्ति क्यों होती है। मांसभक्षणादि निषिद्ध कर्म तथा हेतुविशेष से न होने वाले शयनादि सहज कर्म शास्त्र के अर्थ पर विचार किये बिना, 'मुझे सुख हो, दुःख न हो' आदि इच्छा से राग-द्वेष के कारण अनुकूलता व प्रतिकूलता मानकर सांसारिक अनुभवों से जिन्हें साधन समझा है उन्हें लेकर अनुकूल को पाने के लिये, प्रतिकूल को हटाने के लिये शास्त्राज्ञा की अपेक्षा के बिना ही प्रवृत्ति रूप से किये जाते हैं। जैसे

१. लौकिकमागमिकं वा—लौकिकं लोकव्यवहारोपयोगितया प्रसिद्धान्वयव्यतिरेकानुविधायि। आगमिकं शास्त्रजन्यं शाब्दबोधात्मकम्। (सारार्थः)

२. अदृष्टत्वादेव नान्वयव्यतिरेकाभ्यां साध्यसाधनतासिद्धिः। यदि तु 'सिद्धे'ति पाठः तर्हि काकतालीयादिन्यायेनादृष्टफलसाधनसिद्धिरभिप्रेता भवेत्।

३. यथा विचारविषयत्वं हि नाज्ञातस्य नापि निश्चितस्य, किन्तु सन्दिग्धस्येति भावः।

४. एषां पाठेऽवस्थितपदं नास्तीति।

निवृत्तिशास्त्रं च नाभ्युपगम्यते, तदा हताः कर्मत्यागिनः। भ्रान्तिविज्ञानमात्रावष्टम्भात्, अलौकिकप्रमाणोपात्तकर्मानुष्ठान-त्यागित्वाच्च। अथ मृगतृष्णिकोदकपिपासुप्रवृत्तिनिमित्तवदयथा-वस्तुभ्रान्तिविज्ञानमेव सर्वप्रवृत्तिनिमित्तम्, तदा वर्धामहे वयं, हताः स्थ यूयमिति।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रवृत्तिर्भविष्यति, तस्यापि निवृत्तिशास्त्रमूलत्वादित्याशङ्क्य; मैवम्, तस्य यावज्जीवादिवचनविरोधादनधिकृतान्धपङ्ग्वादिविषयत्वोपपत्तेरित्यभिप्रेत्य परिहरति–निवृत्तीति। **आत्मनोऽशनायाद्यतीतत्वे कर्तृत्वाद्यभावे कर्मत्यागे च मूलप्रमाणाभावाभिप्रायेण** भ्रान्तिविज्ञानमात्रावष्टम्भादित्युक्तम्। अलौकिकं प्रमाणं **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'त्यादि वैदिकं वचनम्।**

मृगमरीचिका के जल को देखते ही प्यासा उसे पीने के लिये दौड़ता है, उसकी वास्तविकता आदि का विचार नहीं करता, वैसे ही दु:ख से छूटकर सुख चाहने वाले भी, प्रवृत्ति किया करते हैं। शास्त्रीय कर्मों में भी क्या इसी प्रकार प्रवृत्ति होती है, या उनमें प्रवृत्ति का कारण कुछ और है? इस प्रश्न के निर्णय पर ही कर्म से व ज्ञान से मोक्ष मानने वालों का भविष्य निर्भर करता है। यदि लौकिक या शास्त्रीय प्रमाणों से निर्णीत वस्तु की वास्तविकता के निश्चित ज्ञान को प्रवृत्ति का कारण मानें और कर्मत्याग के उपदेशक शास्त्रभाग को केवल उन्हें विषय करने वाला मानें जिनका कर्म करने में अधिकार नहीं, तब तो ज्ञान से मोक्ष स्वीकार करने वाले और कर्मत्यागी महात्मा मारे गये, क्योंकि उन्होंने जो आत्मा को अकर्ता-अभोक्ता समझा वह गलत हुआ एवं कर्तव्यों का उन्होंने निर्वाह नहीं किया। यदि, दूसरी ओर, प्यासे की भ्रमसिद्ध जल को पीने की प्रवृत्ति के हेतु भ्रम की तरह ही संसार की वास्तविकता का अयथार्थ ज्ञान ही सब कर्मों में प्रवर्तक हो, तब तो कर्म से मोक्ष मानने वाले मारे गये तथा कर्म छोड़ ज्ञान पाने की कोशिश करने वालों का भविष्य चमक उठा। अत: यह निर्णय हो जाना चाहिये कि कर्म के प्रति कारण क्या है?

सुषुप्ति में विषयों के बिना ही सुख का अनुभव आत्मा की सुखरूपता का साधक है। आत्मा ही सर्वाधिक प्रिय होने से यह अनुमान ही संभव है कि वह सुखरूप है, क्योंकि सुख ही प्रिय होता है। सुखद वस्तु भी सुख के लिये ही प्रिय होती है, स्वरूप से नहीं।

हितं संप्रेप्सतां मोहादहितं च जिहासताम्।
उपायान् प्राप्तिहानार्थान् शास्त्रं भासयतेऽर्कवत्॥२९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कस्तर्हि निर्णय इत्यत आह–हितमिति। **वैषयिकसुखाभावेऽपि सुषुप्ते सुखमहमस्वाप्समित्यात्मनस्सुखरूपतया स्वानुभवसिद्धत्वात्, परप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपताऽनुमानाद्, 'एषोऽस्य[1] परम आनन्द' इत्याद्यागमतश्च[2] तस्य निरतिशयसुखाव्यतिरेकसिद्धेः 'अजमजरमभयं शोकान्तरमि'त्यादिभ्यश्च स्वभावत एव परिहृताशेषानर्थत्वाद्, एवंभूतात्मयाथात्म्यानवबोधादेव हितप्रेप्सा दुःखजिहासा च; न पुनश्शास्त्रमेव 'यूयं कर्त्तारो भोक्तारश्च, युष्माकं प्राप्तव्यम् परिहरणीयञ्चास्ति तस्माद्युष्माभिर्हितं प्रेप्सितव्यमहितं च जिहासितव्यम्, यूयं वर्णाश्रमवयोऽवस्थाविशेषवन्त' इति कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकमुत्पादयति बोधयति वा। किन्तु स्वयमेवाध्यारोपितकर्तृत्ववर्णाश्रमावस्थाविशेषाणां पुरुषाणां स्वयमेव प्रेप्सितस्य जिहासितस्य चाहितस्य प्राप्तये परिहाराय च साधनं जिज्ञासमानानाम् 'इदं च साधनमि'ति[3] साध्यसाधनसंबन्धमात्रं यथावस्थित-मर्कवत् प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुतत्सत्यत्वादावुदासीनतया प्रकाशयतीत्यर्थः।।२९।।**

आत्मा की सुखरूपता, नित्यता, असंगता आदि बताने वाले शास्त्रवचन तो अनेक हैं। अपने इस स्वरूप को न जानना ही मोह है—**मोह के कारण ही अनुकूल को पाने की और प्रतिकूल को हटाने की इच्छा वालों को प्राप्ति और निवृत्ति के उपाय शास्त्र वैसे ही बता देता है जैसे लोक में सूर्य कहीं जाने-आने के इच्छुकों के लिये मार्ग प्रकाशित कर देता है।।२९।।** जो उक्त मोहवशात् मानता है 'मैं कुछ करने वाला और (किये का) फल भोगने वाला हूँ', उसे शास्त्र साधन का उपदेश करता है। शास्त्र यह कहीं नहीं कहता 'तुम कुछ भी करने वाले या भोगने वाले हो'। प्रवृत्ति-निवृत्ति को उत्पन्न करने में वह उदासीन है। एक ही शास्त्रवाक्य साधन भी बताये और आत्मा का वास्तव कर्तृत्वभोक्तृत्व भी बताये, यह असंगत है क्योंकि मीमांसकों ने निर्णय किया

---

१. 'एषो यस्य परम आनन्द' इति हस्तलिखित पुस्तके वर्तते। परन्तु तथा पाठ उपनिषत्सु न लब्ध: चन्द्रिकायामुपनिषदि च वर्त्तमानपाठो वर्तते।
२. आदिपदेन 'आत्मैवानन्दः' 'आनन्द आत्मा' (तै. २.५.१) इत्यादि ग्राह्यम्।
३. 'इदं साध्यम् इदं च साधनम्' इति चन्द्रिकायाम्।

एवं तावत् प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणावष्टम्भात्, आत्मनो

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पूर्वश्लोकोक्तमर्थं सोपस्कारमनूद्य वर्तिष्यमाणस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यमाह– एवन्तावदिति। शास्त्रञ्चेत्युत्तरार्द्धानुवादः। **पदार्थानां शक्तिमात्मनः**

है कि एक वाक्य से एकाधिक बोध नहीं मानना चाहिये। अतः वाक्य का वे लक्षण ही करते हैं 'यावन्ति पदानि एकं प्रयोजनमभिनिर्वर्तयन्ति तावन्ति एकं वाक्यम्' (शाबर. २.२. अधि. १२)। सूत्रकार ने स्वयं भी 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' (२.१.१४.४६) कहकर इसे सूचित कर दिया है। मीमांसकों से वेदान्त में यह महान् भेद है कि वे शास्त्रको कारक—करवाने वाला—मानते हैं जब कि हम उसे ज्ञापक—बताने वाला—मानते हैं। कारक मानने पर संभव भी है कि पुरुषकर्तृत्व मानकर प्रवृत्त हो, पर ज्ञापक पर यह भार नहीं। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि अकर्ता को करने का उपदेश भी क्योंकर दिया जा सकता है, क्योंकि शास्त्र का भाव है कि किसी प्रकार हमें अद्वैतनिष्ठ बनावे और इसके लिये वह आवश्यक समझता है कि जबतक हममें अत्यन्त मोह है तब तक 'तुम अकर्ता हो' सुन लेने मात्र से कोई निश्चय संभव नहीं, उसके लिये चित्तशुद्धि अपेक्षित है जो तभी आ सकती है जब हम कर्म करें, जैसे दर्पण को तभी साफ किया जा सकता है जब उसे धोया आदि जाये। जिस प्रकार यदि कोई पुत्रादि किसी कार्यादि को करने में अत्यन्त आग्रह वाला हो जाये और पितादि स्पष्ट जानते हों कि वह काम कष्ट का या निष्फल है, तब वे समझाने पर भी उसके न मानने पर यही उचित समझते हैं कि वह पुत्रादि उस कार्य को करके स्वयं अनुभव कर ले, तब स्वयं समझ जायेगा और तब हम उसे सही रास्ता समझाने में सफल होंगे। इसी प्रकार श्रुति भी स्वाध्याय काल में ही आत्माद्वैतादि बता देती है, पर जब पाती है कि हमें कुछ करना ही है तब वह सब करने को कहती है जो काफी हद तक हमें इष्टप्रद मालूम हो और साथ ही हमारे चित्त को इस प्रकार साफ करे कि हम कर्म की व्यर्थता समझ जायें। तब श्रुति तुरन्त उपदेश दे देती है—'तत्त्वमसि' और मोक्षसिंहासन पर हमें अभिषिक्त कर देती है। भगवान् ने छान्दोग्य भाष्य में कहा है—'सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु ततः शनैः परमार्थसदपि ग्राहयिष्यामीति मन्यते श्रुतिः' (अध्याय ८, पृ. ३४६)।

इस प्रकार विचार करने पर यह निर्णय हुआ कि (१) अनुभव, युक्ति और

निरतिशयसुखहिताव्यतिरेकसिद्धेः अहितस्य च षष्ठगोचरवत्[१] स्वत एवानभिसंबन्धात्, एवंस्वाभाव्यात्मानवबोधमात्रादेव 'हितं मे स्यादहितं मे मा भूत्' इति मिथ्याज्ञानं[२] तूषरशुक्तिकानवबोधोत्थमिथ्याज्ञानवत् प्रवृत्तिनिमित्तमिति निर्धारितम्। शास्त्रं च न पदार्थशक्त्याधानकृदिति। अथैतस्यैवोत्तरत्र प्रपञ्च आरभ्यते–

शास्त्रप्रमाण से[३] आत्मा की अनन्तता, सुखरूपता व प्रियरूपता सिद्ध होने के कारण उससे अप्रियरूपता उसी तरह असम्बद्ध है जैसे अभाव—जैसे आत्मा का कभी अभाव नहीं वैसे ही उसकी कभी अप्रियरूपता नहीं, तथा (२) आत्मा के इस स्वरूप के अज्ञान से ही 'मुझे अनुकूल मिले, प्रतिकूल नहीं' ऐसा अयथार्थज्ञान[४] होता है जो कर्म में प्रवृत्ति का वैसे ही कारण बनता है जैसे रेत या सींप को ठीक से न जानने से होने वाला या चाँदी का अयथार्थज्ञान उससे बचने या उसे पाने की प्रवृत्ति का कारण बनता है। शास्त्र आत्मा को कर्ता-भोक्ता, स्वर्ग को साध्य व कर्म को साधन बनाता नहीं है, वह तो केवल बता देता है कि यदि कोई अपने को कर्ता माने तो अमुक कर्म करे जिससे उसे भोग्यत्वेन अभीष्ट लाभ हो जायेगा। 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' यह तो शास्त्रपरामर्श के बिना ही सब को ज्ञात है अतः इसे बताना शास्त्र-प्रयोजन किसी को भी संमत नहीं हो सकता। इन्हीं बातों का अब विस्तार करेंगे।

---

१. षष्ठगोचरवत् = षष्ठप्रमाणगोचरवत् = अभाववत्। वेदान्तदर्शनानुसारेण षष्ठप्रमाणन्तु अनुपलब्धिरेव। अभाव एव तस्य विषय इति भावः।

२. मिथ्याज्ञानं तु = मिथ्याज्ञानमेवेति सारार्थः। 'एवं च 'हेतुदर्शनाच्च' इति सूत्रमप्युक्तार्थे मानं लेभे। तदर्थस्तु यत्र लोभमूलकत्वं दृश्यते तत्र हेतुदर्शनान्न वेदमूलकत्वेन प्रामाण्यमि'ति सारार्थः।

३. यत्तु नवीनैः प्रत्यक्षाद्यवष्टरम्भान्निर्धारितमित्येवान्वयो न तु तदवष्टम्भात्सिद्धेरिति सम्बन्धो युक्तइत्यभाणि तन्मन्दम्। कण्ठतः पूर्वग्रन्थे प्रत्यक्षाद्युक्तेरभावेपि वांछाया मोहोत्थत्वमात्मनश्च सुखत्वं सूचितमेवेति नानुक्तपरामर्शः। व्यवहितान्वयस्तु तन्मतेऽधिको दोष इति।

४. क्योंकि आत्मा सर्वरूप है या सर्वथा असंग है इसलिये उक्त ज्ञान अयथार्थ है।

न परीप्सां जिहासां वा पुंसः शास्त्रं करोति हि।
निजे एव तु ते यस्मात् पश्वादावपि[1] दर्शनात् ॥३०॥

उक्तं तावदनवबुद्धवस्तुयाथात्म्य एव विधिप्रतिषेधशास्त्रेष्वधिक्रियत इति। अथाधुना विषयस्वभावानुरोधेन प्रवृत्त्यसंभवं वक्तुकाम आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशक्तिं स्वर्गादेश्च साध्यत्वशक्तिं यागादेः साधनत्वशक्तिञ्च नाधत्ते, किन्तु प्रकाशयत्येवेत्युक्तमित्यर्थः। निजे एवेति। शास्त्राधेयविज्ञानं विनैव पश्वादीनामिव तयोस्सद्भावादित्यर्थः।।३०।।

पूर्वं कर्मप्रवृत्तिहेतुनिरूपणेन कैवल्यस्य कर्मसाध्यत्वं निराकृतम्। अधुना अविद्याविषयात्मस्वरूपपर्यालोचनयापि कर्मसु प्रवृत्त्यसम्भवं दर्शयितुमाह– उक्तमित्यादि। **तदेतत्प्राप्तव्यस्य परिहार्यस्य च प्रत्येकं द्वैविध्यं दर्शयति–** लिप्सत

लोगों में कुछ पाने और कुछ छोड़ने की इच्छा शास्त्र के कारण उत्पन्न नहीं होती, शास्त्र जाने बिना ही यह स्वाभाविक है तथा शास्त्र में अनधिकृत पशु आदि में भी देखी जाती है॥३०॥ अनुकूल चाहना और प्रतिकूल से बचना अविचारसिद्ध ही है, विचार या प्रमाण की अपेक्षा से नहीं।

यह बताया कि आत्मा के वास्तविक रूप को न जानने पर ही 'अमुक कार्य करो, अमुक न करो'—ऐसा विधि-निषेधशास्त्र अनुसरणीय होता है। अब यह समझाने की इच्छा है कि सम्यग्ज्ञान के विषय आत्मा के स्वभाव के कारण भी कर्म में प्रवृत्ति संभव नहीं। इसे स्पष्ट करने के लिये यह विभाजन सूचित करते हैं कि जिसे पाना या छोड़ना चाहते हैं, उन दोनों के दो रूप होते हैं—**अपने पास विद्यमान वस्तु भी जब अज्ञात हो तब उसे पाने की इच्छा होती है, जैसे स्वर्ण का छल्ला गले की पिछली ओर**

---

१. पश्वादावपि—पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथाहि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्त्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्त्तन्ते—यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषममिमुखमुपलभ्य 'मां हन्तुमयमिच्छती'ति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्त्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते। अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनाञ्च प्रसिद्ध एवाविवेकपूर्वकः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते। (अध्यास भाष्य, ब्र.सू.)

लिप्सतेऽज्ञानतो लब्धं कण्ठे चामीकरं यथा।
वर्जितं च स्वतो भ्रान्त्या छायायामात्मनो यथा ॥३१॥
भयान्मोहावनद्धात्मा रक्षः परिजिहीर्षति।
यच्चापरिहृतं वस्तु तथाऽलब्धं च लिप्सते ॥३२॥

तत्रैतेषु चतुर्षु विषयेषु प्राप्तये परिहाराय च विभज्य न्यायः प्रदर्श्यते–

प्राप्तव्यपरिहार्येषु ज्ञात्वोपायाञ्छ्रुतेः पृथक्।
कृत्वाथ प्राप्नुयात् प्राप्यं तथानिष्टं जहात्यपि ॥३३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इति। स्वतः प्राप्तमेव कण्ठगतं सुवर्णभूषणमज्ञानतोऽप्राप्तं प्राप्तुमिच्छति। तथाऽविद्यमानत्वादेव स्वत **एव** वर्जितं **स्वकीयच्छायायां भ्रान्त्यारोपितं राक्षसं मोहावृतान्तःकरणो भयवशात् परिहर्त्तुमिच्छति। यच्चान्यद्वस्तुतोऽपरिहृतं चोरव्याघ्रादि, अलब्धञ्च वित्तादि परिहर्तुं प्राप्तुञ्चेच्छतीति द्वितीयमपि द्विविधं दृश्यत इत्यर्थः।।३१-३२।।**

भवत्वेवम्, तथापि तत्र तस्य कथं प्राप्तिः परिहारो वेत्याकाङ्क्षायामुत्तरश्लोकाभ्यामत्रोपायः प्रदर्श्यत इत्याह–तत्रैतेष्विति[1]। **तत्र वस्तुतोऽप्राप्ते स्वर्गादौ, अपरिहृते च निरयादौ आगमतस्तदुपायान् विभागेन परिज्ञाय, तदनन्तरमनुष्ठाय, अनुष्ठानजनितादृष्टवशात् कालान्तरे तत्फलं लभते।।३३।।**

चला जाये तो व्यक्ति उसे अपने स्थान पर न पाकर सोचता है कि वह खो गया और उसे खोजने लगता है। वस्तुतः अविद्यमान भी पदार्थ यदि अयथार्थ ज्ञान के कारण स्थित मान लिया जाये, तो उसे हटाने की भी इच्छा हो सकती है; जैसे जब कोई व्यक्ति पुरुष दीखने वाली वस्तु को ठीक से नहीं पहचानता तब उस अपनी परछाई को ही राक्षस मान बैठता है और डरकर उसे हटाना चाहता है। किं च जो सचमुच हमारे पास हो उसे भी हटाने की इच्छा होती है और जो अनुकूल वस्तु सचमुच हमारे पास नहीं, उसे भी पाने की इच्छा होती है॥३१-३२॥ अर्थात् वास्तविक और अवास्तविक लाभ-हानि के भेद से यहाँ भेद विवक्षित है।

---

१. तमेति हस्तलिखितपुस्तकपाठः।

अथावशिष्टयोः स्वभावत एव–

वर्जितावाप्तयोर्बोधाद्धानप्राप्ती न कर्मणा।
मोहमात्रान्तरायत्वात् क्रियया ते न सिध्यतः ॥३४॥

कस्मात् पुनरात्मवस्तुयाथात्म्यावबोधमात्रादेव अभिलषित-निरतिशयसुखावाप्तिनिःशेषदुःखनिवृत्ती भवतो, न तु कर्मणेति?

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्वतस्त्वपहतावाप्तयोरजानत एवातथारूपेणाभिमतयोर्बोधादज्ञाननिवृत्या प्राप्तिपरिहारौ, न तु कर्मणा। मोहमात्रस्यैव तत्र प्रतिबन्धकत्वात्[1] तत्र कर्मसाध्यत्वमित्यर्थः।।३४।।

स्यातां नाम स्वतः प्राप्तस्यात्मनस्स्वत एव परिहतस्य चाऽनात्मनो ज्ञानमात्रादेव प्राप्तिपरिहारौ; निरतिशयानन्दलक्षणस्य निरस्ताशेषानर्थलक्षणस्य कथं ज्ञानादेव सिद्धिस्तथाभूतस्य मोक्षस्य संसारदशायामनुपलम्भात् साध्यत्वप्रतीतेः? इत्याशङ्कायामुत्तरश्लोकेनोत्तरमुच्यत इत्याह–कस्मादिति। यद्वा, शुक्तिकानिकटोपसर्पणादिक्रियया रजतादिविभ्रमाणां तत्कारणाज्ञाननिवृत्या निवृत्तिदर्शनादात्माज्ञाननिवृत्तिरपि कर्मणा किं न स्यादित्याशङ्क्य परिहरति–कस्मादित्यादिना। अयं भावः–उक्तलक्षणस्य मोक्षस्यात्मस्वभावत्वेप्य-

---

इस प्रकार चार तरह के विषयों को हम पाना या हटाना चाहते हैं। इनमें—**जो तो स्वर्गादि वस्तुतः अप्राप्त हैं व दुःखरूप नरकादि वस्तुतः प्राप्त हैं वे, उन्हें पाने व निवृत्त करने के उपाय वेद से ज्ञान और तदनुसार कर्म कर, पाये और निवृत्त किये जाते हैं।**।३३।। बाकी जो दो तरह के विषय हैं उनका स्वभाव ही ऐसा है कि **उनकी निवृत्ति और प्राप्ति उन्हें ठीक तरह जानने से ही हो जाती है, उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। क्योंकि उनके अज्ञान से ही उनकी प्राप्ति या अप्राप्ति का अनुभव होता है इसलिये ज्ञान से अतिरिक्त किसी कर्म से उन्हें न हटाया और न पाया जा सकता है।**।३४।। जैसे कर्ण को कुन्तीपुत्र 'बनने' के लिये यह जानने से अतिरिक्त कि 'मैं कुन्तीपुत्र हूँ', कुछ करना नहीं पड़ा, वैसे समझना चाहिये।

उक्त द्वितीय प्रकार की वस्तु जान लेने से मिल जाती है और आत्मा भी चाहे केवल उसे जान लेने से प्राप्त हो जाये, पर इससे दुःखनिवृत्ति तथा सुख-प्राप्ति कैसे होगी? किं च जैसे अयथार्थ ज्ञान को हटाने के लिये विषय के निकट जाना आदि कर्मरूप

---

१. प्रवृत्तिबन्धकत्वादिति हस्तलिखितपुस्तकपाठः।

उच्यते–

कर्माज्ञानसमुत्थत्वान्नालं मोहापनुत्तये।
सम्यग्ज्ञानं विरोध्यस्य तामिस्रस्यांशुमानिव ॥३५॥

नन्वात्मज्ञानमप्यविद्योपादानम्। न हि शास्त्रशिष्याचार्यादयनुपादायाऽऽत्मज्ञानमात्मानं लभत इति? नैष दोषः, यत आत्मज्ञानं हि स्वतःसिद्धपरमार्थात्मवस्तुस्वरूपमात्राश्रयादेवाविद्यातदुत्पन्नकारकग्रामप्रध्वंसि स्वात्मोत्पत्तावेव शास्त्राद्यपेक्षते, नोत्पन्नमविद्यानिवृत्तौ। कर्म

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्ञानपिहितत्वात् संसारदशायामप्रतिभासः, न तु तस्य तदानीमभावात्, पूर्वोक्तप्रत्यक्षादिना प्रमाणेन तत्स्वभावत्वनिर्धारणात्। तस्य चाज्ञानस्य ज्ञानादेव निवृत्तिस्तथापि लोके दृष्टत्वात्। निकटोपसर्पणादेस्तु न साक्षादज्ञाननिवर्तकत्वं, सम्यक्ज्ञानोत्पत्तिमात्रकारणत्वेनान्यथासिद्धत्वात्। तत्रस्थस्यैव अधिष्ठानावलोकने कदाचित् भ्रमनिवृत्तेः, निकटोपसृप्तस्यापि अधिष्ठानानवलोकने भ्रमानिवृत्तेश्चेति।।३५।।

अज्ञानोत्थत्वाच्चेत् कर्मणामविद्यानिवृत्तावहेतुत्वं तर्हि विद्याया अपि तदुत्थत्वाऽविशेषात् तन्निवर्तकत्वं न स्यादिति शङ्कते–नन्विति। कुत एतदित्यत आह–न हीति। अविद्याकार्यत्वाविशेषेऽपि परमार्थवस्त्वालम्बनतया विषयतो विरोधादविद्यानिवर्त्तकत्वं न विरुध्यत इति परिहरति–नैष दोष इति। तत्राजडसत्यात्मविषयतया जडानृतानात्मविद्यारूपाऽविद्याविरोधितामाह–स्वतस्सिद्धपरमार्थेति। **आत्मनां परस्परभेदेन ब्रह्मणो भेदेन च विद्याविषयत्वे**

साधन हैं, वैसे आत्मा के अज्ञान को हटाने का क्या साधन है? इन दोनों शंकाओं का निराकरण करते हैं—**आत्मा की वास्तविकता न जानने से ही कर्म होता है, अतः कर्म उस न जानने को–अज्ञानको–हटाने में समर्थ नहीं। आत्मयाथात्म्य को प्रमाणतः जान लेना ही उस न जानने का विरोधी है, जैसे अन्धेरे का सूर्य ही–प्रकाश ही–विरोधी है। अतः ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक है।**।३५।। आत्मरूप मोक्ष नित्यप्राप्त है जिससे उसे न जानना ही बन्धन और जानना ही मोक्ष का साधन है। 'न जानना' या 'मैं नहीं जानता' यह भावरूप अज्ञान को विषय करता है, ज्ञानाभाव को नहीं, यह पूर्वोक्त तथ्य ध्यान में रखना चाहिये। आत्मज्ञान ही सकल दुःख-निवृत्ति और निरतिशय सुख-प्राप्ति का कारण है। अयथार्थ ज्ञान को हटाने के लिये जिस प्रकार

पुनः[1] स्वात्मोत्पत्तौ, उत्पन्नं च। न हि क्रिया कारकनिस्पृहा कल्पकोटिव्यवहितफलदानाय स्वात्मानं बिभर्ति साध्यमानमात्ररूपत्वात् तस्याः। न च क्रिया आत्मज्ञानवत् स्वात्मप्रतिलम्भकाल एव

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

द्वैतविरोधाभावमाशङ्क्याह–वस्तुस्वरूपेति। विभ्रमेऽप्यधिष्ठानस्य सामान्येन स्फुरणात्तदालम्बनत्वमस्तीति तद्व्यावृत्तये मात्रग्रहणम्।

किञ्च, विद्या स्वजन्मन्येवाऽविद्यामपेक्षते न तु फले, कर्म पुनस्स्वोत्पत्तौ फले चाविद्यामपेक्षत इति वैलक्षण्यान्तरमाह–स्वोत्पत्ताविति[2]। क्रिया चेत् फलसाधनं विद्यावत् स्वक्षण एव तत् किं न साध्नुयेद् इत्याशङ्क्य; स्वर्गादिफलस्य तदनुपलम्भात्, क्रियायाश्चादृष्टद्वारेण फलसाधनत्वात्, स्वातन्त्र्यासम्भवाच्च, मैवमित्यभिप्रेत्याह–न हीति। अनुभवविरुद्धज्ञानन्तर-फलत्वं क्रियाया इत्याह–न चेति।

आत्मज्ञानमपि कर्मापेक्षयाऽभ्यासद्वारेण वा कैवल्यं साधयतीति

आवश्यकरूप से यथार्थज्ञान अपेक्षित है, उस प्रकार पास जाना आदि क्रिया नहीं। कभी अतिनिकटता भ्रम का हेतु होती है, तब पास नहीं, दूर हटना आवश्यक हो जाता है। ईश्वरकृष्ण ने नाना दोषों के संग्रह का प्रयास किया है—'अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रिय-घातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च'॥ सां.का. ७॥ अतः इतना ही कह सकते हैं कि प्रमाण-सामग्री की समीचीनता का प्रयास आवश्यक है और वह तो श्रवण मनन से किया ही जाता है। एवमपि साक्षात् तो ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक है अतः उसे ही अज्ञान-निवृत्ति का कारण मानना उचित है। 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः' इत्यादि स्मृतियाँ (गी. ५-१६) भी इसमें प्रमाण हैं। और भी, आत्मा की व्यापकता और स्वरूपता उसके पास जाने या दूर हटने को सर्वथा असंभव बना देती हैं। अतः मोक्ष के लिये क्रिया की साधनता नहीं।

शास्त्र, शिष्य, आचार्य आदि अविद्याकार्यों से ही ज्ञान भी उत्पन्न होता है अतः कर्म के समान होने से ज्ञान भी अज्ञाननिवर्तक नहीं हो सकता—यह शंका स्वाभाविक

---

१. कर्म पुनरित्यादि—कर्म पुनः स्वोत्पत्तावपि कर्त्तादिसापेक्षम्। उत्पत्त्यनन्तरमाविद्यककारका-पूर्वादिसापेक्षमित्यर्थः। (सारार्थः)

२. स्वात्मोत्पत्ताविति मूलपाठो मुद्रितपुस्तके दृश्यते।

स्वर्गादिफलेन कर्तारं संबध्नाति। आत्मज्ञानं पुनः पुरुषार्थसिद्धौ नोत्पद्यमानस्वरूपव्यतिरेकेणान्यद् रूपान्तरं साधनान्तरं वा अपेक्षते। कुत

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

मतान्तरमाशङ्क्याह–आत्मज्ञानं पुनरिति। रूपान्तरशब्देनाभ्यास उच्यते। साधनान्तरशब्देन च कर्म। आत्मज्ञानस्याप्यनपेक्षत्वमयुक्तम्, अनादिकाल-प्रवृत्तद्वैतदर्शनसंस्काराभ्यां[1] बाधपरिहाराय तस्याप्यभ्यासादि सापेक्षत्वादि-

---

है, जिसका समाधान है कि यद्यपि वृत्तिरूप ज्ञान अविद्याकार्य है तथापि वास्तविक वस्तु को विषय करने वाला होने से वह अवास्तविक ज्ञान को (अज्ञान को) हटाये यही उचित है। चेतन, सत्य, सब भेदों से रहित आत्मा की वास्तविकता के विषय में होने के कारण जड, असत्य, सब भेदों वाले तथा विचार के बिना ही प्रतीत होने वाले अज्ञान और उसके कार्य को आत्मज्ञान समाप्त करने में समर्थ है।

दूसरी बात यह है कि कर्म की उत्पत्ति भी अज्ञान से होती है और उसका फल भी अज्ञान के रहते ही मिल सकता है, जब कि आत्मज्ञान को केवल उत्पन्न होने के लिये अविद्याकार्यों की आवश्यकता है, फल देने के लिये नहीं। परतन्त्र जड होने से कर्म कारकों का आश्रय लेकर ही कालान्तर में फल देता है, उनके बिना वह स्वयं अपने आपको धारण कर नहीं सकता। कर्म उत्पन्न होते ही कर्ता को स्वर्गादि फलसे सम्बद्ध तो करता नहीं, जैसे ज्ञान उत्पन्न होते ही अज्ञान को हटा देता है। कर्म का फल तो कालान्तर में ही मिलता है। फलकालपर्यन्त कर्म का संस्कार अज्ञान में रहता है तभी कर्म व फल का सम्बन्ध संगत होता है। अपूर्वादि जड में फलप्रदता मानने में कोई तर्क नहीं। 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह.सू. ३.२.३८) कहकर आचार्य बादरायण ने ईश्वर को ही फलदाता सिद्ध किया है जिसके लिये अज्ञान में संस्कार मानना ही उचित है। इसलिये अज्ञान से उत्पन्न होना समान होने पर भी अज्ञान की अपेक्षा के बिना फल देना और न देना—यह ज्ञान व कर्म का अन्तर है।

आत्मज्ञान जैसा उत्पन्न होता है वैसा ही वह दुःख का निवर्तक और सुख का प्रकाशक होता है। उसे न अपना स्वरूप बदलना पड़ता है और न कोई अन्य साधन अपनाना पड़ता है। अतः बार-बार दुहराने से ज्ञान में आया वैशिष्ट्य पुरुषार्थ देता है—

---

१. प्रयुक्तेति हस्तलिखितपुस्तक पाठः।

एतत्? यतः–

बलवद्धि प्रमाणोत्थं सम्यग्ज्ञानं न बाध्यते।
आकाङ्क्षते न चाप्यन्यद् बाधनं प्रति साधनम् ॥३६॥
स्वपक्षस्य हेत्ववष्टम्भेन समर्थितत्वाद् निराशङ्कमुपसंह्रियते–
तस्माद् दुःखोदयहेतोरज्ञानस्यापनुत्तये।
सम्यग्ज्ञानं सुपर्याप्तं क्रिया चेन्नोक्तहेतुतः ॥३७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

त्याक्षिप्य, उक्तश्लोकेन समाधत्ते–कुत एतदित्यादिना। न बाध्यतेऽद्वैतदर्शनं **द्वैतदर्शनसंस्काराभ्यामिति शेषः। स्वयञ्च द्वैतदर्शनतत्संस्कारयोर्बाधनायाभ्यासादिकमपेक्षत इत्यत आह**–आकाङ्क्षत इति।।३६।।

एवं ज्ञानमेव कैवल्यसाधनं न कर्मेत्युपपादितमर्थमुपसंहरति–स्वपक्षस्येति। उक्तहेतुत **इति। अज्ञानसमुत्थत्वोत्पाद्यफलत्वादिहेतुभ्य इत्यर्थः।।३७।।**

यह भ्रम निवृत्त हो जाता है तथा मानस या कायिक कर्म की अनपेक्षता भी स्फुट हो जाती है। तत्त्वज्ञान की बलवत्ता इसलिये है क्योंकि—

विचारित यथार्थज्ञान के साधन से (वेद से) उत्पन्न होने के कारण आत्मा का ठीक ज्ञान अधिक बलवान् है अतः अविचारसिद्ध व यथार्थ ज्ञान के साधनों से न[1] उत्पन्न हुए भेददर्शन और उसके संस्कार से निराकृत नहीं हो सकता। उक्त हेतु से ही भेद व उसके संस्कार के निराकरण के लिये आत्मा का यथार्थ ज्ञान किसी साधन की जरूरत नहीं समझता।।३६।।

ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, कर्म नहीं—यह बात शास्त्र और युक्ति से अविरुद्ध है यह बताकर प्रकृत का उपसंहार करते हैं—

आत्मज्ञान स्वरूप से तथा अपने विषय के कारण यथार्थ है। वह अनन्त दुःख के हेतुभूत अज्ञान को निवृत्त करने में समर्थ है। अज्ञान के अन्तर्गत ही फल देने वाला होने से तथा उसका विरोधी न होने से कर्म अज्ञान को निवृत्त करने में असमर्थ है।।३७।।

---

१. चक्षुरादिके निमित्तसे ठीक ही ज्ञान हो यह नियम नहीं, क्योंकि भ्रम भी अनुभवसिद्ध है। श्रुति तो प्रमा की ही उत्पादिका है।

ननु बलवदपि सम्यग्ज्ञानं सद् अप्रमाणोत्थेनासम्यग्ज्ञानेन बाध्यमानमुपलभामहे, यत उत्पन्नपरमार्थबोधस्यापि कर्तृत्वभोक्तृत्वराग-द्वेषाद्यनवबोधोत्थप्रत्यया आविर्भवन्ति। न ह्यबाधिते सम्यग्ज्ञाने तद्विरुद्धानां प्रत्ययानां संभवोऽस्ति।

नैतदेवम्। कुतः?

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यदुक्तम् 'बलवद्धि प्रमाणोत्थम्' इति, तत्रानुभवविरोधमाशङ्कते–नन्विति। **तावता कथं बाधोऽवगम्यत इति, अत आह**–न हीति। **बाधितस्य बाधकत्वानुपपत्तेर्मैवमिति परिहरति**–नैतदेवमिति। **अस्तु तर्हि बाधकादुत्तर-कालमुत्पन्नद्वैतप्रत्ययैः विद्याया बाध इत्याशङ्क्य, तस्मिन्नपि काले**

आत्मा का यथार्थ ज्ञान बलवान् होता हुआ भी अविचारसिद्ध भेदादिज्ञान से बाधित होता हुआ देखा जाता है, क्योंकि आत्मा को यथार्थ रूप से जानने वालों में भी 'मैं करने व भोगने वाला हूँ', 'मेरी इच्छा को पूरी करने वाला यह साधन मुझे प्राप्त हो', 'मुझे बुरा लगने वाला यह पदार्थ मुझसे दूर हो' आदि अज्ञान से उत्पन्न होने वाले भाव देखने में आते हैं। यदि आत्मा का यथार्थ ज्ञान निवृत्त न हुआ हो तो उसके विरोधी भाव आ नहीं सकते। इस समस्या का समाधान है कि वस्तुतः आत्मवेत्ता में उक्त भाव प्रतीत होने पर भी उनसे उसका आत्मज्ञान निवृत्त नहीं होता, क्योंकि जो आत्मज्ञान से निवृत्त हो चुका ऐसा भेदज्ञान अपने निवर्तक को निवृत्त करे यह असंभव है। प्रकाश आने पर जो साँप निवृत्त हो गया वह प्रकाश को निवृत्त करे ऐसा नहीं होता। आत्मबोध हो चुकने पर शरीर मन में चाहे जो भाव आते-जाते रहें, आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। अज्ञानकार्य होने से शरीर-मन अज्ञान के नियमों से चलते रहें इसमें आत्मा को कोई विरोध नहीं। अपने मुख को सही जानने वाले को काँच में लम्बा या मोटा मुख दीखे तो अपने मुख के सहीपने का ज्ञान और उससे होने वाला सुख कुछ कम नहीं होता, यद्यपि दीखने वाला मुख लम्बा या मोटा ही दीखता रहता है। क्योंकि आत्मा शरीर मन को मैं समझता रहा इसीलिये उनके विकारों से विकृत होता रहा। वस्तुतः तो वह कभी विकृत हुआ नहीं। जब वह निश्चय हट गया—कि शरीरादि मैं हूँ—तो शरीरादि के विकारों से वह विकृत होता नहीं। अतः वास्तविक ज्ञान अवास्तविक भेदज्ञान से निवृत्त नहीं हुआ करता। इसमें कारण बताते हुए कहते हैं—

बाधितत्वादविद्याया विद्यां सा नैव बाधते।
तद्वासना निमित्तत्वं यान्ति विद्यास्मृतेर्ध्रुवम् ॥३८॥

'कर्माज्ञानसमुत्थत्वात्' (१-३५) इत्युक्तो हेतुः। तस्य च समर्थनं पूर्वमेवाभिहितं 'हितं संप्रेप्सताम्' (१-२९) इत्यादिना। तदभ्युच्चयार्थम् अविद्यान्वयेन च संसारान्वयं प्रदर्शयिष्यामीत्यत आह–

ब्राह्मण्याद्यात्मके देहे लात्वा नाऽऽत्मेति भावनाम्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

बाधकविद्यासंस्कारजनितप्रत्ययानां बलवत्त्वात्तेषामेवैतत्प्रत्ययबाधकत्वोपपत्तेर्मैवमिति परिहरति–तद्वासना इति। **यद्वा तद्वासनेत्यविद्यावासनाः कथ्यन्ते। अत्रापि (ता अपि) स्मृतिं विदुषो जनयन्ति। तेन विद्याया न द्वैतस्मृतिभिरपि बाध इत्यर्थः।।३८।।**

वृत्तसङ्कीर्तनपूर्वकं वर्तिष्यमाणस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यमाह–तथेति[1]। **चकारः संसारस्याविद्यान्वयवत्तद्व्यतिरेके व्यतिरेकस्यापि समुच्चयार्थः।** ब्राह्मणाद्यात्मकेति[2]। **वर्णाश्रमवयोऽवस्थाविशेषवति** देहे ना **पुरुषः** आत्मेति

ज्ञान से निवृत्ति हो चुकने के कारण भेदज्ञान वास्तविक ज्ञान को निवृत्त नहीं करता। विचारसिद्ध होने से बलवान् वास्तविक ज्ञान ही प्रतीत होने वाले भेदज्ञान और उसके संस्कारों को हटाता है। भेद संस्कार प्रतीत होकर अभेदज्ञानकी याद दिलाते हैं।।३८।। जैसे अपने मुख का मोटा या लम्बा प्रतिबिम्ब देखने पर मुख का सहीपना ही याद आता है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।

कर्म अज्ञाननिवारक नहीं इसमें हेतु बताया था कि वह अज्ञान से ही उत्पन्न होता है। इस तथ्य का समर्थन उन्तीसवें श्लोक से कर चुके हैं। अब यह बतायेंगे कि क्यों कि अयथार्थ ज्ञान होने पर ही कर्म हो सकता है इसलिये भी कर्म अयथार्थ ज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता।

ब्राह्मणादि वर्ण, गृहस्थादि आश्रम, उम्र, तथा विशेष परिस्थिति वाले शरीरद्वय में 'यह मैं हूँ' ऐसी भावना लाकर ही व्यक्ति वाणी, मन और शरीर के कर्मों में वेद में बताये तरीके से ही करना रूप परतन्त्रता प्राप्त करता है।

---

१. कर्माज्ञानेति ज्ञानोत्तममिश्रः। अत्र मुद्रितमूलपाठानुसारित्वं भाति। अस्याष्टीकाया अनुरोधेन कर्मज्ञानेत्यतः पूर्वं तथेति भाव्यमिति। अथवा प्राक् इत्यमेव पाठ आसीदिति ज्ञेयम्।

२. एवमेषां श्लोके पाठो भवेत्।

श्रुतेः किङ्करतामेति[1] वाङ्मनःकायकर्मसु ॥३९॥
यस्मात्कर्माज्ञानसमुत्थमेव तस्मात्तद्व्यावृत्तौ निवर्तत इत्युच्यते–
दग्धाखिलाधिकारश्चेद् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः।
वर्तमानः श्रुतेर्मूर्ध्नि[2] नैव स्याद्वेदकिंकरः ॥४०॥

अथेतरो घनतराविद्यापटलसंवीतान्तःकरणोऽङ्गीकृतकर्तृत्वाद्यशेषकर्माधिकारकारणो विधिप्रतिषेधचोदनासंदंशोपदष्टः कर्मसु प्रवर्तमानः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भावनां लात्वा **समुपादायेत्यविद्यान्वयो दर्शितः। इदानीं तदधीनं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसारान्वयं दर्शयति–**श्रुतेरिति। किङ्करताम् **तन्नियोगात्तदुक्तकारिताम्।।३९।।**

अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह–यस्मादिति। **अधिक्रियते कर्मण्यनेनेत्यधिकारो ब्राह्मण्याद्यभिमानः।** वर्तमानः श्रुतेर्मूर्ध्नि **प्रतिपाद्यतया ब्रह्मस्वरूपेण।।४०।।**

यः पुनर्वेदकिङ्करोऽविद्यान्वयेन संसारान्वयित्वेन दर्शितः, तस्य संसरणप्रकारं वैराग्योत्पादनायाह–अथेतर **इति। अङ्गीकृतं कर्तृत्व-**

अपनी वास्तविकता जानकर परतन्त्र नहीं होता।।३९।। जब तक 'मैं अमुक विशेषणों वाला देहादि हूँ' ऐसा निश्चय न हो तब तक शास्त्राज्ञा का पालन नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र में तत्तद्वर्णादि वालों के लिये ही कर्मादि का विधान है।

क्योंकि कर्म अज्ञान से उत्पन्न हैं इसलिये अज्ञान के हट जाने पर निवृत्त हो जाते हैं, यह बताते हैं—

कर्म में अधिकार देने वाले 'मैं ब्राह्मणादि विशिष्ट देह हूँ' इस निश्चय के, 'मैं अकर्ता व्यापक निष्क्रिय चेतन हूँ' इस ज्ञानरूप अग्नि से जल चुकने पर मुक्त पुरुष वेद के प्रतिपाद्य परमात्मस्वरूप से रहता है, वेद की आज्ञाओं में बँधा नहीं रहता।।४०।।

जो अपने स्वरूप से अनभिज्ञ है वह आत्मवस्तु की यथार्थता को बिलकुल भी

---

१. किंकरतां—नियोज्यताम्। पारतन्त्र्यमिति भावः।

२. 'कर्मकाण्डाद्यात्मकस्य वेदस्य मूर्ध्नि अप्रतिपाद्यतया शब्दशक्त्यगोचरब्रह्मपदे वर्तमानो वेदकिंकरो न स्यात्। ब्रह्मभूततया विधिनिषेधातीतत्वादि'ति सारार्थकारः।

शुभैः[१] प्राप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम्।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ॥४१॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते घोरे दुःखोदधौ घटीयन्त्रवदारोहावरोहन्यायेन अधममध्यमोत्तमसुखदुःखमोहविद्युच्चपलसंपातदायिनीर्विचित्र-योनीश्चण्डोत्पिञ्जलकश्वसनवेगाभिहताम्भोनिधिमध्यवर्तिशुष्कालाबुवत् शुभाशुभव्यामिश्रकर्मवायुसमीरितः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भोक्तृत्वब्राह्मण्यादिलक्षणमशेषं कर्माधिकारे कारणं येन स तथोक्तः। अत्र च पूर्वं पूर्वमुत्तरोत्तरस्य हेतुः। अवशः **कामकर्मादिपरतन्त्र इति यावत्।।४१।।**

उत्तरश्लोकगतस्यैवंशब्दस्यापेक्षितमर्थं प्रदर्शयन् संसारगतिमेव प्रपञ्चयति– आब्रह्मेति। योनीश्चङ्क्रम्यमाण **इति श्लोकगतपदेन सम्बन्धः। ता एव योनीर्विशिनष्टि–**अधमेति। अधम-मध्यमोत्तमा **ये** सुखदुःखमोहास्तेषां विद्युद्वच्चपलो **यस्सम्पातस्सम्पर्कस्तं दातुं शीलं यासां योनीनां तास्तथोक्ताः, ता एव** विचित्रा **देवतिर्यङ्नरकादिभेदेन। चङ्क्रमणे दृष्टान्तमाह–**चण्डेति। **उत्पिञ्जल** आकुलः[२]

न समझना रूप अज्ञान से ढकी बुद्धि वाला, 'मैं कर्ता हूँ' आदि वे निश्चय करता है जिनके होने पर कर्म करना ही पड़े। अत एव वह विधि-निषेध शास्त्र रूप सर्प से मानो डसा हुआ कर्मों में प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार अज्ञान के कारण गलत निश्चय से स्वयं को विधि आदि का विषय मान कर प्रवृत्ति करता हुआ—**जिन्हें करने के लिये बताया है उन कर्मों को बाहुल्येन करने से स्वर्ग या देवत्व पाता है, जिन्हें करना मना किया है उन्हें बहुलता से करने पर नरक पाता है, व सामान्य रूप से कुछ-कुछ दोनों तरह के कर्म करने से मनुष्य योनि प्राप्त करता है। कामना कर्म आदि के अधीन पुरुष का यही हाल है।।४१।।**

जैसे रेहट ऊपर-नीचे जाता आता है वैसे ही चतुर्मुख ब्रह्मा से स्थिर वृक्ष पर्यन्त अत्यधिक दुःख के सागर में कभी निम्न सुख-दुःख अभिमान से बिजली की चमक की तरह अस्थिर सम्पर्क कराने वाली वृक्ष आदि योनि में, कभी सामान्य सुख-दुःख-

---

१. शुभैरिति—'पुण्येन पुण्यं लोकं जयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' इति श्रुतेः।
२. आकुलीभूत इति भावः।

एवं चङ्क्रम्यमाणोऽयमविद्याकामकर्मभिः।
पाशितो जायते कामी म्रियते चासुखावृतः ॥४२॥
यथोक्तेऽर्थ आदरविधानाय प्रमाणोपन्यासः–
श्रुतिश्चेमं जगादार्थं कामस्य विनिवृत्तये।
तन्मूला संसृतिर्यस्मात्तन्नाशोऽज्ञानहानतः ॥४३॥
का त्वसौ श्रुतिरिति चेत्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

चण्डश्चासावुत्पिञ्जलकश्चेति चण्डोत्पिञ्जलकः। श्वसनो **वायुः तस्य वेगेनाभिहतो योऽम्भोनिधिस्तन्मध्यवर्ति यच्छुष्कमलाबु तद्यथाऽतिशयेन भ्रमति, तद्वत् शुभमशुभं तदुभयं व्यामिश्रञ्च यत्कर्म स एव** वायुस्तेन समीरितः **प्रेरितः कामी जायत इति।।४२।।**

कामस्य संसरणकारणत्वं प्राधान्येनोक्तम्। तत्र श्रुतिस्मृती प्रमाणमिति दर्शयितुमाह–यथोक्तेति। यस्मात् **संसृतिस्तस्मात्तस्य** विनिवृत्तये श्रुतिर्जगादेत्यन्वयः। **कथं तर्हि तन्निवृत्तिरित्यत आह–**तन्नाश इति।।४३।।

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते'।। 'इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम

अभिमानसे वैसा ही सम्पर्क कराने वाली मनुष्यादि योनि में, व कभी उत्तम सुख-दुःख-अभिमान से अस्थिर सम्पर्क कराने वाली ब्रह्मा आदि योनि में तेज हवा से हिलने वाले समुद्र के बीच पड़ी सूखी तुम्बी की तरह अच्छे, बुरे और मिले-जुले कर्मरूप वायु से हिलाया जाता हुआ—**यह पुरुष अज्ञान, कामना और कर्म से नियन्त्रित हो इधर से उधर आता जाता रहता है व बहुतेरी इच्छाओं को लेकर पैदा होता है और उनकी पूर्ति न होने से पूरी तरह सुख पाये बिना ही मर जाता है।।४२।।** जीवों की दयनीय स्थिति का यथावत् वर्णन इसलिये किया है कि इस परिस्थिति से वैराग्य हो।

उक्त विषय में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए प्रमाण उपस्थित करते हैं—**क्योंकि कामना ही संसरण का मुख्य उपलब्ध कारण है इसलिये कामना को हटाने के लिए वेद ने पूर्वोक्त तात्पर्य प्रकट किया है। कामना की निवृत्ति उसके कारणभूत अज्ञान के हटने पर ही हो सकती है।।४३।।**

वेदादि में यह जहाँ बताया है वे स्थल दिखाते हैं—

'जब मन में रहने वाली सब कामनायें हट जायेंगी तब मरणधर्मा

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्त' 'इति नु' इति च वाजिनः।
कामबन्धनमेवेदं व्यासोऽप्याह पदे पदे ॥४४॥

एष संसारपन्था व्याख्यातः। अथेदानीं तद्व्यावृत्तये कर्माण्यारादुपकारकत्वेन[1] यथा मोक्षहेतुतां प्रतिपद्यन्ते तथा अभिधीयते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आप्तकाम आत्मकामो', 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादि वाजिशाखिन आहुरित्यन्वयः। 'कामबन्धनमेवेदं नान्यदस्तीह बन्धनम्' इत्यादिना व्यासेनापि कामस्य संसारकारणत्वं स्मर्यत इत्यर्थः॥४४॥

एवन्तावत्कामस्य संसारकारणत्वमुक्तं तस्य च 'तन्नाशोऽज्ञानहानत' इति ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या निवृत्तिरप्युक्ता। तत्र सर्वथा कर्मणां मुक्तावप्यनुपयोग-शङ्कायामुपयोगप्रकारप्रदर्शनायोत्तरग्रन्थ इत्याह–एष इति। कथञ्चिदिति

अमर होकर इसी जीवन में अपने व्यापक स्वरूप में स्थित हो जायेगा।' (बृह. ४.४.७; कठ. ४.१४); 'जो आत्मा की ही कामना करने के कारण सब कामनाओं से रहित हो गया है, उसी की सब कामनायें पूर्ण हो गयी हैं। उसका अन्यत्र फिर जन्म नहीं होता। जीवन काल में भी वह व्यापक स्वरूप में रहता है और जीवन-समाप्ति पर भी अपने उसी स्वरूप में रहता है।' (बृ. ४.४.६) आदि यजुर्वेद में यह बताया है। व्यास जी ने भी जगह-जगह संसार को कामना से नियन्त्रित अर्थात् उसी के कारण होने वाला बताया है॥४४॥

अभी संसरण का रास्ता बताया। अब संसरण की समाप्ति के लिये कर्म किस प्रकार मोक्ष के लिये दूर से उपकारक है, यह बतायेंगे। लौकिक व बुरे कर्मों की तरह शास्त्रीय कर्म मोक्ष के लिये सर्वथा बेकार हो यह बात नहीं। **इस प्रकार दुःख से तपे हुए तथा भगवत्कृपादि किसी हेतु से सत्कर्म करने के कारण एवं अवश्य करणीय कर्म करने से शुद्ध चित्त वाले पुरुष को कामनावश किये जाने वाले**

---

१. आरादुपकारकत्वं च प्रधानस्वरूपानिर्वाहकत्वे सति फलजनकतांशे प्रधानस्योपकारकत्वम्। संनिपत्योपकारकत्वं च प्रधानस्वरूपनिर्वाहकत्वमिति सारार्थः।

तस्यैवं दुःखतप्तस्य कथञ्चित्पुण्यशीलनात्।
नित्येहाक्षालितधियो वैराग्यं जायते हृदि ॥४५॥
कीदृग्वैराग्यमुत्पद्यत इति, उच्यते–
नरकाद्धीर्यथाऽस्याभूत्तथा काम्यफलादपि।
यथार्थदर्शनात्तस्मान्नित्यं कर्म चिकीर्षति ॥४६॥
एवं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पुण्यशीलनस्य दुर्लभतां दर्शयति। काम्ये पुण्येऽप्यानुषङ्गिकी[1] शुद्धिरस्तीति। ततो नित्यानुष्ठाने बुद्धिरुत्पद्यते। एवं नित्येहया नित्यकर्मानुष्ठानेन विशुद्धबुद्धेः काम्यकर्मफलेषु वैराग्यं जायत **इत्यर्थः॥४५॥**

यथार्थदर्शनादिति। **काम्यफलस्यानित्यत्व–सातिशयत्व–दुःखबहुलत्वादि-दोषदर्शनात् काम्यकर्मभ्यो व्यावृत्तः पुनस्तदेव** नित्यं कर्म **तात्पर्येणानुष्ठातुमिच्छतीत्यर्थः॥४६॥**

भवत्वेवं काम्यपरित्यागेन[2] नित्यनैमित्तिककर्मणामेवानुष्ठानं, तथापि केन द्वारेण तेषां मोक्षहेतुत्वमित्यत आह–एवमिति। **चित्तशुद्धिवैराग्याति-**

कर्मों को करने की इच्छा नहीं रहती॥४५॥ पहले तो व्यक्ति कामना—प्रयुक्त हो कर्म करता है किन्तु क्योंकि कर्म शुद्ध होते हैं इसलिये वे इसे धीरे-धीरे कामदोष से छुड़ा देते हैं।

कामना-प्रयुक्त कर्मों के प्रति वैराग्य का वर्णन करते हैं—**फलों की अनित्यता आदि वास्तविकता समझ लेने पर इच्छित फलों से भी वैसा ही डर हो जाता है जैसा पहले नरक से होता है। अतः विवेकी काम-प्रयुक्त कर्मों को छोड़ केवल अवश्य करणीय कर्म ही करना चाहता है॥४६॥**

ऐसा करने पर—**परमात्मा की प्रसन्नता के लिये किये कर्म बाकी सब**

---

१. एकःकाम्योऽपरो नित्यस्तथा नैमित्तिकोऽपरः।
प्राधान्येन फलं शुद्धिरार्थिकी काम्यकर्मणः॥२॥
प्राधान्येन फलं शुद्धिर्नित्यस्य फलमार्थिकम्।
केवलं प्रत्यवायस्य निवृत्तिरितरस्य तु॥३॥ (सूतसंहिता-४.२.३)

२. काम्यकर्मपरित्यागेनेत्यर्थः।

शुध्यमानं तु तच्चित्तमीश्वरार्पितकर्मभिः ।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्यथ सुनिर्मलम् ॥४७॥

यस्माद् रजस्तमोमलोपसंसृष्टमेव चित्तं कामबडिशेनाऽऽकृष्य विषयदुरन्तसूनास्थानेषु निक्षिप्यते, तस्मान्नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठान-परिमार्जनेनापविद्धरजस्तमोमलं प्रसन्नमनाकुलं संमार्जितस्फटिक-शिलाकल्पं बाह्यविषयहेतुकेन च रागद्वेषात्मकेनातिग्रह-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

शयोत्पादनद्वारेणेत्यर्थः ।।४७।।

ननु किमुत (मिति) वैराग्येण; तस्य मोक्षसाधनत्वेन तत्सहकारित्वेन चाश्रवणादित्याशङ्क्य, रागस्य मोक्षोपाये प्रवृत्तिप्रतिबन्धकरागाभावतया वैराग्यस्य मोक्षप्रवृत्तिहेतुतामुपपत्तिपुरस्सरं दर्शयति–यस्मादित्यादिना। **रजस्तमसी एव हेयत्वान्मलवन्मलं तेन मलेनानुषक्तमन्तःकरणं, कामाख्येन बडिशवदाकर्षकत्वात् बडिशेनाकृष्य विषयप्रवणं विधाय, विषयाश्शब्दादय एव दुरन्तानि** सूनास्थानानि **हिंसास्थानानि विषयपरायणानां पुनः पुनर्मरणादिदुःखहेतुत्वात्, तेषु मत्स्यादिवद् निक्षिप्यते यस्मात् तस्माद् नित्याद्यनुष्ठानात्तथाभूतप्रतिबन्धक्षये यथोक्तविशेषणं** चित्तदर्पणं प्रत्यङ्मात्रप्रवणमवतिष्ठते **इत्यन्वयः।** अपविद्धरजस्तमोमलं **व्यावृत्तरजस्तमोमलं अतएव** प्रसन्नमनाकुलम् **अचलम्। प्रसन्नतायां दृष्टान्तमाह**–सुमार्जितेति[1]। **अतएव**

इच्छाओं के हटने से मन को शुद्ध करते हैं। जिससे ब्रह्मलोक आदि श्रेष्ठ फलों के प्रति भी दृढ वैराग्य होने से मन के सब मल दूर हो जाते हैं।।४७।। क्योंकि राग आत्मज्ञान में अड़चन पैदा करता है, इसलिये उसका विरोधी वैराग्य उसमें सहायक हो यह सुसंगत है।

क्योंकि राग-द्वेष और अविवेकरूप मैल वाला मन कामना रूप काँटे से खिंचकर, परिणाम में दुःखदायी शब्दादि विषयरूप बूचड़खाने में डाला जाता है, इसलिये अवश्य करणीय कर्म करके इच्छाओं को कम कर राग-द्वेष हटाने चाहिये व उनके हटने पर वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार कर अविवेक हटाना चाहिये जिससे चमकाई हुई स्फटिक मणि की पट्टी की तरह स्वच्छ—अर्थात् शान्त और निश्चल—मनरूप दर्पण बाह्य विषयों में राग-द्वेषरूप कामना से आकृष्ट न हो और सब मलों के हटने से आत्मा

१. संमार्जितेति मूलपाठः।

बडिशेन[1] अनाकृष्यमाणं विधूताशेषकल्मषं प्रत्यङ्मात्रप्रवणं चितदर्पणमवतिष्ठते। अत इदमभिधीयते–

व्युत्थिताशेषकामेभ्यो यदा धीरवतिष्ठते[2] ।
तदैव प्रत्यगात्मानं स्वयमेवाविविक्षति ॥४८॥

अतः परम् अवसिताधिकाराणि कर्माणि प्रत्यक्प्रवणत्वसूनौ कृतसंप्रत्तिकानि चरितार्थानि सन्ति–

प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः ।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥४९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ये बाह्यादयो विषयास्तद्धेतुकौ यौ रागद्वेषौ तल्लक्षणेनातिग्रहबडिशेन विषयान्तं प्रति अनाकृष्यमाणम्। **अत्र च 'कामेनातिग्रहेण गृहीत' इति कामस्यातिग्रहत्ववचनादस्य च द्वेषोपलक्षणार्थत्वाद्रागद्वेषयोरतिग्रहात्मकत्वम्। तेनाकृष्यमाणत्वे हेतुः**–विधूतेति।।४८।।

एवं विशुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नवैराग्यस्य सर्वकर्मसंन्यासेऽधिकार इत्यभिप्रेत्याह–अतः परमिति। **'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितमि'ति वचनात् कर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्य कामस्य निवृत्तत्वात्** कर्माण्यवसिताधिकाराण्युच्यन्ते। प्रत्यक्प्रवणत्वसूनौ कृतसंप्रत्तिकानि; **सम्प्रत्तिर्नाम स्वकार्याणां पुत्रे समर्पणम्। अत एव** चरितार्थानि **कृतप्रयोजनानि,** अस्तमायान्तीति

की ओर ही अनुरक्त हो। इसलिये यह कहते हैं—**बाह्य विषयों की सब कामनाओं को जब बुद्धि छोड़ देती है तब वह खुद ही केवल आत्मा को जानने की इच्छा करती है।**।४८।। ऐसा हो जाने पर फिर कर्म करने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि आत्मा में प्रेमरूप पुत्र उत्पन्न कर उसे अपने सब कर्म समर्पित कर ही कर्मों का प्रयोजन पूरा हो जाता है—**उक्त प्रकार से इच्छाओं को हटाने के कारण बुद्धि में परमात्मा के लिये प्रेम उत्पन्न करने से कर्म कृतार्थ होकर उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जिस प्रकार बादल पानी बरसाने से कृतार्थ होकर समाप्त हो जाते हैं।**।४९।। क्योंकि अवश्य करणीय कर्मों को करने की यह महिमा है—**इसलिये आत्मज्ञानरूप मोक्ष**

१. अतिग्रहबडिशेन—अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इत्यत्र श्रुतौ ग्राहकत्वाद् ग्रहत्वमिन्द्रियाणमतीव-बन्धकत्वात्पुरुषस्यातिग्रहत्वं कामस्योक्तम्। तदुच्यते अतिग्रहबडिशेनेति। (नै.सि. विवरण)
२. यदा धीरवतिष्ठते—'अवतिष्ठते उद्रिक्तसत्त्वमात्रं भवति'। (सारार्थः)

यतो नित्यकर्मानुष्ठानस्यैष महिमा–

तस्मान्मुमुक्षुभिः कार्यमात्मज्ञानाभिलाषिभिः ।
नित्यं नैमित्तिकं कर्म सदैवाऽऽत्मविशुद्धये ॥५०॥
यथोक्तेऽर्थे सर्वज्ञवचनं प्रमाणम्–
'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शम' एवेति च स्मृतिः ॥५१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

श्लोकपदेन सम्बन्धः[१]।।४९।।

एवं कर्मणामन्तःकरणशुद्धिद्वारेण प्रवणताहेतुत्वाद्[२] अस्त्येव मुक्तावुपयोग इत्युपसंहरति–यत इति।।५०।।

कर्मणां मुक्तावारादुपकारकत्वं, न तु साक्षादित्युक्तम्। तस्मिन्नर्थे भगवद्वचनं प्रमाणमित्याह–यथोक्त **इति।** आरुरुक्षोस्सम्यग्दर्शनसाधनं **ध्यानयोगमारोढुमिच्छोस्तदनुष्ठानासमर्थस्य** शमः **कर्मणामुपशमः संन्यासः** कारणम्। **योगावाप्तौ च साधनमिति वदन् परम्परैव[°रयैव] कर्मणां मोक्षोपायत्वं दर्शयतीत्यर्थः।।५१।।**

चाहने वालों द्वारा मन को सदा इच्छारहित करने के लिये अवश्य करणीय कर्म किये जाने चाहिये।॥५०॥ नित्यादि कर्म करने से होने वाली चित्तशुद्धि सदा बनी रहती है, अतएव कर्मों की महत्ता है। 'सदा कर्म करना चाहिये'—यह अर्थ नहीं, क्योंकि पूर्वश्लोक में ही कर्मों की समाप्ति का वर्णन किया जा चुका है।

मुक्ति के लिये कर्म की दूर से या क्रम से उपयोगिता में भगवान् कृष्ण के वचन को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं—**'जो व्यक्ति आत्मा के यथार्थ ज्ञान के उपाय ध्यानयोग को करना चाहता है पर कर पाने में असमर्थ है वह उसे करने की सामर्थ्य पाये इसके लिये शास्त्रों में बताया उपाय है फलेच्छा छोड़कर अवश्यकरणीय कर्मों को करना। जो तो ज्ञान-साधन के अनुष्ठान में समर्थ है, उसके लिये सब कर्मों का त्यागरूप संन्यास ही ज्ञानप्राप्ति में उपयोगी बताया गया है।' ऐसा श्रीभगवद्गीता में कहा है**॥५१॥ कर्म उपाय है योग-प्राप्ति का—

---

१. कर्माणि अन्तःकरणशुद्ध्युत्पादनद्वारेण तस्य प्रत्यक्प्रवणतामुत्पाद्य कृतार्थानि सन्त्यस्तमायान्ति। अर्थात् मोक्षम्प्रति कर्मण एवंप्रकारेण आरादुपकारकत्वं सिद्ध्यति।

२. प्रत्यक्प्रवणताहेतुत्वाद्—इति चन्द्रिकानुसारी।

नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिः, धर्मोत्पत्तेः पापहानिः ततश्चित्तशुद्धिः, ततः संसारयाथात्म्यावबोधः, ततो वैराग्यम्, ततो मुमुक्षुत्वम्, ततस्तदुपायपर्येषणम्, ततः सर्वकर्मतत्साधनसंन्यासः, ततो योगाभ्यासः, ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता, ततस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपरिज्ञानम्,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कर्मणां पारम्पर्येण मुक्तावुपयोगो दर्शितस्तदेव पारम्पर्यमिदानीं दर्शयति– नित्येति। धर्मोत्पत्तिः **अदृष्टोत्पत्तिः।** पापहानिः **'पुण्येन (धर्मेण) पापमपनुदती'ति श्रुतेः।** चित्तशुद्धिः **चित्तस्य विवेकक्षमत्वम्। याथात्म्यावबोधः अनित्यत्वादिदोषदर्शनम्।** योगाभ्यासः **श्रवणमनन-निदिध्यासनादी-नामनुष्ठानम्। अत्र** चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता **नाम प्रत्यगात्मन्येवाप्रयत्नेनावस्थानं, कर्मसंन्यासस्य हेतुत्वेन पूर्वोदिता तु प्रत्यक्प्रवणता प्रत्यगात्मविविदिषामात्ररूपेति**

यह कहकर स्पष्ट कर दिया कि मोक्ष के लिये कर्म का साक्षाद् उपयोग नहीं है।

कर्म का मोक्ष के लिये दूर से—किसी अन्य को माध्यम बनाकर उपयोगी होना बताया। अब उस दूरी का स्वरूप प्रकट करते[१] हैं—अवश्यकरणीय कर्म करने से मन में धर्मनामक एक विशेषता उत्पन्न होती है। उस विशेषता से हमारे पापरूप बुरे संस्कार समाप्त होते हैं। पापसमाप्ति से मन में यथार्थ और अयथार्थ को पहचानने की क्षमता आती है। उस क्षमता के आने पर संसार के अनित्यादि वास्तविक स्वरूप का पता चलता है। संसार को सीप में चाँदी की तरह अयथार्थ जान लेने पर उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। उस आकर्षण के अभाव में लौकिक उपायों का सहारा न लेने से जिन दुःखों को सहना पड़ता है उनसे छूटने की इच्छा होती है। संसार को अवास्तविक जान लेने से स्वभावतः ही वास्तविक वस्तु को जानने की तीव्र इच्छा होती है। उस इच्छावश दुःख से छूटने के और सत्य को जानने के उपायों को ढूँढा जाता है। इस तलाश में पूरी तरह लगने पर व्यक्ति न तो कोई अन्य कर्म करता है और न ही कर्म करने के साधनों को अपने पास रखता है, क्योंकि उसने कर्म व उसके फल के वास्तविक अनित्यादि रूप को जान लिया है। यही संन्यास है। इस तरह एकान्तभाव से ढूँढते हुए गुरु व शास्त्र की उपलब्धि होती है जिनके आदेशानुसार अनुभव के आधार पर पूरी चौकसी से सत्यवस्तु का विचार करना रूप योग किया जाता है। इसे करने पर तैत्तिरीयोपनिषदादि

---

१. भामती में (३.४.२७) भी इस प्रसंग का स्पष्ट वर्णन दर्शनीय है।

ततोऽविद्योच्छेदः, ततश्च स्वात्मन्येवावस्थानम् 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ. ४-४-६), 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (का. २-२-१) इति–

पारम्पर्येण कर्मैवं स्यादविद्यानिवृत्तये।
ज्ञानवन्नाविरोधित्वात् कर्माविद्यां निरस्यति ॥५२॥

न च कर्मणः कार्यमण्वपि मुक्तौ संभाव्यते। नापि मुक्तौ यत्संभवति तत् कर्मापेक्षते। यदुच्यते[1]–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

न पूर्वापरविरोधः। वाक्यार्थपरिज्ञानं साक्षात्कारलक्षणं स्वात्मन्यवस्थानमित्यत्र प्रमाणमाह–ब्रह्मैवेति। साक्षादेवाविद्यानिवर्तकं कर्म किं न स्यादित्यत आह ज्ञानवदिति।।५२।।

कर्मणस्साक्षान्मोक्षसाधनत्वाभावे युक्त्यन्तरमाह–न चेति। **मुक्तौ**

में बताये ढंग से अन्न, प्राण, मन आदि को सत्य मानकर, फिर उनकी भी असत्यता समझकर अन्त में इस निर्णय को करता है कि वास्तविक सत्य तो आनन्दरूप आत्मा ही है। ऐसा निश्चय होने पर वह आत्मविषयक चिन्तन ही करने लगता है। इस अवस्था में जब उसे कहा जाता है कि 'तू ही आत्मा है' तब आत्मविषयक किसी भ्रम के न होने से वह यह स्पष्ट अनुभव करता है कि जो सूर्यादि में व्यापक है और जो मुझमें भास रहा है यह एक ही है—मैं ही हूँ। इस तरह सत्य जानते ही उसका उसे न जानना—सत्य का अज्ञान—समाप्त हो जाता है और वह अपने नित्य तृप्त स्वरूप में बना रहता है, उससे भिन्न किसी विशेष वाला स्वयं को मानता नहीं। यद्यपि वस्तुतः वह सदा ही अद्वितीय आनन्द रहा तथापि पहले अपनी सद्वितीय दुःखी-रूपता का भ्रम था अतः उस भ्रम के हटने पर कह दिया जाता है कि वह अब अपने स्वरूप में स्थित हो गया। इसे वेद यों कहता है 'ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्मको पा लेता है' (बृ. ४.४.६) व 'मुक्त ही मुक्त हो जाता है' (कठ. ५.१)।—**इस प्रकार आत्मा को न जानने की निवृत्ति के लिये कर्म परम्परा से ही उपयोगी है। आत्मा की वास्तविकता को न जानने से कर्म का कोई विरोध न होने के कारण वह उसे साक्षात्–सीधे ही–निवृत्त नहीं कर सकता जिस तरह न जानने का विरोधी जान लेना–ज्ञान–उसे निवृत्त कर सकता है।।५२।।**

कर्म के फल हैं पैदा करना आदि और मोक्ष है आत्मज्ञानरूप अतः मोक्ष कर्म का

---

१. तदुच्यत इत्यन्यत्र मुद्रितपाठः।

[1]उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम् ॥५३॥

एवं तावत् केवलं कर्म साक्षादविद्यापनुत्तये न पर्याप्तमिति प्रपञ्चितम्। मुक्तौ च मुमुक्षुज्ञानतद्विषयस्वाभाव्यानुरोधेन सर्वप्रकारस्यापि कर्मणोऽसंभव उक्तो 'हितं संप्रेप्सताम्' (१-२९) इत्यादिना।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यत्सम्भवति **इति स्वरूपावस्थानमुच्यते।।५३।।**

वृत्तसंकीर्तनपूर्वकं वर्तिष्यमाणग्रन्थसन्दर्भस्य तात्पर्यमाह–एवं तावदिति। **अनित्यफलाद्विरक्तत्वं मुमुक्षुस्वभावः। ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रतया अविद्या-निवर्तकत्वं स्वभावः। ज्ञानविषयस्य चात्मनः कूटस्थत्वेनासाध्यत्वं (स्वभावः। पूर्वं केवलकर्मणां मुक्तिसाधनत्वं[2]) निराकृतम्। अधुना ज्ञानेनाङ्गाङ्गिभावेन समप्रधानतया वा समुच्चितस्यापि मुक्तिसाधनत्वं न सम्भवतीति उच्यत इत्यर्थः। एवं समुदायतात्पर्यमभिधायाधुना समनन्तरश्लोकतात्पर्यमाह–**तत्रेति।

फल हो यह किसी तरह सम्भव नहीं। मुक्ति है अपने ही स्वरूप में स्थिति तथा इसे किसी कर्म की अपेक्षा हो नहीं सकती कारण कि यदि अपने से भिन्न का अपने से सम्बन्ध स्थापित करना हो तभी कर्म की अपेक्षा हुआ करती है। यही कहते हैं—**पैदा होना, मिलना (प्राप्त होना), सुधरना व बिगड़ना–ये चार ही क्रिया के फल हो सकते हैं। क्योंकि मुक्ति इनमें से किसी स्वरूप वाली नहीं, इसलिये कर्म उसका साधन नहीं।।५३।।** नित्य, स्वरूप और अपरिवर्तनीय होने से आत्मरूप मोक्ष क्रिया-फलात्मक नहीं है।

इस प्रकार बताया कि कर्म स्वयं साक्षाद् अज्ञान हटाने में समर्थ नहीं। मोक्ष से कर्म का कोई भी सम्बन्ध असम्भव है, क्योंकि मोक्ष चाहने वाला साधक भी[3] कर्म की अनित्यता—अनित्यफलता—जानने से उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। ज्ञान अपने स्वभाव से ही अज्ञान का नाश कर उसके कार्यभूत कर्म को भी नष्ट कर देता है। आत्मा तो व्यापकादि होने से निष्कर्मा है ही। उनतीसवें श्लोक में बताया जा चुका है कि कर्म अज्ञान

---

१. उत्पाद्यमित्यादि—भावप्रधानो निर्देशः उत्पाद्यत्वमित्यर्थः।
२. कुण्डलितभागश्चन्द्रिकातो ग्राह्योऽत्र।
३. उपदेशसाहस्री में स्पष्ट कहा है 'साहैव विदुषा तस्मात् कर्म हेयं मुमुक्षुणा' (१.५)।

यादृशश्चाऽऽदुपकारकत्वेन ज्ञानोत्पत्तौ कर्मणां समुच्चयः[1] संभवति तथा प्रतिपादितम्। अविद्योच्छित्तौ[2] तु लब्धात्मस्वभावस्य आत्मज्ञानस्यैवासाधारणं साधकतमत्वं, नान्यस्य प्रधानभूतस्य गुणभूतस्य च– इत्येतदधुनोच्यते। तत्र ज्ञानं गुणभूतं तावदहेतुरित्येतदाह–

संनिपत्य न च ज्ञानं कर्माज्ञानं निरस्यति।
साध्यसाधनभावत्वादेककालानवस्थितेः ॥५४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कर्मणोऽङ्गत्वेन सन्निपत्य ज्ञानमविद्यां न निरस्यति। कुत इत्यत्राह–साध्येति। **तत्रान्तःकरण-शुद्धिद्वारेण कर्म साधनं च ज्ञानं साध्यमत** एवैककालानवस्थितेर्नाङ्गाङ्गिभावः। **तत्साध्यस्य तदङ्गत्वादृष्टेरेकप्रयोगानारूढत्वाज्जन्मान्तरानुष्ठितस्यापि कर्मणो ज्ञानसाधनत्वाङ्गीकाराच्चेत्यर्थः।।५४।।**

से ही सम्भव है। मोक्ष के लिये कर्म की क्रम से—दूर से, माध्यम के द्वारा—उपयोगिता है यह भी समझा दिया गया है। अविद्या की निवृत्ति में तो नित्यप्राप्त ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रमा ही विशेषरूप से एवं साक्षात् कारण है। आत्मप्रमा से अतिरिक्त कुछ भी ऐसा नहीं जो प्रधान या गौण रूप से अविद्या-हानि का निश्चित व साक्षात् कारण हो। इसे सुस्पष्ट करने के लिये पहले यह बताते हैं कि ज्ञान गौण और कर्म प्रधान होकर मोक्ष का कारण नहीं। कर्म अकेला तो मोक्ष का साधन नहीं ही है यह सिद्ध हो चुकने पर ज्ञान के सहारे भी—ज्ञान के साथ विद्यमान होकर—वह मुक्त्युपाय नहीं हो सकता यह बतायेंगे। यद्यपि ज्ञानोत्पादक होने से कर्म की मोक्षसाधनता अभीष्ट है तथापि वह इसकी अपेक्षा रखती है कि ज्ञानप्राप्ति के पूर्व कर्मत्याग हो, अतः ज्ञान व कर्म का साक्षात् सम्बद्ध होकर रहना असम्भव होने से मोक्षोपाय ज्ञान का उपाय होने पर भी कर्म मोक्षोपाय नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत यदि कहना ही हो तो कर्मत्याग को मोक्षोपाय कह भी सकते हैं, कारण कि वह ज्ञान से साक्षात् सम्बद्ध होकर रहता है। आचार्यों ने कहा ही है कि संन्यासनिष्ठ ब्रह्मविद्या मोक्ष का साधन है, न कि कर्मसहित ब्रह्मविद्या (मु.भा. उपोद्घात)।

---

१. समुच्चयः—एककार्यकारित्वमिति भावः।

२. अविद्योच्छित्तौ—केवलकर्मणां मोक्षसाधनत्वं प्रभाकराभिमतं निराकृत्य सम्प्रत्यङ्गाङ्गिभावेन वा समप्राधान्येन वा समुच्चितानामपि कर्मणां भाट्टाभिमतं मोक्षसाधनत्वं न सम्भवतीति प्रतिपाद्यते।

समप्रधानयोरप्यसंभव एव–
बाध्यबाधकभावाच्च पञ्चास्योरणयोरिव।
एकदेशानवस्थानान्न समुच्चयता तयोः ॥५५॥
कुतो बाध्यबाधकभावः? यस्मात्–
अयथावस्त्वविद्या स्याद् विद्या तस्या विरोधिनी।
समुच्चयस्तयोरेवं रविशार्वरयोरिव ॥५६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ज्ञानकर्मणोस्समसमुच्चयनिरासायाह[1]–समप्रधानयोरिति। पञ्चास्यः **सिंहः** उरणो **मेषः। एकदेशे एकस्मिन्नाश्रयेऽनवस्थानात्**[2]।।५५।।

उक्तस्य बाध्यबाधकहेतोः समर्थनायाह–कुत **इति।।५६।।**

कर्म का अंग होकर ज्ञान अज्ञान को निवृत्त करे यह नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म मन को शुद्ध करने से ज्ञान का साधन है व साध्य ज्ञान के साथ साधन कर्म एक ही समय रहे यह सम्भव नहीं।।५४।। पूर्वजन्म में किये कर्म भी इस जन्म में ज्ञानार्थ प्रवृत्ति कराने वाले माने गये हैं—'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (ब्र.सू. ३.४.५१)—इसलिये भी कर्मों की साक्षात् साधनता नहीं हो सकती।

गौण-मुख्य न होकर बराबरी की प्रधानता वाले रहते हुए भी ज्ञान व कर्म मिलकर मोक्ष के उपाय हों यह नामुमकिन है। **क्योंकि ज्ञान कर्म को समाप्त कर देता है, इसलिये इनका मेल वैसे ही नहीं हो सकता जैसे शेर और मेढे का।।५५।।**

ज्ञान अविद्याकार्यभूत कर्म का नाश क्यों करता है, यह बताते हैं—**आत्मा को न जानने से केवल अपने में माने हुए कर्तापन आदि के निश्चय से होने वाला कर्म, जो अविद्याकार्य होने से अविद्यात्मक ही है, यथार्थ नहीं हो सकता। आत्मा का ज्ञान उसका–आत्मा के अज्ञान का अत एव तदात्मक कर्म का–विरोधी है। इन दोनों का–ज्ञान व अविद्यात्मक कर्म का–साथ-साथ रहना वैसे ही असंभव है जैसे सूर्य व अँधेरी रात का साथ रहना असंभव है।।५६।।** कर्म तभी संभव है जब देहादि अनात्मा में आत्मबुद्धि आदि अध्यास हो और अध्यास अविद्या के रहते ही हो सकता है। ज्ञान अज्ञान का निवर्तक प्रसिद्ध है। अतः ज्ञान व कर्म की सह अवस्थिति संभव ही कैसे होगी?

---

१. ज्ञानकर्मणोः क्रमसमुच्चयस्य सिद्धान्तसम्मतत्वात्।

२. न समप्रधानतापि तयोरिति शेषः।

[१]तस्मादकारकब्रह्मात्मनि[२] परिसमाप्तावबोधस्य अशेषकर्म-चोदनानाम् अचोद्यस्वाभाव्यात् कुण्ठता। कथम्? तदभिधीयते–

बृहस्पतिसवे यद्वत् क्षत्रियो न प्रवर्तते।
ब्राह्मणत्वाद्यहंमानी विप्रो वा क्षत्रकर्मणि ॥५७॥

यथायं दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिकोऽपीत्येतदाह–

विदेहो[३] वीतसन्देहो[४] नेति नेत्यवबोधितः[५]।
देहाद्यनात्मदृक् तद्वत्तत्क्रियां वीक्षतेऽपि न[६] ॥५८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तस्माज्ज्ञानिनो न कर्मनियोगविषयत्वमित्युपसंहरति–तस्मादिति। तत्तद्वर्णाश्रमाद्यभिमानशून्यत्वमत्र हेतुरिति सदृष्टान्तमाह–बृहस्पतीति।।५७।।

विदेह इति स्थूलशरीराभिमानाभावमाह। वीतसन्देहो विगतसन्देहः। एतेन सन्देह इति[७] स्थूलशरीराभिमानाभावस्सूच्यते। तत्र हेतुः नेति नेतीति।।५८।।

क्योंकि ज्ञान और कर्म साथ नहीं रह सकते इसलिये व्यापक आत्मा को भली भाँति जानने वाले का कर्म में अधिकार देने वाले अभिमानों से रहित स्वभाव होने के कारण सारे ही कर्म उसके प्रति कुण्ठित हो जाते हैं अर्थात् उसपर कर्म-विधि लागू नहीं होती। इसमें कारण बताते हैं—**'मैं क्षत्रिय हूँ' ऐसे दृढ निश्चय वाला बृहस्पति-यज्ञ को करने के लिये प्रवृत्ति नहीं करता जिसे करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है। 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसे दृढ निश्चय वाला वेदपाठी भी युद्ध, राजसूय आदि क्षत्रिय-कर्मों को करने में प्रवृत्त नहीं होता।।**५७।। जैसे ये दृष्टान्त हैं वैसे ही व्याख्येय दार्ष्टान्त किस तरह है, यह बताते है,—**'यह नहीं है' आदि प्रक्रिया से हर भेद की**

---

१. 'पूर्वं विदुषः कर्माङ्गीकृत्य समुच्चयो नास्तीत्युक्तम्। इदानीं कर्मैव न सम्भवतीत्युच्यते'। (विद्यासुरभिः)
२. अशेषभूते स्वतन्त्रे ब्रह्मणीति भावः।
३. विदेह इति देहमात्राभिमानाभावः।
४. वीतसंदेह इति निवृत्तभ्रमादितया चित्तशुद्धिरुक्ता।
५. अवशेषित इत्यपि पाठः।
६. तद्वत् = यथा दृष्टान्ते। तत्क्रियां—देहादिक्रियाम्। न वीक्षते-अभिमानेन न गृह्णाति।
७. 'संशयात्मकसूक्ष्मशरीराभावः सूच्यते'—चन्द्रिका।

तस्यार्थस्याविष्करणार्थमुदाहरणम्–

मृत्स्नेभके यथेभत्वं शिशुरध्यस्य वल्गति।
अध्यस्याऽऽत्मनि देहादीन् मूढस्तद्वद् विचेष्टते ॥५९॥
न च वयं ज्ञानकर्मणोः सर्वत्रैव समुच्चयं प्रत्याचक्ष्महे।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं देहादौ मिथ्याभिमानवत एव प्रवृत्तिर्नाभिमानशून्यस्येत्युक्तम्। तत्र, मिथ्याभिमानात् प्रवृत्तिं दृष्टान्तेन दर्शयति–तस्यार्थस्येति। मृत्स्नेभके प्रशस्तमृदा निर्मितहस्तिनि।।५९।।

एवं तावत् 'सन्निपत्य न च ज्ञानमि'त्यादिना ज्ञानकर्मणोस्समुच्चयः निराकृतः। तदेतदयुक्तम्–'यदेव विद्यया करोति' 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीते'त्यादिवचनविरोधादित्याशङ्क्याह–न च वयमिति। यत्र ज्ञानकर्मणोः

निवृत्ति होने से निवृत्ति करने वाला अनिवृत्त साक्षी देह इन्द्रियादि को भी केवल देखने वाला होने से स्थूल व सूक्ष्म शरीरों को स्वयं का न समझने के कारण उनकी क्रियाओं का कर्ता भोक्ता अपने को नहीं मानता।।५८।। जैसे 'मैं ब्राह्मण हूँ' निश्चय ही ब्राह्मणोचित कर्म में अधिकार देता है, 'मैं क्षत्रियादि नहीं'—केवल इतने निश्चय से उन कर्मों में अधिकार नहीं मिल जाता, वैसे ही 'मैं कर्ता हूँ' यह निश्चय ही कर्म करने में अधिकारी बनाता है, 'मैं कर्ता नहीं' यह निश्चय कर्म में अधिकारी नहीं बनाता, कर्मत्याग में ही अधिकारी बनाता है। आत्मज्ञानी अपनी व्यापकता व तृप्ति के कारण क्रिया को असम्भव जानने से, एवं 'मैं कर्ता हूँ' इस सामान्य निश्चय के भी न होने से, कुछ करे यह सम्भव नहीं। शास्त्र तो करने योग्य कर्मों का उन्हीं के लिये उपदेश देता है जिन्हें 'मैं कर्ता हूँ' आदि निश्चय है। ये निश्चय होवें, इसमें शास्त्र का तात्पर्य नहीं; प्रत्युत इसी में उसका तात्पर्य है कि ये निश्चय निवृत्त हों। अतः आत्मविज्ञानी को शास्त्र या तदुक्त कर्म भी कर्ता नहीं बना सकते। इस तात्पर्य की स्पष्टता के लिये उदाहरण देते हैं—**जैसे मिट्टी के पुतले को वास्तविक हाथी समझकर बच्चा भागता है वैसे ही 'मैं देहादि हूँ' ऐसा समझकर वास्तविकता को न समझता हुआ व्यक्ति कर्म करता और उसका फल भोगता रहता है।।**५९।।

समग्र भेद का निवर्तक आत्मज्ञान भेदरूप कर्म के साथ बना रहे यह असम्भव है, यह बताया। इससे अतिरिक्त स्थलों में भी ज्ञान व कर्म साथ नहीं रह सकते, यह

यत्र प्रयोज्यप्रयोजकभावो ज्ञानकर्मणोः, तत्र नास्मत्पित्रापि शक्यते निवारयितुम्! तत्र विभागप्रदर्शनाय उदाहरणं प्रदर्श्यते–

स्थाणुं चोरधियाऽऽलाय भीतो यद्वत्पलायते।
बुद्ध्यादिभिस्तथाऽऽत्मानं भ्रान्तोऽध्यारोप्य[1] चेष्टते ॥६०॥

एवं यत्र यत्र ज्ञानकर्मणोः प्रयोज्यप्रयोजकभावः, तत्र सर्वत्रायं न्यायः। यत्र तु न समकालं, नापि क्रमेणोपपद्यते समुच्चयः, स विषय

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रयोज्यप्रयोजकभावो निमित्तनैमित्तिकभावस्तत्र न केनापि तयोः समुच्चयो वारयितुं शक्यत इत्यर्थ। कुत्र तर्हि ज्ञानकर्मणोः प्रयोज्यप्रयोजकभावः, कुत्रासौ नास्तीति? अत आह–तत्र विभागेति। यथा चोरधिया स्थाणुमालाय गृहीत्वा पलायत एवं बुद्ध्यादिरूपेणात्मानं गृहीत्वा कर्म करोतीति। तेन तत्र कर्मप्रवृत्ति-निमित्तत्वाज्ज्ञानं कर्माङ्गमिति भावः।।६०।।

'यदेव विद्यया करोति' 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीते' त्यादावप्ययमेव न्याय इत्यतिदिशति–एवमिति। आत्मज्ञानस्य पुनः कर्मप्रवृत्तौ प्रयोज्यप्रयोजक-भावाभावान्न तेन समुच्चय इति सदृष्टान्तमाह–यत्र त्विति।।६१।।

हमारा तात्पर्य नहीं। जहाँ कर्म का निमित्त ज्ञान है—और अवश्य ही वह ज्ञान आत्मज्ञान नहीं हो सकता—वहाँ तो कोई भी दोनों का साथ होना नकार नहीं सकता। ज्ञान के कारण होने वाले कर्म कहाँ होते हैं व कहाँ नहीं, इसे समझाने के लिये कहते हैं—**जैसे ठूँठ को देखकर 'यह चोर है' ऐसे निश्चय वाला डरा हुआ भागता है वैसे ही अकर्ता आदि स्वरूप व्यापक स्वयं को भ्रमवश 'मैं देहादि हूँ' ऐसा समझने वाला अविवेकी कर्म करता है।**।६०।। यहाँ चोर-ज्ञान के कारण ही भागना-कर्म है अतः भागते हुए भी 'यह चोर है' यह ज्ञान बना रहे इसमें विरोध नहीं। इस प्रकार की कारण-कार्यता जहाँ हो वहाँ कर्म व ज्ञान का साथ होता है।

अब उस परिस्थिति को बताते हैं जिसमें न एक साथ और न क्रम से ज्ञान व कर्म

---

१. बुद्ध्यादिभिस्तथात्मानमध्यारोप्य—आत्मानं बुद्ध्याद्यभेदेन ज्ञात्वा। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इत्यभेदे तृतीयेति भावः।

उच्यते–

स्थाणोः सतत्त्वविज्ञानं यथा नाङ्गं पलायने।
आत्मनस्तत्त्वविज्ञानं तद्वन्नाङ्गं क्रियाविधौ ॥६१॥

यस्माद् गुणस्यैतत्स्वाभाव्यम्–

यद्धि यस्यानुरोधेन स्वभावमनुवर्तते।
तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानाद् गुणो यतः ॥६२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रधानत्वेनाभिमतकर्मनिवर्तकत्वादपि नात्मज्ञानं कर्माङ्गमित्याह–यस्माद् गुणस्येति। प्रधानमत्तीति प्रधानात्। यत्प्रधानविरोधि न

रह सकते हैं—**जैसे 'यह ठूँठ है' यह ठूँठ का वास्तविक ज्ञान भागना आदि क्रिया का अंग नहीं वैसे ही आत्मा का अकर्ता आदि वास्तविक ज्ञान कर्म-प्रवृत्ति का अंग नहीं।।६१।।** भ्रम ज्ञान अवश्य क्रिया-प्रवर्तक या प्रमा ज्ञान अवश्य क्रिया में अप्रवर्तक होगा, यह तात्पर्य नहीं है। सर्प को रस्सी जानना क्रिया-प्रवर्तक नहीं भी है और सर्प को सर्प जानना क्रिया-प्रवर्तक है भी। तात्पर्य इतना ही है कि कुछ स्थलों पर ज्ञान क्रियाफलक है व अन्यत्र नहीं। मुख्य बात यही है कि आत्मा का वास्तविक ज्ञान क्रियाजनक नहीं। क्रिया का अप्रवर्तक ज्ञान क्रिया के साथ रहे इसका प्रसंग ही नहीं। ज्ञान का असाधारण कारण क्रिया न होने से क्रम से भी उनका साथ नहीं बनता। क्रिया का कारण इच्छा के माध्यम से ज्ञान है। अतः किसी प्रवर्तक ज्ञान के होने पर ही क्रिया होगी। अप्रवर्तक ज्ञान से, वह चाहे भ्रम हो या प्रमा, क्रिया होगी ही नहीं। इसलिये उसका क्रिया के साथ रहने का प्रश्न ही नहीं। यद्यपि स्वप्रवर्त्य-क्रिया-साहित्य असम्भाव्य होने पर भी स्वाऽप्रवर्त्य-क्रिया-साहित्य सम्भव हो सकता है, तथापि सकारण क्रिया-निवर्तक ज्ञान का कैसी भी क्रिया से साहित्य असम्भव ही है यह समझना चाहिये। अर्थात् यद्यपि लोक में हो सकता है कि क्रिया के अप्रवर्तक ज्ञान के साथ ज्ञानान्तर से प्रवृत्त क्रिया रह भी जाये तथापि जो ज्ञान क्रिया मात्र व उसके कारण का भी निवर्तक है, उसके साथ कोई भी क्रिया रह सके यह सम्भव नहीं। अतएव परमार्थ आत्मज्ञान का ही नैष्कर्म्य से समुच्चय है, उस ज्ञान के बिना सर्वकर्मनिवृत्ति अशक्य है।

आत्मज्ञान कर्म का अंग नहीं इसका मुख्य कारण है कि वह कर्म को निवृत्त करने वाला है—**जो जिसके होने में सहायक होता है वही उसका अंग होता है न कि**

यस्मात्-[1]

कर्मप्रकरणाकाङ्क्षि ज्ञानं कर्मगुणो भवेत्।
यद्धि प्रकरणे यस्य तत्तदङ्गं प्रचक्षते ॥६३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तत्तदङ्गमित्यर्थः।।६२।।

विनियोजकप्रकरणादिसद्भावात् कर्मस्वरूपादिज्ञानस्य तदङ्गित्वमुचितम्। आत्मज्ञानस्य पुनः प्रकरणाद्यभावान्न तदङ्गत्वमित्यभिप्रेत्याह- यस्मादिति।।६३-६४।।

वह जो उसे निगल जाये अर्थात् समाप्त कर दे।।६२।।

वेद में कहीं-कहीं (यथा छां. १.१.१०) कहा है कि जानकर करने से कर्म में अधिक शक्ति होती है। किन्तु वहाँ या तो 'जानने' का अर्थ उपासना है और या कहीं पर अर्थ है कि कर्म कैसे करें आदि समझकर कर्म करने चाहिये, क्योंकि ऐसा करना बिना समझे कर्म करने से बेहतर है। उपासना व कर्म का सहभाव तो श्रुतिसिद्ध होने से स्वीकृत ही है तथा उपासना मानस कर्म ही होने से किसी विरोध की शंका भी नहीं। कर्मादि-विषयक ज्ञान भी कर्मोपयोगी एवं च कर्मांग हो, इसमें भी कोई आपत्ति नहीं— **जो कर्मादि-विषयक ज्ञान कर्म के विषय में ही सार्थक है, कर्म के प्रकरण में ही जिसका उल्लेख है, वह कर्म का अंग हो यह उचित है, क्योंकि जो जिसके प्रकरण में उल्लिखित होता है वह उसका अंग कहा जाता है।।६३।।** कौन किसका अंग है इसके निर्णायक छह प्रमाण मीमांसकों ने निर्णीत किये हैं जिनमें प्रकरण भी परिगणित है। दोनों पदार्थ जब साकांक्ष होते हैं तब उनका आपसी अंगाङ्गिभाव मालूम पड़ जाता है। इसका प्रसिद्ध दृष्टान्त है—दर्शपूर्णमास-विधायक वाक्य के प्रसंग में प्रयाज आदि पाँच याग विहित हैं। प्रश्न उठता है कि क्या वे दर्शपूर्णमास के अंग हैं या नहीं? उत्तर है कि वे अवश्य उसके अंग हैं। कारण है कि दर्शपूर्णमास को यह आकांक्षा है कि वह किस तरह किया जाये और प्रयाजादि को आकांक्षा है कि वे क्यों किये जायें।

---

१. 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां षण्णामेव प्रमाणानां विनियोगप्रमापकता-स्वीकारात्तत्र श्रुत्यादीनामसंभवादेव मनसि निरासं सिद्धवत्कृत्य प्रकरणसंभवमाशङ्क्य निराकुर्वन् श्लोकमवतारयति—यस्मादिति'। (सारार्थः)

स्वरूपलाभमात्रेण[1] यत्त्वविद्यां निहन्ति नः।
न तदङ्गं प्रधानं वा ज्ञानं स्यात् कर्मणः क्वचित् ॥६४॥
समुच्चयपक्षवादिनापि अवश्यमेतदभ्युपगन्तव्यम्। यस्मात्-
अज्ञानमनिराकुर्वज्ज्ञानमेव न सिध्यति।
विपन्नकारकग्रामं ज्ञानं कर्म न ढौकते ॥६५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयमभ्युपगच्छतापि तस्य प्रमाणज्ञानत्वात् स्वविषयाविद्यानिवर्तकत्वं बलादभ्युपेयम्। तथा सति न स्वाभिमत-समुच्चयसिद्धिरित्याह—समुच्चयेति। **भवत्वेवं, ततः किमित्यत आह**—विपन्नेति। **कारकग्रामाभावे कर्मण एवाभावात् ज्ञानं कर्म न स्पृशतीत्यर्थः।।६५।।**

अतः दोनों का सम्बन्ध होने पर दोनों की आकांक्षा समाप्त हो जाती है जिससे निर्णीत होता है कि प्रयाजादि द्वारा दर्शपूर्णमास किया जाये। अतः प्रयाजादि दर्शपूर्णमास के अंग हैं। यह अंगता प्रकरण नामक प्रमाण से ही सिद्ध है। यह पूर्वमीमांसा में (३.३.४.१०) विस्तार से वर्णित है।

अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेना रूप अविद्यानाश करने वाला औपनिषद ज्ञान कर्म-प्रकरण में उल्लिखित न होने से उसका अंग नहीं तथा उस ज्ञान के प्रकरण में कर्म का उल्लेख न होने से कर्म भी ज्ञान का अंग नहीं।।६४।। स्वयं को न जानना रूप अविद्या का नाश यही है कि अपने को जान लेना।

जिसे जान लिया जाता है उसके विषय में अज्ञान समाप्त हो जाता है यह तो सबको स्वीकार ही है। जो वादी आत्मज्ञान को कर्म के साथ रहने वाला मानना चाहता है वह भी ज्ञान-अज्ञान के विरोध को नकार नहीं सकता—**क्योंकि अज्ञान को हटाये बिना ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये अज्ञानरूप क्रिया-साधनों का नाशक ज्ञान क्रिया का सहचर हो यह दुःसम्भाव्य है।।६५।।** क्रिया ही नहीं, उसके उपाय भी भेदात्मक होने से अज्ञान ही हैं। ज्ञान से जब क्रियाजनक कारक निवृत्त हो गये तब क्रिया क्योंकर विद्यमान हो पायेगी?

---

१. 'स्वरूपलाभमात्रेणेति धान्येन धनवानितिवदभेदे तृतीया। तथा चाविद्यानिवृत्तिरेव ज्ञानस्य स्वरूपलाभः। यद्वा, लब्धात्मलाभमेव ज्ञानं प्रौढप्रकाशस्तम इवाज्ञानं हन्ति। न तत्र सहकार्यन्तरं व्यापारान्तरं वापेक्षते।।' (सारार्थः)।

इदं चापरं कारणं ज्ञानकर्मणोः समुच्चयनिबर्हि-
हेतुस्वरूपकार्याणि प्रकाशतमसोरिव।
विरोधीनि ततो नास्ति साङ्गत्यं ज्ञानकर्मणोः ॥६६॥

एवमुपसंहृते, केचित् स्वसंप्रदायबलावष्टम्भादाहुः यदेतद् वेदान्तवाक्यात् 'अहं ब्रह्म' इति विज्ञानं समुत्पद्यते तत्रैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति। किं तर्हि, अहन्यहनि द्राघीयसा कालेनोपासीनस्य सतो

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

हेतुस्वरूपकार्याणीति **तज्ज्ञानस्य** हेतुः **प्रमाणम्,** स्वरूपं **च परमार्थप्रकाशकत्वं,** कार्यम**विद्यानिवृत्तिः। कर्मणो** हेतुर**विद्यारागादिः।** स्वरूपं **प्रकाशानात्मकत्वं।** कार्यम**ुत्पत्त्याप्त्यादीति परस्परविरोधीनि।।६६।।**

पूर्वं ज्ञानस्य स्वोत्पत्तिमात्रेणाज्ञाननिवर्तकत्वात् कर्मभिः समुच्चयोऽनुपपन्न इत्युक्तम्। अधुना-तदेतदयुक्तं, वाक्यजन्योत्तरकालीनभावनोत्कर्षात् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेण वा अज्ञानस्य निवृत्तेर्ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तेरित्येकदेशिनां मतमुत्थाप्य निराकरोति- एवमित्यादिना। **'देवो भूत्वे'ति भावनोपचयाद् देवभावं साक्षात्कृत्य, पतिते देहे**

आत्मज्ञान और कर्म साथ नहीं रहते इसमें एक और कारण है—**ज्ञान व कर्म के कारण, स्वरूप और कार्य तीनों ही एक-दूसरे के विरोधी हैं, इसलिये प्रकाश और अँधेरे की तरह दोनों साथ रहें यह सम्भव नहीं।।६६।।** ज्ञान का कारण है प्रमाण और कर्म का है अयथार्थ ज्ञान। आत्मा को कर्तादि माने बिना कर्म होगा नहीं और यह मानना ही गलत समझ है। प्रमाण व अयथार्थ ज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं ही। ज्ञान का स्वरूप चेतन है व कर्म का जड। ज्ञान का कार्य अविद्या-हानि है व कर्म का उत्पत्त्यादिचतुर्विध है। एवं च तीनों तरह से ये आपस में विरोधी हैं।

इस प्रकार अनुभव व युक्ति से सिद्ध होने पर भी ज्ञान-कर्म के विरोध को न स्वीकार कर प्रमाण तथा युक्ति से रहित तथा केवल अन्ध-परम्परारूप अपने सम्प्रदाय के बल पर ही ब्रह्मदत्तादि कुछ विचारक कहते हैं कि जो यह वेदान्त-वाक्यों से 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है वह केवल उत्पन्न होने से ही अज्ञान को समाप्त नहीं कर देता, किन्तु लम्बे समय तक रोज वैसी उपासना करने पर जो इकट्ठे हुए वैसे संस्कार

भावनोपचयात्, निःशेषमज्ञानम् अपगच्छति। 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ. ४.१.२) इति श्रुतेः।

अपरे तु ब्रुवते वेदान्तवाक्यजनितम् 'अहं ब्रह्म' इति विज्ञानं संसर्गात्मकत्वात्, आत्मवस्तुयाथात्म्यावगाह्येव न भवति। किं तर्हि, एतदेव गङ्गास्रोतोवत् सततमभ्यस्यतोऽन्यदेव अवाक्यार्थात्मकं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उपास्यदेवताभावं प्राप्नोतीति यावत्।

विज्ञाय **शास्त्रशब्देन संसृष्टरूपं ब्रह्मावगम्य** प्रज्ञां **साक्षात्कारलक्षणां**

हैं उनसे अज्ञान नष्ट होता है। इस विषय में 'भावना से देवता का साक्षात्कार कर शरीर छूटने पर भावित देवभाव को पा लेता है' (बृ. ४.१.२) यह श्रुति प्रमाण है। इस मत में उपनिषत्काण्ड भी कर्मकाण्ड की तरह विधिप्रधान है, अन्तर इतना है कि यहाँ कर्मों का नहीं, प्रसंख्यान का—भावना या उपासना का विधान है। अतः 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ. १.४.७) अर्थात् 'आत्मा ऐसी ही उपासना करनी चाहिये' आदि वाक्य ही प्रधान हैं व तत्त्वमस्यादि गौण, क्योंकि वे केवल उपास्योपस्थापक हैं। अतः अभ्यास या प्रसंख्यान मोक्ष का हेतु है, ज्ञान नहीं। प्रसंख्यान को आगे (३.९० सम्बन्धोक्ति में) बुद्ध्याग्रेडन रूप कहा जायेगा। वह क्रियाविशेष ही है। एवं च प्रसंख्यान रूप कर्म को मोक्षकारण मानना इस मत की विशेषता है। अतः बाह्यकर्मों का साहचर्य प्रसंख्यान कही जाने वाली विद्या से होना निश्चित है क्योंकि उपासना व कर्म का विरोध न होने से उनका परस्पर सामंजस्य सम्भव भी है और शास्त्र द्वारा विहित भी।

कुछ अन्य विचारकों का तो कहना है कि वेदान्त-वाक्यों से जनित 'मैं ब्रह्म हूँ' ज्ञान अन्य सभी शाब्दज्ञानों की तरह 'मैं' व 'ब्रह्म' के किसी सम्बन्ध का—इन दोनों के सम्बद्ध स्वरूप का—ही ज्ञान करा सकता है अतः वह अखण्ड आत्मा की यथार्थता को विषय करता ही नहीं। किन्तु इसी ज्ञान को यदि गंगा के प्रवाह की तरह निरन्तर अभ्यस्त करें तो वाक्य के अर्थ से भिन्न स्वरूप वाला एक दूसरा ही अनुभव उत्पन्न होता है जो समग्र अज्ञान का निवर्तक होता है। इसमें 'ब्राह्मण को चाहिये कि पहले शाब्द ज्ञान पाकर फिर साक्षात्कारात्मक ज्ञान की प्राप्ति करे' (बृ. ४.४.२१) श्रुति प्रमाण है। पूर्व मत से इस मत में वैशिष्ट्य यह है कि मोक्ष

विज्ञानान्तरम् उत्पद्यते। तदेवाशेषाज्ञानतिमिरोत्सारि, 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' (बृ. ४.४.२०) इति श्रुतेरिति।

अस्य पक्षद्वयस्य निवृत्तये इदमभिधीयते–

सकृत्प्रवृत्त्या मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत्।
अज्ञानमागमज्ञानं साङ्गत्यं नास्त्यतोऽनयोः ॥६७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

संसर्गात्मिकां[1] कुर्वीत **सन्तताभ्यासबलात् साधयेदिति यावदिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रेत्य व्याख्यानम्।**

दूषयति–सकृदिति। **भवदभिमताया वासनायाः चित्तैकाग्र्यहेतुतया विक्षेपलक्षणप्रतिबन्धनिरासेन ज्ञानोत्पत्तावेवोपक्षीणत्वाद् उत्पन्नमात्र-**

का हेतु ज्ञान ही है अतः यह सिद्धान्त के कुछ नज़दीक है। किन्तु ज्ञान प्रमाण से न होकर प्रसंख्यान या आवृत्ति से होता है यह विलक्षण मान्यता इस विचार को सर्वथा असंगत बना देती है। सर्वत्र प्रमा निर्भर करती है प्रमाण व प्रमेय पर अतः यहाँ भी ऐसा ही होना उचित है। निदिध्यासन तो ज्ञानोत्पत्ति में उपयोगी होने से ज्ञान के पूर्व ही सम्भव है जब कि यहाँ ज्ञानानन्तर प्रसंख्यान स्वीकार्य है। साथ ही निदिध्यासन श्रवण का उपकारी बनकर ज्ञानजनन में उपयोगी है अतः ज्ञान श्रवण से ही होने से शास्त्ररूप प्रमाण से ही जन्य है। इस तरह सिद्धान्त से काफी अन्तर होने पर भी ज्ञान से मोक्ष मानने के कारण पूर्वोक्त मत से यह विलक्षण है। सम्भवतः मण्डनमिश्र के सिद्धान्त को ही यहाँ द्वितीय मत के रूप में रखा है। अन्यत्र वर्णित मण्डनमत यही है। इस पक्ष में भी उपनिषदों को उपासनाविधिप्रधान तो माना ही जाता है। ऐसे ही ज्ञान के, शाब्द ज्ञान के, अनन्तर उपासना करना भी इस सिद्धान्त में स्वीकृत है। अतः शाब्दज्ञान व कर्म का समुच्चय इस मत के अवलम्बियों को इष्ट होना ही है।

उक्त दोनों पक्षों के निराकरणार्थ यह कहा जाता है—**शास्त्रजन्य ज्ञान एक बार उत्पन्न होते ही क्रिया के साधनरूप अज्ञान का उपमर्दन कर देता है, अतः ज्ञान**

---

१. असंसर्गात्मिकाम् इति चन्द्रिकानुसारी।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भागमिकं सकार्यमज्ञानं तदैव निवर्तयतीति न ज्ञानकर्मणोस्समुच्चयावसरः सम्भवतीति भावः।।६७।।

नानात्वशून्यमद्वयं ब्रह्मेत्युपगम्य तज्ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयो निराकृतः।

और कर्म का कोई साथ नहीं॥६७॥ निःशंक ज्ञान का ही कर्म से अत्यन्त विरोध है, साधक के लिये तो कर्तृत्वाध्यास दृढतर न हो इसलिये प्रवृत्ति कर्म का निषेध किया जाता है, श्रवणादि कर्म तो विहित रहते ही हैं। निःशंक ज्ञान मनन-निदिध्यासन की सहायता से हो सकता है। प्राप्त शंकाओं की निवृत्ति के बिना असन्दिग्ध ज्ञान सम्भव नहीं और मन की एकाग्रता के बिना भी दृढ ज्ञान हो नहीं सकता। इसलिये मनन-निदिध्यासन से सहकृत श्रवण ही ऐसे ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त है जो अज्ञान का नाश कर दे। फलतः ज्ञानानन्तरभावी भावनादि निरुपयोग है। प्रमाणात्मक न होने से भावनादि प्रमा के असाधारण हेतु हो नहीं सकते। यद्यपि ज्ञान श्रवण से ही उसे हो जाता है जिसे पदार्थों का बोध है, तथापि विविध भ्रमादि उसे ढाँक लेते हैं जिन्हें मननादि निवृत्तमात्र करते हैं। ज्ञान मननादि उत्पन्न नहीं करते। श्रुतियों के अर्थ को तो हठात् स्वपक्षानुसारी बनाया गया है, उनमें भावनादि की विधि न शब्दतः है न अर्थतः। वेदान्तों में विधि कहीं प्रधान नहीं है, तात्त्विक परमात्मा ही प्रधान है। सूत्रभाष्य में (३.२.२०) आचार्यों ने कहा है 'द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वबोधविधिप्रधाना भवन्ति।' निश्चय के साधनों की ही विधि की जा सकने के कारण उन्हीं का विधान है, अविधातव्य ज्ञानात्मक होने से प्रज्ञा अर्थात् निश्चय का विधान नहीं है। अतः जैसे बाह्य कर्म से, वैसे आन्तर कर्म से ज्ञान का साहचर्य अनुपपन्न है। ब्रह्मदत्तादि मत तो क्रियाफल मोक्ष मानने से कृतकत्वानित्यत्वव्याप्तिवश अनित्यमोक्षवाद में पर्यवसित हो श्रुति-युक्ति विरुद्ध स्पष्ट ही है। मण्डनादि मत अप्रमाण को प्रमा का असाधारण कारण मानने से असंगत है इसमें कोई सन्देह नहीं। एवं च पूर्वोक्त मतद्वय हेय हैं।

इस प्रकार एक ही व्यापक ब्रह्म है ऐसा मानकर उसका ज्ञान और कोई कर्म साथ-साथ नहीं रह सकते, यह समझाया। अब ब्रह्म को द्वैताद्वैतात्मक मानने पर ज्ञान-कर्मसमुच्चय सम्भव नहीं यह बताते हैं। इस मत के अवलम्बियों का कथन है कि वृक्ष एक वस्तु है किन्तु अनेक शाखाओं वाला होने से अनेकात्मक भी है। समुद्र-तरंगादि, मिट्टी घटादि इत्यादि दृष्टान्त भी यह सिद्ध करते हैं कि वस्तु द्वैत-अद्वैतात्मक हो सकती

एवं तावदनानात्वे ब्रह्मणि ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो निराकृतः। अथाधुना पक्षान्तराभ्युपगमेनापि प्रत्यवस्थाने पूर्ववदनाश्वासो यथा तथा अभिधीयते–

अनुत्सारितनानात्वं ब्रह्म यस्यापि वादिनः।
तन्मतेनापि दुःसाध्यो ज्ञानकर्मसमुच्चयः ॥६८॥

तस्य विभागोक्तिर्दूषणविभागप्रज्ञप्तये–

ब्रह्माऽऽत्मा वा भवेत्तस्य यदि वानात्मरूपकम्।
आत्मानाप्तिर्भवेन्मोहाद् इतरस्याप्यनात्मनः[1] ॥६९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सम्प्रति द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्मेत्युपगमेऽपि न सम्भवतीत्याह–एवन्तावदिति।।६८।।

भेदाभेदपक्षे जीवपरमात्मनोस्संसारदशायामप्यभेदं केचिदिच्छन्ति। केचित्तु संसारदशायां भेद एव, मुक्तिदशायामभेदः। तत्र आद्यकल्पं दूषयति– आत्मेति। **द्वितीयं दूषयति–**इतरस्येति। इतरस्य **स्वतो व्यतिरिक्तस्य**

है। ब्रह्म भी इसी तरह भेद-अभेदात्मक है जिसका फल है कि एकत्वांश से तो ज्ञान से मोक्ष का व्यवहार हो जायेगा और नानात्वांश से कर्मव्यवहार हो जायेगा। सूत्रभाष्य में (२.१.१४) यही इस मत का संक्षेप दिखाया गया है। बृहदारण्यक भाष्य में (५.१) भी इस द्वैताद्वैतात्मक-ब्रह्मवाद का वर्णन है। इस मत में द्वैत व अद्वैत दोनों परमार्थतः सत्य हैं, यही कर्म व ज्ञान दोनों के सामंजस्य के लिये अवलम्बन है। इस पक्ष का खण्डन करने के लिये पहले प्रतिज्ञा करते हैं—**सामान्य-विशेष रूप से आत्मा भिन्न व अभिन्न दोनों है, ब्रह्म नानात्व या भेद से सर्वथा रहित नहीं है, ऐसा मानने वाले के पक्ष में भी ज्ञानकर्मसमुच्चय असिद्ध है**॥६८॥ प्रकृत सिद्धान्त के अनुयायियों में कुछ का कहना है कि संसार-दशा में भी जीव-ब्रह्म का अभेद है, जब कि कुछ मानते हैं, इनका संसार-दशा में भेद और मोक्ष दशा में अभेद है। क्रमशः दोनों पक्षों में कर्म की मोक्ष के लिये अनुपयोगिता दिखाते हैं—**यदि परमात्मा जीवात्मा से अभिन्न ही है तो उसकी अप्राप्ति केवल भ्रम से होने के कारण प्राप्ति केवल ज्ञान से होगी, कर्म की आवश्यकता नहीं। यदि संसार काल में परमात्मा जीव**

१. अनात्मनः इति भावप्रधानो निर्देशः। अनात्मत्वादिति भावः।

तत्र यदि तावद्वास्तवेनैव वृत्तेन ब्रह्म प्राप्तम्, आत्मस्वाभाव्यात्, केवलमासुरमोहापिधानमात्रमेव अनाप्तिनिमित्तम्, तस्मिन् पक्षे–

मोहापिधानभङ्गाय नैव कर्माणि कारणम्।
ज्ञानेनैव फलावाप्तेस्तत्र कर्म निरर्थकम् ॥७०॥

अनात्मरूपके तु ब्रह्मणि न कर्म साधनभावं प्रतिपद्यते नापि ज्ञानं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ब्रह्मणोऽनात्मत्वाद् अनाप्तिरेव, **न तु कदाचिदप्याप्तिः स्यात् कर्मणा ज्ञानेन वेत्यर्थः।।६९।।**

अस्त्वभेदपक्षे मोहादनाप्तिः, तथापि प्रकृते किमायातमित्याह–तत्रेति। **असुरसम्बन्धी मोह** आसुरः **आत्मानवबोधः। परिच्छिन्नात्माभिमानलक्षणश्च। 'असुराणां ह्येषोपनिषदि'ति श्रुतेः।।७०।।**

एवं प्रथमविकल्पदूषणं[1] प्रपञ्चयति–अनात्मेति। **स्वतोऽन्यत्वेऽ-**

से अलग ही है तब निश्चित है कि संसार-दशा में कभी दोनों का अभेद होना नहीं और अतएव अभेदलाभार्थ कर्म भी व्यर्थ है॥६९॥ जो हो सकता है उसे ही कर्म कर सकता है। सुनिपुण कलाकार भी गोल त्रिकोण कैसे बनाये? संसार-दशा में भेद रहना ही है तो कर्म अभेद ला नहीं सकता। प्रलय में तो कर्म की अपेक्षा के बिना ही अभेद होना है अतः उस प्रयोजन से भी कर्म सार्थक नहीं। यदि कर्म से संसार में अभेद हो जाये तो उक्त मत की सिद्धान्त-हानि होगी, यह अभिप्राय है।

जिस पक्ष में ब्रह्म वास्तव में जीव का आत्मरूप है अर्थात् उससे अभिन्न ही है, उस पक्ष में तो केवल दुःखद अज्ञान से ही जीव-ब्रह्म का अन्तर है जो ज्ञान से ही समाप्त होगा। उस पक्ष में—**अज्ञान रूप आवरण को हटाने में कर्म कारण नहीं, उस कार्य में तो ज्ञान से फलप्राप्ति होने से कर्म किसी प्रयोजन वाला नहीं**॥७०॥

जीव से परमात्मा को भिन्न मानने पर न कर्म ही (अभेद रूप मोक्ष का) साधन है और न कर्म से जुड़ा या न जुड़ा ज्ञान ही साधन है, क्योंकि स्वयं जो मुमुक्षु साधक है वह स्वतः ही, स्वरसतः अर्थात् स्वभावतः ही, ब्रह्म से भिन्न है और ब्रह्म भी साधक से सर्वथा भिन्न ही है (जिससे उनका अद्वैत सम्भावित नहीं)। ऐसी स्थिति में—**कोई**

१. प्रथमेत्यत्र द्वितीयेति वक्तव्यम्।

कर्मसमुच्चितमसमुच्चितं वा, यस्माद् अन्यत्वं[1] स्वत एव साधकस्य, ब्रह्मणोऽपि अन्यत्वं स्वत एव सिद्धम्। तत्रैवम्–

अन्यस्यान्यात्मताप्राप्तौ न क्वचिद्धेतुसंभवः।
तस्मिन् सत्यपि नो नष्टः परात्मानं प्रपद्यते ॥७१॥
अपरस्मिंस्तु पक्षे विधिः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्यनन्यत्वसिद्धये साधनापेक्षेत्यत आह–तत्रैवम् इति। ननु ज्ञानं कर्म च हेतुरस्तीत्यत आह–तस्मिन्निति। अन्यस्मिन् स्थिते स्वभावविरोधादेव नान्यात्मता-प्राप्तिरित्यर्थः।।७१।।

अस्तु तस्यात्मनात्मरूपं[2] ब्रह्म संसारदशायामपि इत्याशङ्क्य, तस्मिन्नपि पक्षे 'देवो भूत्वा देवानप्येती'ति न्यायेनाहं ब्रह्मास्मीत्युपासनयैव तत्प्राप्तेस्तद्विधिरेव

अपने स्वरूप से विरुद्ध स्वरूप वाला हो जाये यह किसी साधन से नहीं हो सकता। यदि हो भी जाये तो दूसरे स्वरूप का होने पर पूर्व स्वरूप वाला तो नष्ट हो चुकेगा, अतः नष्ट हो चुककर वह अन्य स्वरूप प्राप्त करे यह असम्भव ही है क्योंकि जो है ही नहीं, नष्ट हो चुका, वह अन्य स्वरूप को कैसे पा सकता है?॥७१॥ सम्बन्धोक्ति में जीव का ब्रह्म से और ब्रह्म का जीव से—यों दोनों तरह से जो भेद कहा गया है, वह भेदाभेद की सम्भावना को हटाने के लिये है। वस्तु वस्त्वन्तर नहीं बन सकती इसका निपुणतर प्रतिपादन आचार्यों ने नान्यदन्यत्प्रकरण में उपदेशसाहस्री में किया है। सूतसंहिता में (४.३९.३०) भी

'रसविद्धमयः स्वर्णं यथा भवति सर्वदा।
केनचित्साधनेनैव तथा जीवः शिवो भवेत्॥'

आदि पूर्वपक्ष उठाकर इस प्रवाद का सयुक्ति खण्डन किया है। सार यही है कि असत्य—औपाधिक—भेद तो समाप्त हो सकता है पर सत्य भेद का समापन किसी तरह सम्भव नहीं।

---

१. अन्यस्येति चन्द्रिकायां पाठान्तरम्। 'ब्रह्मप्राप्तिसाधकस्य स्वत एव ब्रह्मणः सकाशादन्यस्य ब्रह्मणः प्राप्त्ययोगात् तत्प्राप्तये साधनोपादानायोगादित्यर्थः'।

२. 'अस्तु तर्ह्यात्माऽनात्मद्वयरूपं ब्रह्म संसारदशायामपीत्याशंक्याह' इति चन्द्रिका। अतोऽत्र 'तस्यात्मनात्मरूपम्' इति स्थाने 'तर्ह्यात्मानात्मरूपम्' इति भवेत्।

परमात्मानुकूलेन ज्ञानाभ्यासेन दुःखिनः।
द्वैतिनोऽपि विमुच्येरन् न परात्मविरोधिना ॥७२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कथञ्चिदभ्युपगन्तव्यः, न कर्मसिद्धिः, तस्य केवलभेदाश्रयत्वेन स्वाभ्युपगत-ब्रह्मरूपविरोधित्वादित्याह–अपरस्मिंस्त्विति। **यद्वा,** परस्य **वादिनोऽभिमतो य** आत्मा **द्वैताद्वैतरूपस्तद्विरोधिना केवलद्वैतज्ञानेन मुच्येरन्नित्यर्थः[1]। केचित्तु 'अपरस्मिंस्तु पक्षे विधिरि'ति भेदपक्ष एव वर्ण्यत इति वर्णयन्ति। तदयुक्तम्, तस्य 'आत्मरूपे[2] तु ब्रह्मणी'त्यादिनानन्तरमेव निरस्तत्वात्तस्यैव पुनरनुवृत्तौ 'तु'-शब्देन व्यावर्त्तनायोगात्, ज्ञानकर्मणोस्समुच्चितासमुच्चितयोर्मुक्तिहेतुत्वं त्वन्मते[3] निराकृत्यानन्तरमेव पुनस्तदङ्गीकारायोगाच्च। तस्मात्पूर्वोक्तमेव ग्राह्यम्।।७२।।**

अस्तु तर्हि प्रस्तुतदोषपरिहाराय केवलोऽभेद एवानेकरसेन ब्रह्मणेत्याशङ्क्य, तत्पक्षे न ज्ञानविधिर्नाऽपि कर्मविधिस्सम्भवतीत्याह–

यदि इस पक्षान्तर का अवलम्बन लें कि संसारदशा में भी परमात्मा व जीवात्मा का परस्पर भेद और अभेद दोनों हैं तो भी—**दुःखी द्वैती लोग अपनी परमात्मरूपता के अनुकूल वृत्ति के अभ्यास से ही दुःख से छूटेंगे, न कि उससे विरुद्ध आकार की वृत्ति के अभ्यास से (और न परात्मता के विरोधी कर्म से)**॥७२॥ यद्यपि परमेश्वर से भेद व अभेद दोनों वास्तविक माने जा रहे हैं तथापि दुःख तो 'मैं परमेश्वर नहीं' इस निश्चयवश ही है यह प्रस्तुत मतवादी को मानना होगा। अब 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे ध्यान से तथाविधरूपता-प्राप्ति से दुःख-समाप्ति वह बता सकता है, कर्मों का उपयोग सिद्ध कर नहीं सकता क्योंकि वे तो अपने अनीश्वर भाव को और दृढ करते हैं। क्योंकि इस मत में 'मैं ब्रह्म हूँ' यह प्रमा नहीं है, कारण कि मैं देवदत्तादि भी सचमुच हूँ ही, इसलिये ज्ञानाभ्यास शब्द ध्यानपरक है। सर्वथापि, बाह्य कर्मों का समुच्चय मोक्षोपयोगी सिद्ध नहीं होता यह अभिप्राय है। भेद व अभेद दोनों वास्तविक होना असम्भव होने

---

१. चन्द्रिकाकारस्तु—'जीवे ब्रह्मदृष्टिप्रक्षेपेण यदुपासनं तदिह परमात्मानुकूलं ज्ञानं, तेन ज्ञानाभ्यासेन गंगास्रोतोवत् सततम् 'अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्मी'ति विजातीयप्रत्ययानन्तरित-सजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणेन दुःखिनो द्वैतिनोऽपि प्रमुच्येरन्, न परमात्मविरोधिना जीवपरमात्मनोर्भेदसंसर्गपरित्यागपूर्वकम् 'अहमस्मि परं ब्रह्मे'ति वाक्यार्थविज्ञानेन विमुच्येरन्'—इति योजयति।

२. 'आत्मरूप' इत्यत्र 'अनात्मरूपके'—इति वाच्यम्।

३. तन्मते—इति स्यात्।

इतरस्मिंस्तु पक्षे विधेरेवानवकाशत्वम्। कथम्?
समस्तव्यस्तभूतस्य ब्रह्मण्येवावतिष्ठतः ।
ब्रूत कर्मणि को हेतुः सर्वानन्यत्वदर्शिनः ॥७३॥
सर्वकर्मनिमित्तसंभवासंभवाभ्यां सर्वकर्मसङ्करश्च प्राप्नोति। यस्मात्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इतरस्मिंस्त्विति। कर्मण्युपासनाख्ये मानसे बाह्ये चेति यावत्।।७३।।

किञ्चाभेदपक्षे विद्वान् ब्राह्मणश्शूद्र इतरश्च भवति, सर्वात्मत्वात्; ततश्च वर्णाश्रमादिविशेषनियमाभावान्नियते कर्मणि प्रवृत्तिर्नोपपद्यते इत्याह–सर्वकर्मेति।

से यह पक्ष सर्वथा हेय तो है ही, केवल समुच्चयवादी के अभ्युपगमों से ही उसका पक्ष कमज़ोर दिखाने के लिये उपासना से मोक्ष तुष्यतुन्याय से मानकर यहाँ विचार किया है।

और यदि अनेकात्मक ब्रह्म से अत्यन्त अभेद ही जीव का मानें, जीव और तादृश ब्रह्म में कोई भेद स्वीकार ही नहीं, तब तो बाह्य-आभ्यन्तर किसी भी कर्म का विधान सार्थक न होगा। ऐसा क्यों? यह बताते हैं—**समस्त व व्यस्तस्वरूप वाले (अर्थात् एकानेकात्मक या भेदाभेदात्मक) ब्रह्म स्वरूप में विद्यमान अतएव स्वयं को सबसे अभिन्न समझने वाले व्यक्ति के लिये कर्म का क्या प्रयोजन? बताओ! (अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं)**।।७३।। सिद्धान्त में तो औपाधिक भेद से बन्धन और उससे छूटने के लिये क्रमशः कर्म, संन्यास व ज्ञान की उपपत्ति सुगम है किन्तु प्रकृत वादी औपाधिक तो कुछ मानना नहीं चाहता, यह वही मानता है जो सत्य है, चाहे वह भेद हो, चाहे अभेद, चाहे भेदाभेद; अतः इसके मत में वे परिहार सम्भव नहीं जो हमारे मत में प्रसिद्ध हैं। भेदादि त्रिविध सम्भावनाओं में भी विचार्यमाण पक्ष है ब्रह्म से अत्यन्त अभेद का। इस पक्ष में तो साधनामात्र का आनर्थक्य प्राप्त होता है यह अभिप्राय है। ब्रह्म की समस्त-व्यस्तात्मकता का उपन्यास अगले दोष के उद्भावन की भूमिका के रूप में है।

प्रकृत पक्ष में दोषोद्भावन करते हुए कहते हैं कि यदि संसार-दशा में ही सब वस्तुतः सर्वात्मक है तो सभी को सर्वत्र अधिकार और अनधिकार युगपत् प्राप्त होने लगेगा और सभी जब सब कुछ करने के अधिकारी होंगे तो वर्णादि धर्मों में सांकर्य प्राप्त होगा क्योंकि ब्राह्मण को शूद्र-धर्म में व शूद्र को ब्राह्मण-धर्म में अधिकार होने पर एक ही ब्राह्मणादि ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर दोनों के धर्मों को करने लगेगा। यह स्थिति वादी को

सर्वजात्यादिमत्त्वेऽस्य नितरां हेत्वसंभवः ।
विशेषं ह्यनुपादाय कर्म नैव प्रवर्तते ॥७४॥
स्याद्विधिरध्यात्माभिमानादिति चेत्? नैवम्। यस्मात्–
न चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽस्त्यासुरत्वतः ।
विदुषोऽप्यासुरश्चेत्स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम् ॥७५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ब्राह्मणत्वात्सम्भवः शूद्रत्वाच्चासम्भवः। एवमत्र योज्यम्। यदा विदुषः[1] प्रतीतवर्णाश्रमाद्यभिमानस्स्वाभाविको भवति, तदा कर्मविधिगोचरत्वं भविष्यति।।७४।।

शङ्कामुत्थाप्य परिहरति–स्याद्विधिरित्यादिना।।७५।।

भी अनिष्ट है, क्योंकि इसमें जहाँ कर्माधिकारानुसार कर्म-कर्त्तव्यता प्राप्त होती है वहीं तदनधिकारानुसार अकर्तव्यता भी प्राप्त होती है, फलतः कर्म न करना दोषावह नहीं रह जाता। किं च—**व्यक्ति को हर जाति आदि वाला मानने पर अपने-अपने वर्णधर्मों में प्रवृत्ति का कोई कारण बिलकुल भी नहीं रहेगा, क्योंकि ब्राह्मणत्व, गार्हस्थ्य आदि किसी विशेष को मानकर ही कर्म-प्रवृत्ति होती है, उसके बिना नहीं**।।७४।। अधिकारी के अनुवाद-पूर्वक कर्म विधेय होता है यह सर्वमान्य व्यवस्था है। अधिकार सदा ही किसी विशेष की आकांक्षा करता है। सामान्यवशतो सामान्य का ही विधान सम्भव है। विशेषों का परस्पर विरोध होने से सामानाधिकरण्य अनुपपन्न होता है। सब विशेषों का सामानाधिकरण्य मानने का अर्थ है कि उस वस्तु में कोई विशेष नहीं है। फलतः उसके लिये कुछ विधेय नहीं है यह अभिप्राय है।

यह भी नहीं कह सकते कि विशिष्ट शरीर में—किसी एक जाति, एक अवस्था आदि वाले देह में अपने तादात्म्य का अभिमान भ्रमात्मक निश्चय होने से ही विधि सम्भव हो जायेगी, क्योंकि **जिसका अज्ञान दूर हो चुका है उसे अज्ञान के कारण होने वाला देहतादात्म्य-निश्चय, देहाभिमान, हो नहीं सकता। यदि ज्ञानवान् को भी वह भ्रम होता हो तब तो ब्रह्मज्ञान व्यर्थ ही होगा**।।७५।। वादी ज्ञानी से कर्म कराना चाहता है, तभी कर्म से ज्ञान का समुच्चय सम्भव होगा तथा यहाँ स्वयं कह रहा है कि अभिमान अर्थात् मिथ्या निश्चय से कर्म होगा, एवं च स्ववचोविरुद्धतावश वह स्वतः खण्डित है।

---

१. अविदुषइति च्छेदः।

अज्ञानकार्यत्वान्न समकालं नापि क्रमेण[१] ज्ञानकर्मणोर्वस्त्व-वस्तुतन्त्रत्वात् सङ्गतिरस्तीत्येवं निराकृतोऽपि काशं कुशं वा अवलम्ब्याऽऽह–[२]

अथाध्यात्मं [३]पुनर्यायादाश्रितो मूढतां भवेत्।
स करोत्येव कर्माणि को ह्यज्ञं विनिवारयेत् ॥७६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कथं विदुषोऽनुभवसिद्धस्य शरीराद्यभिमानस्य युक्त्या निराकरणमिति शङ्कां प्रदर्श्य, तर्हि तस्यानवगतब्रह्मस्वभावत्वात् कामाधिकारेऽपि[४] न ज्ञानकर्मसमुच्चय इति परिहरति–अज्ञानकार्यत्वादित्यादिना।।७६।।

अज्ञानकार्य होने से अज्ञाननाश हो चुकने पर कर्म रहे यह सम्भव नहीं। अयथार्थ जानने से ही कर्म हो सकता है जब कि ज्ञान है यथार्थ जानना। अतः ज्ञान-कर्म का साथ रहना तथा ज्ञान के बाद कर्म का रहना सम्भव किसी तरह नहीं यह सिद्ध हो चुकने पर भी 'डूबते को तिनके का सहारा' उक्ति चरितार्थ करते हुए यदि कोई कहे—**आत्मज्ञान के बाद भी पुनः देहतादात्म्याध्यास हो जाये (जिससे ज्ञान रहते कर्म उपपन्न हो जाये)? तो उत्तर सीधा है कि यदि उक्त अध्यास होता है तो उस व्यक्ति ने मूढता का–अज्ञानका–ही आश्रय लिया हुआ है क्योंकि बिना अज्ञान के अध्यास सम्भव नहीं। और मूढता के आश्रित व्यक्ति कर्म करता है इसमें सन्देह नहीं। अज्ञानी को कर्म करने से तो सिद्धान्ती रोकता नहीं।।७६।।** प्रारब्ध-रूप उपाधिवश होने वाला व्यवहार अध्यास की नहीं, प्रतीति की अपेक्षा रखता है। गुड़ मीठा ही है यह निश्चय रहते ही उद्रिक्त पित्त वाला रोगी मुखस्वाद न बिगड़े इसके लिये गुड़ से बचे यह अनुपपन्न नहीं और एतावता उसे 'गुड़ तीता है' यह अध्यास हो यह मानना संगत

---

१. समकालं समप्राधान्येन क्रमेणाङ्गाङ्गिभावेन वेति सारार्थकारः।
२. काशं कुशं वावलम्ब्य—दुर्बलप्रमाणमवलम्ब्य इति भावः। यथा—नदीप्रवाहे पतितः कश्चित्तीरप्राप्तीच्छया प्रवाहपतितं काशं कुशं वाऽवलम्बयति, परं नैवं तर्तुं समर्थो भवति।
३. विद्वानपि सन् पुनर्यदि देहादावात्माभिमानं कुर्यादितिभावः।
४. काममधिकारेपि, कर्माधिकारेपीति वा पाठं संभावयामः।

सिद्धत्वाच्च न साध्यम्। यतः–
सामान्येतररूपाभ्यां कर्माऽऽत्मैवास्य योगिनः[१]।
निःश्वासोच्छ्वासवत्[२] तस्मान्न नियोगमपेक्षते ॥७७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पुनरपि विदुषः कर्मासम्भवमाह–सिद्धत्वाच्चेति।।७७।।
एवमभेदपक्षे निराकृते पुनर्भेदाभेदपक्षमुत्थापयति तस्य स्वरूपेणैवासम्भवं

नहीं। अथवा जैसे राम के नाम-रूप-कर्म से अपना सर्वथा असम्बन्ध जानने वाला नट राम के ही नामादि से व्यवहार कर लेता है, ऐसे असत्य प्रपंच से सत्य प्रत्यगात्मा का त्रैकालिक असम्बन्ध जानने वाला तत्त्ववित् व्यवहार कर सकता है। एवं च जीवन्मुक्त में अध्यासिद्धि असम्भव है। मनुष्योचित आहारादि की तरह अध्यास के बिना ब्राह्मणाद्युचित कर्मान्तर हों?—इस प्रश्न का उत्तर है कि 'वशिष्ठः कर्मकर्त्ता च' इत्यादि अभियुक्तोक्त्यनुसार कर्मान्तर नहीं ही हों यह सिद्धान्ती का कथन नहीं, किन्तु इतना ही है कि कर्मान्तर नियमतः हों यह, तथा मोक्षार्थ अपेक्षित हों यह सम्भव नहीं। नियमतः मानवोचित आहार का भी नियम अनभ्युपगत है, संस्कारादिवशात् यदि कोई तत्त्वनिष्ठ मानवानुचित आहारादि करता मिले तो उससे उसकी तत्त्वनिष्ठा में किसी कमी की शंका नहीं की जा सकती।

किञ्च प्रकृत वादी के मत में कर्म तो विद्वान् का स्वरूप ही है अतः उसके लिये वह साध्य, कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि—**आत्मा (इस मत में) सामान्य व विशेष दोनों रूपों वाला है इसलिये कर्मसामान्य और कर्मविशेष दोनों ही सामान्य और विशेष होने से आत्मरूप योगी के, ज्ञानी के, स्वरूप ही हैं। अतः साँस लेना-छोड़ने की तरह उसके लिये कर्म-विधि की अपेक्षा नहीं।।७७।।** यदि आत्मा को सामान्य विशेषरूप न मानने वाला मुख्य सिद्धान्त मानें तो साँस आदि वैध क्रियाओं के उदाहरण न होने से कर्मसमुच्चय की असम्भावना यथास्थित है।

अभेद पक्ष यदि अयुक्त है तो यही मान लिया जाये कि भेद व अभेद दोनों रूपों

---

१. 'कर्मयोगिनो विदुषः' इति भावः।
२. 'तद्वदनायाससिद्धत्वादिति' भावः।

अस्तु तर्हि भिन्नाभिन्नात्मकं ब्रह्म। तथा च सति ज्ञानकर्मणी संभवतः। भेदाभेदविषयत्वात् तयोः।

तत्र तावदयं पक्ष एव न संभवति। किं कारणम्? न हि

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दर्शयितुम्–अस्तु तर्हीति[1]। **तत्र च कर्मज्ञानकाण्डयोः प्रामाण्यानुपपत्तिः प्रमाणम्; अभेदं विना ब्रह्मास्मीति ज्ञानानुपपत्तेर्भेदं विना चानेककारकसाध्य-कर्मणोऽनुपपत्तेश्चेति दर्शयति**–तथा चेति।

तिष्ठतु तावत् ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्वं, लोकेऽप्ययं पक्षो न सम्भवतीत्याह–तत्र तावदिति। **ननु सन्घटः शुक्लः पटो मृच्छरावो दण्डी देवदत्त इत्यादौ सामान्यविशेषद्रव्यगुणादीनां सामानाधिकरण्यमत्यन्तभेदेऽभेदे च पटो घटोऽश्वो महिष इत्यादावदर्शनादनुपपद्यमानं भिन्नाभिन्नत्वं कल्पयतीति शङ्कते**–किं कारणमिति। **तर्हि वक्तव्यं अभेद इत्यत्र नञा**[2] **किं भेदाभावः, किं वा भेदविरोधी, भेदादन्यो वाभिधीयत इति? न तावदाद्यौ। तथा सति भेदाभेदयोरेकत्र युगपत्समावेशानुपपत्तेः। नापि तृतीयः, रूपरसादीनामपि**

वाला आत्मा है; तब भेद रहते हो सकने वाले कर्म और अभेद रहते हो सकने वाला ज्ञान सम्भव हो जायेंगे। किन्तु सुनने में अच्छा लगने पर भी यह पक्ष है असम्भव। कारण यह है कि अभेदबुद्धि हटाये बिना 'यह भिन्न है' ऐसी भेद-बुद्धि पदार्थ को विषय नहीं करती। भेद व अभेद का वस्तुतः युगपत् एकत्र अवस्थान असंभव है। अभेद को भेद का अभाव या भेद-विरोधी मानने पर इनका साथ वादी कह भी नहीं सकता। केवल भेद से अलग-मात्र को अभेद कहें तब तो भेद से अलग होने से रूपादि भी अभेद होने लगेंगे और जिसे सिद्ध करना चाह रहे हैं वह पक्ष ही नहीं बनेगा। यदि अभेद हटे बिना भेद का रहना स्वीकारें तो यह ऐसी स्वीकृति होगी जिसके विषय में लौकिक व शास्त्रीय कोई प्रमाण नहीं मिलेगा। फलतः ऐसे अप्रामाणिक मत को विचार्य नहीं मान सकेंगे। किं

---

१. अभेदं विना ब्रह्माहमस्मीति ज्ञानानुपपत्तेर्भेदं विना चानेककारकसाध्यकर्मानुपपत्तेश्च भिन्नाभिन्नात्मकं ब्रह्मेति भावः।

२. नञ् शब्दः षड्विधेषु अर्थेषु प्रयुक्तो भवति। तथाहि—
तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञोऽर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥ इति प्राज्ञः।

भिन्नोऽयमित्यभेदबुद्धिमनिराकृत्य भेदबुद्धिः पदार्थमालिङ्गते। एवं ह्यनभ्युपगमे भिन्नाभिन्नपदार्थयोरलौकिकत्वं[1] **प्रसज्येत। अथ निष्प्रमाणकमप्याश्रीयते, तदाप्युभयपक्षाभ्युपगमात् अभेदपक्षे दुःखि ब्रह्म स्यात्। अत आह–**

भिन्नाभिन्नं विशेषैश्चेद् दुःखि स्याद् ब्रह्म ते ध्रुवम्।
अशेषदुःखिता च स्यादहो प्रज्ञाऽऽत्मवेदिनाम्[2] **॥७८॥**

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भेदादन्यत्वेनाभेदत्वप्रसङ्गाद्, एवंविधभेदाभेदयोरभ्युपगमे चालौकिकत्वापत्तेः, सामानाधिकरण्यप्रत्ययस्य च कल्पितभेदेनापि सोऽयं देवदत्तः खं छिद्रमित्यादाविव सम्भवात्; इत्यभिप्रेत्य परिहरति–न हि भिन्नोऽयमिति। भेदबुद्धिरभेदबुद्धिमनिराकृत्य न हि पदार्थमालिङ्गत **इत्यन्वयः। अस्तु यथा तथा वा लोके, ब्रह्मणि पुनर्भिन्नाभिन्नत्वं सर्वथैवानुपपन्नमित्याह**–अथेति। **न केवलं दुःखित्वमात्रं सर्वजीवाभेदात् तद्गतमखिलमपि दुःखित्वं ब्रह्मगतमेवेति तत्प्राप्तिरनर्थायैव स्यादिति सोपहासमाह**–अशेषेति।।७८।।

च इस निष्प्रमाण मत को मानें तो ब्रह्म का संसार से भेद व अभेद दोनों वास्तविक मानने से अभेद भी माना ही जायेगा और दुःखी जीव से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म भी दुःखी होने लगेगा! इसलिये कहते हैं—**सामान्य-विशेषरूप से यदि ब्रह्म भिन्न-अभिन्न दोनों होगा तब तो निश्चित ही वह तुम्हारे मत में दुःखी होगा ही। सब दुःखी जीवों से (जीवविशेषों से) वास्तविक अभेद होने पर जो अत्यन्त दुःखी ब्रह्म सिद्ध होगा उसकी स्थिति जीव से भी अधिक दयनीय होगी, क्योंकि जीव तो अकेले अपने ही दुःख से दुःखी है जब कि ब्रह्म को अनन्त जीवों का दुःख होगा। धन्य हैं ऐसे विचारक जो वास्तविक भेदाभेद मानते हैं।**।७८।। लोक में भी जिससे अभेद होता है उसका दुःख अपना भी बन जाता है। पुत्र मित्रादि के दुःखों से पिता आदि दुःखी देखे जाते हैं। वास्तव अभेद होने पर तो सुतराम् दुःख बढ़ेगा इसमें कहना ही क्या?

---

१. अप्रसिद्धत्वमिति भावः।

२. आत्मवादिनाम् इति पाठान्तरम्।

तस्मात् सम्यगेवाभिहितं, न ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इत्युपसंह्रियते–

किञ्च, यह भी विचारणीय है कि समुच्चय क्या वस्तु है? सामान्यतः प्रसिद्ध है कि आपस में निरपेक्ष अनेक वस्तुओं का किसी एक वस्तु से सम्बन्ध समुच्चय होता है। प्रकृत में भी ज्ञान व कर्म स्वयं आपस में स्वतन्त्र रहकर मोक्ष से सम्बद्ध होते हैं—यही समझना होगा। किन्तु कर्म व ज्ञान का मोक्ष से क्या सम्बन्ध होगा? नित्यमोक्षवादी जनकता-सम्बन्ध स्वीकारेगा नहीं। अविद्यानिवर्तकत्व तो ज्ञान में ही रहेगा, कर्म में नहीं, क्योंकि प्रमा से ही अविद्या-निवृत्ति सर्वत्र दृष्टचर है, कर्म से कहीं नहीं। अविद्यानिवर्तकयोग्यत्व ज्ञान में लाना कर्म का प्रयोजन हो नहीं सकता क्योंकि ज्ञान में स्वरूपतः ही वह योग्यता है। अन्य कोई प्रतिबन्धक का निरूपण असम्भव है जिसे हटाना कर्म का कार्य हो। मन को तादृश ज्ञानयोग्य बनाना यदि कर्मोपयोग हो, तब तो सिद्धान्ताभिमत क्रम पक्ष से अविशेष स्पष्ट है।

कर्म के रहते हुए होने वाला ज्ञान ही अविद्या-निवर्तक है—यदि यह अभिप्राय है, तो प्रश्न उठता है कि (i) कर्म करने वाला और जिसे ज्ञान हो रहा है उसकी एकता अभिप्रेत है या (ii) कर्माधिकरणोपहित और ज्ञानाधिकरणोपहित की एकता से तात्पर्य है? प्रथम पक्ष में यदि कर्म से बाह्य क्रियायें लें तब तो असम्भव दोष है क्योंकि बाह्य क्रियायें स्थूल देह में रहेंगी और ज्ञान मन में रहेगा, फलतः क्रिया और ज्ञान का ऐकाधिकरण्य सम्भव नहीं। यदि मानस क्रियायें लें तब भी असम्भव है क्योंकि एक ही काल में मन क्रिया (उपासना) भी करे और ज्ञान (प्रमा) भी करे यह सम्भव नहीं। यदि कहें क्रिया का तत्काल होना आवश्यक नहीं तो विकल्प उठेगा कि क्या ज्ञान के पूर्व क्रिया हो या बाद में? प्रथमपक्ष तो अंगीकारपराहत है। द्वितीय पक्ष में शंका है कि क्या अनन्तरभावी क्रिया न होने तक पूर्वोत्पन्न ज्ञान निष्फल हुआ बना रहेगा या नहीं? यदि हाँ, तो यह अप्रामाणिक है क्योंकि कहीं भी ज्ञान अपना अज्ञाननिवृत्तिरूप फल उत्पन्न किये बिना भावी कर्म की इन्तजार करता देखा या माना नहीं जाता। असम्भाव्य का शास्त्र भी विधान नहीं कर सकता। यदि ज्ञान टिका नहीं रहेगा तब तो ज्ञानोत्तरभावी कर्म ही मोक्षहेतु मानना होगा और समुच्चय यह वाचोयुक्ति व्यर्थ होगी। कर्म की मोक्षकारणता का निराकरण अन्यत्र किया जा चुका है।

यदि कथंचित् स्वाधिष्ठित समवाय से (मन से अधिष्ठित शरीर से जो क्रिया का समवाय है उससे) क्रिया वाले मन में जायमान ज्ञान की मोक्षहेतुता विवक्षित हो तो अप्रयोजकता की शंका होगी ही अर्थात् यों परम्परा से सक्रिय न हो और ज्ञान सफल हो जाये इसमें क्या आपत्ति है—ऐसी तर्कजिज्ञासा बन जायेगी। शास्त्रान्यथानुपपत्ति को तर्क रूप में उपस्थित नहीं कर सकते क्योंकि शास्त्र की अन्यथा भी उपपत्ति सिद्धान्ती बता ही चुका है और सिद्धान्ती को लौकिक ज्ञान की एतादृश सहायता की अनपेक्षा रूप युक्ति का सहकार भी है।

अतः द्वितीय पक्ष ही विचारणीय हो सकता है। उसमें प्रश्न उठता है कि उपहित से क्या अभिप्राय है? यदि उपधेयसंनिधि में उपाधि का स्वरूपसत्त्व उपहित का अर्थ हो तब तो चैत्र के देह की क्रिया से उपहित मैत्र का आत्मा भी होने से अर्थान्तर ही हो जायेगा। यह नहीं कह सकते कि चैत्रदेह से मैत्र-आत्मा उपधेय नहीं, क्योंकि यदि उपधेय से उपधेययोग्य अर्थ है तब तो परकाय प्रवेशादि से चैत्रदेहोपधेयता मैत्रात्मा में होना सम्भव होने से वह उपधेय ही है; और यदि उपधेय का अर्थ तत्काल उपहित करें, तब लक्ष्य से अविशेष होगा—उपहित का ही अर्थ किया था 'उपधेय संनिधि में' इत्यादि से और उपधेय का अर्थ कर दिया उपहित! यदि चैत्र ऐसा व्यवहार्यत्व को मानें तो भी व्यवहारयोग्यत्व और व्यवह्रियमाणत्व के विकल्प पूर्वोक्त प्रकार से ही दुरुच्छेद बने रहेंगे। यदि उपहित का अर्थ है उपाधि में अध्यास वाला होना, अर्थात् क्रियाधिकरण स्थूलदेह में अध्यास वाला और ज्ञानाधिकरण मन में अध्यास वाला एक हो यह अभिप्राय है; तब भी प्रश्न है कि क्या ज्ञानकाल में देह की सक्रियता अपेक्षित है? यदि कहें हाँ, तो पूर्ववत् अप्रयोजकत्व का निराकरण पूर्वपक्षी का कर्तव्य होगा। शास्त्र की दुहाई भी पूर्ववत् ही वह नहीं दे सकेगा। यदि ज्ञानकाल से अतिरिक्त काल में अपेक्षित हो तब अतिरिक्त काल यदि ज्ञान से पूर्व का काल है तब सिद्धान्ती को अभीष्ट ही है और यदि उत्तरकाल है तो असम्भव है, क्योंकि ज्ञान से अज्ञाननिवृत्तिद्वारा अध्यास निवृत्त हो चुकेगा।

उक्त रीति से ही अन्वाचय और इतरेतरयोग का भी असम्भवत्व जान लेना चाहिये। अनेकों में जब एक प्रधान और बाकी गौण हों व सबका आपसी कोई सम्बन्ध हो तो अन्वाचय ऐसी वैयाकरणरूढि है तथा एक से अधिक का जहाँ

किसी से मिला हुआ सम्बन्ध होता है, अर्थात् वे एकाधिक यदि स्वतन्त्र रहें—मिले न हों—तो उस एक से सम्बद्ध न हो सकें, वहाँ इतरेतरयोग ऐसा व्यवहार है। सर्वत्र ही ज्ञान व कर्म का सहावस्थान असम्भव तथा कर्म का मोक्ष से (साक्षात्) सम्बन्ध असम्भव होना ही उक्त अर्थ समुच्चय का न होने में युक्ति है।

'समाहारः समुच्चयः' इत्यादि शब्दरत्नावली आदि से यदि समुच्चय का अर्थ करें समाहार अर्थात् समूह, तब भी समुच्चयवाद सिद्ध नहीं हो सकता। समूह भी क्या वस्तु है? समूही से अतिरिक्त होने पर अप्रामाणिक व अनतिरिक्त होने पर स्वयं ही असिद्ध—यही समूह की स्थिति है। वन, सेना आदि स्थलों में व्यवहारसिद्ध 'समूह' किसी प्रातिभासिक वस्तु को विषय करने वाली बुद्धि स्वीकारी भी जा सकती है, किन्तु ज्ञान और कर्म के किसी 'समूह' को लोक में कोई विषय करता नहीं कि वैसी भी कोई वस्तु स्वीकारी जाये। वादी की प्रतीति से भी अप्रामाणिक प्रतीतिमात्रसिद्ध ज्ञानकर्मसमूह माना जा सकता है क्योंकि विचार से निरूपण करने पर समूह कुछ सिद्ध नहीं होता। और ऐसी अप्रामाणिक वस्तु का शास्त्र विधान करे यह सम्भव न होने से समुच्चयवाद सर्वथा हेय है।

अंग-अंगिरूप से भी ज्ञानकर्म समुच्चय सम्भव नहीं। प्रथमतः तो कौन अंग हो व कौन अंगी, इसी में विनिगमना नहीं मिलेगी। फिर, ज्ञान व कर्म जैसी विलक्षण वस्तुओं में दृष्टोपकारक तो कोई अंगत्व सम्भव नहीं तथा अदृष्टोपकारक अंगत्व में कोई प्रमाण है नहीं। जो प्रमाणरूप से कहे वाक्य हैं वे सभी प्रकरणादि का निरूपण करने पर उक्त समुच्चय-साधक रहते नहीं एवं अंगताबोधक श्रुत्यादि प्रमाण पूर्ववादी को भी उपलब्ध नहीं। किं च कर्म का स्वतन्त्र फल विहित होने से वह ज्ञान का अंग बन नहीं सकता, क्योंकि अंगों का पृथक् फल हुआ नहीं करता। ऐसे ही विद्या का भी 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (के. २-४) इत्यादि पृथक् फल श्रुत होने से वह भी कर्म का अंग नहीं हो सकती। साथ ही जब दो साधन मिलते हैं तो दो ही तरह से वैशिष्ट्य होता है—या तो दोनों साधनों के या उनमें से एक के फल में आधिक्यादि अन्तर हो जाता है और या दोनों के फलों से विलक्षण ही कोई फल होता है। उदाहरणार्थ नौकर भी कार्यक्षम है व मालिक भी। जब दोनों मिलते हैं तो दोनों के कार्यों में वैशिष्ट्य आता है—मालिक को फायदा अधिक होता है और नौकर को उपकरणादि-प्राप्ति से सुविधा अधिक होती

तमोऽङ्गत्वं यथा भानोरग्नेः शीताङ्गता यथा।
वारिणश्चोष्णता यद्वज्ज्ञानस्यैवं क्रियाङ्गता ॥७९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तमोङ्गत्वमिति। **ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वाभावे कर्मणश्च ज्ञानाङ्गताऽभावे समसमुच्चयाभावे च दृष्टान्तत्रयम्। क्रियाङ्गतेत्यत्र क्रियां प्रत्यङ्गता, क्रियाऽङ्गम् अस्येति क्रियाङ्गतेत्युभयथा द्रष्टव्यम्॥७९॥**

है। अथवा मीठे व ठण्डे को मिलाकर सेवन करें तो पित्त की शान्ति होती है जो मीठे व ठण्डे के सेवन के फलों से विलक्षण फल है।

प्रकृत में यदि समुच्चयवश कर्म या विद्या के फल में वैशिष्ट्य मानें तो मानना पड़ेगा कि मोक्ष है कर्म या विद्या का ही फल किन्तु समुच्चय-वशात् उसी में—मोक्ष में—कोई वैशिष्ट्य आ जाता है। निर्विशेष मोक्षवाद में मोक्ष में वैशिष्ट्य अस्वीकार्य है। और यदि मोक्ष दोनों में से किसी एक का फल नहीं प्रत्युत दोनों के मिलने पर होने वाला फल है तब भी दो विकल्प हैं—या तो दोनों के मिलने से कोई तृतीय वस्तु का उद्भव होता है जिसका फल मोक्ष है और या दोनों वस्तुएँ कुछ-कुछ अंग समर्पित कर मोक्ष का निर्माण करती हैं। द्वितीय पक्ष तो निरंशमोक्ष में सम्भव नहीं। प्रथम पक्ष में प्रश्न होगा कि वह वस्तु क्या है? यदि वह ज्ञानादिरूप है तब तो समुच्चय अनावश्यक है और यदि ज्ञानादि से पृथक् है तो प्रमाणविरुद्ध होने से मोक्षोपायतया शास्त्रविहित नहीं हो सकती। शास्त्र ने केवल विद्या को, और, यदि वादी की बात भी मान ली जाये तो, कर्म को, मोक्ष का साधन बताया है। यदि इनके मिलने से इनसे पृथक् कुछ बन जाता है तो वह शास्त्रोक्त नहीं और शास्त्रोक्त ज्ञानादि की साधनता का विरोधी भी होगा अतः उभयवादी को अमान्य होगा। इस प्रकार विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि समुच्चय नामक कोई वस्तु है ही नहीं जिसे पूर्वपक्षी मोक्षोपाय बताये।

अतः ठीक ही कहा था कि ज्ञान और कर्म का कोई साथ नहीं। इसी बात का उपसंहार करते हैं—**जैसे सूर्य अन्धेरे का अंग नहीं वैसे ज्ञान कर्म का अंग नहीं। जैसे आग ठण्ड का अंग नहीं वैसे ही कर्म भी ज्ञान का अङ्ग नहीं। जैसे शीतलस्वरूप जल का गर्मी से साथ नहीं वैसे ही ज्ञान और**

यथोक्तोपपत्तिबलेनैव पूर्वपक्षस्योत्सारितत्वात्, वक्तव्यं नावशेषितमित्यतः प्रतिपत्तिकर्मवत् पूर्वपक्षपरिहाराय यत् किञ्चिद् वक्तव्यम् इत्यत इदमभिधीयते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

केवलकर्मणां ज्ञानसमुच्चितानां वा मोक्षसाधनत्वस्य निराकरणात् ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं सिद्धम्। तत्र किमुत्तरग्रन्थसन्दर्भेणेत्याशङ्क्य; प्रमेयस्योपपादितत्वेऽपि तदुक्तीनामनिराकरणे तत्पक्षो न निराकृत इति मन्दमतीनामाशङ्का स्यात् तन्निवृत्तये तदुक्तीनां क्रमेण खण्डनायोत्तरग्रन्थ इत्याह– यथोक्तेति। प्रतिपत्तिकर्मवदिति। **उपयुक्तस्य द्रव्यस्य परित्यागे 'चात्वाले**

कर्म का साथ नहीं॥७९॥ गर्म पानी में जल और गर्मी के साहचर्य का भ्रम होने पर भी वास्तविक साथ नहीं केवल 'लाल लोहा' आदि की तरह भ्रम है, इसी प्रकार जीवन्मुक्त में ज्ञान-कर्म के साथ का भ्रम भले ही हो, इनका साथ कभी भी हो सकता नहीं।

कर्म स्वयं मोक्ष का साधन नहीं और ज्ञान के साथ कर्म का कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं यह सिद्ध कर देने से अकेले या समुच्चित कर्म से मोक्ष मानने वालों का खण्डन हो गया। अतः इस विषय में यद्यपि कुछ बताने योग्य नहीं है तथापि बात सिद्ध होने पर भी पूर्वपक्षी के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर न देने से यह शंका हो सकती है कि उस पक्ष का निःशेष निराकरण नहीं हुआ। इसलिये अब उनके प्रश्नों का उत्तर बतायेंगे। जिस प्रकार यज्ञकाल में पीठ आदि खुजलाने के लिये रखा काला सींग, यज्ञ समाप्त होने पर कृतकार्य होने से फैंका ही जायेगा, किन्तु 'उसका क्या किया जाये?' ऐसी शंका कर शतपथ ब्राह्मण में (४.४.५.२) कहा कि उसे एक (विशिष्ट) गड्ढे में फैंक देना चाहिये; उसी प्रकार कर्म से मोक्ष मानने वाला पक्ष खण्डित हो चुकने पर भी उनके प्रश्नों के उत्तरों को बताने के लिये अग्रिम विचार है। तात्पर्य है कि यद्यपि मूलतः मोक्षौपयिकतया कर्म व समुच्चय तिलशः खण्डित हो चुके हैं जिससे प्रत्येक शंका का समाधान वैसे ही व्यर्थ है जैसे यज्ञोपसंहारानन्तर कृष्ण विषाण, तथापि जैसे विधितः गृहीत विषाण का वैध त्याग ही उचित है वैसे वाद-नियमों के अनुसार वादी के प्रत्येक प्रश्न का निराकरण उचित होने से उत्तर प्रयास उपपन्न है।

मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वादित्याद्यनुचितं बहु।
यदभाणि तदन्याय्यं यथा तदधुनोच्यते ॥८०॥

योऽयं काम्यानां प्रतिषिद्धानां च त्यागः प्रतिज्ञायते, सा प्रतिज्ञा तावन्न शक्यतेऽनुष्ठातुम्। किं कारणम्? कर्मणो हि निर्वृत्तात्मनो द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां निवृत्तिः संभवति। आरब्धफलस्योपभोगेन, अनारब्ध-फलस्याशुभस्य (च) प्रायश्चित्तैरिति। तृतीयोऽपि त्यागप्रकारोऽ-कर्त्रात्मावबोधात्। स त्वात्मज्ञानानभ्युपगमाद् भवता नाभ्युपगम्यते। तत्र

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कृष्णविषाणमुत्सृजेदि'ति नियमवन्निराकृतेऽपि पूर्वपक्षे तदुक्तिक्रमनिरासायायं प्रयत्न इत्यर्थः॥८०॥

तत्र 'अकुर्वतः क्रिया काम्या निषिद्धास्त्यजतस्तथे'ति यदुक्तं तत्तावन्निरा-करोति–योऽयमिति। **तत्किमनुष्ठितानां परित्यागः, किम्वा तदनुष्ठानस्य? इति विकल्प्य; नाद्य इत्याह**–कर्मणो हीति। निर्वृत्तात्मनो **निष्पन्नस्वरूपस्य। ननु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति ज्ञानादपि सर्वकर्मनिवृत्तिः श्रूयते[1] इति? तत्राह**–तृतीयोऽपीति। **भवत्वेवं, ततः किमित्यत आह**–तत्रेति।

'मुक्ति क्रियाओं से प्राप्त होती है' (श्लो. ९) आदि जो कई अनुचित बातें कही थी, वे किस प्रकार असंगत हैं यह अब बताते हैं॥८०॥

कामना-प्रयुक्त व मना किये कर्मों को न करते हुए अवश्य करणीय कर्म करने से जो मोक्ष का होना बताया था (श्लोक १०), पहले उसका निराकरण करते हैं। यद्यपि यह प्रतिज्ञा तो कर दी कि काम्य व निषिद्ध का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये तथापि उस प्रतिज्ञा का पालन किया नहीं जा सकता। इसमें क्या कारण है, यह बताते हैं : किये जा चुके कर्म की दो ही तरह निवृत्ति (अभोग्यतापत्ति) सम्भव है—या उनके फल भोगकर या जिन अशुभ कर्मों ने फलदान प्रारम्भ नहीं किया उनके प्रायश्चित्त करके। यद्यपि (प्रारब्धातिरिक्त) सभी कर्मों की निवृत्ति अपने अकर्तापन को जान लेने से भी सम्भव है तथापि अकेले आत्मज्ञान से मोक्ष न मानने वाले वादी को वह उपाय स्वीकृत नहीं। जिनका फल भोगा नहीं जा चुका ऐंसे जिन कर्मों ने फल देना शुरू ही नहीं किया उनकी

---

१. तत्र कथं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामित्युच्यत इति शेषः।

यान्यनुपभुक्तफलानि अनारब्धफलानि, तानि ईश्वरेणापि केनचिदपि न शक्यन्ते परित्यक्तुम्। अथारब्धफलानि त्यज्यन्ते, तान्यपि न शक्यन्ते त्यक्तुम्। किं कारणम्? अनिवृत्तेः[१]। अनिर्वृत्तं हि चिकीर्षितं कर्म शक्यते त्यक्तुम्। प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रति कर्तुः स्वातन्त्र्यात्। निर्वृत्ते तु कर्मणि तदसंभवात् दुरनुष्ठेयः प्रतिज्ञातार्थः।

अशक्यप्रतिज्ञानाच्च। न च शक्यते प्रतिज्ञातुं 'यावज्जीवं काम्यानि प्रतिषिद्धानि च कर्माणि न करिष्यामि' इति। सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तान्येव विशिनष्टि[२]–आरब्धेति। **उपभोगप्रायश्चित्ताभ्यां विना निष्पन्नस्यानिवृत्तेरित्यर्थः। एतदेव व्यतिरेकमुखेनोपपादयति**–अनिर्वृत्तं हीति। तदसम्भवात् **स्वातन्त्र्यासम्भवात्।**

तो कोई महान् शक्तिशाली व्यक्ति भी निवृत्ति नहीं कर सकता; क्योंकि वे उपस्थित ही नहीं हैं; जो है ही नहीं उसे कोई निवृत्त क्या करेगा। जिन कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया है, वे भी नहीं छोड़े जा सकते, क्योंकि उनकी भी निवृत्ति भोग व प्रायश्चित्त से अतिरिक्त किसी उपाय से हो नहीं सकती। जिसे करना चाहते हैं पर अभी तक किया नहीं है ऐसे कर्म को तो छोड़ सकते हैं क्योंकि करने-न करने में कर्ता स्वतन्त्र है। किन्तु जो किया जा चुका कर्म है उसके विषय में करने वाला अब स्वतन्त्र रहा नहीं। अतः उनकी निवृत्ति असम्भव है।

'आगे जीवनभर मैं कामनाप्रयुक्त तथा मना किये कर्म नहीं करूँगा'—ऐसी भी कोई प्रतिज्ञा नहीं कर सकता क्योंकि अत्यन्त सावधान भीष्म, युधिष्ठिर आदि भी गलत कार्यों से सर्वथा बच नहीं पाये। अतः जो किये नहीं जा चुके हैं ऐसे कर्मों का भी पूर्णतः त्याग सम्भव नहीं। जीवन में किसी न किसी ऐसे कर्म का होना नहीं बचाया जा सकता जो काम्य या निषिद्ध न हों।

---

१. अनिर्वृत्तेः—इति अच्युतग्रन्थमालानुसारी पाठः। चन्द्रिकानुसारी—'अनिवृत्तेः' इति। क्लेशापहारिणीकारस्तु 'निर्वृत्तेः' इति पाठं युक्तं मन्यते।

२. चन्द्रिकायाम्—'विशिनष्टि—**अनारब्धेति**। अनारब्धानां कर्मणाम् अनुपस्थितत्वाद् एव निवर्तनाऽयोगाद् इत्यर्थः। तर्हि, आरब्धफलानि त्यज्यन्ताम्—इत्याशंक्य, परिहरति—**अथेत्यादिना**। **अनिवृत्तेरिति**, उपभोग.....'।

प्रमाणाभावाच्च। न च प्रमाणमस्ति मोक्षकामो नित्यनैमित्तिके कर्मणी कुर्यात्, काम्यप्रतिषिद्धे च वर्जयेत्, आरब्धफले चोपभोगेन क्षपयेत्–इति।

आनन्त्याच्च। न चोपचितानां कर्मणामियत्ता अस्ति, संसारस्यानादित्वात्। न च काम्यैः प्रतिषिद्धैर्वा तेषां निवृत्तिरस्ति। शुक्लयशुद्धिसाम्ये सत्यविरोधाद् इति अत आह–

न कृत्स्नकाम्यसंत्यागोऽनन्तत्वात् कर्तुमिष्यते।
निषिद्धकर्मणश्चेह व्यतीतानन्तजन्मसु ॥८१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अथानुष्ठानस्यैव परित्याग इति द्वितीयं पक्षं दूषयति–आनन्त्याच्चेति। **तदेव प्रपञ्चयति**–न चेति। **तर्हि 'अस्त्रमस्त्रेण शाम्यती'ति न्यायेन काम्यैः काम्यानां, प्रतिषिद्धानां निवृत्तिरस्त्विति? अत आह**–न च काम्यैरिति। **उपपादितेऽर्थे श्लोकमवतारयति**–इत्यत आहेति।।८१।।

अस्तु तर्हि तेषां नित्यकर्मणा निवृत्तिरित्याशङ्क्य परिहरति–

किं च, मोक्ष चाहने वाले के लिये वेद में ऐसा कहीं कहा भी नहीं है कि वह जिन कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया उनका फल भोगते हुए कामना-प्रयुक्त व मना किये कर्मों को न करे और अवश्य करणीय कर्मों को करता रहे।

अतः 'मुक्ति क्रियाओं से प्राप्त होती है' इसमें कोई प्रमाण नहीं। जो कर्म किये जा चुके हैं वे असंख्य हैं क्योंकि अनादि संसार में अब तक न जाने कितने कर्म हम कर चुके हैं। अतः सबका फल भोगने में भी अनन्त जन्म अपेक्षित होने से मोक्ष का प्रसंग ही नहीं आयेगा। न यह मान सकते हैं कि पहले जिन्हें कामना से किया था, उन्हें अब कामना से ही दूसरे कर्म करके नष्ट किया जा सकता है, क्योंकि नये कर्म भी अपना फल वैसे ही उत्पन्न करेंगे जैसे पहले वालों ने किया और वे भी शुभ या अशुभ फल देने वाले होने से पूर्वकृत कर्मों के विरोधी नहीं हो सकते। यह कहते हैं—**बीते असंख्य जन्मों में किये होने से स्वयं अनन्त होने के कारण सभी कामना-प्रयुक्त व गलत कर्मों का त्याग इस जन्म में किया नहीं जा सकता**।।८१।। इस जन्म में नहीं हो सकता तो कुछ और जन्मों में नष्ट कर लेंगे—यह आशा भी नहीं की जा सकती, क्योंकि नष्ट करने के लिये प्राप्त वर्तमान व भावी जन्मों में पुनः अनन्त काम्य-निषिद्ध एकत्र हो जायेंगे।

स्यान्मतम्, व्यतीतानन्तजन्मोपात्तानां कर्मणाम्–

क्षयो नित्येन तेषां चेत् प्रायश्चित्तैर्यथैनसः ।
निष्फलत्वान्न नित्येन काम्यादेर्विनिवारणम् ॥८२॥

प्रमाणाभावाच्च। कथम्?

पापापनुत्तये वाक्यात् प्रायश्चित्तं यथा तथा ।
गम्यते काम्यहानार्थं नित्यं कर्म न वाक्यतः ॥८३॥

अथापि स्यात्, काम्यैरेव काम्यानां पूर्वजन्मोपचितानां क्षयो भविष्यतीति। तन्न। यतः–

पाप्मनां पाप्मभिर्नास्ति यथैवेह निराक्रिया ।
काम्यैरपि तथा नास्ति काम्यानामविरोधतः ॥८४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्यान्मतमिति।।८२।।

उपात्तदुरितक्षयार्थानि नित्यानीति भाट्टादिभिरभ्युपगमान्नित्यानां निष्फलत्वमसिद्धमित्याशङ्क्य; अथापि काम्यनिवृत्तिस्ततो भवतीत्यत्र प्रमाणं न पश्याम इत्याह–प्रमाणाभावाच्चेति।।८३।।

अस्तु तर्हि काम्यैरेव काम्यानां निवृत्तिरित्याशङ्क्य, श्लोकेन परिहरति– अथापीत्यादिना।।८४।।

यदि पूर्वजन्मों में किये जा चुके कर्मों के विषय में ऐसा मानें कि—**जैसे प्रायश्चित्त से पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं वैसे अवश्य करणीय कर्मों से वे (=पूर्वजन्मों में किये सब कर्म) नष्ट हो जायेंगे, तो भी गलत होगा क्योंकि अवश्य करणीय कर्म तो बिना फल वाले माने गये हैं। जब उनका कोई फल नहीं तो पूर्वजन्मों में किये कर्मों की निवृत्ति भी उनका फल क्योंकर होगा।।८२।।** और इस बात को माना जाये इसके लिये कोई प्रमाण भी नहीं है। **जैसे पाप के नाशक प्रायश्चित्त बताये गये हैं ऐसे वेद में कहीं कामनाप्रयुक्त कर्मों का नाशक अवश्यकरणीय कर्मों को नहीं कहा है।।८३।।** क्योंकि तुम्हें (=वादी को) वेद और स्मृति से अतिरिक्त कहीं विश्वास नहीं (श्लोक १५) इसलिये कुमारिल भट्टादि ने जो अवश्य करणीय कर्मों का फल माना है उसे तुम स्वीकारोगे नहीं।

कामनाप्रयुक्त कर्मों से पूर्वकृत कामनाप्रयुक्त कर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकती।—**जैसे पापकर्म से पापकर्म की निवृत्ति नहीं होती वैसे ही कामनाप्रयुक्त कर्म अन्य**

एवं तावत्, 'मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वात्' (१-९) इति निराकृतम्। अथ, आत्मज्ञानस्य सद्भावे प्रमाणासंभव उक्तः। तत्परिहारायाह–

श्रुतयः स्मृतिभिः साकमानन्त्यात् कामिनामिह ।
विदधत्युरुयत्नेन कर्मातो बहुकामदम् ॥८५॥

न च बाहुल्यं प्रामाण्ये कारणभावं प्रतिपद्यते। अत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यदुक्तम् पूर्ववादिना 'यावन्त्यश्चेह विद्यन्त' इति तत्परिहारायोत्तरश्लोक इति वृत्तं सङ्कीर्त्तयन्नाह–एवन्तावदिति। **काम्यमानविधिफलसाधनत्वमेव तत्र तत्र कर्मणो दर्शितं, न पुनरात्मज्ञानान्तरस्य वा मोक्षसाधनत्वं वाऽस्तीति तत्र दर्शितमिति भाव**[१]।।८५।।

कर्मप्रतिपादकवेदवाक्यानां बहुलत्वादात्मप्रतिपादकानां चाल्पत्वात् कर्मण्येव वेदस्य तात्पर्यमित्यत आह–न चेति। **प्रमाणानां स्वतः प्रमाणत्वेन स्वविषयसाधने प्रमाणान्तरानपेक्षत्वात्, सम्वादात् प्रामाण्यमित्यनङ्गीकारात्,**

कामनाप्रयुक्त कर्मों का नाश नहीं कर सकते क्योंकि उनका पारस्परिक कोई विरोधी नहीं।।८४।। विरोधी ही नाशक होता है यह सर्वमान्य है। इस प्रकार 'मुक्ति क्रियाओं से प्राप्त होती है' इत्यादि पक्ष का निराकरण हो गया।

अब जो यह कहा था कि आत्मज्ञान में कोई प्रमाण नहीं, उसका परिहार करते हैं—**कामना वालों की अनन्तता देखकर स्मृतियों सहित श्रुतियाँ बहुत फल देने वाले कर्मों का विधान कई प्रकार से करती अवश्य हैं, पर इतने मात्र से वे आत्मज्ञान का अभाव या उसकी मोक्षसाधनता का अभाव बताती हैं यह नहीं कह सकते।।८५।।** एक का विधानमात्र अन्य के निषेध में परिणत नहीं हो सकता। यदि अन्य निषेध में तात्पर्य है तो विधेय में तात्पर्य रह नहीं सकता, अन्यथा वाक्यभेद की आपत्ति होगी। साक्षात् निषेध कहीं ज्ञानादि का उपलब्ध नहीं।

बहुलता प्रामाणिकता में कारण नहीं होती। इसलिये कहते हैं—**प्रामाणिकता के लिये बहुलता अपेक्षित नहीं है। एक विषय में बहुत से प्रमाण नहीं होते, एक ही हुआ करता है।।८६।।** क्योंकि प्रमाण अपनी या अपनी प्रामाणिकता की सिद्धि के

---

१. चन्द्रिकायाम्—'...न पुनरात्मज्ञानाऽभावः तस्य मोक्षसाधनत्वाऽभावो वा तत्र तत्र प्रदर्श्यते' इति वर्तते। क्लेशापहारिणी—'कामावाप्तये च कर्माणि विधीयन्ते, तत्प्रदानोपायत्वात्। न चैतावता कर्मणो मोक्षसाधनत्वं, ज्ञानस्य तदसाधनत्वं वा सम्भाव्यत इति भावः' इति व्याचष्टे।

प्रामाण्याय न बाहुल्यं न ह्येकत्र प्रमाणताम्।
वस्तुन्यटन्ति मानानि त्वेकत्रैकस्य मानता ॥८६॥

यत्तूक्तं 'यत्नतो वीक्षमाणोऽपि' (१.१५) इति, तत्रापि भवत एवापराधः। कस्मात्? यतः–

परीक्ष्य लोकानित्याद्या आत्मज्ञानविधायिनीः[१]।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

काम्यकाण्डेष्वैकैकस्मिन् कर्मण्येकैकस्य वाक्यस्य प्रमाणत्वात् कर्मणां बहुत्वेन तत्र वाक्यबाहुल्यसम्भवाद्, आत्मनः एकतया तत्प्रतिपादकवाक्यबाहुल्यस्योभयत्रापि[२] अविशेषान्न बाहुल्यं प्रामाण्यायापेक्षणीयमिति भावः।।८६।।

यत्पुनरुक्तं वेदान्तेषु विध्यभावात् प्रामाण्यं न सम्भवतीति, तत्राह– यत्तूक्तमिति। आत्मज्ञानविधायिनीरिति। **आत्मज्ञानायाचार्योपगमनादिविधायिनी-**

लिये प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये बहुलता जरूरी नहीं। जहाँ कहीं एक वस्तु को अनेक प्रमाण विषय करते हैं, वहाँ भी उस वस्तु के विभिन्न वैशिष्ट्यों को ही वे विषय करते हैं, वे विशेष चाहे जितने सूक्ष्म हों। यदि कथंचित् सर्वथा समान-विषयकता होगी तो एक प्रमाण होगा व दूसरा अनुवाद, क्योंकि प्रमाण के लिये अज्ञात-ज्ञापक होना अनिवार्य है। जब तो अनेक प्रमाण एक विषय में उपन्यस्त किये जाते हैं तब उनमें प्रत्येक के विषय में सन्देह-सद्भाव की संभावना मानकर ऐसा किया जाता है। तृतीयाध्याय में (श्लो. ८३-८५) बतायेंगे कि प्रमाणों का कभी परस्पर विरोध नहीं होता। वहाँ भी हेतु देंगे 'भिन्नविषयत्वात्'। अतः अनेक प्रमाणों की समान-विषयकता स्वीकार नहीं है। कर्म-प्रसङ्ग में भी एक कर्म के लिये एक ही वाक्य (विधि) प्रमाण माना जाता है; वाक्यान्तर किसी न किसी (अधिकारी, गुण आदि) विशेष को विषय करने वाला स्वीकार्य होता है। ऐसे ही किसी कर्म की कर्तव्यता के लिये बहुतेरे वाक्य नहीं खोजे जाते, एक वाक्य ही पर्याप्त हो जाता है। ज्ञान-प्रसङ्ग में भी एक वाक्य मिल जाये तो ही पर्याप्त समझना चाहिये। कर्म स्वरूप व फल से अनेकविध होने से उन्हें बताने वाले वाक्य भी बहुत हों यह युक्त है। आत्मा एकरूप होने से उसे बताने वाला एक वाक्य भी काफी है।

जो तो यह कहा कि कोशिश करने पर भी ज्ञान की विधि नहीं मिली (श्लो.

---

१. 'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमि'ति च श्रुतेः (मु.उ. २-१-१२)
२. 'आत्मनः पुनरेकरूपत्वात् तत्प्रतिपादकवाक्यबाहुल्यानपेक्षणात्, शाखाभेदेन वाक्यबाहुल्यस्य उभयत्राप्यविशेषाद्'—इति चन्द्रिकायां पठ्यते।

नैष्कर्म्यप्रवणाः साध्वीः श्रुतीः किं न शृणोषि ताः ॥८७॥

ननु 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ. १.४.७), 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ. २.४.५)–इत्यपूर्वविधिश्रुतेः पुरुषस्य आत्मदर्शनक्रियायां

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

रित्यर्थः। नैष्कर्म्यप्रवणा[१] **इति फलवत्त्वमुक्तम्।** साध्वीरित्युपक्रमाद्यधिगत-**तात्पर्यवत्त्वम्।।८७।।**

'आत्मज्ञानविधायिनीरि'ति यथाश्रुतमेव गृहीत्वा नियोगपरत्वं वेदान्तानां प्राप्तमिति शङ्कते–नन्वेवमित्यादिना[२]। **ज्ञानस्य प्रमाण-वस्तुपरतन्त्रत्वादिच्छया कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमशक्यत्वाद् अन्वयव्यतिरेकसिद्धफलत्वेन च विध्यनपेक्षणात् तस्याविधेयत्वम्, किन्तु तत्साधनश्रवणादेरेवेत्यभिप्रेत्य परिहरति–** मैवमिति[३]। **ननु 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति श्रवणादिविधिव्यतिरेकेण 'द्रष्टव्य' इति**

---

१५), वह भी ढूँढने वाले की ही गलती है यह कहते हुए उस शंका का भी निवारण करते हैं—**निष्कर्मापन में तात्पर्य वाली, उपक्रमादि से जिनकी अध्यात्मविषयकता सिद्ध है ऐसी 'लोकों की परीक्षा करके' (मु. १.२.१२) आदि आत्मज्ञान के लिये गुरु के पास जाने आदि का विधान करने वाली श्रुतियाँ तुम्हें क्यों नहीं सुनायी देतीं?**॥८७॥ पूर्वाग्रहयुक्त व्यक्ति उपलब्ध भी उन बातों को स्वीकारना नहीं चाहता जो उसके आग्रह के विरुद्ध हैं। ग्रन्थान्त में (४.७५) मूलकार ही इस सम्बन्ध में सूचना देंगे। भट्ट आदि ने भी कहा है कि जो दोष-दृष्टि में तत्पर होते हैं उन्हें अविद्यमान भी दोष दीखने लग पड़ते हैं। गुणों को दोष समझना असूया है जो सही ज्ञान नहीं होने देती। यह निर्विरोध सत्य है कि एकमात्र भगवत्पादीय दर्शन ही ऐसा है जिसमें बिना किसी खींचा-तानी के सभी वाक्य अधिकारिभेद या दृष्टिभेद से यथाश्रुत ही उपपन्न कर दिये जाते हैं। अन्य सभी तथाकथित आचार्य अपनी पित्तोपहत दृष्टि का परिचय दिये बिना नहीं रह पाते।

प्रश्न होता है कि 'आत्मा—ऐसी ही उपासना करे' (बृ. १.४.७), 'आत्मा को देखना चाहिये' (बृ. २.४.५) आदि अपूर्व विधि होने से क्या आत्मज्ञान भी

---

१. 'अद्वितीयानन्दब्रह्मात्मैक्यफलिकाः। न तु स्वर्गादिविधिवदाभासफलिकाः'। (सारार्थः)।
२. नन्वात्मेत्यादिना—इति मूलानुसारी। ३. 'नैवम्' इति मूलपाठः।

नियोगोऽवसीयत इति? नैवम्। अपुरुषतन्त्रत्वाद् वस्तुयाथात्म्यज्ञानस्य सकलानर्थबीजात्मानवबोधोत्सारिणो मुक्तिहेतोरिति। विध्यभ्युपगमेऽपि नापूर्वविधिरयम्। अत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दर्शने विधिः श्रूयते इत्याशङ्क्य; मैवं, दर्शनस्याविधेयत्वप्रतिपादनात् प्राप्तत्वाच्च तत्राऽपूर्व[1] विध्यसंभवादिति परिहरति–विध्यभ्युपगमेऽपि **इति।** विध्यर्थः: **विधिप्रत्ययस्य लिङादेरर्थः। तत्रानेकत्र पाक्षिकतया प्राप्तौ परिसंख्येति[2] कीर्त्यतइति[3] वचनादत्र चानात्मदर्शनस्य प्राबल्यादात्मदर्शनस्य पाक्षिकत्वे**

कर्म की तरह वेदाज्ञा से होता है? उत्तर है कि वस्तुतः ऐसा नहीं है। ज्ञान प्रमाण के अधीन होता है, किसी आज्ञा के अधीन नहीं। अन्य की आज्ञा तो दूर, स्वयं ज्ञाता की इच्छा पर ज्ञान निर्भर नहीं करता। ज्ञान ज्ञाता के अधीन नहीं, विषय और प्रमाण के अधीन है। ज्ञान के उपायादि का विधान हो सकता है, क्योंकि वे क्रियारूप होने से कर्त्ता के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। एवं च श्रवणादि का विधान हो सकता है, ज्ञान का नहीं। श्रवण भी विचारात्मक होने से क्रियारूप है। अथवा तात्पर्यनिर्णयानुकूलयत्न सहित औपनिषद शब्द सुनने के अनुकूल व्यापार को श्रवण मानें तो भी वह क्रियात्मक होने से विधेय है। निर्णय तो

---

१. अपूर्वविधिः—'विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात्' (मी.द. ३-४-३) सर्वथाऽप्राप्तविषयस्य प्रापको यो विधिः, स एवापूर्वविधिरिति भावः।
यथा—'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यत्र प्रोक्षणरूपं यत् संस्कारकर्म तदेतद् विधिवाक्यादन्यत्र केनापि प्रमाणेन नोपलभ्यते, तस्मादयमपूर्वविधिः।

२. परिसंख्याविधिः—(मी. १-२-३४) उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः यथा—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति। इदं ही वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरं, पञ्च पञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अत इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः। (अर्थ संग्रहः)। परिसंख्याविधौ 'नञ्' शब्दस्याभावात् निषेधवाक्यमित्यनुक्त्वा विधिवाक्यमेवाऽभिधीयते। वस्तुतस्तु तन्निषेधविधावेव पर्यवस्यते। किन्तु 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि निषेधात् परिसंख्यायाः भिन्नं यदितरनिवृत्तिपरत्वं तदेव फलम्।

३. 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।।' तन्त्रवार्तिकम् १.२.४२।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नियमविधिः[1] 'आत्मा द्रष्टव्य' इति। यदा चात्मानात्मदर्शने तुल्यवत् प्राप्तेऽहमित्यात्मस्फुरणव्यतिरेकेणानात्मनो (ऽपिस्फुरणात्तत्र) परिसंख्या। तेन

ज्ञानात्मक होने से विधेय नहीं हो सकता यह स्मर्तव्य है। प्रमाण महावाक्य है इसमें सन्देह नहीं। आत्मा की यथार्थता न जानना ही सब दुःखों का बीज है। उसका नाशक अतएव मुक्ति का हेतुभूत जो ज्ञान है वह श्रवणादि साधनों के अनुष्ठान से ही सम्भव है। विधान करने से कोई आत्मा को जान ले, यह हो नहीं सकता। करना या न करना करने वाले पर चाहे निर्भर करे, जानना या न जानना उस पर *निर्भर* नहीं करता। जानने के अनुकूल जो क्रियायें हैं उनके रहते ज्ञान संभव, और उनसे विपरीत क्रियाओं के रहते न जानना सम्भव होता है इसमें सन्देह नहीं, जैसे आँखें बन्द किये रहें तो न दीखना तथा उन्हें खोले रहें तो दीखना सम्भव है; पर हम आँखें खोलने-बन्द करने में स्वतन्त्र होने पर भी देखने-न-देखने में स्वतन्त्र नहीं। यद्यपि यहाँ अन्तर इतना सूक्ष्म है कि प्रायः यह रहस्य समझ नहीं आता तथापि आचार्य श्रीशङ्कर ने इस तथ्य को अनेकधा स्पष्ट किया है। समझने का सरल एक मार्ग यह हो सकता है कि ज्ञानोत्पत्ति में कारण होता है विषयेन्द्रिय-सम्पर्कादि और उस सम्पर्कादि में कारण होता है हमारी चेष्टा; एवं च कारण का कारण होने से ज्ञान के प्रति चेष्टा अन्यथा सिद्ध अतएव कारण नहीं है। लोक में भी 'समझने की कोशिश करो' का अर्थ यही मानते हैं कि एकाग्रतादि पूर्वक तर्क के सहारे अध्ययन आदि साधनों का अनुष्ठान करो। अतः ज्ञान की विधि करना असम्भव है।

---

१. नियमविधिः—'नियमार्था वा श्रुतिः' (मी.द. ४-२-२४)।
पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः, यथा 'व्रीहीनवहन्ती' इत्यादिः। दर्शपौर्णमासाख्ये क्रतौ पुरोडाशाय तण्डुलनिष्पत्त्यर्थं वैतुष्यकरणाय नखविदलनावघातादयः बहुविधा उपायाः सन्ति, तत्र नियमविधिबलात् अवघातद्वारैव कार्यम् सम्पादनीयम्। 'व्रीहीन् अवहन्यादेवे'ति नियमः। एवं पक्षेऽवघातस्य प्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमनेन विधिना क्रियते। दृष्टमदृष्टञ्चेत्युभयमेव नियमविधेः फलम्। नियमविधिविहितेन अवघातादिकर्मणा यथा वैतुष्यरूपं दृष्टफलं, तथैव नियमादृष्टमपि उत्पद्यते।

नियमः परिसङ्ख्या वा विध्यर्थोऽपि भवेद्यतः ।
अनात्मादर्शनिनैव परात्मानमुपास्महे ॥८८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मोपासनमप्यनात्मदर्शनिव्यावृत्त्यैव सिद्ध्यति। आत्मप्रत्ययानां पौनःपुन्येन स्वत एव प्राप्तत्वात् तस्मान्नापूर्वविधिरप्यप्राप्त्यभावादित्यर्थः[१] ॥८८॥

जो तो सिद्धान्त में विधि मानी जाती है वह भी श्रवणादि की है, न कि ज्ञान की; और वह अपूर्व विधि नहीं हो सकती। अतः कहते हैं—**विधि प्रत्यय का यहाँ नियम या परिसंख्या अर्थ हो भी सकता है, क्योंकि हम मुमुक्षु अनात्मदर्शनरूप अन्य व्यापार को छोड़कर परमात्मा की (श्रवणादि रूप) उपासना में प्रवृत्त हैं॥८८।**

अथवा, पूर्वश्लोक में कहा था 'आत्मज्ञानविधायिनीः' जिसका यद्यपि तात्पर्य ज्ञानोपायविधायिका श्रुतियों से था, तथापि वादी यथाश्रुत मानकर 'ज्ञान में विधि होती है' ऐसा अर्थ समझ पूछ बैठा—'आत्मा ऐसी ही उपासना करे' इत्यादि। उसका हृदय था कि यदि एक बार ज्ञान को विधेय मान लिया तो भूतार्थपरकता वचनों की रह न जायेगी और फलतः महावाक्यादि सभी का स्वकीय अर्थ में तात्पर्य समाप्त हो जाने पर उत्तर मीमांसा मात्र की प्रासङ्गिकता उच्छिन्न हो जायेगी। अतः उस प्रश्न का पहले स्पष्ट उत्तर दिया कि ज्ञान में विधि सम्भव नहीं। फिर तुष्यतु न्याय से आचार्य ने कहा कि यदि ज्ञान में विधि मान भी ली जाये तो वह अपूर्व हो नहीं सकती; नियम या परिसंख्या चाहे हों। अपूर्वविधि न स्वीकारने का बीज है उत्तरमीमांसा की सार्थकता में शङ्का न उठने देना। तात्पर्य है कि आत्मबोधक वाक्य स्वार्थ में तात्पर्य वाले हैं अतः आत्मा नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप है यह शास्त्र से पता चल जाता है। हमें लगता है हम बद्ध हैं। जब हैं हम वास्तव में मुक्त तो बद्ध होने की प्रतीति

१. चन्द्रिकायाम्—'अत्र च अनात्मदर्शनस्य प्राबल्याद् आत्मदर्शनस्य अप्राबल्यात् पाक्षिकत्वे नियमविधिः 'आत्मा द्रष्टव्य' इति। यदा च आत्मानात्मदर्शने तुल्यवत् प्राप्तेऽहमित्यात्मस्फुरणाव्यतिरेकेण अनात्मनोऽपि स्फुरणात्, तत्र परिसंख्येति। उभयथाऽपि नापूर्वविधिः, अप्राप्त्यभावादित्यर्थः। नियमपरिसंख्ययोः सम्भवे हेतुमाह—**यत अनात्मादर्शनिनैवेति**। पाक्षिकत्वेन तुल्यत्वेन वाऽऽत्मानात्मदर्शनयोः प्राप्तौ अनात्मदर्शनव्युदासेन आत्मदर्शनाय नियम-परिसंख्ये सम्भवत इत्यर्थः। यद्वा; आत्मदर्शनस्य प्राप्तत्वाद् अपूर्वविध्यसम्भवेऽपि तदुपासनस्य अप्राप्तत्वाद् विधिरस्तु? इत्यत आह—**अनात्मेति**। आत्मोपासनम् अनात्मदर्शनव्युदासेन आत्मदर्शनावृत्त्यैव सिध्यति आत्मदर्शनानां पौनः पुन्येन स्वत एव प्राप्तत्वात्। ततश्च नोपासनेऽपि अपूर्वविधिरित्यर्थः।' इत्युक्तम्॥

यच्चोक्तं 'विश्वासो नान्यतोऽस्ति नः' (१-१५) इति तदपि निद्रातुरचेतसा त्वया स्वप्नायमानेन प्रलपितम्। किं कारणम्? न हि वयं प्रमाणबलेन ऐकात्म्यं प्रतिपद्यामहे। ऐकात्म्यस्य स्वत एवानुभव-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणगम्ये वस्तुनि तदभावादविश्वासो भवति, स्वतस्सिद्धतया सन्ततं प्रकाशमाने पुनरात्मनि न प्रमाणाभावादविश्वास इत्याह—न हीति। **'प्रत्यक्षादीनामनेवंविषयत्वात्तेषां स्वारम्भकविषयो पनिपातित्वादि'त्यादिना (२.१) चायमर्थो वर्णयिष्यत इत्याह**—अतएवेति। **किञ्च प्रमाणादीनां**

केवल अज्ञान से सम्भव होने के कारण आत्मज्ञान हम करें यह हमें किसी विधि के बिना भी प्राप्त ही है। एवं च अत्यन्त अप्राप्त न होने से अपूर्व विधि सम्भव नहीं। और इस प्रकार भूतार्थकतादि स्वपक्ष स्थापित हो गये क्योंकि यदि वह न हो तो आत्मज्ञान विधि के विना प्राप्त ही न हो पायेगा। नियमपक्ष में भी अप्राप्ति दशा में ही विधिसार्थक्य है, प्राप्तिदशा में तो अनुवादकत्व या व्यर्थत्व है ही। यह प्रश्न नहीं उठा सकते कि अविधेय ज्ञान की नियमविधि भी कैसे? क्योंकि यहाँ केवल तुष्यतुन्याय से विधि मानकर प्रवृत्ति है। परिसंख्या पक्ष में तो स्पष्ट ही ज्ञान विधेयकोटि में रहता ही नहीं क्योंकि उस विधि का तात्पर्य इतरनिवृत्ति में ही होता है। यह उत्तरार्ध में श्लोक द्वारा व्यक्त किया गया है। स्मरणीय है कि अप्पयदीक्षितादि ने सिद्धान्तलेशसंग्रहादि में श्रोतव्यविधि प्रसङ्ग में ही इस श्लोक को वार्तिकानुसारी पक्ष के प्रतिपादक रूप से उद्धृत किया है इसलिये इसका प्रथम अर्थ ही रुचिकर है। किन्तु प्रसङ्ग ज्ञान की विधेयता का होने से अचानक साधनों की बात करना सामान्यतः उचित न प्रतीत होने से वैकल्पिक अर्थ 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से सङ्गत समझ लेना चाहिये।

जो तो यह कहा था कि वेद और स्मृति से इतरत्र तुम्हें कहीं विश्वास नहीं (श्लो. १५), वह भी नींद से आतुर चित्त वाले तुमने सोते हुए (बिना कुछ विचार किये) बड़बड़ाया है। कारण यह है कि हम केवल प्रमाण के सहारे अद्वितीय आत्मा का प्रतिपादन नहीं करते क्योंकि एकात्मता स्वयं ही अनुभवमात्र स्वरूप है। प्रमाणगम्य वस्तु भले ही प्रमाण की आकांक्षा करे और प्रमाण न मिलने पर शंकास्पद हो जाये, किन्तु जो स्वयंसिद्ध अनुभव है वह किसी प्रमाण की न अपेक्षा

मात्रात्मकत्वात्। अत एव सर्वप्रमाणावतारासंभवं वक्ष्यति। प्रमाणव्यवस्थायाश्च अनुभवमात्राश्रयत्वात्। अत आह–

वाक्यैकगम्यं यद्वस्तु नान्यस्मात् तत्र विश्वसेत्।
नाऽप्रमेये स्वतः सिद्धे विश्वासः कथमात्मनि ॥८९॥

यदप्युक्तम् 'अन्तरेण विधिम्' (१.१६) इति, तदप्यबुद्धिपूर्वकमिव

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सिद्धेरनुभवाधीनत्वान्नानुभवरूपस्यात्मनः प्रमाणाधीनसिद्धिरित्याह–प्रमाणेति। **(अप्रमेये स्वतः सिद्ध आत्मनि न) कथं विश्वास इत्यन्वयः**[1]**।।८९।।**

दृष्टफलत्वादात्मज्ञानस्य विध्यभावेन फलाभावाभिधानमनुभव-

रखता है और न कभी शंका का विषय बनता है। प्रमाणों की सिद्धि अनुभव से होती है अतः अनुभव का प्रमाणों से सिद्ध होना या न होना कोई कीमत नहीं रखता। 'मैं हूँ, जब हूँ तभी अवश्य ज्ञान है अन्यथा नहीं, मुझ से अधिक और कुछ प्रिय नहीं, बिना मुझसे अतिरिक्त किसी के परामर्श से मुझमें कोई भेद नहीं' इत्यादि आत्मवार्ता अनुभव सिद्ध है, इसके लिये ग्रन्थों को खोजना ही पड़े यह जरूरी नहीं। इसलिये आगे (द्वितीय अध्याय के आरम्भ में) कहेंगे कि आत्मा को वस्तुतः कोई प्रमाण विषय करे यह सम्भव नहीं। सारी प्रमाण-व्यवस्था भी अनुभव पर ही आधारित होने से अनुभवात्मा आत्मा प्रमाण-सापेक्ष कथमपि नहीं हो सकता। इसलिये कहते हैं—**जो वस्तु केवल वाक्य से ही जानी जा सके उसमें (=धर्माधर्मादि में) वाक्य अर्थात् श्रुत्यादि से अन्यत्र विश्वास न होना ठीक है किन्तु जो प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, ऐसे स्वयं अनुभवरूप आत्मा में कैसे विश्वास न हो?**॥८९॥ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि आत्मा अप्रमाणिक वस्तु है, क्योंकि अनुभवरूप प्रमाण से वह साक्षात् सिद्ध है। अनुभव कोई प्रमाण नहीं क्योंकि प्रमाणषट्क में प्रोक्त नहीं यह भी नहीं कह सकते, कारण कि स्वयं भाष्यकार ने जन्मादि सूत्र व्याख्या में कहा है, 'अनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्'। यथासम्भव का तात्पर्य न्यायनिर्णय में बताया है कि अनुभव साक्षात् प्रमाण है व बाकी अनुभव के द्वारा।

जो यह कहा कि बिना विधि के किया हुआ व्यर्थ होता है (श्लोक १६) वह भी

---

१. चन्द्रिकायां योजनान्तरम् 'ना पुरुषः, अप्रमेये स्वतः सिद्धे, अविश्वासो विश्वासरहितः, कथम् आत्मनि स्याद्' इति।

नः प्रतिभाति। यस्मात् कालान्तरफलदायिषु कर्मसु एतद् घटते। आत्मलाभकाल एव फलादायिनि त्वात्मज्ञाने नैतत् समञ्जसमित्याह–

ज्ञानात्फले ह्यवाप्तेस्मिन् प्रत्यक्षे भवघातिनि।
उपकाराय तन्नेति न न्याय्यं भाति नो वचः ।।९०।।

यदपि जैमिनीयं वचनमुद्घाटयसि तदपि तद्विवक्षाऽपरिज्ञानादेवोद्भाव्यते। किं कारणम्? यतो न जैमिनेरयमभिप्रायः 'आम्नायः सर्व एव क्रियार्थ' इति। यदि ह्ययमभिप्रायोऽभविष्यत्

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विरुद्धमित्याह–यदपीत्यादिना।।९०।।

यत्पुनः 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादि'त्युक्तं, तत्राह–यदपि जैमिनीयमिति। **किमत्र प्रमाणमित्याह–**यदि हीति। **सिद्धरूपस्याकर्तुरभोक्तुः प्रत्यगात्मनः प्रतिपादकवेदान्तवाक्यविचाराय पृथक्शास्त्रारम्भान्यथानुपपत्तिरित्यत्र**

बिना समझे-बूझे कहा लगता है। कालान्तर में (अदृष्ट द्वारा) फल देने वाले कर्मादि के विषय में यह बात सही हो सकती है। किन्तु ऐसे आत्मज्ञान के विषय में नहीं जो स्वयं होने मात्र से सफल हो जाता है। भोजन विधिप्रेरित होकर खायें या उसके बिना, भूख तो मिटेगी ही, ऐसे ही ज्ञान चाहे वैध हो चाहे अवैध, अज्ञान हटायेगा ही। यह बात समझाते हैं—**ज्ञान से निश्चित रूप से संसार क्लेश के नाशक इस (मोक्षरूप) फल के अपरोक्ष मिलने पर (भी) 'ज्ञान कोई उपकार नहीं करता' यह (तुम्हारा) वचन हमें संगत नहीं लगता**॥९०॥ यद्यपि पूर्ववादी को फल प्रत्यक्ष नहीं और सिद्धान्ती के अनुभव में उसे श्रद्धा नहीं तथापि इस सामान्य नियम की ओर संकेत है कि ज्ञान अपना फल अज्ञान-निवृत्ति करने के लिये कर्मादि किसी सहाय की आकांक्षा न करने से उत्पन्न होते ही सफल होता है।

और जो तुम जैमिनि के वचन से विरोध दिखाते हो (श्लो. १७) वह भी उनकी पूरी बात समझे बिना ही करते हो। यदि उनका अभिप्राय होता कि पूरा वेद केवल क्रिया के लिये है (क्रिया-विधान में ही तात्पर्य वाला है) तो वे गम्भीर युक्तियों से संजोये हुए, उपनिषदों का अर्थ निर्णय करने वाले तथा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप मात्र की यथार्थता बताने वाले 'शान्तादि होकर परमात्मा को

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र.सू. १.१.१), 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र.सू. १.१.२)–इत्येवमादिब्रह्मवस्तुस्वरूपमात्रयाथात्म्यप्रकाशनपरं गम्भीरन्यायसंदृब्धं सर्ववेदान्तार्थमीमांसनं श्रीमच्छारीरकं नासूत्रयिष्यत्। असूत्रयच्च। तस्माज्जैमिनेरेवायमभिप्रायः–यथैव विधिवाक्यानां स्वार्थमात्रे प्रामाण्यम्, एवमैकात्म्यवाक्यानामपि। अनधिगतवस्तु-परिच्छेदसाम्यात् इति। अत इदमभिधीयते–

अधिचोदनं य[1] आम्नायस्तस्यैव स्यात्क्रियार्थता।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां ब्रूत कर्मार्थिता कथम्॥९१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणमित्यर्थः। तर्हि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादि'त्यस्य सूत्रस्य कोऽर्थः? इत्यत आह–अधिचोदनमिति। कर्मप्रकरणे पठितानां 'सोऽरोदीदि'त्यादि-सिद्धार्थवादवाक्यानामानर्थक्यमनेन सूत्रेणाशङ्क्य, 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरि'ति विधिशेषत्वेन सार्थकत्वन्तेषां सिद्धान्तित-मित्यर्थः॥९१॥

जानने की कोशिश करनी चाहिये, जिससे संसार का जन्मादि होता है वह परमात्मा है' इत्यादि अध्यात्म सूत्र न बनाते, जब कि बनाया है। इसलिये[2] जैमिनि का अभिप्राय यही है कि जैसे अन्यथा अज्ञेय धर्म को बताने वाली विधियों का स्वकीय अर्थ में ही तात्पर्य है वैसे ही अन्यथा अज्ञेय अनन्तादि आत्मा को बताने वाले वाक्यों का स्वार्थ में ही तात्पर्य है। इसलिये यह कहते हैं—**विधि-विषयक वेद ही (= विधायक वेदवाक्य ही) क्रिया में तात्पर्य वाला है। 'तू ब्रह्म है' आदि वाक्यों का तात्पर्य क्रिया में है यह कैसे कह सकते हो?**॥९१॥ जैमिनि

१. अधिचोदनमाम्नाय इति पाठान्तरम्।

२. यद्यपि अध्यात्मसूत्रकार महर्षि बादरायण ही हैं जैमिनि नहीं, तथापि यहाँ वेदार्थ के विषय में दोनों आचार्यों का ऐकमत्य मानकर कहा गया है। ब्रह्मसूत्रों में अनेक मत जैमिनि ने व्यक्त किये हैं जिससे भी मालूम चलता है कि वे अध्यात्मविचार का औचित्य स्वीकारते हैं। श्रीशंकराचार्य ने भी एकत्र (ब्र.सू. ३.३-५३) ऐसा प्रयोग किया है जिससे भ्रम हो सकता है कि धर्ममीमांसा व ब्रह्ममीमांसा के कर्ता अभिन्न हैं। किन्तु वहाँ अभिप्राय यही है कि सूत्रकाररूप से दोनों समान है। शास्त्रद्वैविध्यवैयर्थ्य को युक्तिरूप से सर्वज्ञगुरु ने (संशा. १.७३) भी उपस्थापित किया है।

अपि च, ऐकात्म्यपक्ष इव अदृष्टार्थकर्मसु भवत्पक्षेऽपि प्रवृत्तिर्दुर्लक्ष्या। यतः–

स्वर्गं यियासुर्जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
देहाद्व्युत्थापितस्यैवं कर्तृत्वं जैमिनेः कथम्॥९२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यत्पुनरुक्तम् 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्ययं मन्त्रः कृत्स्नमायुः कर्मण्येव विनियुङ्क्त इति, तदप्ययुक्तम्। आत्मनः परमार्थतः कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्य-भावात्तद्विदः कर्माधिकारासम्भवात्। तस्मादविद्वद्विषय एवायं मन्त्र इति प्रदर्शयितुमाह–अपि चेति। देहान्तरोपभोग्यस्वर्गादिसाधनाग्निहोत्रादि-विध्यन्यथानुपपत्त्या प्रतीतस्य देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तस्य सर्वगतस्य निरवयव-स्यात्मनो न परिस्पन्दपरिणामलक्षणक्रियावेशात्मकं कर्तृत्वमुपपद्यते। न च प्रयत्नाश्रयत्वेनापि कर्तृत्वं; प्रयत्नस्यान्तःकरणधर्मत्वाद्, अनित्यस्य नित्यगुणत्वानुपपत्तेश्चेत्यर्थः॥९२॥

ने भी 'वह रोया' आदि प्रकरण के वाक्यों को ही कर्मशेष माना है, न कि वेदान्त वाक्यों को। यद्यपि तन्त्रवार्तिकादि में वेदान्त वाक्यों के उपयोग पर चिन्तन किया गया है तथापि सूत्रकार ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि वेदान्तों को कर्माग बनाया जाये। बल्कि धर्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा से ही धर्मातिरिक्त वेदार्थ को उन्होंने स्पष्ट घोषित कर दिया, अन्यथा वे वेदार्थ-जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करते। धर्मजिज्ञासा कहकर उन्होंने माना कि वेदार्थ के एकदेश की ही मीमांसा में वे प्रवृत्त हो रहे हैं। जो तो वार्तिकादि का विचार है वह उपास्ति-वाक्यों में यथाकथंचित् संगत है पर सिद्धार्थबोधक महावाक्यादि को कर्म से सम्बन्ध वाला मानना उपनिषदों की सही मीमांसा न करने का ही फल है। समुच्चयवाद में आग्रह होने से ऐसा होना स्वाभाविक है।

किं च एक ही आत्मतत्त्व स्वीकारने वालों के पक्ष की तरह तुम्हारे पक्ष में भी भावी-फल देने वाले कर्मों में प्रवृत्ति सम्भव नहीं। कारण यह है कि—**'स्वर्ग जाने की इच्छा वाला जैसा बताया गया है वैसा कर्म करे' ऐसा कहते ही देह छोड़कर स्वर्ग जाने वाले अतः देह से भिन्न आत्मा को जैमिनि ने कर्ता बताया है, जबकि देहादि से रहित शुद्ध आत्मा में कर्तापन किसी भी तरह बताया जा नहीं सकता**॥९२॥

न च प्रत्याख्याताशेषशरीरादिकर्मसाधनस्वभावस्याऽऽत्ममात्रस्य कर्मस्वधिकारः। यस्मात्–

सर्वप्रमाणासंभाव्यो ह्यहंवृत्त्यैकसाधनः।
युष्मदर्थमनादित्सुर्जैमिनिः प्रेर्यते कथम् ॥९३॥

प्रवृत्तिकारणाभावाच्च। यस्मात्–

सुखदुःखादिभिर्योग आत्मनो नाहमेक्ष्यते।
पराक्त्वात् प्रत्यगात्मत्वाज्जैमिनिः प्रेर्यते कथम् ॥९४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं कर्त्रन्वयं[1] निराकृत्य अधिकारान्वयं निराचष्टे–न चेति। **प्रत्याख्यातमशेषं शरीरादिलक्षणं कर्मसाधनं येन तत्स्वभावस्यात एवात्ममात्रस्य। सर्वप्रमाणागोचरश्चेत् कथं तर्हि व्यवह्रियत इत्यत आह**–अहं वृत्त्यैकसाधन **इति। युष्मदर्थमहंकारादिलक्षणमनादित्सुः** परमार्थतस्तत्संसर्गरहितो जैमिनि**र्जीवः** प्रेर्यते **प्रवर्त्यते विधिना** कथं, **न कथञ्चिदित्यर्थः।।९३।।**

इदानीं भोक्त्रन्वयं निराचष्टे–(प्रवृत्तीत्यादिना।)प्रवृत्तिकारणं **प्रयोजनम्। कथं भोक्तृत्वाभावः, सुख्यहं दुःख्यहमित्यहंप्रत्ययेनात्मनस्सुखित्वदुःखित्वादि-सम्बन्धानुभवादिति चेद्? मैवं। सुखदुःखादीनां साक्ष्यत्वेन पराक्त्वादात्मनश्च साक्षित्वेन प्रत्यक्त्वात्तेषां परागूपान्तःकरणपरिणामत्वादात्मधर्मत्वानुपपत्ते-रित्याह**–सुखेति।।९४।।

साथ ही, कर्म के साधनभूत शरीर आदि समस्त उपाधियों से शून्य आत्ममात्र का कर्मों में अधिकार भी नहीं है। क्योंकि—**सब प्रमाणों का विषय, केवल 'मैं' इस अनुभवरूप से सिद्ध आत्मा यदि अहंकारादि उपाधि को ग्रहण न करे तो चाहे वह जैमिनि का ही आत्मा हो, विधि द्वारा कैसे प्रेरित किया जा सकता है?**।।९३।। बिना अहमादि अध्यास के नियोज्यता सिद्ध नहीं होती इत्यादि अध्यास भाष्य में स्पष्ट है। आत्ममात्र का कहना पर्याप्त होने पर जैमिनि के आत्मा का कथन उस मत वाले के उपालम्भ के लिये है।

आत्मा प्रवृत्ति करे इसका कोई कारण न होने से भी आत्मा कर्म कर नहीं सकता।

---

१. विधि का अर्थ है श्रेयःसाधनता। अतः विधि सुनकर 'किसका श्रेयः' प्रश्न उठता है। श्रेयःके निर्णय के लिये भोक्ता समझना पड़ता है क्योंकि श्रेयः का भोग करने वाला ही

किञ्च–

न तावद्योग एवास्ति शरीरेणात्मनः सदा।
विषयैर्दूरतो नास्ति स्वर्गादौ स्यात्कथं सुखम् ।।९५।।

यस्मादन्यथा नोपपद्यते–

नराभिमानिनं[1] तस्मात्कारकाद्यात्मदर्शिनम्।
मन्त्र आहोररीकृत्य 'कुर्वन्नि'ति न् निर्द्वयम् ।।९६।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भोगसाधनैः सम्बन्धासम्भवादप्यात्मनोऽहंप्रत्ययालम्बनेन शरीरेणापि न सम्बन्धः। अहं प्रत्ययानालम्बनैः पुनर्विषयैश्शब्दादिभिरतिशयेन नास्ति सम्बन्धः। अतः कथमस्य सम्बन्धाय प्रवृत्तिस्स्यादिति आह–किञ्चेति।।९५।।

एवं कर्त्रन्वयाधिकारान्वयभोक्त्रन्वयानामात्मनः परमार्थतोऽसम्भवाद् अनाद्यविद्यावशाद् देहेन्द्रियादावहं-ममेति मिथ्याभिमानवत एव कर्माधिकारो

आत्मा के लिये कर्मसाध्य कोई प्रयोजन इसलिये नहीं है क्योंकि—**सुख-दुःख आदि से आत्मा का नहीं अन्तःकरण का ही सम्बन्ध होता है क्योंकि सुखादि ज्ञेय हैं अतः द्रष्टा आत्मा से अलग है। ऐसी हालत में जैमिनि का आत्मा भी कैसे प्रेरित किया जा सकता है? (जब आत्ममात्र प्रेरणीय नहीं है तो आत्मविशेष का प्रेरणीय होना असम्भव है।)**।।९४।। और भी—**देहादि से आत्मा का सम्बन्ध ही नहीं है, विषय से तो सम्बन्ध और दूर की बात है! यह स्थिति होने पर स्वर्गादि में सुखसम्बन्ध कैसे होगा जिसके लिये कर्म करे?**।।९५।।

कर्तृत्व, अधिकार और भोक्तृत्व आत्मा में असम्भव होने से जो तुमने मन्त्र से विरोध कहा था, (श्लो. १८), वह भी ठीक नहीं—**'मैं नर हूँ' ऐसे निश्चय वाले स्वयं**

श्रेयउपाय को अपना समझेगा, 'मेरा श्रेयउपाय है' ऐसा समझेगा। यों भोक्ता का विधि से अन्वय अर्थात् सम्बन्ध होता है। तदनन्तर 'मेरा श्रेयउपाय होने से मैं इसे करूँ' यों कर्तारूप से अन्वय होता है। अधिकार में हेतु 'अनुपादेय-विशेषण' होता है। विधि से किया जानेवाला अनुष्ठेय और उसके विशेषणों से अन्य जो विधि के सम्बन्धी वे 'अनुपादेय' कहे जाते हैं, जैसे स्वर्गकाम। इससे पता लगे अधिकारीका विधि से सम्बन्ध होता ही है। विवरण पृ. ३९३ आदि में यह विषय द्रष्टव्य है।

१. नरत्वाभिमानिनं मनुष्यत्वाभिमानिनमिति भावः।

यच्चोक्तम् 'विरहय्य' (१-१९) इति, तदपि न सम्यगेव। तथापि तु न या काचित् क्रिया यत्र क्व चाध्याहरणीया, किं तु या यत्राभिप्रेतसम्बन्धं घटयितुं शक्नोति, आकाङ्क्षां च वाक्यस्य पूरयति, सैवाध्याहरणीया। एवंविशिष्टा च क्रिया अस्माभिरभ्युपगतैव। सा तूपादित्सितवाक्यार्थविरोधिन्येव, नाभूतार्थप्रादुर्भावफलेति। षड्भावर्[1]-विकाररहितात्मवस्तुनो निर्धूताशेषद्वैतानर्थस्य, अपराधीन्प्रकाशस्य,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

मन्त्रेण प्रदर्श्यत इति फलितमित्याह–यस्मादित्यादिना।।९६।।

तदप्यसम्यगेवेति[2]। **अयम्भावः**–**'फलिता अमी' 'रमणीयमिदं वचनमि'त्यादावन्तरेणापि क्रियापदं वाक्यार्थप्रतीतेर्दर्शनान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तौ क्रियापदापेक्षेति। तत्रापि, 'पश्य गच्छे'ति, वा क्रियापदं प्रयोक्तव्यमेव, तन्न प्रयुज्यते, 'द्वारं विव्रियताम्' इत्यर्थे 'द्वारमि'त्येव प्रयोगाद् इत्याशाङ्क्य; एवमपि, तत्तद्वाक्यार्थप्रतिपत्त्युपयोगिक्रियाभिधायिन एव पदस्याध्याहरणीयत्वात्, प्रवर्तकक्रियापदमेवाध्याहरणीयमिति नियन्तुमशक्यत्वाद् वेदान्तवाक्ये 'असि, असि' इति क्रियापदस्याभ्युपगतत्वान्न कश्चिद्दोष इत्याह**–तथापि त्विति। **नाभूतेति। उत्पत्तिविकृत्यादिफला एव न भवन्तीति यावत्। तत्र हेतुमाह**–षड् भावेति।

को कर्त्ता स्वीकारने वाले को ही दृष्टि में रख 'करते हुए' (ईश. २) आदि मन्त्र है, न कि अद्वितीय आत्मा को स्वीकार कर।।९६।।

जो यह कहा था कि क्रिया के बिना वाक्य नहीं हो सकता (श्लो. १९), वह भी अनुचित है। पहली बात तो यह कि क्रिया के बिना भी वाक्य हो सकता है और फिर अगर क्रिया का होना जरूरी मानें भी, तो जो कोई क्रिया जहाँ कहीं तो सम्बद्ध होगी नहीं। अभिप्रेत सम्बन्ध को स्थापित करने में समर्थ होते हुए वाक्य के तात्पर्य को पूरा करने वाली क्रिया ही वाक्य में लगेगी। इस प्रकार की क्रिया तो हम भी मानते ही हैं क्योंकि वह बताये जाने वाले वाक्य के अर्थ से विरुद्ध न होने के कारण अयथार्थ फल को उत्पन्न नहीं करेगी। पैदा होना, बने रहना, बढ़ना, बदलना, बिगड़ना और समाप्त होना—इन छहों भावविकारों से रहित, समग्र दुःखरूप अनर्थ से अस्पृष्ट, स्वयंप्रकाश

---

१. जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यतीति षड्भावविकाराः।

२. तदपि न सम्यगेवेति मूलम् मुद्रितपुस्तके वर्तते। क्लेशापहारिणीकारोऽत्र 'तदपि नः सम्यगेव' इति पपाठ।

विजिज्ञापयिषितत्वात् 'असि', 'अस्मि' इत्यादिक्रियापदं स्वमहिमसिद्धार्थप्रतिपादनसमर्थम् अभ्युपगन्तव्यम्, न विपरीतार्थप्रतिपादनपरमिति।

धावेदिति न दानार्थे पदं यद्वत् प्रयुज्यते।
एधीत्यादि तथा नेच्छेत् स्वतःसिद्धार्थवाचिनि ॥९७॥

न च यथोक्तवस्तुवृत्तप्रतिपादनव्यतिरेकेण तत्त्वमस्यादिवाक्यं वाक्यार्थान्तरं वक्तीति शक्यमध्यवसातुमित्याह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अनर्थनिवृत्यर्थमपि न क्रियाध्याहारापेक्षेत्याह–निर्धूतेति। **तत्र प्रतीत्यर्थमपेक्ष्यतामित्यत आह**–[1]अपराधीनस्येति। **उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेनोपपादयति**–धावेदिति। **'हिरण्यं दद्याद्' इत्यस्मिन्नर्थे 'हिरण्यं धावेद्' इत्ययोग्यत्वाद् यथा न प्रयुज्यते तथा एधीत्यादि पदं[2] वृद्ध्यादिविकाररहितात्मवस्तुप्रतिपादकवाक्ये न प्रयोक्तव्यमित्यर्थः।।९७।।**

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यानां स्वतस्सिद्धार्थवादित्वमसिद्धं, तेषां तदहमस्मीत्युपासीतेत्युपासनाविधिपरत्वादिति? तत्राह–न चेति। **उपक्रमोपसंहारादि-**

आत्मा बताया जा रहा है। अतः उसे बताने वाले वाक्य में 'हो', 'हूँ' आदि क्रियायें माननी पड़ेंगी जो बिना दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होना बताती हैं। विवक्षितार्थ का विरोध करने वाली क्रिया व्यर्थ है। (द्रष्टव्य संक्षेपशारीरक १.२८०-३)

जैसे 'स्वर्ण दो' कहने के लिये 'स्वर्ण दौड़े' नहीं कहा जाता क्योंकि वैसा कहने से तात्पर्य सिद्ध नहीं होता, वैसे ही 'है'–मात्र को बतानेके प्रसङ्ग में 'होना' आदि बताने वाली क्रियाओं का प्रयोग नहीं किया जा सकता।।९७।। 'अस् भुवि' का लोण्मध्यमैकवचन में 'एधि' रूप बनता है। 'है' से भूतार्थक बोध होता है व 'होना' आदि से भव्यार्थक, यह विशेष है। आत्मा भूतवस्तु है अर्थात् हमेशा विद्यमान है, क्रियादि के फलस्वरूप होने वाली वस्तु नहीं है। उसे भूतवाचक शब्दों से समझाना ही संगत है अन्यथा उसके बारे में भ्रम ही होना स्वाभाविक है, यह तात्पर्य है।

निष्कर्मा आत्मा के स्वरूपमात्र को बताने के अतिरिक्त 'तू ब्रह्म है' आदि वाक्य

---

१. अपराधीनेतीति सुवचम्। २. आदिपदेन भवादिबोध्यम्।

तत्त्वमस्यादिवाक्यानां स्वतःसिद्धार्थबोधनात् ।
अर्थान्तरं न संद्रष्टुं शक्यते त्रिदशैरपि ॥९८॥
यस्मादेवम्–
अतः सर्वाश्रमाणां तु वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
स्वनुष्ठितैर्न मुक्तिः स्याज्ज्ञानादेव हि सा यतः ॥९९॥
तस्माच्च कारणात् एतदप्युपपन्नम्–
स्वमनोरथसंकल्पप्तप्रज्ञाध्मातधियामतः ।
श्रोत्रियेष्वेव वाचस्ताः शोभन्ते नात्मवेदिषु ॥१००॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमच्छङ्करभगवत्पादशिष्यश्रीसुरेश्वराचार्यविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धौ ससंबन्धोक्तौ प्रथमोऽध्यायः ॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

षड्विधलिङ्गाधिगतपरिनिष्ठितवस्तुमात्रप्रतिपादनतात्पर्यविरोधादित्यर्थः ॥९८॥

यत्पुनः पूर्ववादिनोक्तम् 'अतस्सर्वाश्रमाणाम्' इति, तत्राह–अत इति ॥९९॥

तत्र चास्माभिर्यदुक्तम् 'इति हृष्टधियाम्' इत्यादि, तदपि युक्तमेवोक्तमित्युपसंहरति–तस्माच्चेति ॥१००॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यचित्सुखमुनिविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धिटीकाभावतत्त्वप्रकाशिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥

उपासना आदि कोई और अर्थ नहीं रखते। यह बात उपक्रमादि लिंगों से सिद्ध होती है तथा उपनिषद्वाक्यों के तात्पर्य निर्णायक ब्रह्मसूत्रों में विस्तार से बतायी गयी है।—**'तू ब्रह्म है' आदि वाक्यों का स्वप्रकाश आत्मा को बताने से अतिरिक्त कोई और तात्पर्य देवता भी नहीं बता सकते॥९८॥**

क्योंकि ऐसा है—**इसलिये 'वाणी, मन और शरीर द्वारा भली प्रकार किये कर्मों से सब आश्रम वाले मुक्त हो जायेंगे'** (श्लो. २१) **यह बात गलत है, कारण कि मुक्ति केवल ज्ञान से होती है॥९९॥**

अतः यह भी ठीक ही है कि—**प्रमाणादि पर अनाधारित, केवल अपने मनोरथ के अनुकूल निश्चय वालों की यह बात कि 'कर्म से मोक्ष होता है',**

कर्मकाण्डियों में ही शोभा देती है, न कि आत्मा को समझने वाले श्रीपरमहंसों में॥१००॥ अथवा यहाँ आत्मज्ञस्मरणरूप मंगल अध्यायान्त में है। अपना मनोरथरूप (अर्थात् अभीप्सित) जो योग्य निश्चय है उस अपने अकर्तृत्वात्मबोध से विकसित बुद्धि वालों का उपदेश, 'यह सब आत्मा नहीं है' ऐसा जानने वाले वेदार्थज्ञाताओं में ही सफल होता है—यह श्लोकार्थ है। इस पक्ष में 'अनात्मवेदिषु' छेद करना चाहिये।

इस प्रकार प्रथम अध्याय में विस्तार से कर्मवाद का तिलशः खण्डन कर वेदान्तवेद्य आत्मा के सफल ज्ञानकी प्रतिष्ठा कर दी गयी है।

॥ इति प्रथम अध्याय ॥

अकर्मलभ्योऽकर्मात्माऽकर्मिभिः कृतकर्मभिः ।
लब्धोऽपि लभ्यते लाभो न ततः पर उच्यते ॥

●

ॐ

द्वितीयोऽध्यायः

प्रत्यक्षादीनामनेवंविषयत्वात्, तेषां स्वारम्भकविषयोपनिपातित्वात्,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वृत्तसङ्कीर्तनपूर्वकं वर्तिष्यमाणस्याध्यायस्य तात्पर्यार्थमाह– प्रत्यक्षादीनामिति। **किंविषयाणि तानि तर्हीति, तदाह–**तेषामिति। **स्वारम्भका विषयाश्शब्दादयश्श्रोत्रादीनां भौतिकत्वात्। तथाहि, श्रोत्रं भौतिकं बाह्येन्द्रियत्वात् चक्षुरादिवत्। तथा श्रोत्रं ग्राह्यजातीयविशेषगुणवद्द्रव्यारब्धं बाह्येन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिवत्। तथा चक्षुस्तैजसं रसाग्राहकत्वे सति[2] रूपग्राहकत्वात् प्रदीपवत्, रसनमाप्यं रूपाग्राहकत्वे सति रसाभिव्यञ्जकद्रव्यत्वादास्योदकवत् इत्यादिप्रयोगो[3] द्रष्टव्यः। आत्मा**

हिन्दी व्याख्या

द्वैताधिष्ठानमद्वैतं चलाचलनिकेतनम्।
मतं नमत मतिभिर्नतिभिर्नुतिभिर्वरम्॥

वेद से भिन्न चक्षु आदि प्रमाण अद्वितीय आत्मतत्त्व को विषय नहीं करते क्योंकि वे अपने कारणभूत तेज आदि को ही विषय करते हैं जब कि आत्मा

---

१. प्रत्यक्षादिशब्देनात्र श्रोत्रादीनां ग्रहणम्। आदिशब्देनानुमानादीनामपि ग्रहणं भवति।

२. मनोव्यावृत्तये सत्यन्तम्।

३. 'यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्। एवं सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनम्। एवं सर्वेषां गन्धानां नासिकैकायनम्। एवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनम्' इति श्रुतिरपि श्रोत्रादीनां भौतिकत्वे प्रमाणम्। द्रष्टव्य बृ.उ. २.४.११ 'विषयस्यैव स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम' (भाष्य)।

आत्मनश्च अशेषप्रमेयवैलक्षण्यात् सर्वानर्थैकहेत्वज्ञानापनोदि-ज्ञानदिवाकरोदयहेतुत्वं वस्तुमात्रयाथात्म्यप्रकाशनपटीयसस्तत्त्व-मस्यादेर्वचस एवेति बह्वीभिरुपपत्तिभिः प्रदर्शितम्। अतस्तदर्थाप्रतिपत्तौ

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पुनश्शब्दादिशून्यत्वात् सर्वविषयित्वाच्च न तेषां विषय इत्याह–आत्मनश्चेति। **कथं तर्हि तदज्ञाननिवृत्तिरित्यत आह–**सर्वेति।

एवं प्रथमाध्यायेन समन्वये प्रदर्शिते तत्र प्रत्यक्षादिविरोधाशंकायां तत्परिहाराय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यत इत्याह–अत इति। **तस्य वाक्यस्यार्थाप्रतिपत्तौ यत्कारणं पदार्थापरिज्ञानं तस्य प्रत्यक्षादिविरोधा-**

तेज आदि रूप नहीं है। सारे प्रमेय संसार से विलक्षण ही स्वरूप है आत्मा का। दुःख आदि सारे अनर्थ का मूल है अपने याथार्थ्य को न जानना जो स्वयं को जान लेना रूप सूर्य के उदय से ही दूर हो सकता है। परमात्मा से जीवात्मा के अभेद को ही यथावत् बताने में कुशल 'परमात्मा तू है' आदि वेदान्त वाक्यों से ही आत्मयाथार्थ्यज्ञान हो सकता है। यह विषय अनेक युक्तियों द्वारा अब तक बताया।

इस तात्पर्य का स्पष्ट भान न होने का कारण है असम्भवतानिश्चय और विपरीत समझ, जो इसलिये दृढ है कि प्रत्यक्षादि उक्त शास्त्रतात्पर्य का विरोध करते प्रतीत होते हैं। उस कारण को हटवाने के लिये दूसरा अध्याय आरम्भ करते हैं। यद्यपि वेदान्तों का समन्वय जीव-ब्रह्म की एकता में सिद्ध हो चुका है तथापि अन्य प्रमाण के अविरोध को बताना भी आवश्यक है कारण कि परमात्मप्रसंग अनुभव कराने के लिये है। जो यहाँ बताया जाता है उसका साक्षात् अनुभव करें तभी यह चर्चा सफल है अन्यथा शब्दमात्र समझने से कोई पुमर्थसिद्धि नहीं होती। अनुभव में विरोधी अनुभव आड़े आता है अतः उस विरोधी अनुभव को या समाप्त किया जाये और या यह निश्चित किया जाये कि वह विरोधी नहीं है। प्रथम प्रक्रिया योगियों की है पर उसमें कमी यह है कि यावत्प्रारब्ध प्रपंचानुभूति को सर्वथा हटाया नहीं जा सकता। इसलिये श्रीशङ्कराचार्यमतानुयायियों की प्रक्रिया है उस अनुभव का अविरोध सिद्ध कर देना। जैसे दाढ़ निकला हुआ साँप डँस नहीं सकता

यत्कारणम्, तदपनयनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते–

श्रावितो[1] वेत्ति वाक्यार्थं न चेत् तत्त्वमसीत्यतः ।
त्वंपदार्थानभिज्ञत्वादतस्तत्प्रक्रियोच्यते ॥१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

शङ्कासम्भूतासम्भावना-विपरीतभावना-निरासेन अपनयनाय अध्यायारम्भ इत्यर्थः। तत्त्वमसीत्यतो **वाक्यादिति शेषः।** तत्प्रक्रिया **तस्य त्वंपदार्थस्य प्रतिपादनप्रक्रियेति यावत्।।१।।**

ऐसे अविरुद्ध अनुभव असम्भवतादि का निश्चय नहीं करा सकता। इस प्रकार प्रथम व द्वितीय अध्यायों की संगति स्पष्ट है।

सुना दिया जाने पर भी 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से यदि (श्रोता) वाक्य का अभिप्राय नहीं समझता है, कारण कि (तत् एवं) त्वम् पदार्थ से अपरिचित है, (तो) इस (परिचय) के लिये पदार्थ-प्रतिपादन का ढंग (अब इस ग्रन्थ में) बताया जा रहा है।।१।। वेदान्तशास्त्र में 'तू'-शब्द अपने को बद्ध मानने वाले जीव का वाचक और 'वह'-शब्द सारे संसार को चलाने वाले ईश्वर का वाचक है। ये दोनों संसार या मन आदि किसी विशेष को लेकर निरूपित होते हैं। दोनों विशेषों को छोड़कर ही अपने शुद्ध सत्-चेतन-आनन्द स्वरूप से तू अर्थात् जीव और वह अर्थात् ईश्वर की एकता है। जैसे कमरे की पोल और घड़े की पोल कमरे को और घड़े को लेकर अलग कही जाने पर भी पोलरूप से एक ही है, उसी तरह व्यापक और संकुचित निरूपणों को लेकर आत्मा में भेद प्रतीत होने पर भी आत्मरूप से अभेद ही है।

प्रत्यक्षादि प्रमाण आत्मा को विषय नहीं करते अतः 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार परमात्मा का अखण्ड ज्ञान वेदांत वाक्य से ही होता है, इस बात को भली भाँति समझाने के लिये वाक्य से भिन्न साधन से भी ज्ञान की सम्भावना को प्रश्न के रूप में उपस्थित करते हैं—

कोई विशुद्ध बुद्धि वाला समग्र जड संसार को विचार से सिद्ध न होने वाला जानकर अपनी अनन्तता को समझ लेता है, जैसे बृहदारण्यक में

---

१. तत्त्वमसीति (वाक्यं) श्रावितः अतः वाक्यार्थं न वेत्ति चेत् त्वंपदार्थानभिज्ञत्वान्न वेत्ति। 'त्वंपदेति' तत्पदस्याप्युपलक्षणमिति सारार्थकारः।

योयम् अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थः, तत्प्रतिपत्तिर्वाक्यादेवेति प्रत्यक्षादीनामनेवंविषयत्वाद् इत्यवादिषम्। तस्य विशुद्ध्यर्थमनैकान्तिकत्वं पूर्वपक्षत्वेनोपस्थाप्यते–

कृत्स्नानात्मनिवृत्तौ च कश्चिदाप्नोति निर्वृतिम् ।
श्रुतवाक्यस्मृतेश्चान्यः स्मार्यते च वचोऽपरः ॥२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वाक्यादेवेत्यत्र **इति-शब्दः प्रकारवचनः।** अहं ब्रह्मेत्येवम्प्रकारा **प्रतिपत्तिरित्यर्थः।** वाक्यव्यतिरेकेणापि **प्रतिपत्तिदर्शनान्न वाक्यस्य नियतं हेतुत्वमित्यनैकान्तिकत्वमेव दर्शयति**–कृत्स्नेति। **कृत्स्नप्रपञ्चविलापने भेदकोपाधेरभावाद् एकत्वमन्तरेणापि वाक्यं प्रतिपद्यते, यथा विराडात्मा 'यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमि' इति। स्वयमेवं श्रुतं वाक्यं ध्यात्वा (स्मृत्वा) कश्चित्प्रतिपद्यते। यथा भृगुः 'यतो वा इमानी'ति वाक्यस्मृतेः आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादिति। कश्चिच्चाचार्येण वाक्यं** स्मार्यते[1]। **यथा श्वेतकेतुर्नव-कृत्वस्तत्त्वमसि तत्त्वमसीति। तयोरुभयोः वाक्यस्मरणमेव हेतुर्न वाक्यमिति त्रिष्वपि पक्षेषु न वाक्यं हेतुरित्यर्थः।।२।।**

(१.४.२) 'क्योंकि मुझसे अलग कुछ नहीं इसलिये मुझे किसी से डर नहीं' यह विराट् को समझ में आया। कोई साधक सुने हुए वाक्य को याद करने से ही अपनी वास्तविकता समझ लेता है, जैसे तैत्तिरीय में (३.१.१) 'जिससे सब उत्पन्न होता है, जिसमें रहता है व जिसमें लीन होता है', इसे समझते हुए 'परमात्मा आनन्द है' यह भृगु ने जान लिया। कोई गुरु से वाक्य सुनकर याद दिलाने पर वाक्य के अर्थ की असम्भवता और उसके विपरीत अर्थ की समझ हटाने पर सीधे ही मैं परम ब्रह्म हूँ यह समझ लेता है जैसे छान्दोग्य में (६) श्वेतकेतु ने समझा।।२।। अतः इन तीनों प्रकारों में वाक्य साक्षात् कारण है यह सिद्ध नहीं होता। पहले प्रकार में तो वाक्य को सुना भी नहीं अतः उसकी कारणता तो नहीं ही है।

इस प्रकार वाक्य के बिना ज्ञान सम्भव है। पर वाक्य सुनने से भी ज्ञान होता है

---

१. असम्भावना-विपरीतभावनानिराकरणमुखेन अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसीत्यादि वाक्यं स्मार्यते इति भावः।

एतत्प्रसङ्गेन श्रोत्रन्तरोपन्यासमुभयत्रापि सम्भावनायाह[1]–

वाक्यश्रवणमात्राच्च पिशाचकवदाप्नुयात्।
त्रिषु यादृच्छिकी सिद्धिः[2] स्मार्यमाणे तु निश्चिता ॥३॥
नायं अनैकान्तिको हेतुः। यतः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कथं तर्हि वाक्यहेतुत्वाशङ्केति? तत्राह–एतत्प्रसङ्गेनेति। **वाक्यव्यतिरेकेण विराट्प्रभृतीनां त्रयाणां ज्ञानं दृष्टम्। पिशाचकस्य पुनः वाक्यश्रवणादपि तत् दृष्टमित्युभयत्रापि ज्ञानोत्पत्तिदर्शनान्न वाक्यमेव नियमेन ज्ञानजन्महेतुरिति ज्ञापनायेत्यर्थः।** पिशाचकवदिति। **पिशाचकनामा कश्चिदरण्यं गतस्तत्राधीयानानां तत्त्वमस्यादिवाक्यमाकर्ण्य जन्मान्तरसंस्कारबलात्तदैव वाक्यार्थं प्रतिपेद इति लोके प्रसिद्धमित्यर्थः। अयं पुनरत्र विशेष इत्याह**–त्रिष्विति।।३।।

इदानीं सिद्धान्तयति–नायमिति। **लिङ्गस्मरणस्य गमकत्वेऽपि यथा न लिङ्गस्यागमकत्वमेवं वाक्यस्मरणस्य गमकत्वेऽपि न वाक्यागमकत्वं,**

अतः वाक्य ही ज्ञान का कारण है यह नहीं कह सकते।

पिशाचक[3] नामक व्यक्ति ने वेदांत वाक्य सुनने से ही ज्ञान पा लिया था। विराट्, भृगु व श्वेतकेतु के सन्दर्भ में वाक्य से अन्य साधन से ज्ञान हुआ था। सुने वाक्य के विचार से निश्चित रूप से ज्ञान की सिद्धि होती है; सुने वाक्य के विचार की साधनता को नकारा नहीं जा सकता॥३॥ यहाँ स्पष्ट किया कि ज्ञानका साधन वाक्य भी है व अन्य साधन भी हैं, वाक्य ही एकमात्र साधन हो, ऐसी बात नहीं। यह शंका का विस्तार हुआ। अब इसका उत्तर देंगे।

वाक्यरूप ज्ञान का कारण अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचार वाला नहीं है, नियम से ही इसकी कारणता ध्रुव है। क्योंकि—**जिस कारण से कोई भी व्यक्ति वाक्य के बिना वाक्य के तात्पर्य को भली भाँति नहीं समझ सकता, (उसी**

---

१. सांशयिकत्वदर्शनायेति भावः।
२. ब्रह्मात्माभेदप्रतीतिरित्यर्थः।
३. यथा पिशाचः केनचिदमुकशर्मासीति बोधितमात्मानं जानाति, तथेति दृष्टान्तयोजनां पश्यन्ति केचित्।

सर्वोऽयं महिमा ज्ञेयो वाक्यस्यैव यथोदितः।
वाक्यार्थं न ह्यृते वाक्यात् कश्चिज्जानाति तत्त्वतः ॥४॥

वाक्यं च प्रतिपादनाय प्रवृत्तं सत्प्रतिपादयत्येव। सर्वप्रमाणानामपि एवं वृत्तत्वात्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्मरणस्योभयत्रापि द्वारत्वादित्याह–सर्वोऽयमिति। **यत्पुनरुक्तं 'कृत्स्नानात्म-निवृत्ता'विति, तत्रापि प्रपञ्चाभावव्यतिरिक्तनिरतिशयानन्दरूपब्रह्माधिगतिर्न वाक्यं विना सम्भवति, तस्य वेदान्तवाक्यव्यतिरिक्तप्रमाणागोचरत्वादित्याह**–वाक्यार्थमिति।।४।।

ननु वाक्यमपि प्रमाणान्तरसम्वादाभावात् स्वार्थं निश्चाययितुं न शक्नोतीत्यत आह–वाक्यञ्चेति। **(ननु न) स्वविषयावबोधनाय प्रवृत्तानां प्रमाणानां प्रमाणान्तरसंवादाभावादप्रतिपादकत्वं ब्रूमः, (किन्तु) तद्विरुद्धार्थत्वादिति?**

कारण से) बताये गये प्रकारों से ज्ञान की उत्पत्ति वाक्य की महिमा से होती है, यह समझना चाहिये॥४॥ जैसे धुएँ आदि चिह्नों की याद से ज्ञान हो जाता है इतने मात्र से धुएँ से ज्ञान नहीं होता यह नहीं कह सकते, प्रत्युत प्रथम ज्ञान धुएँ से ही होता है यह निश्चित है, उसी प्रकार वाक्य को याद करने से ज्ञान की सम्भावना होने पर भी वाक्य की ज्ञान-हेतुता नकारी नहीं जा सकती। इतना ही नहीं, आनन्दरूप ब्रह्म में वेदान्त से भिन्न कोई प्रमाण न होने से साधनांतर से जाना ही नहीं जा सकता।

वाक्य भी जिस तात्पर्य को बताने में गतार्थ है उसे किसी अन्य सहारे के बिना बता ही देता है क्योंकि सभी प्रमाणों का यह स्वभाव है कि अपने विषय को स्वयं ही प्रकाशित कर देते हैं। आँख को रूप दिखाने के लिये कान की जरूरत नहीं पड़ती। यद्यपि दूसरे प्रमाण इस विषय को पुष्ट करने वाले आवश्यक नहीं हैं, तथापि अन्य प्रमाण उक्त जीव-आत्म-अभेद के विरुद्ध तो हैं ही, अतएव 'तू ब्रह्म है' आदि वाक्य अपने तात्पर्य को सिद्ध नहीं कर पाता। यह शंका होने पर कहते हैं—

'तू सद्ब्रह्म है' इस वाक्य को समझने वाले के लिये इस वाक्य के अर्थ का 'मैं अमुक' इस ज्ञान के विषय शरीर से, 'मैं' इस ज्ञान के विषय न बनने वाले इन्द्रियादिओं से, 'मैं' इस अहंकार के कारण-भूत अन्तरात्मा से, व दुःख

नाहंग्राह्ये न तद्धीने न प्रत्यङ् नापि दुःखिनि।
विरोधः सदसीत्यस्माद् वाक्याभिज्ञस्य जायते ॥५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तत्राह–नाहमिति। अहं ग्राह्यमहं मनुष्य इत्यहं प्रत्ययवेद्यं शरीरं तस्मिंस्तत्त्वमसीति वाक्यश्रवणाद्विरोधप्रतिभासो न भवति, तस्य त्वं-पदानभिधेयतया तत्पदार्थेन सामानाधिकरण्यानङ्गीकारात्। तद्धीने इन्द्रियवर्गे, चक्षुषा पश्यामि श्रोत्रेण शृणोमीत्येवं करणत्वेनानुभवादहं चक्षुः पश्यामीत्यननुभवाच्च, तस्याहं-प्रत्ययाविषयत्वेनाहं प्रत्ययहीनत्वात्तस्मिन्नपि न विरोधप्रतिभासस्तेनापि सामानाधिकरण्यात्तदङ्गीकारात्[1]। तथा प्रत्यगात्मनि[2] अप्यज्ञानसाक्षिणि न विरोधबुद्धिस्त्वंपदलक्ष्यस्य तस्य तत्पदलक्षणैकत्वाविरोधात्। तथा नापि दुःखिनि सुखदुःखादिधर्मवदन्तःकरणविशिष्टे, तस्यापि त्वंशब्दवाच्यस्य तत्पदलक्षणै-कत्वानङ्गीकारात्। एवं वाक्यतात्पर्याभिज्ञस्य चतुर्ष्वपि पदार्थेषु न विरोधस्तेन न प्रमाणान्तरविरोधादप्यप्रतिपादकत्वं वाक्यस्येत्यर्थः।।५।।

आदि धर्म वाले मन से कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता।।५।। शरीर से परमात्मा की एकता इस वाक्य में कही ही नहीं गयी है, अतः विरोध नहीं है। इसी प्रकार करणों से ब्रह्म की एकता विवक्षित नहीं है : मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान का स्वरूप है व करणों में 'मैं' यह निश्चय नहीं बल्कि 'मेरा' यह निश्चय होता है। 'मैं' का कारण जो अन्तरात्मा, उसे ब्रह्म कहा गया है और उससे ब्रह्म की एकता नहीं है इसमें कोई प्रमाण नहीं। उसकी एकता तो युक्तिसिद्ध है। अतः उससे ब्रह्म की एकता मानने में कोई विरोध नहीं। (यहाँ प्रत्यक् यह अव्यय सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त है।) मन तो 'तू' इस शब्द का सीधा (वाच्य) अर्थ है और इससे ब्रह्म की एकता नहीं कही है। एकता तो 'तू' शब्द के अर्थ से अल्पता आदि को छोड़ चेतनतादि को लेकर लक्षित होने वाले अर्थ की है। अतः विरोध नहीं। इस प्रकार अन्य प्रमाणों का विरोध सिद्ध नहीं होता।

यदि ऐसा प्रामाणिक विषय है तो इसे सुनते ही ज्ञान हो जाना चाहिये। वह होता

---

१. सामानाधिकरण्याऽनंगीकाराद् इति पठनीयम्।

२. 'अत्र प्रत्यक्शब्दोऽव्ययत्वात् सप्तम्यर्थे वर्तते। 'अञ्चु गतिपूजनयोः' इति धातोः 'ऋत्विग्दधृक्-स्रग्-दिग्-उष्णिग्-अञ्चु-युजि-क्रुञ्चाम्' इति क्विन्-प्रत्ययान्तात् प्रत्यक्-शब्दात् 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपंचमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' इत्यस्तातौ तद्धिते कृते, तस्य च 'अञ्चेर्लुक्' इति लुकि कृते 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वोपपत्तेः'—इति चन्द्रिका।

नाविरक्तस्य संसारान्निविवृत्सा ततो भवेत्।
न चानिवृत्ततृष्णस्य पुरुषस्य मुमुक्षुता ॥६॥
न चामुमुक्षोरस्तीह गुरुपादोपसर्पणम्।
न विना गुरुसंबन्धं वाक्यस्य श्रवणं भवेत् ॥७॥
तथा पदपदार्थौ च न स्तो वाक्यमृते क्वचित्।
अन्वयव्यतिरेकौ च तावृते स्तां किमाश्रयौ ॥८॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विना वाक्यार्थबोधनम्।
न स्यात्तेन विनाऽज्ञानप्रहाणं नोपपद्यते ॥९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तर्हि वाक्यस्य प्रमाणान्तरसंवादापेक्षाभावात्तद्विरोधाभावाच्च वाक्य-श्रवणमात्रेण वाक्यार्थं सर्व एव प्रतिपद्येरन्। न च तथा प्रतिपद्यन्त इत्याशङ्क्य; तेषां वैराग्यमुमुक्षाद्यधिकारिविशेषणाभावात्, 'अधिकारिणः प्रमितिजनको वेद' इति च न्यायात् नायं दोष इत्युत्तरश्लोकपञ्चकेन प्रतिपादयति–नाविरक्तस्येत्यादिना। न चानिवृत्ततृष्णस्येति संसारादनिविवृत्सोरित्यर्थः।।६-९।।

नहीं। इसमें कारण विषयगत दोष नहीं, प्रत्युत श्रोता (= अधिकारी) में विवेक, वैराग्य, शान्ति, आदि व मोक्ष की तीव्र इच्छा की कमी है। ज्ञान सदा ही योग्य अधिकारी को सम्भव है, यह लोक में भी देखा जाता है। इसलिये सुनने मात्र से ज्ञान का न होना विषय में किसी कमजोरी को नहीं बताता। यह बात अब पाँच श्लोकों से बताते हैं—

जिसे शोक-मोह रूप संसार से हटकर परमात्मा से प्रेम नहीं हुआ है वह जन्म-मरण के संसरण से छूटना नहीं चाह सकता। जिसकी सांसारिक विषयों की इच्छाएँ समाप्त नहीं हो गयी हैं, वह 'मुझे मुक्ति मिले' यह चाह नहीं सकता।।६।। जो अत्यन्त दृढतापूर्वक मोक्ष नहीं चाहता, वह गुरु के चरणों के समीप सर्वात्मभाव से नहीं जा सकता। अज्ञान-अन्धकार के नाशक गुरु की शरणागति के बिना तू ब्रह्म है आदि महावाक्यों का सुनना ही नहीं होता।।७।। वाक्य के बिना शब्द और उसके तात्पर्य का ज्ञान सम्भव नहीं। यही ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक का आलंबन है। अतः उसके बिना अन्वय व्यतिरेक रूप विचार कैसे हो सकेगा?।।८।। अन्वय-व्यतिरेक के बिना वाक्य के तात्पर्य को हृदयंगम नहीं किया जा सकता। जब तक अखण्डार्थ में तात्पर्य है यह हर तरह

विनाऽज्ञानप्रहाणेन पुरुषार्थः सुदुर्लभः ।
तस्माद् यथोक्तसिद्ध्यर्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते ॥१०॥
वर्चस्कं त्वन्नकार्यत्वाद्यथा नात्मेति गम्यते ।
तद्भागः सेन्द्रियो देहस्तद्वत् किमिति नेक्ष्यते ॥११॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अतोऽपेक्षितवाक्यार्थज्ञानसिद्ध्यर्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां त्वंपदार्थ-परिशोधनाय उत्तरग्रन्थसन्दर्भारम्भ इत्युपसंहारव्याजेनाह–तस्मादिति।।१०।।

यत्पुनः 'नाहंग्राह्यो न तद्धीन' इति शरीरस्येन्द्रियवर्गस्य चानात्मत्वं सूचितम्, तत्प्रपञ्चनायाह–वर्चस्कमिति। वर्चस्कं **पुरीषं; तस्यान्नस्य भागः परिमाणरूपः (तस्य**[1] **यथाऽनात्मत्वं गम्यते तद्वत् तद्भागयोरन्नपरिणाम-**

से जँच न जाये, तब तक अज्ञान का नाश असम्भव है॥९॥ वस्तुओं के साहचर्य को अन्वय और असाहचर्य को व्यतिरेक कहते हैं। साहचर्य व उसका विरोधी नियम से होना चाहिये। यही विचार का कार्य है कि आत्मा के साथ सदा क्या उपलब्ध होता है वह सदा क्या उपलब्ध नहीं होता। इस बात को स्पष्ट करे। आत्मा सदा कहाँ, कैसे उपलब्ध होता है और कहाँ कभी होता है, कभी नहीं, इस बात का भली-भाँति विवेचन अन्वय-व्यतिरेक है। इससे ही वस्तु का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होता है। जिससे सम्बन्ध कादाचित्क है, वह स्वरूप नहीं, व जो सदा अविनाभाव रूप से मिलता है, वह स्वरूप है यह निश्चय आत्मतत्त्व के ज्ञान का अचूक साधन है।

अज्ञान को हटाये बिना, पुरुष के द्वारा अत्यन्त इच्छित मोक्षरूप पुरुषार्थ, निश्चित रूप से दुर्लभ है। इसलिये वाक्य के अर्थ को समझने के लिये जरूरी पद (= शब्द) के अर्थ को बताने के लिये, पहले 'तू' शब्द के तात्पर्य को समझाने के लिये आगे का ग्रन्थ है, यह कहा–इसलिये बतायी जीव-पर-एकता की उपपत्ति सहित सिद्धि के लिये आगे का ग्रन्थ अवतरित किया जाता है, अर्थात् लिखते हैं॥१०॥

पाँचवें श्लोक में शरीर आदि की अनात्मता कह भर दी थी। उसे विस्तार से कहते हैं—**विष्ठा अन्न का कार्य (फल या विकार) होने से आत्मा नहीं,**

---

१. अंशोऽयं हस्तलिखितपुस्तके नास्ति। चन्द्रिकाया अत्र लिख्यते।

आद्यन्तयोरनात्मत्वे प्रसिद्धे मध्येऽपि कः प्रतिबन्धः[1]**–**
प्रागनात्मैव जग्धं सदात्मतामेत्यविद्यया ।
स्रगालेपनवद्देहं तस्मात् पश्येद् विविक्तधीः ॥१२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

योर्देहेन्द्रिययोरनात्मत्वमनुमानादवगन्तव्यमित्यर्थः।।११।।)

न केवलमन्नकार्यत्वादनात्मत्वम्, अन्नात्मत्वादप्यन्नवदेवानात्मत्वमनुमात-व्यमित्याह–आद्यन्तयोरिति[2]। **आगन्तुकत्वादप्यनात्मत्वमनुमेयमित्याह**–स्रगालेपनवदिति।।१२।।

यह जिस प्रकार समझा जाता है, उसी प्रकार 'तू' शब्द का अर्थ इन्द्रिय सहित शरीर भी अन्न से ही निर्मित होने से आत्मा नहीं है, यह क्यों नहीं समझ सकते?॥११॥ पहले भात आदि अवस्था में व अन्त में विष्ठा अवस्था में अन्नकी जडता प्रसिद्ध ही है, अतः बीच की रक्तादि अवस्थाओं में जडता को समझने में क्या कठिनाई है? जो पहले जड ही है, वह खाया हुआ होने पर चेतनता को केवल भ्रम से ही पा सकता है।जड वस्तुतः कभी चेतन नहीं हो सकता क्योंकि दोनों में अत्यन्त विरुद्धता है। देह, मन व इन्द्रियाँ अन्न का ही परिणाम हैं, यह श्रुति व अनुभव से सिद्ध है। इसलिये उनके जड होने में कोई विरोध नहीं। मिलने व छूटने वाला होने से भी देह की अनात्मता समझ लेनी चाहिये, यह कहा—**जड का कार्य, व मिलने छूटने वाला होने से देह को माला या चंदनादि के लेप की तरह ही अपने से भिन्न और जड समझना चाहिये**॥१२॥

यदि युक्तिसंगत मेरी इस बात को तुम ठीक नहीं समझते, तब खुद ही इस गन्दगी से भरपूर शरीर से तुम्हें निराश होना पड़ेगा क्योंकि जिस सुख की तुम्हें आशा है, यह शरीर वह तुम्हें नहीं दे सकता। शरीर से वियोग तो सबका होता है। विवेकी पहले ही

---

१. अत्र गौडपादाचर्योक्तिं स्मारयति—
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥ (मा.का. २.६)

२. आद्यन्तयोरोदनपुरीषयोरनिवारितानात्मत्वप्रतिपत्तिरुदीर्यमाणा मध्ये देहेन्द्रिययोः केन प्रतिबद्धेत्यर्थः। (चन्द्रिका)

अथैवमपिं मद्वचनं नाद्रियसे, स्वयमेवैतस्माच्छरीरादशुचिराशेर्निराशो भविष्यसि–

मन्यसे तावदस्मीति यावदस्मान्न नीयसे।
श्वभिः क्रोडीकृते देहे नैवं त्वमभिमंस्यसे ॥१३॥
शिर आक्रम्य पादेन भर्त्सयत्यपरान् शुनः।
दृष्ट्वा साधारणं देहं कस्मात्सक्तोऽसि तत्र भोः ॥१४॥

श्रुतिपरिप्रापितोऽयमर्थोऽनात्मा बुद्ध्यादिदेहान्त इतीदमाह–

बुसव्रीहिपलालांशैर्बीजमेकं त्रिधा यथा।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीमपायित्वादप्यनात्मत्वमनुमेयमित्याह–अथैवमपीत्यादिना।।१३।।

शरीरे ममत्वमपि विशेषतो न कारणत्वं[1], शुनामपि साधारणत्वादित्याह–शिर इति। भर्त्सयत्येकश्चेति शेषः।।१४।।

यदुक्तं 'तद्भागः सेन्द्रियो देहः' इति, तन्नासिद्धमिति शङ्कनीयं, श्रुतिसिद्धत्वादित्याह–श्रुतीति। 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यस्स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मन' इति श्रुतिः (छा.

शरीर को भिन्न समझ लेता है और अविवेकी आखिरी वक्त तक यह नहीं समझ पाता। गन्दगी से भरपूरता इससे वैराग्य करने के लिये बतायी है।

तभी तक तुम इस शरीर को 'मैं' ऐसा मानते हो जब तक तुम्हें इससे ले जाया नहीं जाता। तुम्हारे जाने के बाद कुत्तों द्वारा अपने अधिकार में लिये गये इसी शरीर को तुम अब की तरह 'मैं' ऐसा नहीं मानोगे॥१३॥ इसी शरीर के सिर को अपने पंजे से दबा कर, 'यह मेरा है, तू इसे लेने की कोशिश मत कर' इस अभिप्राय से एक कुत्ते को दूसरे कुत्तों को डाँटता हुआ देखकर, जिस देह में तुम्हारी तरह अन्य भी बहुतों की 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि है, उसमें तुम अपना अत्यन्त प्रेम क्यों रखे हुए हो?॥१४॥ करुणा से भरकर आचार्य 'भोः' इस सम्बोधन से जीव को मानो जगाने की कोशिश कर रहे हैं।

बुद्धि से शरीर तक सब विषय होने वाली वस्तुएँ जड हैं यह बात वेद से ज्ञात

१. 'करणीयम्' इति चन्द्रिकायाम्।

बुद्धिमांसपुरीषांशैरन्नं तद्वदवस्थितम् ॥१५॥

यथोक्तार्थप्रतिपत्तौ सत्यां न रागद्वेषाभ्यां विक्रियते विपश्चिदित्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तये दृष्टान्तः–

वर्चस्के संपरित्यक्ते दोषतश्चावधारिते।
यदि दोषं वदेत्तस्मै[1] किं तत्रोच्चरितुर्भवेत् ॥१६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

६.५.१) शरीरस्य मनसश्चान्नकार्यत्वं सूचयतीत्यर्थः।।१५।।

एवं स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयव्यतिरिक्तात्मवेदनस्य दृष्टमेव फलं सर्वानर्थबीज-भूतरागद्वेषयोर्निवृत्तिरिति सदृष्टान्तमाह–यथोक्तेति। उच्चरितुरुत्स्रष्टुरित्यर्थः।।१६-१७।।

होती है, केवल स्वमनीषा-कल्पित नहीं है, यह कहा—**एक ही बीज जिस प्रकार भूसा, चावल और पुआल भेद से तीन प्रकार से अवस्थित होता है, उसी प्रकार खाया हुआ अन्न, बुद्धि, मांस और विष्ठा भेद से तीन तरह अवस्थित होता है॥१५॥** यह छान्दोग्योपनिषत् (६.५.१) का अनुवाद है। वहाँ बताया है कि भुक्त अन्न का स्थूलतम हिस्सा तो विष्ठा रूप में निकल जाता है, कम स्थूल हिस्सा मांस बनता है और सूक्ष्मतम हिस्सा मन बनता है। शरीर की अन्नमयता तो प्रत्यक्ष है, मन की तन्मयता अन्यत्र भी श्रुति ने कही है—'हे सोम्य मन अन्न का विकार ही है' (छा. ६.५.४)। प्राण को जलमय और वाणी को तेजोमय भी वहीं बताया है। अतः यह सब श्रुति-प्रसिद्ध है।

बतायी गयी आत्म-ब्रह्म की एकता का दृढ निश्चय हो जाने पर मेरा-पराया भाव से होने वाले, सच्ची बात को ढँक देने वाले अतिशय प्रेम व वैर, उक्त निश्चय वाले को विचलित नहीं करते। इस विषय में उदाहरण है—

विष्ठा का त्याग कर चुकने पर उसे किसी दोष वाली जानकर यदि उसके विषय में वह दोष बोले, तो उस विष्ठा की त्यक्तता की अवस्था में बोलने वाले को क्या विकार प्राप्त होगा?॥१६॥ जब तक विष्ठा शरीर में है, तभी तक उसके दोष से शरीरी दोष वाला होता है। जब विष्ठा का विसर्ग कर दिया,

१. 'तमुद्दिश्य' इत्यर्थः।

तद्वत् सूक्ष्मे तथा स्थूले देहे त्यक्ते[1] विवेकतः ।
यदि दोषं वदेत्ताभ्यां किं तत्र विदुषो भवेत् ॥१७॥

एतावदेव हि 'अहं ब्रह्मास्मि' इति वाक्यार्थाप्रतिपत्तौ कारणं यदुत बुद्ध्यादौ देहान्ते ह्यहं-ममेति निःसन्धिबन्धनो ग्रहः। तद्व्यतिरेके हि न कुतश्चिद् विभज्यते, एकल[2]एव

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रतिबन्धकत्वादपि देहद्वयाभिमानो विवेकतः परिहरणीय इति श्रोतृणां यत्नगौरवावधानायाह–एतावदेवेति। निस्सन्धिबन्धन[3] **इति।**

तब उसके दोष से शरीरी दोष वाला नहीं होता। यद्यपि विष्ठा-दोष से शरीर-दोष अनुमित होता है, तथापि शरीरी में वह दोष विष्ठा-निमित्त से नहीं रहता, वरन् शरीर-निष्ठ उस अनुमित दोष के निमित्त से रहता है, अतः दृष्टान्त स्पष्ट है। प्रकृत में दोष से उस पर कीचड़ पड़ना, उसका सुअर आदि द्वारा खाया जाना इत्यादि ले लेने पर तो कोई भी शङ्का नहीं रहती।

जिस प्रकार विसर्जित विष्ठा वाले को दोष नहीं, उसी प्रकार इन्द्रियादि सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर मैं नहीं हूँ ऐसा अन्वय व्यतिरेक से निश्चय कर चुकने पर यदि उन दोनों देहों के विषय में कोई दोष कहे, तो उनसे अपने को अलग जानने वाले का क्या बिगड़ेगा?॥१७॥ यदि शरीर में स्पर्शादि व मन में रागादि है, तो जो शरीर से अपनी वास्तविकता भिन्न जानता है, वह क्योंकर विचलित होगा? स्वप्न में स्थूल व सुषुप्ति में दोनों देहों के न रहने पर भी अपनी सत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है, इसी से अपना उनसे भेद समझा जाता है जिसे श्रुतिवाक्य पुष्ट कर देते हैं।

स्थूल व सूक्ष्म शरीरों में 'मैं' व 'मेरा' यह परस्पर भेद करने वाले निश्चय का हटना वेदान्तार्थ समझने के लिये जरूरी है। अतः इसे हटाने के लिये अभ्यास काफी करना चाहिये। मैं नित्य शुद्ध, सब विकारों से रहित, अनन्त आनन्दरूप परमात्मा हूँ,

---

१. देहाभिमानत्याग इति भावः।
२. अद्वितीयोऽनवयव इत्यर्थः (छा.उप.शां.भा. ३-११-१)
३. निस्सन्दिग्धबन्धनेति हस्तलिखितपुस्तके दृश्यते।

प्रत्यगात्मन्यवतिष्ठत इत्याह–

रिपौ बन्धौ स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।
विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥१८॥

इतश्चानात्मा देहादिः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

बाधकप्रत्ययशून्य इत्यर्थः। विवेकस्य पुनः फलमाह–तद्व्यतिरेक **इति।** समैकात्म्यं[1] **निर्विशेषतयैकात्मत्वम्॥१८॥**

इदानीं दृश्यत्वादागमापायित्वाच्च देहस्यानात्मत्वं सूचयति–इतश्चेति। **यैः करणैर्घटादयो दृश्यन्ते तैरेव करणैर्द्रष्टुरात्मनो देहस्य दृश्यत्वात् स्वप्ने च**

इस वाक्य के तात्पर्य को समझने में कारण यही पड़ता है कि बुद्धि से लेकर शरीर पर्यन्त 'मैं' व 'मेरा' यह निश्चय ऐसा हट जाये कि इसके विषय में कोई शंका उत्पन्न ही न हो। उस अविचारित निश्चय के हटने पर साधक किसी से भी अपने को अलग नहीं समझता, अपने ही व्यापक आत्मस्वरूप में अकेला ही रहता है। व्यापकता के कारण अकेलेपन की और भेद-दृष्टि से अलगाव की रहितता बतायी है। जो अपने से भिन्न होता है वह पराक् कहा जाता है, उससे विपरीत प्रत्यक् कहा जाता है। अपना आत्मा तो प्रत्यक् ही है। इस व्यापक अभेद दृष्टि को ही कहा—**जिस विवेकी की शत्रु-शरीर में, मित्र शरीर में व अपने शरीर में, शरीरों के भेद से रहित एकात्मता की निरन्तर दृष्टि है, उसे किस कारण से किस पर गुस्सा होगा? जैसे अपने शरीर के हाथ-पैर आदि अङ्गों पर किसी को गुस्सा नहीं आता, वैसे ही विवेकी को किसी पर गुस्सा नहीं आता, क्योंकि वह अपने से अलग कर किसी को नहीं देखता॥१८॥** जैसे घड़ा, कुल्हड़ आदि के कारण ही जगहरूप आकाश में कोई अन्तर निरूपित होता है, स्वयं अपने से आकाश में कोई भेद नहीं है क्योंकि वह व्यापक है, वैसे ही शरीर-मन आदि को लेकर ही व्यापक आत्मा में 'मैं' 'तू' 'यह' आदि भेद निरूपित होता है, स्वयं उसमें भेद नहीं है। अतः शरीरादि विशेष से रहित आत्मा की एकता श्रुति-युक्ति सिद्ध है।

और भी कारण है जिससे देह आदि (स्थूल व सूक्ष्म देह) आत्मा नहीं है— **देखने वाले आत्मा के जिन आँखादि साधनों से घड़ा आदि जड पदार्थ**

---

१. 'समैकात्म्यं प्रपश्यतः शत्रुदेहे मित्रदेहे स्वदेहे च निर्विशेषैकात्म्यमनुसंदधानस्येति' चन्द्रिका।

घटादिवच्च दृश्यत्वात्तैरेव करणैर्दृशेः ।
स्वप्ने चानन्वयाज्ज्ञेयो देहोऽनात्मेति सूरिभिः ॥१९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

व्याघ्रादिशरीरेण व्यवहरतो जाग्रद्दृष्टदेहस्याहमित्यभिमानाभावेनानन्वयाच्चा-नात्मत्वं वेदितव्यमित्यर्थः।।१९।।

दीखते हैं, उन्हीं से शरीर भी दीखता है, अतः घड़ा आदि की तरह वह भी जड ही है। इतना ही नहीं, सपने में स्थूल शरीर का सम्बन्ध नहीं रहता; इसमें 'मैं' इस भाव के बिना ही अन्यान्य शरीरों में 'मैं' इस भाव से वहाँ व्यवहार हो जाता है। इस प्रकार मेरे रहने पर भी शरीर के न होने के कारण यह आत्मा नहीं हो सकता। यह बात शास्त्र और गुरु के उपदेश के अनुसार विचार करने वाले कुशाग्र बुद्धि लोग ही जान सकते हैं॥१९॥

यहाँ शंका हो सकती है कि सूक्ष्म शरीर तो इन्द्रिय-विषय नहीं होता और स्वप्न में रहता भी है, तब उसकी अनात्मता कैसे समझी जाये? वस्तुतः आँख आदि इन्द्रियों को मन जानता है : 'मेरी आँख ने देखा' यह अनुभव होता है। आँख खराब है आदि अनुभव भी इसमें प्रमाण है कि करण मन के विषय बनते हैं। पुनः मन भी विषय बनता है, अन्यथा 'मेरा मन नहीं लगा' आदि अनुभव उपपन्न नहीं होंगे। अतः सूक्ष्मशरीर का विषय बनना समान होने से घड़ा आदि की तरह उसकी जडता भी समान समझनी चाहिये। स्वप्न में मन के रहने पर भी इन्द्रियाँ तो नहीं रहतीं। अतः उनकी जडता तो वहीं स्पष्ट हो जाती है। पुनः मन भी सुषुप्ति में नहीं रहता और वहाँ मैं तो रहता ही हूँ जो यह जानता हूँ कि तब मैं बड़े सुख में था, मैंने कुछ नहीं जाना। अतः मन में भी दृश्यत्व और असम्बद्धत्व स्थूल शरीर की तरह ही सिद्ध होता है। यद्यपि प्राण के विषय में यह भ्रम सम्भव है कि वह बना रहता है, तथापि अपने अनुभव में उसका बना रहना नहीं आता। अन्यों के कहने व अपने जीवित रहने से ही यह जाना जाता है कि प्राण बना रहा था। अनुभव के आधार पर उसका रहना सिद्ध न होने से व सोते समय 'मैं साँस ले रहा हूँ' ऐसा ज्ञान न होने से उसका आत्मा

देहादिकार्यकरणसंघातव्यतिरेकाव्यतिरेकदर्शिनः प्रत्यक्षत एव विरुद्धं कार्यमुपलभ्यते–

चतुर्भिरुह्यते यत्तत्सर्वशक्त्या शरीरकम् ।
तूलायते तदेवाहंधियाऽऽघातमचेतसाम् ॥२०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वक्ष्यमाणे विवेकफले श्रद्धाजनन्नाय मिथ्याज्ञानविवेकज्ञानयोरनुभवसिद्धः फलभेद इति दर्शयति–देहादीति। चतुर्भिरिति। स्वदेहः परदेहो वा वाहने स्थापयित्वा चतुर्भिरुह्यो भवति, स एवाविदुषामहं बुद्धिपरिगृहीतः तद्वदत्र (स्थू)[1] तूलायते इति प्रत्यक्षमेव विरुद्धं कार्यमित्यर्थः। यद्वा स्वभावतस्सुषुप्ता-दावशक्योद्वाहो देहो जागरिते अहन्धीमात्रेण सुखोद्वाहितामापाद्य-मानश्शिबिकादिवत् स्वोद्वाहकमहंकर्तारमवगमयतीति दर्शयति–देहादीति।।२०।।

होना सिद्ध नहीं होता। कारणरूप से रहना तो शरीर मन का भी उपपन्न है, अतः कोई विरोध नहीं।

शरीर आदि भोग-आयतन और भोग-साधन के अवयवों वाले संघात से आत्मा को अलग और एक समझने वाले से होने वाला एक-दूसरे के विपरीत फल प्रत्यक्ष ही दीखता है—**चार आदमियों द्वारा अपनी सारी शक्ति लगाकर जो शरीर ढोया जाता है, वही अज्ञानिजनों के 'मैं' इस निश्चय से युक्त होकर रूई की तरह हलका हो जाता है**॥२०॥ सोता या रुग्ण चार लोगों द्वारा ढोया जाता है, वही जगा हो तो स्वयमेव चलता है मानो रुई-सा हलका हो। जब शरीर में 'मैं' यह निश्चय न हो, तब उसे उठाना (=ढोना) शक्तिसाध्य है और उस निश्चय के होने पर अनायास ही शरीर स्वयं अपने भार को ढो लेता है। अलग मानने वालों के सिद्धान्त से तो, जिसके निश्चय से हल्कापन व निश्चय हटने से भारीपन होता है, वह शरीरभिन्न आत्मा है, यह युक्तिसंगत फल है। देहात्मवाद में इस तथ्य का यौक्तिक समाधान नहीं हो सकता। अतः फल विपरीत हुए। अथवा, संघात-व्यतिरेक-दर्शी का अर्थ है देह में तात्कालिक स्वप्नादि निमित्त से 'मैं' बुद्धि के अभाव वाला पुरुष व अव्यतिरेकदर्शी, उक्त बुद्धि वाला है। इन दोनों की बुद्धि-भेद से लब्ध फल में विपरीतता स्पष्ट है।

---

१. '...गृहीतस्तूलायते' इति चंद्रिकानुसारं पठनीयम्। तूलायते तूलवदाचरतीति भावः।

प्रसिद्धत्वात् प्रकरणार्थोपसंहारायाह–

स्थूलं युक्त्या निरस्यैवं नभसो नीलतामिव।
देहं सूक्ष्मं निराकुर्यादतो युक्तिभिरात्मनः ॥२१॥

कथं देहं सूक्ष्मं निराकुर्यादिति? उच्यते–

अहंममत्वयत्नेच्छा नात्मधर्माः[१] कृशत्ववत्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

लोकायतिकव्यतिरिक्तसर्ववादिनामात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वेऽविवेकाभावान्न तत्प्रतिपादनायातीवाग्रहः क्रियत इत्याह–प्रसिद्धत्वादिति।।२१।।

'उपलभ्यत्वादि'त्युक्ते प्रत्यगात्मनोऽप्यस्मत्प्रत्ययगोचरतयोप-

---

चार्वक-सम्प्रदाय के अतिरिक्त सभी आत्मवादी सिद्धान्तों में स्थूलदेह से आत्मा भिन्न है, यह बात निर्विवाद स्वीकृत होने से इस विषय का उपसंहार करने के लिये कहा—**जैसे आकाश के नीलेपन को विचार से हटाया जाता है, वैसे ही स्थूल शरीर के आत्मपन को विचार से हटाकर अब आत्म-विषयक अनुभवानुसारि तर्कों से सूक्ष्म शरीर के आत्मपन को हटाये**॥२१॥ 'एवं' शब्द तथा—इस अर्थ में समझा जा सकता है, अथवा, 'इस प्रकार विचार से हटाकर' यह अर्थ समझना चाहिये। आकाश में नीलिमा दीखते हुए ही यह विचारित निश्चय बना रहता है कि आकाश नीरंग है। देह में भी चेतना का अनुभव होते हुए ही उससे चेतन अलग है, यह विचारित निश्चय रहना चाहिये।

सूक्ष्म-शरीर को आत्मा से भिन्न कैसे समझें? बताते हैं—**अहंकार[२], ममता, प्रयत्न, इच्छा (आदि) धर्म उसी प्रकार आत्मा के नहीं हैं जैसे पतलापन आदि। इसमें कारण है इनका विषय रूप में अपने से भिन्न होकर उपलब्ध होना तथा आत्मा के रहने पर भी हट जाना। जैसे—कपड़ा आदि विषय रूप से उपलब्ध**

---

१. न च सूक्ष्मदेहनिराकरणस्यैव प्रतिज्ञाविषयत्वेन अहंत्वेच्छादीनामनात्मधर्मत्वकथनं प्रकृतानुपयोगीति वाच्यम्। तेषामनात्मधर्मत्वसिद्धौ अन्तःकरणादेरनात्मत्वसिद्धेः। तेन च तद्घटितसूक्ष्मदेहस्याप्यनात्मत्वोपपत्तेरिति।

२. अहंकार का स्वरूप ३.१६ में निश्चित किया है। उसी अर्थ में 'मैंपना' शब्द जानना चाहिये।

कर्मत्वेनोपलभ्यत्वाद् अपायित्वाच्च वस्त्रवत् ॥२२॥

वैधर्म्ये दृष्टान्तः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

लभ्यत्वमस्ति, तेन तद्व्यावर्त्तनाय विशिनष्टि–कर्मत्वेनेति। **एवम् इच्छादीनाम् अनात्मधर्मत्वप्रतिपादनेन तद्धर्मवतोऽन्तःकरणस्य सूक्ष्मदेहस्यानात्मत्वं साधितमिति द्रष्टव्यम्।।२२।।**

विपक्षे बाधकधर्ममाह[१]–वैधर्म्येति। **ज्वलनेऽपीति[२] शेषः।** अविशेषत **इति।**

होता है व हमारे रहते हुए ही हमसे अलग हो जाता है तो वह जड है, वैसे ही ये धर्म हैं तो ये भी जड ही हैं॥२२॥ 'आदि' से द्वेष भय आदि का ग्रहण है। अपने को खास (=विशिष्ट) मानना अहंकार है। वह मानना वास्तविक गुणों से भी हो सकता है और आरोपित गुणों से भी। देहादि को 'मैं' मानना भी अहंकार कहा जाता है (दे.गीता १६-१८; १८-५३)। मेरा-पन, अर्थात् किसी व्यक्ति या वस्तु का अपने ही नियन्त्रण में सदा बने रहने की इच्छा, ममता है। क्रिया संभव बनाने की चेष्टा यत्न कही जाती है। जिससे सुख हुआ हो वह पुनः मिले, यह भाव इच्छा कहाता है। इन भावों से सभी मनोविकार समझ लेने चाहिये। इनकी जडता का हेतु है विषय रूप में प्रतीत होना। यह विषय १९वें श्लोक में बताया जा चुका है। पतलापन या कमजोरी आत्मा से भिन्न है, यह तो सबका अनुभव है। अन्यथा उसे पाने या हटाने की कोशिश न की जाती। कपड़े की जडता प्रसिद्ध है। 'मैं कमजोर' व 'मेरी कमजोरी' इस प्रकार दोनों तरह प्रतीत होने से विषयता निश्चित है इसमें सन्देह की शंका को हटाने के लिये कपड़े का दृष्टान्त है। सूक्ष्म देह में इच्छादि तो समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, पर वस्त्र तो स्थूल देह पर केवल संयोग सम्बन्ध से रहता है, अतः दृष्टान्त अनुपयुक्त है, इस शंका को हटाने के लिये कमजोरी का दृष्टान्त है। इस प्रकार इच्छादि आत्मा के धर्म नहीं हैं यह बताने से, वे जिसके धर्म हैं वह अन्तःकरणरूप सूक्ष्म देह आत्मा नही है, यह बता दिया गया।

यदि अहंकारादि आत्मा के धर्म होते तो वे दृश्य नहीं हो सकते थे, इस बात में दृष्टान्त बताते हैं—**आग जलने पर भी अपने स्वरूप या धर्म रूप गर्मी को नहीं जलाती अर्थात् अपने स्वरूप या धर्म को विषय कर ज्वलन क्रिया नहीं होती। जैसे यह दृष्टान्त है, वैसे ही अहंकारादि आत्मा के स्वरूप या धर्म होते, तो उन्हें विषयकर आत्मा भी न जानता। जैसे गर्मी आग का स्वरूप या धर्म है, वैसे ही**

---

१. बाधकमाह—इति चन्द्रिकायाम्। २. ज्वलन्नपीति पठनीयम्।

नोष्णिमानं दहत्यग्निः स्वरूपत्वाद्यथा ज्वलन्।
तथैवाऽऽत्माऽऽत्मनो विद्यादहं नैवाविशेषतः ॥२३॥

एकस्याऽऽत्मनः कर्मकर्तृभावः सर्वथा नोपपद्यत इति श्रुत्वा मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठते–अहं प्रत्ययग्राह्यत्वाद् ग्राहक आत्मेति[1]। तन्निवृत्त्यर्थमाह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्वरूपत्वाविशेषादौष्ण्यस्य दहनदाहाविशेषावयवात्[2] स्वरूपत्वे धर्मत्वे चाहमादेरात्मव्यापारविषयत्वं[3] न स्यादित्यर्थः।।२३।।

इदानीं भाट्टमतमाशङ्क्य निराकरोति–एकस्येत्यादिना। **सहं[4]**

अहंकारादि यदि आत्मा के स्वरूप या धर्म होते तो ऐसा ही होता।।२३।। किन्तु विषय तो वे बनते हैं, अतः स्वरूप या धर्म नहीं हैं; यह अर्थ है।

आत्मा की अंशभेद से जडरूपता और चिद्रूपता मानने वाले मीमांसा-वार्तिककार कुमारिलभट्ट के सिद्धान्त के अनुसार शंका-समाधान करते हैं : एक आत्मा कर्मता और कर्तृता दोनों को प्राप्त करे यह हर तरह से युक्तिविरुद्ध है, यह सुनकर मीमांसा-दर्शन अनुयायी पूछता है—यही तो आत्मा की ग्राहकता (=ग्रहण=ज्ञान की कर्तृता) है कि वह 'मैं' इस बुद्धि (=निश्चय) के रूप में गृहीत है। 'यह' इस बुद्धि से जिन्हें विषय किया जाता है, उनसे भिन्न 'मैं' इस बुद्धि से विषय होने वाला ही आत्मा है। अतः आत्मा विषय होता ही है; और विषय करने वाला आत्मा है, यह तो सबको स्वीकृत है। तब यह कैसे कहा कि एक आत्मा कर्म व कर्त्ता दोनों नहीं हो सकता?

---

१. विषयेऽस्मिन् सारार्थकाराः—'एकस्यैवात्मनोऽहंप्रत्ययग्राह्यत्वेऽपि मामहं जानामीति प्रतीत्या ग्राहकत्वस्यापि सम्भवात्तादृशप्रतीतिगम्यज्ञानस्य मत्कर्मकत्व-मत्कर्तृकत्वरूपोभय-धर्मवत्त्वादिति मीमांसावार्तिककृद्भिः भट्टपादैरात्मनोऽशतो जडबोधात्मकत्वाभ्युप-गमादित्यर्थः।।'

२. अत्र काचन त्रुटिः। चन्द्रिकायामेवं पठ्यते 'यथा ज्वलन्नप्यग्निः स्वरूपभूतं धर्मभूतं वोष्णिमानं न दहति न विषयी करोति स्वरूपत्वाद् धर्मत्वाद् वा तद्वद् आत्मापि आत्मनः स्वरूपभूतं धर्मभूतं वाऽहंकारादिकं न विद्यात्।

३. अहंकार-ममकारादेरिति भावः।

४. अत्रापि पाठभ्रंशः। चन्द्रिकायाम् 'अहंप्रत्यय आत्मकर्मको न भवति, आत्मकर्तृकत्वाद्, घटप्रत्ययवद्—इत्यनुमानम् आह' इति।

यत्कर्मको हि यो भावो नासौ तत्कर्तृको यतः।
घटप्रत्ययवत्तस्मान्नाहं स्याद् द्रष्टृकर्मकः ॥२४॥

अत्राऽऽह–प्रत्यक्षेणाऽऽत्मनः कर्मकर्तृत्वाभ्युपगमे तत्पादोपजीविना अनुमानेन प्रत्यक्षोत्सारणमयुक्तमिति चोद्यं[1], तन्निराकरणाय प्रत्यक्षोपन्यासः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रत्ययवदित्यनुमानमाह–यत्कर्मक इति।।२४।।

मामहं जानामीत्यात्मनोऽहम्प्रत्ययं प्रति कर्तृत्वकर्मत्वयोरनुभवात् तत्कर्मत्वनिराकरणानुमानं कालात्ययापदिष्टमिति शङ्कते–अत्राहेति। **अन्तः-करणस्य प्रत्यगात्मदृश्यत्वादहंप्रत्ययस्यापि तद्गतत्वेनोपलभ्यमानस्य तद्धर्मत्वमेव युक्तं, द्रष्टृात्मगतत्वेन[2] दृश्यत्वानुपपत्तेः। तस्मादन्तःकरण-विशिष्टविषयत्वात्[3] केवलात्मविषयत्वाभावादित्यभिप्रेत्य परिहरति–**तन्निराकरणायेति।।२५।।

इस शंका को हटाने के लिये कहा—**क्योंकि ज्ञान जिसे विषय करता है उसके आश्रित नहीं होता इसलिये आत्मा ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। जैसे घटज्ञान घट के विषय में है, इसलिये घट के आश्रय में नहीं है, ऐसे ही हर ज्ञान जिसका होता है, उसे नहीं होता।।२४।।** यदि ज्ञान आत्मा को विषय करे तो अनात्मा (=आत्मा से भिन्न) को आश्रित करने वाला हो। पर यह अनुभव और युक्ति से विरुद्ध है क्योंकि ज्ञान चेतन में ही देखा जाता है। अतः आत्मा को ज्ञान होता है इसीलिये आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता।

इस प्रकार युक्ति से आत्मा की विषयता असिद्ध होने पर मीमांसक कहता है 'मैं अपने को जानता हूँ' इस साक्षाद् अनुभव के अनुरोध से युक्ति को अन्य प्रकार से समझना चाहिये। उसका कहना है कि आत्मा की कर्मता (=विषयता) व कर्तृता प्रत्यक्ष के बल पर स्वीकृत है, इसलिये प्रत्यक्ष के सहारे से सिद्ध होने वाले अनुमान से प्रत्यक्ष का ही त्याग युक्तिसंगत नहीं है। इस शंका का निराकरण करने के लिये इस विषय में प्रत्यक्ष को ही बताते हैं।

---

१. आहेत्यस्य चोद्यमित्यनेनान्वयः। २. "'गतत्वे दृश्य''' इति चन्द्रिका।

३. अत्र पाठभंगः। चन्द्रिकायाम् 'तस्माद् अन्तःकरणम् एव अहंप्रत्ययसाक्षिणा दृश्यत इत्यनुभवो, न त्वात्मा; मामहं जानामीत्यनुभस्य अन्तःकरणविशिष्टविषयत्वात्, केवलात्म...' इति।

यत्र यो दृश्यते द्रष्टा तस्यैवासौ गुणो न तु[1]।
द्रष्टृस्थं दृश्यतां यस्मान्नैवेयाद् द्रष्टृबोधवत् ॥२५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अतस्तदेव प्रक्रियत **इति। आत्मनोपलभ्यस्याहंकारस्यात्मधर्मत्व-मनुपपन्नमिति प्रकारान्तरेण पुनस्साध्यत इत्यर्थः। आत्मधर्मश्चेद् अहंप्रत्ययः, किमयमात्मनाऽधिगम्य उत तदंशेनेति विकल्प्य; उभयथापि न सम्भवतीत्युच्यत**

द्रष्टा के द्वारा जो जहाँ देखा जाता है, वह उसी का धर्म होता है न कि द्रष्टा का। कारण कि, द्रष्टा में होने वाला धर्म दृश्य नहीं हो सकता, जैसे द्रष्टा को होने वाला ज्ञान कभी दृश्य नहीं हो सकता॥२५॥ 'मैं अपने को जानता हूँ' यह ज्ञान तभी होता है जब अन्तःकरण होता है। सुषुप्ति में अन्तःकरण के न होने पर यह ज्ञान भी नहीं होता। इसलिये आत्मा द्वारा अन्तःकरण की ही 'मैं' इस अवस्था-विशेष का ज्ञान उक्त प्रकार से होता है, न कि आत्मा का ही आत्मा को ज्ञान होता है। अतः विषय होने वाला 'मैं', साक्षी द्वारा अन्तःकरण में ही दीखता है, अतः उस अन्तःकरण का ही यह धर्म (=परिणाम विशेष) सिद्ध होता है, न कि देखने वाले साक्षी आत्मा का। घड़े में दीखने वाली लालिमा घटधर्म ही है न कि द्रष्टा का धर्म। यदि उसे द्रष्टा का धर्म मानें, तब केवल धर्म का तो दर्शन न हो सकने से द्रष्टा की दृश्यता माननी पड़ेगी जिसे देखने के लिये दूसरे द्रष्टा की जरूरत पड़ेगी। इस तरह अनन्त द्रष्टा मानने पड़ेंगे। यह अनवस्था दोष हो जायेगा। स्वयं अपने को विषय करना तो असम्भव है ही जैसे कोई अपने कन्धे पर खड़ा होकर अधिक ऊँचा नहीं हो सकता। इस प्रकार जैसे सुख-दुःख, काम, संकल्प, मोह, श्रद्धा, निश्चय, भय, लज्जा आदि मन के परिणाम साक्षी द्वारा विषय किये जाते हैं, वैसे ही 'मैं' भी एक परिणाम है जो साक्षी-रूप आत्मा का विषय है। घड़ा आदि विषय को तो यही परिणामरूप 'मैं' जान लेता है पर घड़े के जानने को जानने वाला साक्षी आत्मा है और वह कभी विषय नहीं होता। यह अनुभव, शास्त्र व युक्ति से सिद्ध है। यहाँ जिस ज्ञान की अदृश्यता का दृष्टान्त दिया है, वह साक्षी के ज्ञान का ही प्रसंग जानना चाहिये।

इस प्रकार मीमांसक के प्रत्यक्ष-आश्रित मत को प्रत्यक्ष के बल से ही गलत सिद्ध कर देने से आत्मा कभी विषय नहीं हो सकता यह बात ठीक ही निकली। तथापि

१. चन्द्रिकायां श्लोकार्थः—'यत्र अन्तःकरणे यः अहं प्रत्ययः द्रष्टा साक्षिणा दृश्यते तस्यैव अन्तःकरणस्य अहंप्रत्ययो धर्मो भवति द्रष्टुर्दृश्यत्वाद्, द्रष्टृस्थत्वे द्रष्टृदृश्यत्वाऽयोगात्। तस्माद् अन्तःकरणधर्म एवासावहम्प्रत्यय इत्यर्थः।' इति। सारार्थे 'न तु द्रष्टुर्गुणः परिणामः' इति।

प्रत्यक्षेणैव भवदभिमतस्य प्रत्यक्षस्य आभासीकृतत्वात् सुस्थमेवानुमानम्। अतस्तदेव प्रक्रियते। तत्र च विकल्प्य दूषणाभिधानम्–

नाऽऽत्मना न तदंशेन गुणः स्वस्थोऽवगम्यते।
अभिन्नत्वात् समत्वाच्च निरंशत्वादकर्मतः ॥२६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इत्याह–तत्र चेति। **स्वगतस्य गुणस्य स्वग्रहणमन्तरेण स्वगतत्वेन ग्रहणायोगात्, स्वस्य च स्वेनाभिन्नत्वादेव ग्रहणानुपपत्तेस्स्वांशेनापि तेन न गृह्यत इत्यर्थः[1]॥२६॥**

ग्राहकस्य ग्राह्यत्वेऽपि युगपदेव ग्राह्यग्राहकभावः, किम्वा क्रमेण? नाद्यः, ग्राहकत्वेन परिसमाप्तस्य निरंशस्य तदैव ग्राह्यत्वेनावस्थानासम्भवात्। नापि

प्रकारान्तर से उसी बात को समझाते हैं। यदि विषय होने वाला 'मैं' आत्मा का ही गुण है, तो क्या वह आत्मा के द्वारा जाना जाता है, या आत्मा के किसी अंश द्वारा? इस प्रकार विकल्प कर दोनों पक्षों में दोष बताते हैं।

अपने में ही स्थित धर्म न आत्मा द्वारा गृहीत हो सकता है, न आत्मा के अंश द्वारा। अपने में किसी धर्म का ग्रहण, अपने ग्रहण के बिना सम्भव नहीं और खुद ही अपना ग्रहण सम्भव नहीं क्योंकि ग्रहण होने और करने वाला अभिन्न है। आत्मा का एक अंश विषय बने और दूसरा अंश उसे विषय करे, यह भी सम्भव नहीं क्योंकि आत्मा निरंश है। यदि अंश मान भी लें, तो दोनों अंश समान होने के कारण चेतन होंगे और जैसे दो दीपक समान (प्रकाशरूप) होने के कारण एक-दूसरे को विषय नहीं करते, वैसे ही एक दूसरे को विषय नहीं करेंगे। आत्मा कभी विषय बनता ही नहीं, अतः आत्मा का गुण आत्मा में रहते हुए आत्मा का विषय बने, या संभव नहीं।।२६॥

विषय होना व विषय करना न तो एक-साथ सम्भव है, और न क्रम से। अर्थात् इकट्ठा ही वह विषय हो और करे, यह भी असम्भव है तथा एक काल में विषय हो और

१. चन्द्रिकायाम्—'''स्वांशेनापि स्वस्य आत्मत्वादेव ग्रहणाऽयोगाद्, निरंशत्वादेव स्वांशेन स्वस्य ग्रहणमिति वक्तुमशक्यत्वात् च। एवम् उक्तन्यायेन आत्मनः कर्मत्वाभावात् तद्गतोऽपि गुणो न तेन गृह्यत इत्यर्थः' इति व्याख्यानम्।

न युगपन्नापि क्रमेणोभयथा चैकस्य धर्मिणो ग्राह्यग्राहकत्वमुपपद्यत इति प्रतिपादयन्नाह–

द्रष्टृत्वेनोपयुक्तत्वात् तदैव स्यान्न दृश्यता।
कालान्तरे चेद् दृश्यत्वं न ह्यद्रष्टृकमिष्यते ॥२७॥

सन्तु काममनात्मधर्मा ममत्वादयः। यथोक्तन्यायबलात्, अनात्मतयैव च तेषु व्यवहारात्। अहंरूपस्य तु प्रत्यगात्मसम्बन्धितयैव प्रसिद्धेः, 'अहं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

क्रमेण, तदा ग्राहकाभावादेव ग्राह्यत्वानुपपत्तेरित्याह–न युगपदिति।।२७।।

ममत्वयत्नेच्छादीनामिव, अहंप्रत्ययस्यात्मधर्मत्वमध्यासात्[1]। तत्तु वास्तवमित्युपपन्नम्, अहंप्रत्ययस्यात्मधर्मत्वप्रसिद्धेः, अहं ब्रह्मास्मीति विद्यादशायामपि तस्यानुवर्तनाद् इति शङ्कामुत्थाप्य, श्लोकेन परिहरति–सन्तु काममित्यादिना। गौरोऽहमिति सामानाधिकरण्येऽपि यथा गौरत्वे नात्मधर्मत्वं

कालान्तर में विषय करे, यह भी असम्भव है। इसे बताने के लिये कहा—**विषय करने में संलग्न का उसी समय विषय होना नहीं हो सकता। कालान्तर में भी विषय होना सम्भव नहीं, क्योंकि विषय करने वाले कि बिना विषय होना नहीं होता और एक आत्मा ही विषय करने वाला है, उसे विषय करने वाला कोई दूसरा तो है नहीं। बिना विषय करने वाले के विषय होना स्वीकृत नहीं।।२७।।** यहाँ दूसरे द्रष्टा का अभाव दोनों अवस्थाओं (=विकल्पों) में हेतु समझना चाहिये। अर्थात्, युगपत् विषय होना व करना दूसरे की अपेक्षा से सम्भव होता है और आत्मा एक है, अतः यह सम्भव नहीं। दूसरे पक्ष का दोष तो स्पष्ट है। जैसे प्रकाश, अन्यों को दिखाते हुए खुद को दिखा देता है, वैसे आत्मा तो अन्तःकरण-परिणाम को देखते हुए अपने को जानता है पर परिणामरूप 'मैं' में यह सामर्थ्य नहीं, कारण कि वह तो खुद आत्मा के ज्ञान के सहारे घड़े आदि को जानता है, उसमें स्वयं की ज्ञानरूपता नहीं।

पूर्वोक्त युक्ति के (२.२२) बल पर और 'मेरा' आदि अनात्म-(विषय-) रूप से व्यवहार होने के कारण ममता, यत्न, इच्छा आदि चाहे अनात्म-मन आदि के ही धर्म

१. ममत्वयत्नेच्छादीनामनात्मधर्माणां यथा आत्मधर्मत्वेन प्रतीतिर्भवति तथैव अध्यासात् अहंप्रत्ययस्यापि आत्मधर्मत्वेन प्रतीतिः भवतीति भावः। तु=किन्तु, तत्=अहंप्रत्ययस्यात्मधर्मत्वम्, वास्तवम्=अनाध्यासिकम्, इति उपपन्नम् इति शंकोपन्यासः। उपपत्तिमेव स्फोरयति—अहमित्यादिना।

ब्रह्मास्मि' (बृ. १-४-१०) इति श्रुतेश्च अनात्मधर्मत्वमयुक्तमिति चेत्? तन्न–

अहंधर्मस्त्वभिन्नश्चेदहं ब्रह्मेति वाक्यतः।
गौरोऽहमित्यनैकान्तो[1] वाक्यं तद्व्यपनेतृ तत्[2]।।२८।।

कथं 'वाक्यं तद्व्यपनेतृ तत्' इति? उच्यते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सिध्यति[3] अहं ब्रह्मास्मीति तु सामानाधिकरण्यं बाधायां, न पुनस्तदेकत्वविवक्षयेत्यर्थः।।८।।

उक्त एवार्थो दृष्टान्तेनोपपाद्यत इत्याह–कथं तद्वाक्यमिति।।२९।।

हों, पर 'मैं हूँ' इस अहंकार की तो अपने आत्मारूप से ही प्रसिद्धि होने के कारण, तथा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वेद-वाक्य से भी मैं की ब्रह्मता या आत्मता सिद्ध होने के कारण, अनात्मधर्मता युक्तिसंगत नहीं है।—यह शंका भी ठीक नहीं। **यदि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्य से अहङ्कार रूप धर्म को आत्मरूप (=आत्मा से अभिन्न) मानें, तो 'मैं गोरा हूँ' इस वाक्य से 'मैं' को गोरा-रूप मानना पड़ेगा; वह मानना किसी वादी को भी इष्ट नहीं है। अतः एक ही आधार में दो वस्तुओं को कह देना उनकी एकरूपता नहीं बताता। वैसा मानने से उन सब स्थलों में विरोध आयेगा जहाँ उस प्रकार से कहा है पर एकरूपता निश्चित रूप से नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वाक्य तो वास्तव में 'मैं' इस अहंकार को बाध द्वारा हटाता है, उसकी सत्यता नहीं बताता।।२८।।**

'मैं ब्रह्म हूँ' वाक्य अहंकार को हटाने वाला कैसे? बताते हैं—**'जो यह ठूँठ है, वही यह पुरुष है', इस वाक्य से उत्पन्न होने वाला पुरुष निश्चय जैसे ठूँठ के निश्चय को हटाता है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्य से**

१. अनैकान्तिकः सव्यभिचारः। (न्या.द. १.२.५) अनैकान्तः हेतुरिति भावः। एकस्मिन्नन्ते विद्यते हेतुरिति ऐकान्तिकः। विपर्ययादनैकान्तिकः। उभयान्तव्यापकत्वादिति। (न्या.द.वा.भा. १.२.५) सामानाधिकरण्यकरूपो हेतुः साध्यमभिन्नत्वरूपं व्यभिचरतीतिभावः।

२. तत् = अहं ब्रह्मास्मीतिवाक्यं, तत् = अहंबुद्धिबाधकं भवति इति भावः।

३. 'तथाऽहमात्मेत्यहंप्रत्ययस्य आत्मसामानाधिकरण्येन प्रसिद्धावपि नात्मधर्मत्वं सिद्ध्यति'—इति चन्द्रिकानुसारं शेषो बोध्यः।

योऽयं स्थाणुः पुमानेष[१] पुंधिया स्थाणुधीरिव।
ब्रह्मास्मीति धियाऽशेषा ह्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥२९॥
अहंपरिच्छेदव्यावृत्तौ न किञ्चिदव्यावृत्तं द्वैतजातमवशिष्यते,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इत्थमहङ्कारस्यात्मधर्मत्वनिराकरणे प्रयोजनमाह–अहं परिच्छेदेति।।३०।।

उत्पन्न होने वाला निश्चय समग्र (सकार्य) अहंकार को हटा देता है॥२९॥ जहाँ पुरुष में ठूँठ का भ्रम हो, वहाँ का दृष्टान्त है। इस प्रसंग में यह समझ लेना चाहिये कि जब एक ही वस्तु को दो भिन्नार्थक शब्दों से बताया जाता[२] है तब या तो उसका तात्पर्य होता है कि उनमें से एक शब्द द्वारा बतायी बात गलत व दूसरे की सत्य है, या वस्तुतः ही उसके दो नाम हैं। जब कहते हैं 'यह ठूँठ पुरुष है' तब अर्थ होता है कि यह ठूँठ नहीं है, पुरुष है, यह प्रथम प्रकार है। जब कहते हैं—वही यह देवदत्त है, तब 'वही' और 'यह' ये दोनों शब्द एक ही देवदत्त को विषय करते हैं जब कि 'वह' और 'यह' शब्दों के अर्थ अलग हैं। तथापि वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि वह देवदत्त नहीं हैं, यह देवदत्त है। यहाँ 'वह' और 'यह' दोनों शब्दों की प्रवृत्ति एक ही देवदत्त को निमित्त करके है। यह दूसरा प्रकार है। पारिभाषिक शब्दों में पहले को बाध-समानाधिकरणता व दूसरे को मुख्य-समानाधिकरणता कहते हैं। 'जीव ब्रह्म है' कहने पर क्या अर्थ है—इस विषय में दो प्रकार से समझाया जाता है—प्रकाशात्मश्रीचरण के अनुसार यहाँ मुख्य समानाधिकरणता है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसे बाध-प्रक्रिया से समझाया गया है। उपहित चैतन्य को जीव मानने पर जीवशब्द का वाच्य भी चैतन्य होने से मुख्य, तथा साभास उपाधि को जीव शब्द-वाच्य मानने पर चैतन्य वाच्य न रह जाने से बाधपूर्वक सामानाधिकरण्य संगत होता है।

---

१. स्थाणुः पुरुष इति सामानाधिकरण्यं यथा स्थाणोर्बाधकं तथाहं ब्रह्मास्मीति सामानाधिकरण्यमहंकारस्य बाधकमित्यर्थः।

२. 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यम्' इति वृद्धवचनम्।

द्वितीयसम्बन्धस्य तन्मूलत्वात्। अत आह–

निवृत्तायामहंबुद्धौ ममधीः प्रविलीयते।
अहंबीजा हि सा सिध्येत् तमोऽभावे कुतः फणी ॥३०॥
विवक्षितदृष्टान्तांशज्ञापनाय दृष्टान्तव्याख्या–
तमोऽभिभूतचित्तो हि रज्ज्वां पश्यति रोषणम्।
भ्रान्त्या भ्रान्त्या विना तस्मान्नोरगं स्रजि वीक्षते ॥३१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तमोऽभावे कुतः फणीति। **प्रसिद्धान्धकाराभावे फणिना त्रासस्याभावो[१] दृष्टान्तेनोपन्यस्त इति शङ्कानिरासाय दृष्टान्तो व्याख्यायत इत्याह**–विवक्षितेति।।३१-३२।।

मैं-पना आत्मा का धर्म नहीं है यह इसलिये सिद्ध किया क्योंकि इसके हट जाने पर, अन्य कुछ भी आत्मा से भिन्न वस्तु रह ही नहीं जाती, कारण कि जैसे रस्सी के अज्ञान के हट जाने पर सर्प हट ही जाता है, वैसे ही मैं-पने के हट जाने पर उसी पर आधारित मेरा-पना रूप दूसरे से होने वाला सम्बन्ध हट ही जाता है। अतः कहा—'मैं' इस निश्चय के हट जाने पर, **'मेरा' यह निश्चय भी हट जाता है क्योंकि 'मैं' ही 'मेरा' का कारण है। कारण हटने पर कार्य टिकता नहीं जैसे अन्धेरे के हटने पर भ्रम से दीखा साँप नहीं टिकता**॥३०॥ 'मैं' की परिच्छिन्नता के हटने से यहाँ तात्पर्य है। अन्धेरा भी अज्ञान को बताने के लिये है। अन्धेरे का हटना—इस दृष्टान्त से जो बताना चाहते हैं उसे समझाने के लिये दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं—**अन्धेरे के कारण जिसे रस्सी का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है वही भ्रम से रस्सी में साँप देखता है। क्योंकि ऐसा ही देखा गया है, इसलिये भ्रान्ति के बिना रस्सी (या माला) में साँप नहीं देखा जाता**॥३१॥ इसी प्रकार परमात्मा को न जानने से ही उत्पन्न अपनी परिच्छिन्नता का निश्चय मेरा-पन उत्पन्न करता है। जब भ्रम (अर्थात् मैं पना) दूर हो गया तब मेरा-पना कैसे रहेगा?

सुषुप्ति आदि में 'मैं' ऐसा साक्षाद् अनुभव न होने से भी मैं-पना आत्मा का नित्य गुण नहीं है, यह बताते हैं।—**सदा अनुगत न होने से भी मैं-पना आत्मा का गुण नहीं। मैं-पना यदि आत्मा का गुण होता तो मोक्षावस्था में तथा गहरी नींद में**

---

१. प्रसिद्धान्धकारस्याभावे फणिनः सर्पस्याभाव इति चन्द्रिकायाम्।

अनन्वयाच्च नाऽऽत्मधर्मोऽहङ्कारः–

आत्मनश्चेदहं धर्मो यायान्मुक्तिसुषुप्तयोः ।
यतो नान्वेति तेनायमन्यदीयो भवेदहम् ॥३२॥

आत्मधर्मत्वाभ्युपगमे अपरिहार्यदोषप्रसक्तिश्च–

यद्यात्मधर्मोऽहङ्कारो नित्यत्वं तस्य बोधवत् ।
नित्यत्वे मोक्षशास्त्राणां वैयर्थ्यं प्राप्नुयाद् ध्रुवम् ॥३३॥

स्यात्परिहारः स्वाभाविकधर्मत्वाभ्युपगमेऽपि, आम्रादिफलवदिति

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अस्तु तर्हि नित्यत्वमपीत्यत आह–नित्यत्व **इति।।३३।।**

यावद्द्रव्यभावित्वाभावेऽपि श्यामत्वादौ धर्मत्वं दृश्यत इति शङ्कामुत्थाप्य परिहरति–स्यादित्यादिना।।३४।।

भी अनुगत रहता। क्योंकि उन अवस्थाओं में मैं-पना आत्मा में नहीं रहता इसलिये वह आत्मा से भिन्न का ही गुण है॥३२॥ तात्पर्य है कि जैसे शरीर सदा आत्मतादात्म्य से उपलब्ध न होने के कारण आत्मगुण नहीं, वैसे अहङ्कार भी आत्मगुण नहीं।

किंच, यदि मैं-पने को आत्मा का गुण मान लें तो एक ऐसा द्वोष प्राप्त होगा जो युक्ति से हटाया नहीं जा सकेगा—**यदि विशिष्ट-आत्म-विषयक-अहंनिश्चय रूप अहङ्कार या मैं-पना आत्मा का गुण हो तो ज्ञान की तरह उसकी भी नित्यता हो जाये और यदि उसकी नित्यता हो तो यह निश्चित है कि मोक्ष-प्रतिपादक वेदान्तादि शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे क्योंकि तथाविध अहंकार का आत्यन्तिक नाश मोक्ष के लिये जरूरी है और नित्य का नाश सम्भव नहीं**॥३३॥ यहाँ यह याद रखना चाहिये कि ज्ञान को आत्म-गुण उपचार से कहा है, क्योंकि पंचपादिका में आनन्द, विषयानुभव और नित्यत्व को ब्रह्म से अपृथक् होते हुए भी पृथक् की तरह अवभासित होने वाला धर्म कहा है। अतएव अन्य विचारक नित्य द्रव्यों में भी अनित्य गुणों को स्वीकारते हैं और उनके मत में आत्मधर्म होते हुए भी ज्ञान की तरह ही अहंकार भी अनित्य रहेगा एवं मोक्ष सम्भव होगा तथापि औपनिषद दर्शन में या तो धर्म-धर्मि-अभेद के कारण नित्य धर्मों के धर्म को नित्य मानने से दोष बना रहेगा, और या वस्तुतः आत्मा के गुण-रूप में प्रसिद्ध ज्ञानादि आत्मरूप होने से नित्य हैं व अहंकार भी ज्ञान

चेत्? तन्न–

आम्रादेः परिणामित्वाद् गुणहानिर्गुणान्तरैः ।
अविकारि तु तद् ब्रह्म न हि द्रष्टुरिति श्रुतेः[1] ॥३४॥

की तरह आत्मगुण होने पर तद्रूप होने से नित्य हो जायेगा अतः अनिर्मोक्षापत्ति दोष सिद्ध होगा। इसलिये अहंकार को आत्मधर्म नहीं माना जा सकता।

किन्तु शंका होती है कि इस दोष को युक्ति-पूर्वक हटाया जा सकता है : अहंकार को आत्मा का अनौपाधिक धर्म मानने पर भी, जैसे आम आदि फल के स्वाभाविक हरापन, खट्टापन आदि गुण पकने से नष्ट होते हैं, वैसे किन्हीं साधनों से आत्मा का भी स्वाभाविक अहंकार आत्यन्तिक नाश को प्राप्त हो जायेगा। यह शंका अनुचित है। आम आदि के विषय में ऐसा सम्भव होने पर भी आत्मा के विषय में यह सम्भव नहीं—**आम आदि वस्तुयें बदलने वाली हैं, अतः नवीन गुण की उत्पत्ति के कारण उनके स्वाभाविक गुण भी नष्ट हो सकते हैं। किन्तु ब्रह्म में किसी प्रकार का बदलाव सम्भव न होने से न उसमें नवीन गुण की उत्पत्ति सम्भव है और न ही किसी गुण का नाश। आत्मा के ज्ञान का नाश सम्भव नहीं इसमें बृहदारण्यक की श्रुति प्रमाण है–'दृष्टिकर्ता की दृष्टि का विनाश नहीं होता' (४.३.२३)**॥३४॥ उक्त श्रुति-प्रसंग में दृष्टि ही नहीं, सूँघना, चखना, बोलना, सुनना, सोचना आदि कहे हैं जिससे स्पष्ट है कि किसी आत्मधर्म का नाश असम्भव है। कारण स्पष्ट है कि आत्मधर्म आत्मा ही है और वह अविकारी है। अतः जैसे अग्निरूप जो अग्नि-धर्म गर्मी है, वह अग्नि के रहते नष्ट नहीं हो सकती, वैसे आत्मरूप आत्मधर्म नष्ट नहीं हो सकते। इस प्रकार नित्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म होने पर अहंकार की नित्यता आवश्यक है व वैसा होने पर मोक्ष की असंभवता रूप दोष रहेगा ही।

इतना ही नहीं, अनित्य को गुण मान लेने पर वह जिसमें रहेगा उस गुणी को भी अनित्य ही बना देगा व इस प्रकार आत्मा ही अनित्य हो जायेगा यह दोष दिखाते हैं—अहंकार आने जाने वाला है अर्थात् अहंकार जिसका स्वरूप उक्त प्रकारक निश्चय

---

१. 'आम्रादिद्रव्यस्य परिणामित्वेन गुणान्तरोदयसम्भवात्, तेन स्वाभाविकस्य अपि गुणस्य नित्यनिवृत्तिः सम्भवति। ब्रह्मणस्तु कूटस्थत्वेन गुणान्तराभावात् तद्धर्मस्य अहंकारस्य न निवृत्तिः सम्भवति। ततश्च आत्मनो नित्यत्वात् तद्धर्मस्य अहंकारस्यापि नित्यत्वम् एवेति भावः'—चन्द्रिकायाम्।

अहङ्कारस्य चागमापायित्वात्, तद्धर्मिणश्चानित्यत्वं प्राप्नोति–
आगमापायिनिष्ठत्वादनित्यत्वमियाद् दृशिः ।
उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति[1] हि धर्मिणम् ॥३५॥
अस्त्वनित्यत्वं, कमुपालभेमहि, प्रमाणोपपन्नत्वादिति चेत्? तन्न–
सदाऽविलुप्तसाक्षित्वं स्वतःसिद्धं न पार्यते ।
अपह्नोतुं घटस्येव कुशाग्रीयधियाऽऽत्मनः ॥३६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पूर्वमहङ्कारस्यानित्यत्वाद् नित्यात्मधर्मत्वमनुपपन्नम् इत्युक्तम्, इदानीम् आत्मनो नित्यत्वादनित्याहङ्कारधर्मत्वं तस्यानुपपन्नमित्याह–अहङ्कारस्य चेति। **आगमापायिनोऽहङ्कारस्य निष्ठाऽन्वास्थितिर्यस्मिन्नसावागमापायिनिष्ठः तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मात्।।३५।।**

सौगतमतमाशङ्क्य निराकरोति–अस्त्वित्यादिना। **सति देहे तावदात्मनः प्रत्यभिज्ञया स्थायित्वावगमाद्, अनित्यत्वे चाकृताभ्यागमकृतविप्रणाशादि-दोषप्रसक्तेः जातिस्मरादिदर्शनात्, मुख्यार्थे बाधाभावात्, प्रत्यभिज्ञायास्सा-दृश्यादिनिबन्धनत्वकल्पनानुपपत्तेः नानित्यत्वमात्मनः इति भावः।।३६।।**

है, वह किसी काल में होता है और किसी में नहीं। अतः वह अनित्य है। क्योंकि अनित्य धर्म अनित्य धर्मी में ही रहे यह युक्त है, इसलिये यदि अनित्य अहंकार आत्मा का धर्म होगा तो उस अपने धर्मी आत्मा को भी अनित्य बना देगा, अर्थात् वैसा स्वीकारने पर आत्मा को भी अनित्य स्वीकारना होगा, और कोई आस्तिक यह स्वीकारता नहीं— **कभी होने और कभी न होने वाले अहंकार को अपने में स्थित रखने वाला होने से ज्ञानरूप आत्मा अनित्यता को प्राप्त करेगा क्योंकि कभी उत्पन्न और कभी नष्ट होने वाली विशेषता जिससे होती है उसमें परिवर्तन लाती है**॥३५॥ और परिवर्तनशीलता ही अनित्यता है।

यदि ऐसा है तो आत्मा की अनित्यता हो, हम बौद्ध ऐसा मानने के लिये किसी को दोष नहीं देंगे क्योंकि आत्मा की अनित्यता प्रमाणों द्वारा युक्तिसंगत है? इस बौद्धों की शंका का निराकरण करते हैं—**आत्मा की अनित्यता युक्तिसंगत नहीं है। अत्यन्त सूक्ष्म विचार में सक्षम तीक्ष्ण बुद्धिद्वारा भी आत्मा का सदा**

---

१. धर्मिणं विकरोति विविधं करोति परिणामिनं करोतीत्यर्थः।

एतस्माच्च हेतोरहङ्कारस्य अनात्मधर्मत्वम् अवसीयताम्–
प्रमाणैश्चावगम्यत्वाद् घटादिवदहं दृशेः ।
यतो राद्धिः प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति ।।३७।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणैश्चेति। **अहङ्कारः प्रमेयत्वात् घटादिवद् दृशेरात्मनो धर्मो न भवतीत्यर्थः। नन्वात्मापि प्रमाणगम्यः? इत्यत आह**–सत[1] **इति।** राद्धिस्सिद्धिः।।३७।।

अनुभवसिद्ध, कभी न हटने वाला साक्षीपन निराकृत नहीं किया जा सकता जैसे प्रत्यक्षसिद्ध घड़े का युक्ति मात्र से निराकरण नहीं किया जा सकता॥३६॥ प्रत्येक जन्य ज्ञान स्वयं एक तटस्थ स्थायी ज्ञान का विषय बनता है; सुख और दुःख दोनों स्वयं जाने जाते हैं; और उस तटस्थ ज्ञान में अनुकूलता आदि की बुद्धि नहीं, केवल निरपेक्ष भाव से ज्ञान है। यही साक्षिज्ञान है जो जन्य ज्ञानों के होने-न होने को, अज्ञान को, स्मृति को, सुख, काम, क्रोध आदि सब को एक जैसा जानता रहता है और इस प्रकार सब जानना ही आत्मा की साक्षिता है। इस ज्ञान को पुनः कोई विषय नहीं करता अतः यह अपनी सिद्धि में—अर्थात् उत्पत्ति और ज्ञान में—निरपेक्ष होने से स्वतःसिद्ध है। किंच यह साक्षिता गहरी नींद में भी बनी रहती है जिसके बल पर ही हमारा नींद-काल का स्मरण बनता है। अतः यह अविलोप्य है। दृष्टान्त केवल अनिराकरणीयता में है; जैसा प्रत्यक्ष अनुभूयमान होने से घड़ा अनिराकरणीय है वैसे साक्षात् अनुभवसिद्ध होने से साक्षिता। वस्तुतः यहाँ आत्मा की नित्यता के प्रतिपादन में तात्पर्य है। 'मैं वही हूँ जो बचपन में था', 'यह वही है जो कल था' आदि प्रत्यभिज्ञा (=सस्मरण प्रत्यक्ष) आत्मा की स्थायिता में प्रमाण है। प्रत्यभिज्ञा का बाध न होने से उसे सादृश्य से होने वाला भ्रम मानना तो असंगत है। इतना ही नहीं, आत्मा को अनित्य मानने पर यह भी आपत्ति आयेगी कि कर्म करने वाला उसका फल नहीं भोग पायेगा और जो फल भोगेगा उसने उसके जनक कर्म को नहीं किया होगा। अर्थात् अन्य के कर्म का फलभोग अन्य करने लगेगा। यह सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। सारा व्यवहार आत्मा को स्थायी मानकर ही चलता है। अतः आत्मा को नित्य ही मानना पड़ेगा। इसलिए अनित्य अहंकार को आत्मधर्म नहीं माना जा सकता, अन्यथा आत्मा की अनित्यता माननी पड़ेगी, जो मानी नहीं जा सकती।

---

१. 'यत' इति मूलपाठः।

धर्मधर्मिणोश्चेतरेतरविरुद्धात्मकत्वादसङ्गतिः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणानां सिद्धेः प्रागेव सिद्धतया आत्मनः प्रमाणसाधकत्वान्न तयोर्धर्मधर्मिभावो युक्त इत्याह–धर्मधर्मिणोश्चेति।।३८।।

इस कारण से भी अहंकार आत्मा का धर्म नहीं है, यह निश्चय किया जाना चाहिये—**अहंकार साक्षी द्वारा प्रकाशित होता है अतः प्रकाश्य होने से घड़ा आदि की तरह आत्मा का धर्म नहीं है, क्योंकि आत्मा कभी प्रकाश्य नहीं होता कारण कि उसके होने पर प्रमाता प्रमाणादि व्यवहार होते हैं जिससे वे व्यवहार उसे विषय नहीं कर सकते।**।३७।। यहाँ जो अहंकार को प्रमाणों से ज्ञेय बताया, उसका तात्पर्य केवल उसकी ज्ञेयता बताने में समझना चाहिये। दृष्टान्त भी इतने में ही है, अन्यथा अहंकार साक्षिभास्य और घड़ा आदि प्रमातृगम्य होने से दृष्टान्त असंगत होगा। ज्ञेय की आत्मधर्मता के निषेध होने पर शंका उठती है कि आत्मा भी ज्ञेय है अतः ज्ञेय का धर्म ज्ञेय होने में क्या विप्रतिपत्ति? इसके निराकरण के लिये बताया कि आत्मा ज्ञेय नहीं, क्योंकि ज्ञेयता के साधनों के व्यापार से पूर्व ही आत्मा सिद्ध है। पहले ही सिद्ध होने से उन साधनों से उसकी *सिद्धि* नहीं। जिसके प्रकाश से प्रमाता आदि प्रकाश प्रकाशवान् होते हैं, वह क्योंकर उन प्रकाश्य प्रमाता आदि द्वारा प्रकाशित हो सकेगा! दर्पण में पड़ा सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य को प्रकाशित करे, यह असंभव है। अहंकार प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी अनुमानादि का विषय होता ही है अतः उसकी प्रमाणगम्यता संगत है। यद्यपि आत्मा के विषय में भी शब्द, अनुमानादि की गति होती है तथापि उनसे वह *सिद्ध* नहीं होता, केवल उसके बारे में जो अनुपपत्ति आदि होती हैं वे निवृत्त होती हैं। अहंकार भी यद्यपि अनुमानादि से ही सिद्ध हो ऐसी बात नहीं, तथापि अहंकार की साक्षिभास्यता होने से ज्ञेयता है जिससे वह ज्ञानरूप आत्मा का धर्म नहीं हो सकता यह भाव है।

धर्मरूप से अभिमत अहंकार और उसके धर्मीरूप से अभिमत आत्मा, एक-दूसरे से विरुद्ध स्वभाव वाले होने के कारण भी उनका धर्मधर्मिभाव युक्तिसंगत नहीं है।—**धर्मी आत्मा से विरुद्ध स्वभाव वाला होने के कारण दृश्यरूप अहंकार-धर्म का उससे वास्तविक धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता। वायु से लहराती लपटों**

धर्मिणश्च विरुद्धत्वान्न दृश्यगुणसङ्गतिः ।
मारुतान्दोलितज्वालं शैत्यं नाग्निं सिसृप्सति ॥३८॥
तस्माद्विस्रब्धमुपगम्यताम्[1]**–**
द्रष्टृत्वं दृश्यता चैव नैकस्मिन्नेकदा क्वचित् ।
दृश्यदृश्यो न च द्रष्टा द्रष्टुर्दर्शी दृशिर्न च ॥३९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तयुक्तिबलात् द्रष्टृदृश्यत्वे व्यवस्थिताधिकरण एवेत्युपसंहरति–तस्मादिति। **एवं च सत्येतदपि सिद्धमित्याह**–दृश्य इति। **न च दृश्येन विज्ञानेन स्वयमात्मा दृश्यो भवति। तच्च विज्ञानं स्वद्रष्टारमात्मानं न विषयीकरोतीत्यर्थः।।३९।।**

वाली आग को ठण्डापन नहीं प्राप्त होता।।३८।। अहंकार को दृश्य और गुण कहा जिससे उसका आत्मा से विरोध स्पष्ट हो जाये। अर्थान्तरन्यास अलंकार का यहाँ प्रयोग है। आग से विरुद्ध है ठण्डरूप गुण अतः दोनों का गुणगुणी-भाव नहीं, ऐसे ही दृष्टान्त में समझना चाहिये। यद्यपि धर्म और धर्मी हमेशा ही विभिन्न स्वभाव वाले होते हैं तथापि विरुद्ध स्वभाव वाले नहीं, यह भाव है।

इस प्रकार क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय अलग-अलग आश्रय में होते हैं यह निश्चित हो गया, इसलिये यह बात निःशंक होकर मानो—**एक आश्रय में एक ही समय ज्ञान और ज्ञान की विषयता कहीं नहीं रहती। और यह भी सिद्ध होता है कि जानने वाला जिसे जानता है उसके द्वारा जाना नहीं जाता, और न ज्ञान ही स्वरूपभूत जानने वाले को जानता है**।।३९।। जानने वाला तीन के द्वारा ही जाना जाये यह संभव है; या स्वयं अपने द्वारा, या दृश्य द्वारा, या ज्ञान द्वारा। कर्ता और कर्म की भिन्नता निश्चित होने से स्वयं को खुद जानना संभव नहीं। दृश्य जड होने से जानने वाले चेतन को जाने यह भी संगत नहीं। ज्ञानी भी विषय को जानता है और आत्मा विषय है नहीं अतः ज्ञान द्वारा भी वह जाना नहीं जा सकता। किंच ज्ञान आत्मरूप होने से स्वयं अपने को जानने का प्रसंग हो जायेगा जो असंगत है ही। अतः आत्मा जानने वाला और ज्ञान का विषय अहंकार भी हो यह संभव नहीं, यह भाव है।

---

१. विस्रब्धं = 'निःशङ्कं' (सारार्थः) उपगम्यतां=अभ्युपगम्यतामिति भावः।

सर्वसंव्यवहारलोपश्च प्राप्नोति। यस्मात्-

द्रष्टापि यदि दृश्याया आत्मेयात् कर्मतां धियः।
यौगपद्यमदृश्यत्वं वैयर्थ्यं चाप्नुयाच्छ्रुतिः ॥४०॥

कुतः? यस्मात्-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विपक्षे दोषमाह–सर्वसंव्यवहारेति। यौगपद्यमिति **युगपदुभयोर्बुद्ध्यात्मनोर्द्रष्टृत्वं स्यात्। तथा च सति द्रष्टृत्वादेवोभयोरदृश्यत्वे चात्मनः कूटस्थद्रष्ट्रात्मविषयायाः श्रुतेर्वैयर्थ्यं च स्यादित्यर्थः**[1]**॥४०॥**

वैयर्थ्यमेवोपपादयितुमाह–कुत इति[2]। **जानन्तं मां जानामीत्यनुभवाद्**

जानने वाला भी यदि ज्ञेय हो तो ज्ञान-सम्बद्ध सभी व्यवहार रुक जायें, क्योंकि—**यदि जानने वाला आत्मा भी अपने द्वारा ज्ञेय बुद्धि का विषय बन जाये तो वह भी ज्ञेय ही हो जायेगा। ऐसा होने पर आत्मा और बुद्धि दोनों जानने वाले ही हो जायेंगे अतः ज्ञेय कुछ नहीं होगा। इस प्रकार व्यवहार रुकेगा। किंच आत्मा के ज्ञेय होने पर उसे अविषय बताने वाली 'अद्रेश्यम्' इत्यादि श्रुति की सार्थकता नष्ट हो जायेगी॥४०॥** यद्यपि बुद्धि की ज्ञातृता से घट आदि व्यवहार में कोई रुकावट नहीं आयेगी तथापि घटज्ञान आदि व्यवहार में रुकावट आ जायेगी, क्योंकि बुद्धि ज्ञाता होने से ज्ञेय नहीं बन पायेगी और इस प्रकार साक्षी के ज्ञान की विषयता को भी सहन नहीं करेगी। यह कह नहीं सकते कि बुद्धि में ज्ञातृता और ज्ञेयता दोनों रह जायें, क्योंकि एक की विरुद्धधर्माश्रयता का पूर्व श्लोकों में निराकरण हो चुका है।

दोनों ही जानने वाले हो जायेंगे ऐसा कैसे? एवं श्रुति की व्यर्थता कैसे? इसका उत्तर देने के लिये कहते हैं—**नित्यज्ञानरूप कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, यदि विषय ही हो जाये तो उसकी ज्ञानरूपता कैसी? यदि ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व को विरोधी न मानें तो सभी कुछ या ज्ञाता-रूप ही हो जायेगा व ज्ञेय कुछ नहीं**

---

१. चन्द्रिकायाम्—'यदि द्रष्टात्मा, स्वदृश्याया धियः कर्मताम् इयात्, तदा द्रष्टापि दृश्यत इति स्यात्। तथा च बुद्ध्यात्मनोः उभयोरपि युगपद् एकैकस्यैव द्रष्टृत्वं दृश्यत्वं च स्यात्। तथा च सति द्रष्टृत्वाद् एव उभयोः अदृश्यत्वम्। दृश्यदृश्यत्वे च आत्मनः कूटस्थद्रष्ट्रात्मविषयायाः श्रुतेः वैयर्थ्यं स्याद् इत्यर्थः।'

२. चन्द्रिकायामस्यार्थः—'लुप्तदृष्टेः घटादेः एव दृश्यत्वनियमाद्, आत्मनोऽपि दृश्यत्वे दृष्टिलोपः स्यात्। तथा च 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेः' इत्यादिश्रुतेः वैयर्थ्यं प्रसज्येतेत्यर्थः।'

नालुप्तदृष्टेर्दृश्यत्वं दृश्यत्वे द्रष्टृता कुतः।
स्याच्चेद् दृगेकं निर्दृश्यं[1] **जगद्वा स्यादसाक्षिकम् ॥४१॥**

उक्तयुक्तिं दृढीकर्तुमागमोदाहरणोपन्यासः-

आर्तमन्यद् दृशेः सर्वं 'नेति नेती'ति चासकृत्।
वदन्ती निर्गुणं ब्रह्म कथं श्रुतिरुपेक्ष्यते ॥४२॥
'महाभूतान्यहङ्कार' इत्येतत् क्षेत्रमुच्यते।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

द्रष्टुरपि दृश्यत्वं, दृश्यस्य द्रष्टृत्वमविरुद्धमित्याशङ्क्याह–स्याच्चेदिति। **तर्हि दृश्यस्य द्रष्टृरूपत्वाविरोधाद् द्रष्टृस्वभावत्वा(पत्वा) पत्तौ**[2] **दृश्यमेव सर्वमासीदिति द्रष्टृशून्यं जगदेवावशिष्येत इत्यर्थः॥४१॥**

उक्तस्य न्यायस्य प्रशिथिलमूलत्वपरिहाराय मूलत्वप्रमाणं[3] **दर्शयति-** उक्तेति। **उदाह्रियत इत्युदाहरणं वाक्यम्। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे'त्युपक्रम्य 'अतोऽन्यदार्तमि'ति द्रष्ट्रात्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य दृश्यजातस्य विभागित्वेन नित्यात्मधर्मित्वनिराकरणाद्**[4]**, 'नेति नेती'ति मूर्त्तामूर्त्तरूपद्वयनिषेधाच्च सर्वदृश्यासंस्पर्शित्वमात्मनश्श्रुत्या दर्शितमित्यर्थः॥४२॥**

उक्तार्थे स्मृतिरपि प्रमाणमित्याह–महाभूतानीति[5]**॥४३॥**

रहेगा, या ज्ञेयरूप ही हो जायेगा, ज्ञाता कोई नहीं रहेगा॥४१॥ क्योंकि ऐसा है अतः व्यवहार रुकना रूप दोष उचित है।

बतायी युक्ति को निश्चायक बनाने के लिये एवं पूर्वोक्त श्रुतिवैयर्थ्य को स्पष्ट करने के लिये शास्त्र के उद्धरणों को उपस्थित करते हैं—**ज्ञानरूप आत्मा से अतिरिक्त सब विनाशी हैं (दे.बृ. ३-४-२;३.५.१;३.७.२३), 'मूर्त व अमूर्त आत्मा नहीं है' (बृ. ३.९.२३), आदि वाक्यों से बारम्बार आत्मा सब ज्ञेय वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित है यह बताती हुई श्रुति की कैसे उपेक्षा की जाये?॥४२॥** अर्थात्

---

१. 'स्याच्चेद् दृगेका निर्दृश्या' इति क्वचित् पाठः, स साधीयान्।

२. चन्द्रिकायामेवं पठ्यते—'द्रष्टृस्वभावतापत्तौ सर्वं द्रष्टृरूपमेव आसीद् इति दृश्यशून्यो द्रष्टैव अवशिष्येत। तथा चेद् द्रष्टुरपि दृश्यताऽविरोधाद् दृश्यस्वभावतापत्तौ सर्वं दृश्यमेव आसीद् इति, द्रष्टृशून्यं जगद् एव अवशिष्येतेत्यर्थः'।

३. 'मूलप्रमाणम्' इति चन्द्रिकायाम्।

४. नित्य आत्मा धर्मी यस्य तत्त्वनिराकरणाद् इत्यर्थः। 'नित्यात्मधर्मत्वनिरा···' इति चन्द्रिकायाम्।

५. 'महाभूतादिधृत्यन्तं सर्वं क्षेत्रमेवेति भगवताऽप्युक्तत्वाद् आत्मा समस्तप्रपंचशून्य इत्यवगम्यत इत्यर्थः'—चन्द्रिका।

न दृशेर्द्वैतयोगोऽस्ति विश्वेश्वरमतादपि ॥४३॥
अधुना प्रकृतार्थोपसंहारः–
एवमेतद् हिरुग्[1] ज्ञेयं मिथ्यासिद्धमनात्मकम्।
मोहमूलं सुदुर्बोधं द्वैतं युक्तिभिरात्मनः ॥४४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तर्हि सांख्यानामिव द्वैतं भिन्नमपि पारमार्थिकं स्यादित्यत आह– मिथ्यासिद्धमिति। **तथाऽप्यन्यथाख्यातिवादिप्रभृतीनां न मिथ्यात्वं स्यादित्याह–** अनात्मकमिति। अनात्मकं **सत्स्वभावरहितमित्यर्थः। सत्यात्मकार्यस्य कथमेवंविधत्वमित्यत आह–**मोहमूलमिति। **तदेव कथमित्यत आह–**सुदुर्बोधमिति। **प्रमाणयुक्तिभ्यां दुर्निरूपमित्यर्थः।।४४।।**

इन अनेकों श्रुति-वाक्यों के अनुरोध से ज्ञेय और विनाशी अहंकार का आत्मा से तादात्म्य नहीं है यह निश्चित होता है। इस विषय में स्मृति भी प्रमाण है। भगवान् ने गीता में **'महाभूत, अहंकार इत्यादि क्षेत्र कहे जाते हैं' (दे.गी. १३.५-७) कहकर अहंकार को क्षेत्र बताया और क्षेत्रज्ञ आत्मा उससे भिन्न बताया। इससे पता चलता है कि श्रीकृष्णचन्द्र के दृष्टिकोण से भी ज्ञानरूप आत्मा का किसी अहंकारादि दूसरे धर्म से सम्बन्ध नहीं है।**।४३।। यद्यपि गीता के प्रसंग में यहाँ समष्टि अहंकार कहा है तथापि समष्टि-व्यष्टि का अभेद मानकर व्याख्या है। अथवा अव्यक्तपर्यन्त को क्षेत्र कोटि में डालने से आत्मा की समस्त प्रपंच से सम्बन्ध-रहितता बता दी, इसलिये प्रपंच के अन्तर्गत वर्तमान 'मैं ऐसा' इत्यादि अहंकार भी आत्मसम्बन्ध से रहित कह दिया, यह तात्पर्य है।

द्वैत प्रपञ्च को आत्मा से भिन्न प्रतिपादित करने का जो प्रकरण चला उसका तात्पर्य कहते हुए उपसंहार करते हैं—**उपरोक्त श्रुति-युक्ति के अनुसार विचार कर इस द्वैत प्रपंच को आत्मा से पृथक्, वेदान्त विचार का विषय न बनने तक ही वास्तविक प्रतीत होने वाला, स्थायी अस्तित्व न रखने वाला, अज्ञान का कार्य, और सत्य या असत्य की श्रेणियों में अनाधेय होने से भली प्रकार समझने में कठिन जानना चाहिये**।।४४।। मूल में 'युक्तियों द्वारा' इतना ही कहा है पर पूर्व में श्रुति बतायी होने से बहुवचन-प्रयोग का तात्पर्य श्रुतिसंग्रह में समझना चाहिये। प्रपंच अविचारसिद्ध ही है, विचारसहिष्णु नहीं। 'अनात्मक' का यह भी तात्पर्य है कि यह जैसा प्रतीत होता

---

१. हिरुक्—पृथगिति भावः।

कुतो मिथ्यासिद्धत्वं द्वैतस्येति चेत्–
न पृथङ् नात्मना सिद्धिरात्मनोऽन्यस्य वस्तुनः।
आत्मवत् कल्पितस्तस्माद् अहङ्कारादिरात्मनि ॥४५॥
तस्मादज्ञानविजृम्भितमेतत्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एतदेवोत्तरश्लोकेनोपपादयत इत्याह–कुत इति। न पृथगिति **सद्रूपज्ञानस्वभावादात्मनोऽन्यत्वादेव[1] न पृथक् सत्ताप्रतीति (जन्य) सम्भवः। नापि प्रत्यगात्मरूपाभेदेन तत्सिद्धिः, जडाजडयोः वैयर्थ्ययोरभेदायोगादित्यर्थः[2]।।४५।।**

फलितमाह–तस्मादिति। **दृश्यत्वेन द्रष्टृत्वेन सत्यत्वेन आवृतत्वेन चात्यन्तविविक्तयोरात्मानात्मनोर्वस्तुतस्साङ्कर्याभावेपि अहंकारोपाधौ द्वयोः**

है वैसा नहीं ही है। प्रपंच का परिणामी उपादान कारण मोहशब्दित अज्ञान है। क्योंकि इसे न 'है' कहा जा सकता है और न 'नहीं है' कहा जा सकता है इसलिये, एवं क्योंकि प्रमाण तथा युक्ति से सिद्ध नहीं किया जा सकता इसलिये, यह समझने में अत्यन्त कठिन है।

आत्मा से अतिरिक्त प्रतीत होने वाला समस्त द्वैत प्रपञ्च अविचारसिद्ध है यह कैसे? ऐसे—**क्योंकि आत्मा से भिन्न वस्तु का अस्तित्व आत्मा से निरपेक्ष हो स्वतन्त्ररूप से एवं आत्मा से अभिन्नरूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिये वह अहंकारादि अनात्मवस्तु आत्मा में ही भ्रम से आरोपित है। जो सत्य वस्तु होती है उसकी सिद्धि अन्य की अपेक्षा के बिना ही होती है, जैसे आत्मा**।।४५।। अनात्मा की सिद्धि ज्ञानरूप आत्मा की अपेक्षा से ही सम्भव है और उसे आत्मरूप भी कहा नहीं जा सकता। यही भ्रमसिद्धता है; कल्पित साँप को रस्सी में निरपेक्ष सिद्ध कर नहीं सकते, क्योंकि सामान्य या आधार अंश की अनुगति है, और रस्सी से अभिन्न भी कह नहीं सकते, अतः वह आरोपित है। ऐसे ही जगत् आत्मा से निरपेक्ष सिद्धि के अयोग्य और उससे अभिन्न न होने से उसी पर अध्यस्त होने से अविचारसिद्ध ही है। यहाँ आत्मा का दृष्टान्त विपरीत दृष्टान्त है, यथा—'जैसे आग गर्म होती है वैसे पानी

---

१. 'सद्रूपाज्ज्ञानस्वभावाद् आत्मनोऽनन्यत्वादेव न पृथक् सत्ताप्रतीती जडस्य सम्भवतः।'—चन्द्रिकायाम्।

२. 'वैयर्थ्ययोः' इति नास्ति चन्द्रिकायम्, माऽस्तु इहापि इति युक्तम्।

दृश्याः शब्दादयः क्लृप्ता द्रष्टृ च ब्रह्म निर्गुणम्।
अहं तदुभयं बिभ्रद् भ्रान्तिमात्मनि यच्छति ॥४६॥
तत एवेयम् अभिन्नस्यात्मनो भेदबुद्धिः–
दृगेका सर्वभूतेषु भाति दृश्यैरनेकवत्।
जलभाजनभेदेन मयूखस्त्रग्विभेदवत् ॥४७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रतिबिम्बितत्वाद् दर्पणतले प्रतिबिम्बितयोर्लौहित्यमुखयोर्लोहिताविति[1] परस्परसम्बन्धाध्यासवत् भ्रान्त्यैव कर्तृत्वादिसम्बन्धप्रतिभास इत्यर्थः।।४६।।

न केवलमात्मानात्मसम्बन्ध एवाहङ्कारनिबन्धनः, किन्तु प्रतिदेहमात्मनो भेदोऽपि तन्निबन्धन एवेत्याह–तत एवेति। मयूखस्त्रग्वी **रश्मिमाली।।४७।।**

ठण्डा होता है' में कहा जाता है। आत्मा सत्य है क्योंकि स्वत:सिद्ध है व जगत् मिथ्या है क्योंकि उससे विपरीत है, यह भाव है।

इसलिये अहङ्कारादि अज्ञान से ही उत्पन्न हुये हैं। रस्सी के अज्ञान से ही उसमें साँप उत्पन्न होता है। यह भ्रम कैसे होता है, यह बताते हैं—**शब्द आदि अनुभूयमान विषय ज्ञेय रूप में ही निश्चित है और आत्मा सभी सम्बन्धों से रहित होने से ज्ञान रूप में ही निश्चित है। यद्यपि इस प्रकार अत्यन्त विपरीत वस्तुओं का ऐक्य सम्भव नहीं तथापि अहंकार उन दोनों को धारण कर आत्मसम्बन्धी भ्रम सम्भव कर देता है।**।४६।। जैसे दर्पण पर लाल रंग और मुख दोनों का प्रतिबिम्ब पड़े तो मुँह के लाल होने का भ्रम हो जाता है, ऐसे ही 'मैं ऐसा' इस अहंकार में 'मैं' यह आत्मा का और 'ऐसा' (=कर्ता भोक्तादि) यह अनात्मा का स्वरूप मिल जाने से 'आत्मा ऐसा है' यह भ्रान्ति हो जाती है। आत्मसम्बन्धी इसलिये, क्योंकि यह होती भी आत्मा को है और आत्मा के बारे में ही होती है। अहंकार अध्यासरूप ही है अत: पुन: उसका कारण अज्ञान ही है। मैं क्या कहूँ—इसे ठीक नहीं जानने से, अपने को गलत मान लिया, जिससे समग्र संसार हो गया; जैसे कर्ण ने अपने को सही (कौन्तेय) नहीं जाना अत: गलत (राधेय) मान लिया जिससे उसे यावज्जीवन कठिनायी झेलनी पड़ी, यह भाव है।

अहंकार के कारण ही एक आत्मा के नानात्व का निश्चय बनता है। **वस्तुत: आत्मा एक है पर अज्ञान-कल्पित अहंकार के कारण यह भ्रम होता है कि**

---

१. 'मुखयो: लोहितं मुखम् इति'—इति चन्द्रिकायाम्।

यथोक्तार्थस्य प्रतिपत्तये दृष्टान्तः–
मित्रोदासीनशत्रुत्वं यथैकस्यान्यकल्पनात्।
अभिन्नस्य चितेस्तद्वद् भेदोऽन्तःकरणाश्रयः ॥४८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अन्तःकरणोपाधिनिबन्धनो भेद इत्यत्र दृष्टान्तान्तरमाह–यथोक्तस्येति। **एकस्याप्यवयवद्वारा व्यवहारान्तरयोगित्वं स्यादित्यत आह–**अभिन्नस्येति। **अवयव्येव मित्रादिरूपेण कल्प्यते, न तदवयवा इत्यर्थः। नायमर्थविवक्षया धातोरेव निर्देशोऽभिन्नस्य चितेरिति[1]।।४८।।**

आत्मा अनेक है–जैसे जल-पात्र नाना होने के कारण सूर्य भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है वैसे एक ही आत्मा अन्तःकरणों के भेद से नाना प्रतीत होता है।।४७।। विभिन्न पात्रों में जल रखने पर सब में प्रतिबिम्बित होने से सूर्य नाना दीखता है, ऐसे अनेक अन्त:करणों में प्रतिबिम्ब पड़ने से आत्मनानात्व का भ्रम होता है। यहाँ 'दृश्य'-पद का अन्त:करण अर्थ किया। अथवा अहंकार ही अर्थ है। नाना देहादि से तादात्म्याध्यास होने से आत्मनानात्व प्रतीत होता है यह अर्थ है।

अन्त:करण रूप उपाधि के कारण आत्मभेद प्रतीत होता है इस बात को समझाने के लिये और उदाहरण देते हैं—**जिस प्रकार अन्यान्य पुरुषों की संस्कारादि-प्रयुक्त भावनाओं से एक ही व्यक्ति मित्र, तटस्थ, शत्रु आदि समझ लिया जाता है उसी प्रकार एक ही चेतन अन्त:करणों के भेद के कारण भिन्न-भिन्न समझ लिया जाता है।**।४८।। मित्र, शत्रु आदि विरुद्ध धर्मविशिष्ट समझा जाने वाला भी पुरुष विभिन्न नहीं हो जाता। ऐसे ही नाना समझा जाने पर भी आत्मा नाना नहीं हो जाता। अन्त:करणों का भेद ही प्रतीयमान पुरुष-बहुत्व को उपपन्न करने में समर्थ है अत: व्यर्थ होने से आत्म-बहुत्व को माना नहीं जा सकता। मूल में 'चिते:' ऐसा धातु में इक्प्रत्यय लगाकर प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य चिति-धातु के अर्थ को बताना है, कर्तृत्व करणत्वादि की अविवक्षा विवक्षित है। अत: चिति का अर्थ चिद्रूप आत्मा है। इसलिये 'अभिन्नस्य' में पुल्लिग प्रयोग अर्थ को ध्यान में रखकर किया है। अन्यथा, चिति शब्द स्त्रीलिंग होने से 'अभिन्नाया:' कहना चाहिये।

---

१. नायं धातोरेव, किन्तु अर्थविवक्षया निर्देश इत्यन्वय:।

अपहारो यथा भानोः सर्वतो जलपात्रकैः ।
तत्क्रियाऽऽकृतिदेशाप्तिस्तथा बुद्धिभिरात्मनः ॥४९॥
न च विरुद्धधर्माणामेकत्रानुपपत्तिः। किं कारणम्?

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अन्तःकरणोपाधिगतस्यात्मनः, तत्क्रियायाः, तदाकृतेश्च स्वच्छत्वपरिच्छिन्नत्वादेः, तद्देशस्य च हृदयप्रदेशादेस्सम्बन्धाध्यासं दृष्टान्तान्तरेणेत्याह (णाह)–अपहार इति। **अपहारस्वातन्त्र्यापादानम्**[१]**।।४९।।**

सर्वभूतेष्वेक एव चेदात्मा तर्हि तस्य युगपदेव परस्परविरुद्धसुख-दुःखरागद्वेषभ्रान्तिसम्यग्ज्ञानाद्याश्रयत्वं प्रसज्यते। तच्चानुपपन्नं तत्कथमुक्तं 'दृगेका सर्वभूतेष्वि'ति? तत्राह–न चेति। एकस्यां योषिति

चैतन्य में अन्तर न आकर भी व्यवहार हो जाता है, इसे सदृष्टान्त बताते हैं—**जैसे अपने स्थान पर स्थित सूर्य का ही जल भरे बर्तनों द्वारा सर्वत्र लाना-ले जाना हो जाता है, उन बर्तनों की क्रिया से सूर्य की क्रिया होती है, उनकी आकृति से सूर्य की आकृति बदल जाती है, जहाँ-जहाँ वे पहुँचते हैं वहीं सूर्य भी पहुँच जाता है; वैसे ही अविकारी चैतन्य आत्मा अन्तःकरण के द्वारा क्रिया आदि करने वाला हो जाता है**॥४९॥ बर्तनों में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिससे बर्तनों की विशेषतायें सूर्य में प्रतीत होती हैं। इसी तरह आत्मा का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ता है जिससे अन्तःकरण का शरीरान्तर में जाना आदि, उसकी ध्यानादि क्रियायें, उसकी सात्त्विक आदि आकृति, उसकी हृदयादि देश में अवस्थिति आत्मा में प्रतीत होते हैं। वस्तुतः परिणाम न होते हुए परिवर्तन प्रतीत हो जाता है यह अर्थ है। आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ना आत्मा में अन्तःकरण और उसके धर्मों का व अन्तःकरण में आत्माभिन्न धर्मों का अध्यास होना ही है। सरल रूप में, 'मैं कर्ता-भोक्ता' यह निश्चय हो जाना ही आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ जाना है।

यदि एक ही आत्मा है तो एक ही समय में सुख-दुःख आदि विपरीत धर्मों (=गुणों) का उसमें रहना युक्तिसंगत नहीं, ऐसी बात नहीं। क्यों नहीं? क्योंकि—**जो कल्पित होते हैं वे वास्तविक नहीं होते और अवास्तविक विरुद्ध वस्तुओं**

---

१. 'रः स्वा' इति सम्भवति; स्वम् = अपहारकर्तृतया विवक्षितम्।

कल्पितानामवस्तुत्वात् स्यादेकत्रापि संभवः ।
कमनीयाऽशुचिः स्वाद्वीत्येकस्यामिव योषिति ॥५०॥
न चायं क्रियाकारकफलात्मक आभास ईषदपि परमार्थवस्तु

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कामुकपरिव्राजकशुनामिति[१] **शेषः।।५०।।**

कल्पितत्वे सति तथा स्यात्, तदेवासिद्धमिति। तत्राह–न चाय मिति।

का एक समय में एक आश्रय में रहना युक्ति-विरुद्ध नहीं है, जैसे कमनीयता, अशुद्धता और स्वादिष्टता तीनों विभिन्न धर्मों से विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक ही स्त्री विशेषित कर दी जाती है॥५०॥ क्योंकि कमनीयता आदि धर्म वास्तविक नहीं कल्पित हैं, इसलिये एक ही समय वे एक ही स्त्री में रह जाते हैं। यहाँ कामी की दृष्टि से कमनीयता, विरक्त की दृष्टि से अशुद्धता और कुत्ते की दृष्टि से स्वादिष्टता कही है। कमनीयता और अशुद्धता की विरुद्धता स्पष्ट है। यहाँ अशुद्ध का तात्पर्य है भोग से पुण्य-अपहारकता। ऐसे ही रसनेन्द्रिय-अग्राह्यता मनुष्यादि द्वारा स्त्री पर आक्षिप्त है जब कि कुत्ता रसनेन्द्रिय-ग्राह्यता आक्षेप करता है। अतः भी विरोध स्फुट है। अथवा रस्सी में भ्रम होने पर किसी को अत्यन्त शुद्ध गंगा जल की धारा और किसी को अत्यन्त अशुद्ध घोड़े के मूत्र की धारा एक ही समय में दीखती है। दोनों के कल्पित होने से उनकी युगपत् स्थिति युक्तिविरुद्ध नहीं। इसी प्रकार सुख-दुःखादि के कल्पित होने से उनका युगपत् एक आत्मा में रहना संभव हो जाता है।

क्रिया, उसके साधन और उसके फल—इतने स्वरूप वाली भेद-प्रतीति वास्तव सत्य आत्मा का थोड़ा भी स्पर्श नहीं करती, आत्मा से इसका कुछ भी

---

१. एकस्मिन् योषिदर्थे कामुकस्य कमनीयता, परिव्राजकस्यऽशुचित्वम्, शुनां कृते पुनः सुस्वादुभोजनमिति भावः। उक्तं हि सर्वदर्शनसंग्रहे—
'परिव्राट्-कामुक-शुनामेकस्यां प्रमदातनौ।
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः'॥ (स.द.सं., बौद्ध-दर्शनम्-१२)
तथाचोक्तं पञ्चदश्याम्—
'भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा।
प्रतियोगिधिया योषिद्विद्यते न स्वरूपतः'॥ (पं.द. ४-२३)

स्पृशति। तस्य मोहमात्रोपादानत्वात्–

अभूताभिनिवेशेन स्वात्मानं वञ्चयत्ययम्।
असत्यपि द्वितीयेऽर्थे सोमशर्मपिता यथा ॥५१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सोमशर्मपितेति। **यथा सन्तु**[1] **कश्चिन्मनोरथकल्पितं सोमशर्मसंज्ञितं पुत्रमरक्षन्तीं भार्यां पदा प्रहरणेनात्मसर्वस्वं सक्तुकुम्भं बभञ्ज तथेत्यर्थः।।५१।।**

सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह प्रतीति अज्ञान के कारण होने से भ्रमरूप है और भ्रमसिद्ध वस्तु का सत्य वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं होता जैसे कल्पित नीलिमा से आकाश नीला नहीं हो जाता।—**जैसे सोमशर्मा के पिता ने मिथ्या वस्तुओं को मानकर स्वयं को ही ठग लिया, वैसे ही अपने से भिन्न किसी वस्तु के न होने पर भी उसके विषय में मिथ्या निश्चय हो जाने से 'मैं सुखी, दुःखी' आदि प्रकार से पुरुष अपने को ही ठगता रहता है।**॥५१॥ पंचतन्त्र में सोमशर्मा के पिता की कथा है[2]। किसी दरिद्र ब्रह्मचारी को दुर्भिक्ष के समय मुट्ठीभर सत्तू प्राप्त हुआ जिसे भिक्षा पात्र में रखकर वह मनोराज्य बनाने लगा। 'इस सत्तू से मैं कुछ गायें खरीद कर पालूँगा जिनसे अनेक बैल प्राप्त हो जायेंगे। उनसे मैं प्रभूत खेती करूँगा और धनधान्य-सम्पन्न हो दास आदि से भरपूर घर बनाऊँगा जिससे प्रभावित हो कोई प्रशस्त पुरुष अपनी कन्या का मुझ से विवाह कर देगा। अपने पुत्र का नाम मैं सोमशर्मा रखूँगा। तब कभी रोते हुए पुत्र पर ध्यान न देते हुए कार्यान्तर में संलग्न अपनी पत्नी को थप्पड़ मारूँगा।' ऐसा सोचते हुए उसने भिक्षापत्र पर ही हाथ मार दिया जिससे वह टूट गया और सत्तू हवा से उड़ गया। इस प्रकार मिथ्या पुत्र-पत्नी आदि का निश्चय कर उस ब्रह्मचारी ने अपने को ही ठग लिया। ऐसे ही अवास्तविक कर्तृत्व आदि को अपने में मान कर उसी निश्चय के अनुसार जीव कर्म करते हुए फल भोगता रहता है, जबकि वस्तुतः वह कर्ता-भोक्ता है ही नहीं।

---

१. सन्तु-इति पदमिह मास्तु।

२. कथा को ज्ञानोत्तमटीका के अनुसार लिखा है, पंचतन्त्र का निर्देश केवल उत्सूचनार्थ है। (दे. पंचतन्त्र ५-९)। हिन्दी में प्रायः इसे शेखचिल्ली का किस्सा कहते हैं।

वस्तुयाथात्म्यानवबोधपटलावनद्धाक्षः सन्–

सुभ्रूः सुनासा सुमुखी सुनेत्रा चारुहासिनी।
कल्पनामात्रसंमोहाद्रामेत्यालिङ्गतेऽशुचिम् ॥५२॥
सर्वस्यानर्थजातस्य जिहासितस्य मूलमहङ्कार एव, तस्याऽऽत्मा-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कल्पनाया अयथावस्तुव्यवहारहेतुत्वे दृष्टान्तान्तरमाह–वस्तु-याथात्म्येति।।५२।।

यदुक्तं 'अहं तदुभयं बिभ्रत् भ्रान्तिमात्मनि यच्छति' इति, तत्प्रपञ्चयितुमाह–सर्वस्येति। **दृश्यैः शब्दादिभिरनुरक्तं सम्बद्धं सत्तदन्तःकरणं**

अवास्तविक वस्तु का कल्पना से व्यवहार होता है इसमें एक और उदाहरण देते हैं—वस्तु की यथार्थता के अज्ञानरूप नेत्ररोग से ढकी आँख वाला—**केवल कल्पना से 'यह सुन्दर भौंहों वाली, सुन्दर नाक वाली, सुन्दर मुँह वाली, सुन्दर आँखों वाली, अच्छे ढंग से हँसने वाली स्त्री है' ऐसा निश्चय कर किसी अशुद्ध पदार्थ का भी आलिंगन कर लेता है।**॥५२॥ नशे की अवस्था में मनुष्य की खम्बा आदि को स्त्री आदि मान कर आलिंगनादि में प्रवृत्ति देखी जाती है। 'कल्पनामात्रसंमोहात्' का अर्थ है कल्पनामात्र रूप सम्मोह से; अर्थात् सौन्दर्य आदि का निश्चय केवल उसकी कल्पना है। इससे यह भ्रम न हो कि वहाँ सर्वथा कुछ है ही नहीं, इसलिये अशुद्ध पदार्थ को बताया। इसी प्रकार, आत्मा में अज्ञान से कर्तृत्वादि को कल्पित कर उसे अपने से चिपटा लेता है—'मैं कर्ता' आदि मान लेता है। दृष्टान्त में यद्यपि आलिंगन अशुद्ध वस्तु का है तथापि उसे 'सुन्दरी का आलिंगन कर रहा हूँ' ऐसा निश्चय है। दार्ष्टान्त में यद्यपि आत्मा अकर्त्रादि है तथापि हमें 'मैं कर्तादि हूँ' ऐसा निश्चय है। दृष्टान्त में अधिष्ठान अशुद्ध है पर दार्ष्टान्त में वह शुद्ध है। दृष्टान्त में अधिष्ठान के याथात्म्य ज्ञान से ग्लानि और दार्ष्टान्त में अधिष्ठान के याथात्म्य ज्ञान से आनन्द होता है इत्यादि भेद द्रष्टव्य है। अन्यथा वस्तु में अन्यथा निश्चय से व्यवहार हो जाता है। इतने मात्र में दृष्टान्त समझना चाहिये।

'अहंकार उन दोनों को धारण कर आत्मसम्बन्धी भ्रम सम्भव कर देता है' यह पहले (२.४६) कहा था। उसी बात को समझाने के लिये कहते हैं—जिसे छोड़ना अभीष्ट है, उस सारे अनर्थ समूह का मूल अहंकार ही है क्योंकि वह

नात्मोपरागात्। न तु परमार्थत आत्मनोऽविद्यया तत्कार्येण वा सम्बन्धोऽभूत्, अस्ति भविष्यति वा। तस्यापरिलुप्तदृष्टिस्वाभाव्यात्–

दृश्यानुरक्तं तद्द्रष्टृ दृश्यं द्रष्टृनुरञ्जितम्।
अहंवृत्त्योभयं रक्तं तन्नाशेऽद्वैतताऽऽत्मनः ॥५३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्वात्मनि प्रतिबिम्बितचैतन्याभासात् तेषां द्रष्टृ भवति। तदेव च द्रष्टृात्मचैतन्यानुरञ्जितं सत्तस्य चैतन्यस्य दृश्यम् अवभास्यं भवति। तदेवमुक्तन्यायेन अहंवृत्त्योभयमपि द्रष्टा दृश्यं चेत्येतद्, अनुरक्तम् अहमिदं जानामीति। तेनात्यन्तविविक्तयोस्सम्बन्धहेतुरहङ्कार एकएवेति, तन्निवृत्तावात्मनोऽद्वैतत्वं युक्तमित्यर्थः।।५३।।

आत्मा व अनात्मा दोनों से सम्बद्ध होने के कारण अनर्थ अर्थात् अनात्मा को आत्मा से मिला देता है। अहंकारमूलक आध्यासिक सम्बन्ध को छोड़कर आत्मा का अविद्या और उसके कार्य से कोई वास्तविक सम्बन्ध न हुआ, न है और न होगा। आत्मा का स्वभाव नित्यं ज्ञान है, अतः अनित्य व अज्ञानस्वभाव वाले अनात्मा से उसका वास्तविक सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। लोक में यद्यपि विपरीत स्वभाव वाले पदार्थों का व्यावहारिक सम्बन्ध होता है, जैसे आग और पानी का, तथापि ज्ञान व तदितर का सम्बन्ध आध्यासिक ही मानना पड़ता है यह अद्वैतसिद्धि आदि में सूपपादित है। इसीलिये ज्ञानरूपता बताई व वृत्तिज्ञान से भेदज्ञापनार्थ नित्यरूपता बताई। अहंकार की सम्बन्ध-निर्वाहिकता को श्लोक से कहते हैं— **शब्दादि विषयों से सम्बद्ध अन्तःकरण, अपने में पड़े चैतन्य-प्रकाश के कारण उन्हें देखने वाला बन जाता है और आत्मा से उसके सम्बन्ध की दृष्टि से वही अन्तःकरण विषय बन जाता है। इस प्रकार अहं-वृत्ति का सम्बन्ध विषय करना और विषय होना, इन दोनों से है। उस अहंवृत्ति के नष्ट हो जाने पर आत्मा की अद्वैतता स्वतःसिद्ध है**॥५३॥ अन्तःकरण व अहंवृत्ति का पर्यायतया प्रयोग समझना चाहिये।

इस पर कुछ भीरु लोग शंका करते हैं कि तत्त्वमस्यादि वाक्य के अर्थ को समझने के लिये सह-अस्तित्व व पृथक्-अस्तित्व के विचार के द्वारा अहंकार को

इह केचिच्चोदयन्ति–योऽयम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अनात्मतयोत्सारितोऽहङ्कारो वाक्यार्थप्रतिपत्तये, सोऽयं विपरीतार्थः संवृत्तः; यस्मात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति ब्रह्माहं-पदार्थयोः सामानाधिकरण्यश्रवणाद् अनात्मार्थेन सामानाधिकरण्यं प्राप्नोति। वक्तव्या वा प्रत्यगात्मनि तस्य वृत्तिरिति। सोच्यते प्रसिद्धलक्षणा-गुणवृत्तिभिः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अनात्मत्वेऽप्यहंकारस्य अहं ब्रह्मास्मीत्यादौ तद्वाचकपदस्य प्रत्यगात्मनि वृत्तिमाक्षेपपूर्वकं दर्शयति–इह केचिदित्यादिना। लक्षणावृत्तिं तावद्दर्शयति–

अनात्मरूप सिद्ध कर जो आत्मरूपता से उसे हटा दिया गया, वह तो अभीप्सित से उल्टी ही बात हो गयी, क्योंकि ऐसा होने पर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्म व 'मैं' अर्थात् अहंकार की समानाधिकरणता का श्रवण होने से ब्रह्म की अनात्मा से समानाधिकरणता है—यह अनिष्ट बोध होता है। परस्पर साकांक्ष अपर्याय समान विभक्तिक पदों का श्रवण होने पर यही ज्ञान होता है कि वे एकार्थक हैं, जैसे कोशादि में 'घट कलश' यह सुनने पर यही पता चलता है कि घट-शब्द व कलश-शब्द का अर्थ एक है। इसे ही समानाधिकरणता कहा जाता है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म' या 'तू ब्रह्म' आदि वाक्य भी यही ज्ञान कराते हैं कि मैं व ब्रह्म या तू और ब्रह्म से एक ही आत्मा कहा जा रहा है। अतः यदि 'मैं'-से चेतन न कहा जाये तो 'मैं ब्रह्म' इस प्रयोग का अर्थ दुर्घट हो जायेगा। अचेतन व चेतन एक है, यह क्योंकर कहा जा सकता है! अतः आपाततः विचार करने वाले यह प्रश्न उठाते हैं कि अहंकार को अनात्मा सिद्ध करना स्वयं अपने मत से ही विरुद्ध है। इतना याद रखना चाहिये कि पूर्व में (श्लो. २९) अहं के बाध से ही 'अहं ब्रह्मास्मि' को संगत बताया जा चुका है। उसका अनुसरण करने पर यहाँ विरोध अकिंचित्कर है। किन्तु वेदान्त की सामान्य प्रक्रिया से इसका विरोध अवश्य प्रतीत होता है। इस विरोध को निवृत्त करने के लिये अहंशब्द प्रत्यगात्मा को बताता है, यह सिद्ध करना आवश्यक है। अतः अभिधा, लक्षणा व गौणीवृत्ति, तीनों द्वारा अहं शब्द प्रत्यगात्मा को कहता है, यह बताया जाता है।

उच्चारण करने पर प्रथमतः जिस अर्थ को कहे, कोश आदि में उसका जो

नाज्ञासिषमिति प्राह सुषुप्तादुत्थितोऽपि हि।
अयोदाहादिवत्तेन लक्षणं[1] परमात्मनः ॥५४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नाज्ञासिषमिति। **सुषुप्तावस्थायामहङ्काराभावेऽपि नाहमज्ञासिषमिति केवलात्मन्यहं शब्दस्य प्रयोगायोगाद्, अयोदहतीत्यादावयश्शब्दस्य दाहके दहने लक्षणया वृत्तिवदात्मनि तस्य वृत्तिरुपपद्यत इत्यर्थः।।५४।।**

अर्थ बताया जाये वह अभिधार्थ कहलाता है व उसे बताने की शब्दनिष्ठ शक्ति अभिधा कही जाती है। अभिधार्थ से सम्बद्ध अर्थ को जब बताता है तब उसे उस शब्द का लक्ष्यार्थ कहा जाता है व शब्द-सम्बन्धी वह व्यापार लक्षणा कहाता है। अभिधेयार्थ से सम्बद्ध गुण (या गुणों, विशेषताओं) के सम्बन्ध से शब्द जिसे बताये वह उसका गौणार्थ व उसे बताने को गौणीवृत्ति कहते हैं। 'अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।।'तं.वा.पृ. ३५४।। सर्वज्ञात्ममुनि ने (१.१७१) भी लक्षणा व गौणीवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट किया है। कुछ लोग ऐसा सरलार्थ कर देते हैं कि अभिधेयार्थ के सदृश अर्थ को गौण, तथा सादृश्य नहीं, किसी सम्बन्ध से अभिधेयार्थ से सम्बद्ध अर्थ को लक्ष्य मानना चाहिये। तीन वृत्तियाँ मीमांसक मानते हैं व अविरोध होने से वेदान्त भी स्वीकारता है। अतः तीनों द्वारा अहंशब्द प्रत्यगात्मा को बताता है यह श्लोकों से समझाते हैं—

जहाँ अहंकार नहीं है ऐसी सुषुप्ति से भी उठा हुआ व्यक्ति 'मैंने कुछ नहीं जाना' ऐसा कहता है। अतः जैसे 'लोहा जल रहा है' आदि प्रयोग में लोहा-शब्द आग का लक्षक है वैसे 'अहं-ब्रह्मास्मि' आदि में अहं-शब्द प्रत्यगात्मा का लक्षक है–लक्षणा से प्रत्यगात्मा को कहता है॥५४॥ सौषुप्त अनुभव अहंकार का नहीं होता, तथापि अहंकार से सम्बद्ध होने वाले आत्मा का होने से उसके लिये 'मैंने' ऐसा निर्देश होता है, अतः मैं-शब्द अहंकार से सम्बद्ध प्रत्यगात्मा का लक्षक होता है। जैसे इस स्थल में अहंकार का उस अवस्था में

---

१. करणव्युत्पत्त्या, लक्षकमित्यर्थः। अयःपदस्य वह्नौ जहल्लक्षणेति चन्द्रिकाकारः।

प्रत्यक्त्वादतिसूक्ष्मत्वाद् आत्मदृष्ट्यनुशीलनात्।
अतो वृत्तीर्विहायान्या ह्यहंवृत्त्योपलक्ष्यते ॥५५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीमहं-शब्दस्यात्मनि गुणवृत्तिमाह–प्रत्यक्त्वादिति। **स्वव्यतिरिक्त-सकलानात्मापेक्षया आन्तरत्वाद् द्रव्यत्वे[1] सति स्पर्शादिरहितत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च आत्मसाधर्म्यम्।** आत्मदृष्ट्यनुशीलनादिति। **आत्मनस्स्वरूपभूता या दृष्टिस्तया अनुशीलनात् तदाभासोदयेन निरन्तरसम्बन्धादित्यर्थः।।५५।।**

इदानीमन्तःकरणविशिष्टेऽहं–शब्दस्य मुख्यया वृत्त्या वृत्तिरस्तीत्याह–

न होना रूप अनुपपत्ति से लक्षणाश्रयण है वैसे अनात्मरूप अहंकार का ब्रह्मसामानाधिकरण्य अनुपपन्न होने से लक्षणाश्रयण आवश्यक है, यह भाव है।

अब गौणीवृत्ति बताते हैं—**निकट होने के कारण, अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण और 'यह मैं हूँ' इस दृष्टि से उसका विचार किया जाता है, इसलिये घटादि-विषयक अन्य वृत्तियों को छोड़कर अहंकारात्मिका वृत्ति से प्रत्यगात्मा उपलक्षित होता है**॥५५॥ जैसे दधिनाशकत्वसाम्य से काकपद का गौणार्थ बिल्ली आदि हो जाता है वैसा यहाँ अभिप्राय है, इसलिये उपलक्षणा बताई है। पूर्वार्ध के हेतुओं का ही संग्रह 'अतः' शब्द से किया। आत्मा स्वरूप होने से अत्यन्त निकट है। केवल आत्मा का विषय होने से अहंकार कुछ ही दूर है, अधिक नहीं, अतः नैकट्य की समानता बताई। चैतन्यग्राहकता को ही सूक्ष्मता समझना चाहिये। पंचकोशविचार में विज्ञानमयकोश में अहं-बुद्धिरूप उपासना की जाती है। अथवा विवेक करते हुए एक स्तर आता है जिसमें विज्ञान को आत्मा मान लिया जाता है; इस गुण की यहाँ विवक्षा है। अथवा, आत्मा की शीलनरूप दृष्टि का अनु-शीलन करने से उसकी आत्मता व उसी गुण से अहंपद की आत्मविषयता विवक्षित है। एवं च अहं शब्द के वाच्य अहंवृत्ति से सम्बद्ध नैकट्यादिगुण के सम्बन्ध से प्रत्यगात्मा को अहं कहने के कारण गौणीवृत्ति से अहमर्थ आत्मा सिद्ध हो जाता है। यहाँ लक्ष्यमाण गुण हुए नैकट्यादि, उनसे योग (सम्बन्ध) हुआ प्रत्यगात्मा का, अतः 'लक्ष्यमाणगुणैः योगात्' यह ठीक घट गया।

अब मुख्य वृत्ति को दिखाते हैं—**अहंवृत्ति सदा ही आत्मा के साथ ही**

---

१. संख्यासंयोगादिगुणवत्तया भौतिकत्वाच्चान्तःकरणस्य द्रव्यत्वे तद्वृत्तिरूपाहंकारस्य द्रव्यत्वम्।

आत्मना चाविनाभावमथवा विलयं व्रजेत्[१]।
न तु पक्षान्तरं यायादतश्चाहंधियोच्यते ॥५६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मनेति। [२]**विद्यमानं सदात्मव्यतिरेकेण क्षणमपि न तिष्ठतीत्यर्थः**। अहंधिया **अहंधीहेतुना अहंशब्देनेति यावत्**।।५६।।

विद्यमान रहती है, आत्मा के बिना वह नष्ट ही हो जायगी, आत्मा के अभाव में अहंवृत्ति विद्यमान रहे, यह एक क्षण के लिये भी सम्भव नहीं। अतः 'अहम्' इस शब्द से सीधे ही प्रत्यगात्मा कहा जाता है॥५६॥ मूल में 'अहंधी' अहं-यह ज्ञान कहा है, पर प्रकरणानुरोध से उसका तात्पर्य है अहम्—इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाला अहं-यह शब्द। यह बताया था कि उच्चारित होने पर नियमतः जिस अर्थ को शब्द उपस्थित करे, वह उसकी मुख्यवृत्ति से कहा जाने वाला शक्य या अभिधार्थ होता है। इसे ही ध्यान में रख यहाँ प्रत्यगात्मा को अहं पद का शक्य घोषित कर दिया है क्योंकि अहंपद से नियमतः उपस्थित होने वाले अहंकार की तरह आत्मा भी नियमतः उपस्थित होना स्वीकार्य है, कारण कि आत्मा के बिना अहंकार कभी होता नहीं।

शंका होती है कि घड़ा मिट्टी के बिना क्षण भर भी रहता नहीं, तब क्या तुल्य न्याय से 'घड़ा'—इस शब्द का अभिधार्य (मुख्यार्थ) मिट्टी को मानना होगा? इसके निराकरण के लिये यह समझ लेना जरूरी है कि अहं शब्द की मुख्यवृत्ति प्रत्यगात्मा में मानने के लिये अहंकार का उसके बिना न मिलना ही पर्याप्त हेतु नहीं, प्रत्युत यह स्पष्ट अनुभव उसके लिये कारण है कि 'अहं' का उच्चारण करने पर तादृश विवक्षा से प्रत्यगात्मा की उपस्थिति होती है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार प्रत्यगात्मा को 'अस्मत्प्रत्ययविषय' कहते हैं। इतना ही नहीं, तत्तत्स्थल पर वे आत्मशब्द का स्पष्टार्थ प्रत्यगात्मा मुख्यतः स्वीकारते हैं (द्र.छा.भा. ६.८.७, पृ. २६५ म.अ.सं. कठ.भा. २.१)। जैसे सैन्धवपद विवक्षा-भेद से मुख्य ही वृत्ति द्वारा विभिन्नार्थ उपस्थित कर देता है, वैसा यहाँ विवक्षित है। शब्दोपस्थिति का नियम

१. कल्पितस्याधिष्ठानसत्तां विनाऽसम्भवात्।

२. अहंकारवस्तु—इत्यध्याहार्यम्।

कीदृक्पुनर्वस्तु लक्ष्यम्–
नामादिभ्यः परो भूमा निष्कलोऽकारकोऽक्रियः।
स एवाऽऽत्मवतामात्मा स्वतः सिद्धः स एव नः ॥५७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवमहंशब्दवाच्यं दर्शितम्। इदानीं प्रश्नपूर्वकं लक्ष्यं दर्शयति–कीदृगिति। **नामादिभ्यः प्राणान्तेभ्योऽन्यो 'यत्र नान्यत्पश्यती' त्यारभ्य 'स भूमे'**

बताना श्लोक का तात्पर्य है। क्यों अहं पद नियमतः प्रत्यगात्मा को उपस्थित करता है—यह प्रश्न मन में रख, अहंकार की विद्यमानता उस पर निर्भर रहने के कारण नियमतः उपस्थित करता है—यह उत्तर दिया गया है। जो तो पंचदशी (७.९) में केवल 'मिले जुले' रूप को मुख्य व अन्यों को अमुख्य या गौण कहा है, वह प्रायोवाद से या मतभेद से समझना चाहिये जिसके अनुकूल सर्वज्ञाचार्य का 'यो यः शब्दो यत्कृतेर्थे निरूढः' इत्यादि (१.१८५) श्लोक-प्रसंग है। प्रकृत नैष्कर्म्यसिद्धि के अनुकूल यह सर्वज्ञवचन है—'प्रत्यग्भावस्तावदेकोस्ति बुद्धौ प्रत्यग्भावः कश्चिदन्यः प्रतीचि' (१.१५९) जिसका तात्पर्य है 'प्रत्यग्भाव आत्मभावो बुद्धावपारमार्थिकः तस्या अपि प्रतीपं अंचनात् (तत्र सः)। प्रतीचि स तात्त्विकः'। इसी आधार पर सम्भवतः 'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्' (तै.वा.ब्र. ९) आदि वार्तिक व सौषुप्तोत्थिति आदि दृष्टान्त उचित बैठते हैं। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिविरोध की भी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि निर्विशेष की अविषयता में वह श्रुति गतार्थ है व यहाँ जिसे वाच्य कहा जा रहा है वह यत्किंचिद्विशेष से निरूपित ही है[१]। और यह भी नहीं कि निर्विशेष की विषयता प्राप्त नहीं कि उसका निषेध न हो सके, क्योंकि सब वस्तु सनाम हैं यह भ्रम सम्भव है एवं च निर्विशेष भी वस्तु होने से उसका भी अभिधायक होगा यह प्राप्त होने पर 'यतो वाचो' निषेध करती है।

लक्षणा-वृत्ति से ज्ञेय वस्तु कैसी है? यह श्लोक द्वारा बताते हैं—**नाम आदि से परे जो निरवयव, क्रिया-कारक-फलशून्य, व्यापक आनन्दतत्त्व है, वही सब आत्मावालों का आत्मा है, वही स्वतःसिद्ध चेतन हमारे मत में**

१. किंच प्रत्यगात्मा को यहाँ विषय कहा व व्यापक—प्रत्यक्, पराग्, उभयसाधारण व उभयातीत—को अविषय माना जाता है, अतः भी विरोध नहीं।

अज्ञानोत्थबुद्ध्यादिकर्तृत्वोपाधिमात्मानं परिगृह्यैव अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् 'अहं सुखी दुःखी च' इत्यहङ्कारादेरनात्मधर्मत्वमुक्तम्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

त्युक्तलक्षणः क्रियाकारकतत्साध्यत्वशून्यत्वेऽपि स्वतस्सिद्धत्वेन प्रकाशमानो वेदान्तिनामभिमतः सर्वेषामात्मा लक्ष्यत इत्यर्थः।।५७।।

पूर्वं द्रष्टुः दृश्यान्वयव्यतिरेकौ दर्शितौ। सम्प्रति साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेकौ प्रदर्श्येते इत्याह–अज्ञानोत्थेति। **अज्ञानोत्थो बुद्ध्यादिलक्षणः कर्तृत्वोपाधिर्यस्य**[1]

लक्षणावृत्ति से ज्ञेय है।।५७।। 'नाम आदि' से सनत्कुमार द्वारा नारद को छान्दोग्य सप्तम अध्याय में उपदिष्ट उपाधियाँ विवक्षित हैं। वहाँ उपदिष्ट भूमा आत्मा है यही आकर का निर्णय है। आत्मावालों का अर्थ चेतनव्यक्ति है—सभी चेतन व्यक्तियों में जो चेतना है वह आत्मा ही है। वह स्वतः सिद्ध कहा जाता है जो अपने अपरोक्ष व्यवहार-योग्य हो पर बुद्धिविषय न हो। इसे ही स्वयंप्रकाश, स्वप्रकाश आदि पदों से कहते हैं। यहाँ यह शंका समझनी चाहिये कि लोक में प्रायः वही लक्ष्य देखा जाता है जो प्रमाणान्तर से सिद्ध हो। जैसे 'किनारा' प्रत्यक्षादि से सिद्ध पदार्थ है व 'गंगा' पद से उसकी लक्षणा होती है। इसी नियम के अनुसार शंका होती है कि औपनिषद शब्दों द्वारा लक्ष्य होने वाला ब्रह्म भी प्रमाणान्तर का विषय होगा। यदि है, तब तो अविषयता नहीं रही और यदि नहीं है, तो वह लक्ष्य बने यह असंगत हो गया। इसका उत्तर देने के लिये 'स्वतः सिद्ध' कहा। तात्पर्य है कि जिसकी लक्षणा की जाये, वह सिद्ध (ज्ञात) हो, बस इतना ही आवश्यक है, न कि वह प्रमित (प्रमाण-विषय) हो, यह भी। जब ज्ञात होने से निर्वाह सम्भव है तब प्रमित पर्यन्त कल्पनागौरव व्यर्थ है। एवं च स्वतः सिद्ध होने से आत्मा की ज्ञातता का लाभ हो जाता है जिससे लक्ष्यता संगत ठहरती है।

द्रष्टा अर्थात् विषयकर्ता के अन्वय (अनुगम, नित्य अवस्थिति) और दृश्य अर्थात् विषय के व्यतिरेक (अननुगम) के प्रदर्शन द्वारा अहंकारादि आत्मा नहीं, यह बताया। अब विषयकर्तृत्व का भी व्यतिरेक बतायेंगे : अज्ञान से उत्पन्न बुद्धि आदिरूप कर्तृता जिसकी उपाधि है, उस द्रष्टा-रूप आत्मा को ही लेकर अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा 'मैं

---

१. तद् इत्यत्र तम् इति पठनीयं, चन्द्रिकायामप्येवम्।

केवलात्माभ्युपगमे अशक्यत्वात्, फलाभावाच्च। अथेदानीमविद्या-परिकल्पितं साक्षित्वमाश्रित्य कर्तृत्वाद्यशेषपरिणामप्रतिषेधार्थमाह–

एष सर्वधियां [1]नृत्तमविलुप्तैकदर्शनः।
वीक्षतेऽवीक्षमाणोऽपि निमिषत्तद् ध्रुवोऽध्रुवम् ॥५८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तद्द्रष्टारमात्मानमादायेत्यर्थः। किमित्यविद्याध्यारोपितं रूपमङ्गीकृतमित्यत आह–केवलेति। **द्रष्टृदृश्यादिलक्षणान्वयव्यतिरेकौ विना केवलात्मप्रतिपत्तेरशक्यत्वात् तत्प्रतिपत्तौ वा तत्प्रतिपत्त्यर्थान्वयव्यतिरेकप्रदर्शनस्य कृतकार्यतया वैयर्थ्याच्चेत्यर्थः।** अथेदानीमपि **परिणामिबुद्ध्युपाधिप्रयुक्तद्रष्टृत्वव्यतिरेकेणानाद्यविद्योपाधिप्रयुक्तं साक्षित्वमाश्रित्य कर्तृत्वादिप्रतिषेधः क्रियत इत्यर्थः।** एषः सर्वधियां वृत्तमिति। **एवमात्मा** अविलुप्तैकदर्शनः[2] **स्वयं** निमिषत् **जडरूपं तथा स्वयं** ध्रुवोऽध्रुवं वीक्षत **इत्यन्वयः। 'वीक्षत' इत्युक्तत्वात् परिणामित्वप्रसक्तावाह**–अवीक्षमाणोऽपीति। **कर्तृत्वशून्यः स्वात्मनोपरक्तं स्वरूपेणैवावभासयतीत्यर्थः।।५८।।**

सुखी, मैं दुःखी' आदि अहंकार अर्थात् तादृश निश्चय, अनात्मा का धर्म है, अनात्मा को होता है, यह कहा, क्योंकि शुद्ध आत्मा के अन्वय, व्यतिरेक का व्यवहार नहीं हो सकता व उससे अन्वय व्यतिरेक का कोई फल भी नहीं। व्यवहार्य आत्मा शुद्ध न होने से अन्वयादि व्यवहार उससे सम्भव नहीं तथा क्योंकि पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये अपने से दुःख आदि के असम्बन्ध का ज्ञान अपेक्षित है, न कि शुद्ध से, इसलिये शुद्ध से उनका व्यतिरेक बताना निष्फल है, यह भाव है।

अब, अविद्या के कारण अध्यस्त साक्षिरूपता को लेकर कर्तृता आदि सब अनित्य विशेषतायें आत्मा की नहीं, यह श्लोक द्वारा बताते हैं—**जिसका एकरसज्ञान कभी रुकता नहीं वह नित्य आत्मा देखने की क्रिया न करते हुए भी सब बुद्धियों के अनित्य, जड, विकारात्मक नृत्य को देखता है**।।५८।। जैसे आदित्य प्रकाशन क्रिया न करते हुए ही प्रकाश करता है वैसे ही आत्मा देखने की क्रिया किये बिना देख

---

१. नृत्तमित्यस्य स्थाने वृत्तम् इति टीकोक्तप्रतीकानुसारी पाठः।

२. '…दर्शनोऽपरिणाम्यद्वयचित्स्वभावः सर्वासां धियां नृत्तं निमिषदि'ति पाठः चन्द्रिकायाम्।

ननु सर्वसिद्धान्तानामपि स्वस्वदृष्ट्यपेक्षया उपपन्नत्वात्, इतरेतरदृष्ट्यपेक्षया दुःस्थितसिद्धिकत्वात्, नैकत्रापि विश्वासं पश्यामः। न च सर्वतार्किकैरदूषितं समर्थितं सर्वतार्किकोपद्रवापसर्पणाय वर्त्म संभावयामः। उच्यते, [1]विस्रब्धैः संभाव्यताम्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

शङ्कापूर्वकमुत्तरश्लोकमवतारयति–ननु सर्वेति। **तत्रैव हेतुः**–न चेति। प्राश्निकम् **गुणदोषसाक्षिणं मध्यस्थमिति यावत्। अनुभवितर्यात्मस्वरूपे धर्मिमात्रे न कस्यापि वादिनो विवाद इत्यर्थः।।५९।।**

लेता है, यह भाव है। इस विषय को 'धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोहमविक्रियः' इस प्रकार आगे कहा है (श्लो. ७७)। यद्यपि बुद्धि या प्रकृति का नर्तकीरूप सांख्यसिद्धान्त में भी वर्णित है तथापि इतना स्मरण रखना चाहिये कि उस मत में बुद्धि या प्रकृति स्वयं ही विकार को प्राप्त होती है जबकि वेदान्तसिद्धान्त में तादात्म्याध्यास के कारण बुद्धि में विकार उत्पन्न होता है व उसी तादात्म्य से वह आत्मा में भासता है। **'वृत्तं'** पाठ में अर्थ है कि बुद्धियों के सब बर्तावों को देखता है।

आत्मा अनित्य विशेषताओं से अस्पृष्ट है इसे ऊहापोह से सिद्ध किया। इस पर यह प्रश्न उठता है कि सभी सिद्धान्त अपनी-अपनी दृष्टि से संगत ही बैठते हैं, व एक-दूसरे की दृष्टि से विचार करने पर सभी में असंगतियाँ दीख पड़ती हैं जिससे किसी एक मतवाद पर सहसा विश्वास करना संभव नहीं होता। और ऐसा कोई मार्ग नहीं सूझता जिसपर किसी विचारक ने दोषारोपण न किया हो व सभी विचारकों ने स्वीकारा हो। किञ्च युक्ति के सहारे विचार करने वाले ननु-न च न कर पायें ऐसी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। ऐसी अवस्था में यहाँ बताई बातें मान कैसे ली जायें?

इस विषय का गम्भीर विवेचन सूत्रों के द्वितीयाध्याय (२.१.११) में किया गया है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि 'उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्' किसी नित्य सिद्धान्त पर

---

१. 'सर्वेषां तार्किकादिप्रस्थानानामनुभवातिरिक्त एव विप्रतिपत्तेरात्मरूपानुभवांशे कस्याप्यविप्रतिपत्तेस्तत्र विस्रब्धैर्जिज्ञासुभिः सम्भाव्यतां स एवात्मेति विश्वासः क्रियतामित्याह विस्रब्धैरित्यादिना'। (सारार्थः)

अनुभवमात्रशरणत्वात् सर्वतार्किकप्रस्थानानाम्। तदभिधीयते–

आश्रयण किये बिना पुरुषमतिप्रभव तर्क विश्वसनीय नहीं हो सकते। कुछ सबल विचारकों द्वारा अत्यन्त सूक्ष्मेक्षिकाओं के अनन्तर स्थापित सिद्धान्त अन्य युक्तिकुशलों द्वारा खण्डित कर दिये जाते हैं। प्रसिद्ध व श्रद्धेय कपिल, कणाद, गौतम आदि भी मौलिक विषयों में मतभेद रखते हैं और केवल तर्क के आधार पर किसी एक को ठीक व अन्यों को भ्रांत कह देना असम्भव है। तर्कों की यह अनिर्णीतता—निर्णय कर पाने की असमर्थता—सभी तर्कों पर से विश्वास उठा देती है और यदि भूत-भावी सभी तार्किक इकट्ठे किये जा सकते , तब सम्भवतः कोई निर्णय ऐसा किया भी जा सकता जिसमें समस्त तार्किकों द्वारा लगाये दोष निराकृत हो जाते तथा निर्दुष्ट मत स्थापित हो जाता, पर ऐसा हो नहीं सकता—'न च शक्यन्तेऽतीताऽनागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन् देशे च समाहर्तुं येन तन्मतिः एकरूपा एकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात्'। किं च तर्करसिकों का अनुभव है कि सभी युक्तियों का स्फुरण युगपत् नहीं होता—स्वयं स्थापित युक्ति की भी खोट स्वयं को ही कालान्तर में समझ आ जाती है। ऐसी अवस्था में यदि सब तार्किक सर्वसम्मति से कोई विधान मान भी लें तो अत्यधिक सम्भावना इसी की है कि कुछ समय में वे ही उसके प्रतिपक्षी तर्क बता देंगे। अतएव तर्क को अप्रतिष्ठित कहा गया है।

यह प्रश्न अवश्य उठता है कि यह कोई ठेका नहीं कि तर्क अनिर्णीत ही बात कहे, यदि पहले वाले विचारक सम्यग्विचार न कर पाये तो यह क्यों मान लें कि इतनी उन्नत व व्यापक शिक्षा पाये हुए हम भी निर्णयात्मक तर्क नहीं उपस्थित कर पायेंगे? 'नहि पूर्वजो मूढ आसीद् इति आत्मनाऽपि मूढेन भवितव्यमिति किंचिदस्ति प्रमाणम्।' इस प्रश्न का वास्तविक, अनुभवसिद्ध उत्तर यही है 'अयम् एव तर्कस्य अलंकारो यद् अप्रतिष्ठितत्वं नाम'–तर्क का स्वरूप ही यह है कि वह किसी भी बन्धन में बँधता नहीं। इसीलिये केवल तर्क से कोई व्यवहार चल नहीं सकता जैसा हरिवचन है—'हस्तस्पर्शादिवान्धस्य विषमे पथि धावता। अनुमानप्रधानस्य विनिपातो न दुर्लभः'। (वा.प. १.४२)। किन्तु यथाकथंचित् दृष्ट विषयों में तर्क को कुछ आदर दिया भी जाये, तो भी मोक्ष, आत्मा धर्म आदि अदृष्ट वस्तुओं में उसे आदर देना सम्भव नहीं। 'नहीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनं, आगममन्तरेण उत्पेक्षितुमपि शक्यम्'। इसीलिये जैमिनि अनुमानादि के आश्रयभूत प्रत्यक्ष की धर्मविषयकता पहले ही हटा देते हैं—'तदनिमित्तं' (१.१.४)। अतः कम से कम इन सूक्ष्म विषयों में तो तर्क की

अश्रद्धास्पदता सर्वमान्य होनी ही पड़ेगी। निश्चय के लिये किसी नित्य विचार का सहारा लिये बिना साक्ष्यादि मार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। 'वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेः'। अतएव वैयाकरणकुलतिलकायमान आचार्य हरि घोषित करते हैं 'न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते। बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवातो व्यवस्थिता॥१.३२॥ वेदशास्त्राऽविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्'॥१.१३५॥ वेदातिरिक्त कोई आगम अकर्तृक न होने से संदेहसीमा से परे नहीं, वेद ही अपौरुषेयतया संदेह की परछाई से भी दूर है। वेद पर अनाधारित युक्ति को ही शिवार्कमणिदीपिकाकार 'शुष्कतर्क' बताते हैं—'शुष्कतर्काणाम-प्रतिष्ठितत्वात्' (२.१.११) एवं प्रायः भाष्य का अनुसरण करते हुए कहते हैं—'यस्मिन् प्रकारे प्रतिकृतिर्न भवति...तादृशः पुरुषबुद्धिकल्पितस्तर्क एव न संभवति। केनचित् कुशलेन उन्नीतस्य तर्कस्य कुशलतरान्योन्नीततर्केण प्रतिकृतिसंभवात् पुरुषबुद्धिप्रभवकल्पनानाममर्यादत्वात्।... अशुष्कतर्कावलम्बनेन... व्यवस्थापनाऽ-संभवात्, वेदान्तसिद्धे...परोन्नीतकुतर्काऽप्रसराच्च स एव युक्तः' (२.१.१२)।

इस समस्त विचार को मन में रख यहाँ प्रश्न उठाया गया कि आत्मा की निर्विशेषता को क्यों मान लिया जाये जब कि अन्य तार्किकों की तरह ही आपने इसे साधित किया है?

इसका सीधा उत्तर यही है कि क्योंकि श्रुति इसे निर्धर्मक बताती है 'अन्यत्र धर्मात्' (कठ. २.१४), अतः हमारी बात विश्वसनीय है। तथापि हृदयंगम बनाने के लिये आचार्य अपने ढंग से उत्तर देते हैं—इस भीषण प्रतीत होने वाले प्रश्न का उत्तर देते हैं, श्रद्धापूर्वक सावधान होकर इस पर विचार कीजिये। युक्ति का समाश्रयण लेने वाले सभी सिद्धान्तों को अनुभव की शरण लेनी ही पड़ती है और वही अनुभव हमारा आत्मा है अतः उसके विषय में सभी विचारक—और केवल विचारक ही नहीं, अविचारशील जनता भी—एकमत हैं। इसलिये इस पर श्रद्धा करना सहज है। इसी रीति से वार्तिक में वेदान्त-सिद्धांत की सर्वप्रतिष्ठा सिद्ध की है—अनुभव, अज्ञान और ज्ञानसे अज्ञाननिवृत्ति, बस, इतने में सभी विचारक एकमत हैं और इतने से ही अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन हो जाता है—'सर्ववादिविरोधेऽपि संवादोऽनुभवे यथा। वादिनामविसंवादस्तथाऽज्ञानेप्यसंशयः। तद्वद् बाधोप्यबोधस्य बोधेनाभ्युपगम्यते एतावतैव पर्याप्तमस्मद्राद्धान्त-सिद्धये॥'१.४.१३६५-६॥

इमं प्राश्निकमुद्दिश्य तर्कज्वरभृशातुराः।
त्वाच्छिरस्कवचोजालैर्मोहयन्तीतरेतरम्[1] **॥५९॥**

अनुभव सर्वस्वीकृत है इसे श्लोक द्वारा बताते हैं—**तर्क रूप ज्वर से अत्यन्त व्याकुल विचारक, गुणदोष आदि के साक्षी इस अनुभव के विषय में ही 'इसलिये, इसलिये' इत्यादि हेतुसूचक वचनों से एक दूसरे को भ्रम में डालते रहते हैं**॥५९॥ प्राश्निक शब्द मध्यस्थ या साक्षी अर्थ में रूढ है—'मध्यस्थः प्राश्निकः साक्षी' (वैजयन्ती ३.८.९)। यहाँ जिसका प्रश्न चल रहा है उसे भी व्युत्पत्त्याश्रयणेन प्राश्निक कहें तो अर्थ होगा—प्रकृत। 'त्वाच्छिरस्क' का तात्पर्य उन शब्द या शब्दसमूहों से है जिनके अन्त में 'त्वात्' यह आनुपूर्वी सुनी जाये। हेतु बताने में पंचमी विभक्ति का प्रयोग स्मृतिसिद्ध है[2]। अतः प्रायः जब कोई विषय सिद्ध करना हो तो उसे सिद्ध करने वाले 'हेतु वाला वह है' इसके बाद पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यादि (धूमात्—तो फलितार्थकथन है)। इन्हीं...'त्वात्'...'त्वात्' आदि शब्दों को यहाँ 'त्वाच्छिरस्कवचन' कहा है। 'हेतुसूचक वचन'—यह सरलार्थ है। समग्र विचार का तात्पर्य इतना ही है कि अनुभवरूप आत्मा है, इस पर सन्देह नहीं किया जा सकता। यद्यपि अनुभव की आत्मरूपता के विषय में एवं उसकी निर्विशेषता के विषय में सब वादी एकमत नहीं, तथापि अनुभव है—इतना उन्हें भी अभिमत है। आचार्य का कहना यही है कि जिन बातों पर वे एकमत नहीं, उन्हें मत मानो, जिस पर सहमत हैं उसे मान लो। यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि सविशेषता की तरह निर्विशेषता के बारे में भी मतभेद होने से निर्विशेषता को निश्चयेन कैसे मान लिया जाये? क्योंकि सविशेषता की ही तरह निर्विशेषताका भार आत्मा पर लादना हमें अभिमत नहीं, भाव व अभाव किसी धर्म का विधान अभीष्ट नहीं। अतः अनुभवानुसारी अनुभव मानने से वेदान्त का कार्य चल सकता है। वस्तुतः

१. 'अनुभवमेव प्राश्निकं गुणदोषसाक्षिणं मध्यस्थम् उद्दिश्य सर्वे वादिनः 'अमुकत्वाद्, अमुकत्वाद्' इति हेतुजालैः इतरेतरं मोहयन्ति, तस्मात् तस्मिन् प्राश्निके नाऽविश्वास इत्यर्थः'। (चंद्रिका)

२. 'हेतौ तृतीया पंचमी च वक्तव्या' (सारस्वते)। 'ज्ञानज्ञाप्येंऽगविकारे हेतावपि च इष्यते। तादर्थ्ये सम्प्रदाने च चतुर्थी स्याच्च सर्वदा'। इति च कारकचक्रे। पाणिनीयेपि 'विभाषा' इति (२.३.२५) योगविभागात् अगुणेऽपि हेतौ पंचमी। (द्र.सि.कौ.सू. ६०२)

अत्रापि चोदयन्ति। अनुभवात्मनोऽपि विक्रियाभ्युपगमे, अनभ्युपगमेऽपि दोष एव। यस्मादाह–

'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्येव तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः[1] खतुल्यश्चेदसत्समः ॥'६०॥
बुद्धिजन्मनि पुंसश्च विकृतिर्यद्यनित्यता।
अथाविकृतिरेवायं प्रमातेति न युज्यते ॥६१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अनुभवितृत्वेऽपि विवादमाशङ्कते–अत्रापीति। विकारहेतौ सति विकार्यस्यैव विक्रिया दृश्यते, नाविकार्यस्य; तथा सत्यात्मा विकार्योऽविकार्यो वा? उभयथापि दोष एवेति सौगतानामाक्षेपमाह–वर्षातपाभ्यामिति।।६०।।

एतदेव विस्पष्टयति–बुद्धिजन्मनीति।।६१।।

श्रुतिसिद्ध आत्मा हमें अभीप्सित है, यह तो पहले कहा ही जा चुका है।

आत्मा की अनुभवरूपता के विषय में वादी शंका उठाते हैं कि अनुभवरूप होने पर भी यदि उसे विकारवाला (परिवर्तनशील) माना जाये तो, व यदि निर्विकार माना जाये तो, दोनों पक्षों में दोष आता है। दोष क्यों आता है, इसे दो श्लोकों द्वारा बताते हैं—**वर्षा और धूप से आकाश को क्या? उन दोनों से उसे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। उनसे अन्तर तो चमड़े आदि पर पड़ता है। यदि आत्मा चमड़े की तरह परिवर्तन वाला है, तब तो उसे अनित्य होना पड़ेगा और यदि आकाश की तरह अपरिवर्तनशील है, तो वह जानने वाला ही नहीं रह जायेगा।।६०।। घट आदि विषयक ज्ञान (वृत्ति) उत्पन्न होने पर यदि आत्मा में कुछ अन्तर आता है, तब तो आत्मा में अनित्यता स्वीकारनी होगी, और यदि उससे कुछ भी अन्तर नहीं आता तो यही संगत न होगा कि आत्मा जानने वाला है।।६१।।** प्रमा आत्मा की विशेषता हो, तभी उसे प्रमाता कह सकते

१. वर्षातपाभ्यां चर्मविकारवद् बुद्धिविकारैरनुभवात्मनोऽपि चेत्क्षयोदयादिविकारस्तदा तस्यानित्यत्वम्। यद्याकाशवदात्मनो न विकारस्तदा निर्विकारत्वात् प्रमातृत्वासिद्धिरित्यात्मनो नानुभवरूपत्वमित्यर्थः' (सारार्थः)। अयं श्लोको न्यायवार्तिकटीकायामुद्योतकरेणाप्युक्त इति न सुरेश्वराचार्याणाम् इति केचित् सम्भावयन्ति। एवं 'बुद्धिजन्मनी'त्यादिरपि नैषामिति कल्पयन्ति। 'सौगतानामाक्षेपम्' इति वदन् चित्सुखाचार्योऽप्येवमंगीचकारेति गम्यते।

अस्य परिहारः–

ऊर्ध्वं गच्छति धूमे खं भिद्यते स्विन्न भिद्यते।
न भिद्यते चेत्स्थास्नुत्वं भिद्यते चेद्भिदास्य का ॥६२॥

इत्येतत्प्रतिपत्त्यर्थमाह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रतिबन्दीन्यायेन[1] आक्षेपं परिहरति–अस्येति। स्थास्नुत्वं धूमस्य स्यात्, नालोकादिप्रतिमस्यैवेति शेषः। भेदादिविकारमन्तरेणैव धूमादेराकाशमवकाशस्वरूपेणैव दरीदृश्यत इत्यर्थः[2]।।६२।।

एतावता किमुत्तरं भवतीत्यत आह–इत्येतदिति। अहंबुद्धिरहं-

हैं और अनित्य प्रमा आत्मा की विशेषता बने तो पूर्वोक्त (श्लो. ३५) नियम से आत्मा भी अनित्य हो जाये। आत्मा की विशेषता बने बिना वह प्रमाता हो जाये, यह सम्भव नहीं; यह शंका उठाने वालों की उभयतःपाशा रज्जु है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये तार्किकों के सम्मुख ऐसी समस्या रखते हैं जो आत्मविक्रिया-अविक्रिया की समस्या के समान है—**धुआँ जब ऊपर उठता है तब क्या उसे रास्ता देने के लिये आकाश फटता जाता है या नहीं? यदि नहीं फटता तब तो धुएँ को स्थिर रहना चाहिये, ऊपर उठते न जाना चाहिये; और यदि कहना चाहो कि फटता है, तो बताओ आकाश का फटना क्या हो सकता है? अवयवविभागादि फटना जैसा प्रसिद्ध है, वैसा आकाश निरवयव होने से सम्भव नहीं।।६२।।** अतः बलात् यह मानना होगा कि आकाश के विषय में फटने-न फटने का सवाल नहीं उठाया जा सकता, वह तो पोल, खाली जगह रूप है। इसलिये धुआँ उठता जाये यह संगत ही है। तात्पर्य इतना ही है कि तार्किक को यह समझ लेना चाहिये कि एक नियम सभी वस्तुओं पर लागू नहीं किया जा सकता, वस्तुओं की व्यक्तिगत महत्तायें भी हुआ करती हैं जो इन समस्याओं को उन वस्तुओं के विषय में हल कर सकती हैं, यद्यपि अन्य वस्तुओं के लिये वे प्रश्न बने रह जाते हैं।

१. समानमुत्तरं (तुल्ययुक्तिः) प्रतिबन्दी। चोद्यपरिहारसाम्यमिति वा। अर्थात् यदि पुरुषत्वादयं चौरस्तदा एवं त्वमपि चौरः स्या इत्यापादनम्।

२. 'धूम ऊर्ध्वं गच्छति सति खम् आकाशम् अवकाशदानाय भिद्यते विदीर्णं भवति वा, न वा? न भवति चेद्; धूमस्य स्थास्नुत्वम्, नोर्ध्वगतिः स्याद्। भवति चेत्? काऽस्य भिदा! न काचिद् विभागलक्षणा क्रिया, समवायित्वाभावात्'। इति चन्द्रिकाकृद्व्याख्या।

अविक्रियस्य भोक्तृत्वं स्यादहंबुद्धिविभ्रमात्।
नौयानविभ्रमाद् यद्वद् नगेषु गतिकल्पनम्[1] ॥६३॥

यथोक्तार्थाविष्करणाय दृष्टान्तान्तरोपादानम्–

यथा जात्यमणेः शुभ्रा ज्वलन्ती निश्चला शिखा।
संनिध्यसंनिधानेषु घटादीनामविक्रिया ॥६४॥

अयमत्रांशो विवक्षित इति ज्ञापनायाऽऽह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रत्ययस्तन्निमित्तो विभ्रमोऽहंबुद्धिविभ्रमस्तस्मात्; सुखदुःखादिपरिणामित्वेन भोक्त्राऽन्तःकरणेनाभेदाध्यासात् भोक्तेति विभ्रमः। नौयाननिमित्तो (विभ्रमो) नौयानविभ्रमः; गतिकल्पनं **गच्छन्ति नगा इत्यध्यवसायः।।६३।।**

न केवलं विभ्रम एव दृष्टान्तः। किन्तु वास्तवोऽपीत्यत आह–यथोक्तेति। **जातौ भवः जात्यः।।६४।।**

तत्र शिखायास्स्वरूपेणाविक्रियत्वमसम्प्रतिपन्नमित्यत आह–अयमत्रेति। अत्र **दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिकोपयोगिविवक्षितोंऽश** इति **ज्ञापनायेत्यर्थः।**

यह इस बात को समझाने के लिये कहा गया है कि—**अहंकार के निमित्त से होने वाले तादात्म्य भ्रम के कारण विक्रियारहित, अपरिणामी आत्मा भी भोक्ता या प्रमाता और उसी प्रकार कर्ता हो जाये, यह संगत है। जैसे नौका के चलने के निमित्त से होने वाले भ्रम के कारण न चलने वाले तीरस्थ वृक्षों की गति का अवभास होता है वैसे ही आत्मा में प्रमा-उत्पत्ति आदि का अवभास हो जाता है**॥६३॥

परमात्मा किसी परिवर्तन के बिना ही अहंकार आदि समस्त द्वैत प्रपंच से सम्बद्ध हो जाता है, इस पूर्वोक्त बात को ही और स्पष्ट करने के लिए एक व्यावहारिक दृष्टान्त देते हैं—**जैसे घटादि प्रकाश्य पदार्थ पास में हो चाहे न हो, उत्तम जाति की मणि की भास्वती श्वेत निश्चल ज्योत्स्ना में कोई विकार (परिवर्तन) नहीं आता, वैसे ही ज्ञानरूप आत्मा में ज्ञेय के निमित्त से परिवर्तन कुछ नहीं होता**॥६४॥

दृष्टान्त सब अंशों में दार्ष्टान्त के अनुकूल नहीं होता। धूमवत्ता से पर्वत को अग्निमान् सिद्ध करने में रसोई दृष्टान्त बनती है पर इसलिये पर्वत पर व्यंजन भी तैयार

---

१. 'नौस्थस्य प्रातिलोम्येन नगानां गमनं यथा'। (उ.सा. ५-३)।

यदवस्था व्यनक्तीति तदवस्थैव सा पुनः।
भण्यते न व्यनक्तीति घटादीनामसंनिधौ ॥६५॥

तत्र च[1]–

सर्वधीव्यञ्जकस्तद्वत् परमात्मा प्रदीपकः।
संनिध्यसंनिधानेषु धीवृत्तीनामविक्रियः ॥६६॥
न प्रकाशक्रिया काचिदस्य स्वात्मनि विद्यते।
उपचारात् क्रिया सास्य यः प्रकाश्यस्य संनिधिः ॥६७॥
मैवं शङ्किष्ठाः साङ्ख्यराद्धान्तोऽयमिति। यतः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यदवस्थेति। यदवस्थावती[2] व्यनक्तीति भण्यते, तदवस्थावत्येव न व्यनक्तीत्यपि भण्यते, घटादिसांनिध्यासंनिधानाभ्यामित्यर्थः।।६५।।

दृष्टान्तगतमर्थं दार्ष्टान्तिके समर्पयति–तत्र चेति[1]**।।६६।।**

एतदेव प्रपञ्चयति–न प्रकाशेति[3]**।।६७।। भेदस्य परमार्थत्वमङ्गीकुर्वद्भिरपि सांख्यैरात्मनोऽविक्रियत्वम् (स्वीक्रियते) ततो वेदान्तराद्धान्तस्य को**

हो रहे हैं यह नहीं माना जा सकता। अतः मणिदृष्टान्त के जिस अंश को यहाँ उपस्थापित करने की इच्छा है, उसे श्लोक द्वारा सूचित करते हैं—**जिस अवस्था में अवस्थित ज्योत्स्ना घटादि को प्रकाशित करने वाली कही जाती है, घटादि के हट जाने पर उसी अवस्था में अवस्थित ज्योत्स्ना प्रकाशित न करने वाली कही जाती है**॥६५॥ तात्पर्य है कि विषय के संनिधि व असंनिधिरूप परिवर्तन से प्रकाशित करना और प्रकाशित न करना कहा जाता है, न कि प्रकाश में किसी परिवर्तन के कारण।

और दार्ष्टान्त में—**उसी प्रकार सब बुद्धिवृत्तियों को प्रकाशित करने वाला प्रकाशरूप परमात्मा बुद्धिवृत्तियों की उपस्थिति और अनुपस्थिति से किसी भी परिवर्तनवाला नहीं बनता**॥६६॥ **इस अपने आत्मा की प्रकाश करना रूप कोई क्रिया नहीं है। प्रकाश्य वृत्ति आदि की संनिधि आदि क्रिया को ही उपचार से**

---

१. तथा चेति मातृकायां प्रतीको हस्तलिखितपुस्तके दृश्यते।
२. शिखेति शेषः।
३. 'जन्यक्रियाऽभावेऽपि आदित्यादीनामिव प्रकाश्यसन्निध्युपाधिकः प्रकाशयतीति कर्तृत्वव्यपदेश उपचाराद्भवति' इति चन्द्रिकायां व्याख्यातम्।

यथा विशुद्ध आकाशे सहसैवाभ्रमण्डलम्।
भूत्वा विलीयते तद्वदात्मनीहाखिलं जगत् ॥६८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विशेष इत्याशङ्क्य, विशेषं दर्शयितुमाह–मैवमिति।।६८।।

आत्मा की क्रिया कह दिया जाता है॥६७॥ उपचार का अर्थ है गौण प्रयोग।

यह शंका न करना कि यह तो कापिल मत हो गया, क्योंकि—**जैसे अत्यन्त निर्विकार आकाश में अचानक ही बादल हो जाते हैं व अचानक ही लीन भी हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा में यह समस्त जगत् अचानक ही प्रतीत व लीन होता है, वस्तुतः आत्मा से भिन्न जगत् कुछ नहीं है**॥६८॥ शंका उठाने वाले का अभिप्राय यह था कि अब तक जैसा बताया गया उसका यही सार है कि समस्त संसरण अनात्मा का है, कूटस्थ आत्मा का नहीं। यही तो कपिलमुनि प्रतिपादित करते हैं। उनके मत में स्वयं अविकार व आगे किसी विकार का अकारण पुरुष है व स्वयं अविकार होते हुए समस्त उत्तर विकारों की कारण मूलप्रकृति है। संसरण नामक विकार प्रकृति का ही है, तादात्म्यभ्रम से पुरुष को स्वीयतया भान हो रहा है। सत्त्व अर्थात् व्यष्टि प्रकृति—बुद्धि—से पुरुष अर्थात् आत्मा की अन्यता अर्थात् भिन्नता के ज्ञान से ही पुरुष का स्वीयतया अभिमत संसरण—दुःखत्रयाऽभिघात—समाप्त हो जाता है जिसे मोक्ष कहते हैं। वास्तव दृष्टि से तो अब भी पुरुष संसृत नहीं हो रहा अतः मोक्ष का नित्यत्वाभिधान संगत है। प्रायः यही बात अब तक के सिद्धिग्रन्थ से समझ में आती है। अतः सहज ही प्रश्न उठ जाता है कि क्या उसी मत का औपनिषदीकरण यहाँ किया जा रहा है? इसी का सारगर्भित उत्तर श्लोक द्वारा दिया गया।

सांख्यमत से श्रौतसिद्धान्त के मौलिक भेदों में प्रपंच-मिथ्यात्व की अहम भूमिका है। कपिलाचार्य प्रपंच को—प्रकृति और उसके विकारों को—सत्य, पारमार्थिक तथा आत्मा से सर्वथा भिन्न मानते हैं। यद्यपि उनकी प्रकृति है पुरुष के लिये, तथापि है स्वतन्त्र। इससे विपरीत, औपनिषद शांकरसिद्धान्त में यह स्पष्ट है कि आत्म-सम्बन्धी अज्ञान से ही समस्त प्रपंच विवर्त का उदय है व आत्मव्यतिरिक्त इसकी कुछ भी सत्ता है नहीं। आत्माऽविद्या को ही प्रकृति भी कह देते हैं। तादृश प्रकृति और उसका कार्य मुग्ध व्यक्ति की दृष्टि में चाहे वास्तव प्रतीत हो पर विवेकी के लिये अनिर्वाच्य और तत्त्वनिष्ठ के लिये तुच्छ, अलीक है। एवं च एकमात्र आत्मा ही है, तदतिरिक्त भावरूप या

तस्मादेष कूटस्थो न द्वैतं मनागपि स्पृशति। यतः–
शब्दाद्याकारनिर्भासाः[१] क्षणप्रध्वंसिनीर्दृशा।
नित्योऽक्रमदृगात्मैको व्याप्नोतीव धियोऽनिशम् ॥६९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

'भूत्वा विलीयत' इत्युक्तत्वात् प्राग् विलयनान्मातृसंस्पर्शोऽभ्युपगत इति शङ्कां परिहर्त्तुमाह–तस्मादेव **इति**।।६९।।

अभावरूप धर्मादि, द्रव्यादि कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अद्वैत-सिद्धान्त और कापिलों के मध्य महान् अन्तर है।

'सहसा'—अचानक, निष्कारण कहकर इसी अज्ञान को सूचित किया। अत एव इसे अनादि भी कहते हैं। 'अखिल'—समस्त से यह कह दिया कि तत्तन्मतवाद में नित्यादितया प्रतिपादित तत्त्व भी वेदान्तों के अनुसार मिथ्या ही है। किं च, अद्वैतवाद में आत्मा वस्तुतः अकर्त्ता-अभोक्ता रहते हुए उपाधितादात्म्य से कर्ता-भोक्ता दोनों बन जाता है, जबकि सांख्यवादी सम्भवतः उसे वास्तव भोक्ता मानना चाहते हैं। प्रकृति से आत्मा भिन्न है इतना जाने लेने मात्र से मोक्ष—अखण्ड आनन्द स्थिति—हो, यह भी हमें मान्य नहीं। आत्मा के स्वाभाविक आनन्त्य, आनन्दादि के ज्ञान से, अर्थात् तादृश अज्ञान की निवृत्ति से मोक्ष—आत्मरूपावस्थिति—हो, यह हमें मान्य है। इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिये प्रकृति स्वतन्त्र ही सब विकार करती है, जब कि हमारे सिद्धान्त में आत्मतादात्म्य ही सब विकारों में आवश्यक है, उसके बिना विकार स्वीकार्य नहीं। अतः यद्यपि आपाततः कुछ साम्य चाहे प्रतीत हो, विचार करने पर सांख्यवादी तो प्रपंच सत्यत्ववादी व भेदवादी नैयायिकादि की पंक्ति में विराजते हैं जबकि वेदान्तवादी प्रपंचमिथ्यात्व और अभेदरूप आत्मा का प्रतिपादक होने से अपने उपास्य की ही तरह अन्य सभी मतवादियों से विलक्षण ही ठहरता है। न इसका सम्बन्ध द्वैतवादी तार्किकों से सम्भव है व न इसे वैनाशिक शून्यवादी से मतलब है।

यह बहुधा भ्रम होता है कि बौद्धों व वेदान्तियों में कोई मूलभूत समानता है, पर वह भी अविचारविजृंभित ही समझना चाहिये। वैभाषिक व सौत्रान्तिक तो

---

१. शब्दाद्याकारेण निर्भासन्त इति शब्दाद्याकारनिर्भासाः तत्तद्विषयाकारा वृत्तयः। परिणामित्वादेव ताः क्षणप्रध्वंसिनीरनित्याः क्रमिकाश्चेति सारार्थकारः। एवंविशिष्टा धियो बुद्धिवृत्तीः दृशा स्वरूपचैतन्येन व्याप्नोतीव, न तु वस्तुतः सम्बन्धवान् भवतीत्यर्थः।

स्पष्ट द्वैतवादी हैं, अत: किसी समानता का प्रश्न ही नहीं। योगाचार सिद्धान्त में यद्यपि अभेद है तथापि अनन्त क्षणिक ज्ञान-सन्तति मानकर वे भी फलत: द्वैतवाद व नैरात्म्यवाद के ही पोषक हैं जिससे वेदांत से कोई समानता सम्भव नहीं रह जाती। शून्यवाद तो स्पष्ट ही निरात्मवादी है, भला उसकी आत्ममात्रवादी से समता कैसी? यह शंका तो निहायत बेहूदी है कि जो वेदान्त में आत्मा है वही माध्यमिक का शून्य है; क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानंदं ब्रह्म, अस्तीत्येवोपलब्धव्य:, विज्ञानघन एव' आदि समस्त शास्त्रवचन और अस्मत्प्रत्ययविषयतया स्पष्ट ही अनुभूत स्वयंज्योति आत्मा का चतुष्कोटिविनिर्मुक्त नि:स्वभाव शून्यतत्त्व से अभेद मानने से अधिक भ्रामक बात क्या होगी? जो तो शून्य का अर्थ कार्य का स्वरूप से असत्त्व और पररूप—कारण अवयवादिरूप—से सत्त्व यह मानते हैं और इसमें 'य: प्रतीत्यसमुत्पाद: शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। सा प्रतीतिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा'। इस नागार्जुन कारिका को प्रमाण देते हैं, उनके सम्मुख प्रथम तो यह प्रश्न रखा जा सकता है कि एवंभूत शून्यता से किसको सिद्ध कर रहे हैं? यदि जगत् की ही ऐसी शून्यता वे कहते हैं, तब तो यथाकथंचित् वेदान्तानुकूल भाषा में इसे प्रपंचमिथ्यात्व से गतार्थ किया जा सकता है। पर आत्मा बच जाता है जो शून्य सिद्ध नहीं हो पाता व 'सब शून्य है' यह उनकी प्रतिज्ञा भंग होती है। यदि वे आत्मा को भी एतादृश घोषित करते हैं तो प्रश्न उठता है कि आत्मप्रतीति किस 'अन्य' को 'उपादाय' होती है? आत्मवस्तु उनके मत में है नहीं जो वे कहें कि आत्मान्तर को लेकर हो जाती है। अत: बलात् अनात्मा को लेकर होती है, यह कहना पड़ेगा और इसकी अयुक्तता स्पष्ट है क्योंकि एक तो यह दृष्टचर नहीं कि अनात्मा को लेकर आत्मप्रतीति हो और दूसरी बात आत्मप्रतीतिपूर्वक अनात्मप्रतीति होती है, न कि विपरीत। तथा च आत्मा को 'उपादाय' अनात्मप्रतीति यदि कही जाये तो शायद कोई माने भी—और सम्भवत: योगाचार इसी ओर रुझान रखता है—पर यह उल्टी बात कैसे मानी जाये? अत: यदि केवल इतनी ही शून्यता पर समग्र माध्यमिक वैभव का आडम्बर टिका है, तब तो उसकी युक्तिशून्यता माननी ही होगी। दूसरा प्रश्न यह रखा जा सकता है कि यह मान भी लिया जाये कि अन्य को 'उपादाय' 'स्व' की प्रतीति ही शून्यता है, तब भी उस अन्य की अवधि क्या है? अनादि प्रवाह के बहाव में इस शंका को बहाने का बहाना चलेगा नहीं क्योंकि वैसा मानने से जो गौरव आता है उसका भार तभी सह्य होता है जब

एवं च सति बुद्धेः परिणामित्वं युक्तम्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कस्तर्हि घटादिज्ञानाकारेण परिणमत इत्यत आह–एवञ्चेति।।७०।।

कोई दूसरी गति न हो। अन्यथा क्योंकर इस अनादिता के वजन की परेशानी उठाई जाये? इसीलिये भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—'अन्धपरम्परैवैषाऽनादित्वकल्पना' (सू.भा. पृ. १५१ कल्प.)। अत: अन्यथा उपपत्ति सम्भव रहते इसे स्वीकारा नहीं जा सकता। अन्य उत्तर वे दे ही क्या सकते हैं? यही कहना होगा कि शून्य—है, नहीं है, उभय व अनुभय से भिन्न तत्त्व—ही वह सीमा है। एवं च वेदान्ती जहाँ तादृश सीमा को सच्चिदानन्दघन रूप स्थापित करते हैं वहीं ये महाविचारक उसे उससे सर्वथा विरुद्ध मानते हैं। अत: शून्य व ब्रह्म केवल नामांतर हैं अर्थान्तर नहीं, यह तनिक भी श्रद्धेय बात नहीं है। अस्तु, प्रकृत में तो सांख्यवाद से वैलक्षण्य बताया जा रहा है।

वेदान्तसिद्ध कूटस्थ आत्मा द्वैत से यत्किंचिद् भी सम्बन्ध नहीं रखता क्योंकि—**अतिशीघ्र नष्ट होने वाली शब्दादिविषयाकार बुद्धिवृत्तियों को साकल्येन सर्वावभासक नित्य आत्मा स्वरूप चैतन्य से सदा मानो घेर लेता है अत: द्वैत से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं।।।६९।।** 'घेर लेता है' कहने पर भी 'सम्बन्ध नहीं' यह कहना अनुचित न हो, इसीलिये 'मानो'—'व्याप्नोति इव'—कहा। अर्थात् भ्रमरूप तादात्म्य ही सम्बन्ध है, कोई वास्तव सम्बन्ध नहीं। यद्यपि सांख्यमत में भी सम्बन्ध ऐसा ही है, अत: कोई वैशिष्ट्य प्रतीत नहीं होता, तथापि सांख्यों की बुद्धि सत्य है जिससे कि केवल संसर्गाध्यास ही है जबकि हमारे मत में बुद्धि स्वरूप से भी आत्मा में अध्यस्त है, अत: पर्याप्त भेद है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाने पर कि समग्र द्वैत प्रपंच से आत्मा का कोई स्पर्श नहीं, यह स्वत:सिद्ध है कि परिणाम या बदलाव बुद्धि का ही होता है। बदलाव के बिना घटादिज्ञान-अज्ञान व तथाविध व्यवहार सम्भव नहीं अत: बदलाव तो स्वीकार्य है। वह आत्मा में हो या बुद्धि में? इस प्रश्न पर विचार करने पर, आत्मा में बदलाव हो यह संगत नहीं यह सिद्ध हुआ। अत: बची बुद्धि में ही

अतीतानागतेहत्यान् युगपत्सर्वगोचरान्।
वेत्त्यात्मवन्न धीर्यस्मात् तेनेयं परिणामिनी ॥७०॥
बुद्धेः परिणामित्वोपपत्तिः–
ततश्चैतत्सिद्धम्–
अपश्यन् पश्यतीं[1] बुद्धिमशृण्वन् शृण्वतीं तथा।
निर्यत्नोऽविक्रियोऽनिच्छन्निच्छन्तीं चाप्यलुप्तदृक् ॥७१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मनः पुनर्दर्शनश्रवणादिविक्रियाविरहितस्य दर्शनश्रवणादि-विक्रियावदशेषबुद्धिसाक्षित्वमपि सिद्धमित्याह–ततश्चेति।।७१।।

वह है यह तात्पर्य है। बुद्धि में बदलाव परिवर्तन क्यों स्वीकारना संगत है, इसे श्लोक द्वारा बताते हैं—**क्योंकि भूत भावी और वर्तमान सब विषयों को आत्मा की तरह बुद्धि युगपत् नहीं जानती, इसलिये क्रमशः देखने वाली होने से यह क्रमशाली परिवर्तनों वाली है, यह संगत है**॥७०॥ प्रत्यभिज्ञा के बल पर स्थिर आत्मा सिद्ध होता है अतएव उससे भिन्न ही बुद्धि का जानना स्पष्ट है। क्रम-अक्रम के विषय में यह समझना चाहिये कि सभी वस्तु साक्षिविषय तो सदा हैं, पर बुद्धिविषय वे क्रम से ही बनती हैं।

दर्शन, श्रवणादि परिवर्तनों से आत्मा का अस्पर्श सिद्ध होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाना परिवर्तनों वाली बुद्धि व उसके सभी परिवर्तनों का भी आत्मा साक्षी है; न केवल परिवर्तन उसमें नहीं, बल्कि वे जिसमें हैं उस बुद्धि से यह पृथक् ही है। इसे पाँच श्लोकों से बताते हैं—**नित्य-दृष्टिस्वरूप आत्मा देखती हुई बुद्धि को न देखते हुए ही देख लेता है, स्वयं न सुनते हुए, सुनती हुई बुद्धि को सुन लेता है। इच्छा करती हुई बुद्धि को स्वयं बिना इच्छा किये निष्प्रयत्न व निष्क्रिय आत्मा जानता है**॥७१॥ **स्वयं द्वेष न करता हुआ आत्मा द्वेष करने**

---

१. अपश्यन् चक्षुर्जन्यवृत्त्याकारपरिणामरहितः। पश्यतीं तज्जन्यवृत्त्याकारेण परिणताम्। एवमग्रे इति सारार्थः। अनिच्छन्-स्वरूपातिरिक्तावाप्तव्याभावादितिसारार्थः।

द्विषन्तीमद्विषन्नात्मा कुप्यन्तीं चाप्यकोपनः।
निर्दुःखो दुःखिनीं चैव निःसुखः सुखिनीमपि ॥७२॥
अमुह्यमानो मुह्यन्तीं कल्पयन्तीमकल्पयन्।
स्मरन्तीमस्मरंश्चैव शयानामस्वपन्मुहुः ॥७३॥
सर्वाकारां निराकारः स्वार्थोऽस्वार्थां[1] निरिङ्गनः।
निस्त्रिकालस्त्रिकालस्थां कूटस्थः क्षणभङ्गुराम् ॥७४॥
निरपेक्षश्च सापेक्षां पराचीं[2] प्रत्यगद्वयः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

समक्षपरोक्षविषयभेदात् कोपद्वेषयोर्विशेषो द्रष्टव्यः।।७२।।
निरिङ्गनः **अपरिस्पन्दः।।७३-७५।।**

वाली बुद्धि का ज्ञान रखता है। क्रोध करती हुई को स्वयं अक्रोधित रहते हुए जान लेता है। स्वयं सर्वथा दुःखरहित ही दुःखाकार बुद्धि को देखता है॥७२॥ **मोहित होती बुद्धि को मोहित न होता हुआ आत्मा जान जाता है। स्वयं कोई कल्पना न करते हुए कल्पना करती हुई बुद्धि का आत्मा को ज्ञान हो जाता है। आत्मा याद किये बिना ही याद करने वाली बुद्धि को जानता है और स्वयं न सोते हुए बार-बार सोती हुई बुद्धि को देखता है**॥७३॥ **सर्वपरिस्पन्दों से अस्पृष्ट व आकाररहित आत्मा सब आकारों को ग्रहण करने वाली बुद्धि को जानता है। स्वयं को भी प्रकाशित करने वाला आत्मा केवल अन्यों को प्रकाशित करने वाली बुद्धि को देखता है। तीनों कालों से अतीत रहते हुए तीन कालों द्वारा अवरुद्ध बुद्धि को जान लेता है। स्वयं नित्य आत्मा अतिशीघ्र होने वाली बुद्धि को जान लेता है**॥७४॥ **अपनी महिमा में प्रतिष्ठित आत्मा बुद्धि को देखता है जो उत्पत्ति-स्थिति-**

---

१. स्वार्थः—'स्वमेवासाधारणः परिपूर्णानन्दाद्यात्मकः अर्थो यस्य सः' इति सारार्थकारः। अस्वार्था—'ममत्वादिनागृहीतः स्वातिरिक्तो भोगापवर्गादिलक्षणोऽर्थो यया सा' इतिसारार्थकारः।

२. पराचीं—'बाह्यां शेषभूताम्', प्रत्यक्—'सर्वान्तरः सर्वशेषीत्यर्थः'।

सावधिं[१] निर्गतियत्तः[२] सर्वदेहेषु पश्यति ॥७५॥

एतस्माच्च कारणादयमर्थो व्यवसीयताम्–

दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत् ।
दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा ॥७६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दुःखादीनां साक्षित्वाच्चात्मनो दुःखाद्याकारपरिणामो न युक्त इत्याह– एतस्माच्चेति। **ननु दुःख्येव साक्षी भवेदिति? तत्राह–**दुःखिन इति।।७६।।

लय तीनों के लिए अन्य पर आश्रित है। प्रधानभूत अभिन्न आत्मा गुणभूत बुद्धि को जानता है। स्वयं ससीम रहते हुए असीम बुद्धि को देखता है। एक ही आत्मा सभी देहो में अवस्थित नाना बुद्धियों को देखता है।।७५।। अन्तिम श्लोक का 'पश्यति' सभी श्लोकों से सम्बद्ध हो जाता है। यत्न केवल चेतन की विशेषता मानी जाती है जब कि क्रिया अचेतन की, अतः दोनों का निषेध किया। आत्मा निरतिशय सुखरूप होने से सुख से सम्बद्ध नहीं क्योंकि निज स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता—'स्वं न स्वीयमित्यनुभवात्'। बुद्धि को बार-बार सोने वाली इसलिये कहा क्योंकि स्वभाव से वह अज्ञानरूप ही है। विज्ञानवाद से सर्वथा भिन्न हमारे सिद्धान्त में ज्ञान का कोई आकार नहीं 'निराकारा च नो बुद्धिः'[३]। विषय सम्बन्धादि से वह आकार मनोवृत्ति का ही होता है, न कि ज्ञान का। आत्मा स्वप्रकाश होने से स्वयं का भी प्रकाश कर लेता है व अपने से भिन्न बुद्ध्यादि को भी जान लेता है, जबकि परतः प्रकाश्या बुद्धि अपने से भिन्न घटादि के प्रकाश में तो निमित्त बनती है, पर स्वयं अपने को वह नहीं जानती। जो किसी दूसरे के लिये हो, उसे गुणभूत कहते हैं व जो किसी अन्य के लिये न हो उसे प्रधानभूत कहते हैं। बुद्धि प्रतिदेह भिन्न है पर आत्मा एक ही है।

दुःखादि का साक्षी होने के कारण भी दुःखादि विकार आत्मा के नहीं, यह समझ

---

१. सावधिं—'परिच्छिन्नाम्'।

२. निर्गतियत्तः—'अपरिच्छिन्न' इति सारार्थकारः।

३. बुद्धि शब्द आत्मरूपज्ञानवाची प्रसिद्ध है जैसा कि बृहद्वार्तिक में प्रयोग है—'व्यभिचारिमतिष्वेवं बुद्धिरव्यभिचारिणी' (पृ. १०६५)। तथा आकार-शब्द से वैलक्षण्यस्थापक धर्म विवक्षित है। अर्थात् ज्ञान में कोई भेदक धर्म नहीं स्वीकृत है।

पूर्वस्यैव व्याख्यानार्थमाह–

नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः[१] ॥७७॥

एवं सर्वस्मिन् व्यभिचारिणि, आत्मवस्त्वेवाव्यभिचारीत्यनुभवतो व्यवस्थापनायाह–

प्रमाणतन्निभेष्वस्या नोच्छित्तिर्मम संविदः[२] ।
मत्तोऽन्यद्रूपमाभाति यत्तत् स्यात् क्षणभङ्गि[३] हि ॥७८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दुःखिनस्साक्षित्वं कथमयुक्तमित्याकाङ्क्षायां, तत्र हेतुरुच्यत इत्याह– पूर्वस्येति।।७७।।

न केवलं युक्तिमात्रसिद्धमेव तत्, किन्तु विदुषामनुभवसिद्धं चैतदित्याह– एवमिति। तन्निभेषु **प्रमाणाभासेषु।।७८।।**

लेना चाहिये—**यदि आत्मा दुःखी हो जाये तो दुःखी का साक्षी कौन होगा? दुःखी स्वयं अपना साक्षी हो यह संगत नहीं व यह भी संगत नहीं कि साक्षी ही दुःखी हो जाये।।७६।।**

दुःखी होना और साक्षी होने का विरोध उत्तर श्लोक में स्पष्ट करते हैं—**परिवर्तन के बिना दुःखी नहीं हो सकता और परिवर्तनशील की साक्षिरूपता नहीं हो सकती। बुद्धि की समस्त वृत्तियों, परिवर्तनों का मैं आत्मा साक्षी हूँ, अतः मुझ आत्मा की निर्विकारता स्वतः सिद्ध है।।७७।।**

आत्मा से अतिरिक्त सभी अनियतस्वभाव है व केवल आत्मा ही नियत-स्वभाव है—यह अब तक युक्ति से सिद्ध किया। इसे निश्चित करने के लिये अनुभव भी दिखाते

---

१. सर्वविकारसाक्षी आत्मा अविक्रिय एव। स एवाहं ब्रह्मेत्यादावहमादिपदलक्ष्यार्थ इति भावः। अहं = अहंकारोपलक्षितः।
दुःखित्वं नाम विकारित्वम्। विकारिणः साक्षित्वमनुपपन्नम्। आत्मैव तु समस्तबुद्धिवृत्तिसाक्षी। अतः निरस्तसमस्तपरिणाम इति भावः।

२. मम संविदः—'मदभिन्नसंविल्लक्षणकूटस्थनित्यसाक्षिस्वरूपचिदात्मनः' इति सारार्थकारः। उच्छेदसाक्षित्वेनापि स्फुरणात् न ममोच्छेदः इति चन्द्रिकाकाराः।

३. क्षणभङ्गि = अनित्यम्। द्रष्टव्यौ श्लोकौ ८०,८६।

उत्पत्तिस्थितिभङ्गेषु कुम्भस्य वियतो यथा।
नोत्पत्तिस्थितिनाशाः स्युर्बुद्धेरेवं ममापि च ॥७९॥
सुखदुःखतत्संबन्धानां च प्रत्यक्षत्वात्, न श्रद्धामात्रग्राह्यमेतत्–
[1]सुखदुःखादिसंबद्धां यथा दण्डेन दण्डिनम्।
राधको वीक्षते बुद्धिं साक्षी तद्वदसंहतः ॥८०॥

हैं—**प्रमाण और प्रमाणाभास रूप बुद्धिवृत्तियों में एकरूप मेरी ज्ञानात्मता नष्ट नहीं होती, समान ही बनी रहती है। मुझसे भिन्नरूप में जो भी भासता है वह निश्चित रूप से आशु विनाशी है**॥७८॥ ज्ञानात्मता के नष्ट न होने का कारण यही है कि नष्ट होना स्वयं साक्षिसापेक्ष है अतः नाश का भी आत्मा साक्षी बना रहता है।

इसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—**जैसे घड़े के जन्म-स्थिति-नाश से आकाश के जन्मादि नहीं होते, वैसे ही बुद्धि के उत्पत्ति-स्थिति-नाश से मुझ आत्मा के भी उत्पत्त्यादि नहीं होते**॥७९॥ यद्यपि घटाकाश बन गया है, नष्ट हो गया—ये व्यवहार होते हैं, तथापि बनना आदि घटका ही है, आकाश का नहीं। ऐसे ही जन्मादि प्रमाणादि बुद्धिवृत्तियों के होते हैं, आत्मा के नहीं। श्लोक में जो बुद्धि की उत्पत्त्यादि कहा है, उसका अर्थ है बुद्धिवृत्ति की उत्पत्त्यादि से।

सुख-दुःख व उनके सम्बन्ध प्रत्यक्षसिद्ध होने से यहाँ जो कहा कि वे अनात्मभूत अहङ्कार के धर्म हैं; यह बात अनुभव से पुष्ट हो जाती है, केवल बात मान लेने का प्रसंग नहीं। प्रत्यक्षसिद्धता को श्लोक से बताते हैं—**जैसे कोई श्रद्धालु साधक स्वयं दण्डवान् न होते हुए ही दण्डधारी महात्मा का दर्शन करता है वैसे ही साक्षी सुख, दुःख आदि से सम्बद्ध बुद्धि को स्वयं उनसे असम्बद्ध रहते हुए ही देखता है**॥८०॥ 'अहं सुखी' आदि साक्षाद् अनुभव सिद्ध करता है कि सुख साक्षी से असम्बद्ध है क्योंकि इस अनुभव में बुद्धिरूप अहं ही अकेला नहीं भास रहा है अपितु सुख और उसका बुद्धि से सम्बन्ध भी भास रहा है तथा जो विषयतया भासता है वह विषयी से भिन्न हो इसमें शंका नहीं। आत्मरूप सुख भी भासता है जिससे उसकी भी बुद्धिगतता प्राप्त हो जाती है अतः उसकी व्यावृत्ति के लिए सम्बन्धोक्ति में 'सम्बन्ध'-ग्रहण समझना चाहिये। आत्मरूप सुख का आत्मसम्बन्ध भासता नहीं, क्योंकि कोई सम्बन्ध है ही नहीं।

---

१. 'सुखदुःखादेः अहंकारसम्बन्धः 'अहं सुखी'त्यादिप्रत्यक्षसिद्धम् इत्याह—**सुखदुःखादिसम्बद्धामिति**। यथा दण्डेन असंहतः तटस्थ एव सन् कश्चिद् राधकः साधको द्रष्टा दण्डिनं वीक्षते, तद्वद् अयमपि साक्षी सुखादिधर्मविशिष्टां बुद्धिं सुखादिभिरसंहतः तटस्थ एव सन् वीक्षत इत्यर्थः'। चन्द्रिका।

[1]एतस्माच्च हेतोर्धियः परिणामित्वं युक्तम्–
येनैवास्या भवेद्योगः सुखकुम्भादिना धियः।
तं विदन्ती तदैवान्यं वेत्ति नातो विकारिणी[2] ॥८१॥
अस्याश्च क्षणभङ्गुरत्वे स्वयमेवात्मा साक्षी[3]। न हि कूटस्थावबोधमन्तरेण बुद्धेरेवाविर्भावतिरोभावादिसिद्धिरस्ति–
परिणामिधियां वृत्तं[4] नित्याक्रमदृगात्मना।
षड्भावविक्रियामेति व्याप्तं[5] खेनाङ्कुरो यथा ॥८२॥

'मैं सुखी' के अनुभव में 'अपनापन'—सुख मेरा है यह स्वस्वामिभाव सम्बन्ध—है, अतः वह भासता है और इसीलिये अनात्मधर्म है।

यह एक और कारण है जिससे यह स्वीकारना संगत है कि बुद्धि परिवर्तनशील है—**जिस बाह्य घटादि विषय से या आन्तर सुखादि विषय से बुद्धि का सम्बन्ध होता है उसे ही उस समय यह ग्रहण करती है, जानती है, अन्य विषय को उस समय ग्रहण नहीं करती। अतः स्पष्ट है कि यह क्रमिकदर्शन रूप परिवर्तन वाली है**॥८१॥ युगपत् ज्ञान न होना ही अन्तःकरण मानने में प्रमुख चिह्न है और अयुगपत् ज्ञान परिवर्तन के कारण ही सम्भव है—एक विषय के ग्रहण के अनुकूल अवस्था में अन्य का ग्रहण सम्भव नहीं। विषय या तद्ग्राहक प्रमाण से सम्बन्धविशेष भी परिवर्तन ही है जिससे कि सभी मनोवादियों का परिवर्तनशील मन मान लेना सम्भव है, अन्यथा अणुमात्र मन को मानने वाले कथंविध परिणाम मान सकेंगे? ('अन्यं न वेत्ति, अतो विकारिणी' यह सम्बन्ध है।)

बुद्धि की आशुविनाशिता में स्वयं आत्मा ही प्रमाण है। नित्य ज्ञानरूप आत्मा के बिना बुद्धि के उत्पन्न होने व नष्ट होने की सिद्धि नहीं हो सकती। श्लोक से इसे ही कहते हैं—**जैसे अंकुर का जन्मादि आकाश से व्याप्त रहते हुए ही होता है वैसे ही नित्य और क्रम-रहित ज्ञानरूप आत्मा से व्याप्त रहते हुए ही परिवर्तनशील बुद्धियों का स्वरूप जन्मादि छहों भावविकारों को प्राप्त करता है**॥८२॥ बुद्धि

---

१. श्लो. ७० तमस्य स्पष्टीकरणमारभ्यते—एतस्मादित्यादिना।
२. यदैकमर्थं वेत्ति तदैवार्थान्तरं न वेत्ति बुद्धिरिति तस्या विकारिता सिद्धा। एवमेव तार्किका मनोऽनुमिन्वन्ति।
३. परिणामसाक्षित्वेनैवासावपरिणामीति भावः। ४. वृत्तं = स्वरूपम्।
५. आत्मना व्याप्तमिति सम्बन्धः। ससाक्षिकमित्यर्थः सारार्थः।

सत आत्मनश्चाविकारित्वे युक्तिः–

स्मृतिस्वप्नप्रबोधेषु न कश्चित्प्रत्ययो धियः ।
दृशाऽव्याप्तोऽस्त्यतो नित्यमविकारी स्वयंदृशिः ॥८३॥
एवं तावत् पराभ्युपगतप्रक्रियाप्रस्थानेन निरस्ताशेषविकारैकात्म्यं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति[1]**–**आत्मनश्चेति।।८३।।

इत्थं सांख्यसिद्धान्तमवलम्ब्य बुद्धिरेव परिणामिन्यात्मा कूटस्थ इति दर्शितम्। अधुनात्मनः परिणामाभ्युपगमेऽपि तस्य मायामयत्वे न कश्चिद्दोष इति सिद्धान्तमवलम्ब्याह–एवं तावदिति। कल्पितोऽप्यभ्युपगतोऽपि।।८४।।

व उसके विकार ज्ञातैक सत् हैं, यही उनकी आत्मव्याप्तता है। जन्म, तदुत्तर स्थिति, वृद्धि, अवयवादि की अन्यथावस्थिति, क्षय और नाश—ये छह बदलाव सब सादि भाव पदार्थों के होते हैं ऐसा यास्क मुनि ने प्रतिपादित किया है।

सद्रूप आत्मा की अपरिवर्तनशीलता में यह युक्ति है—**स्मृति, स्वप्न और जाग्रत् में ऐसी कई बुद्धिवृत्ति नहीं जो ज्ञानरूप आत्मा से प्रकाशित न हो, अतः नित्य व अपरिवर्त्य स्वयंज्योति आत्मा सिद्ध हो जाता है**॥८३॥ यद्यपि ऐसा कह दिया जाता है कि 'मन ऐसा बहुत कुछ सोच लेता है जिसे मैं जान नहीं पाता', तथापि उसका इतने में ही तात्पर्य है कि उन विचारों के स्पष्ट संस्कार नहीं छूटते; क्योंकि यदि सर्वथा ही अज्ञात हों तो उनके होने में कोई प्रमाण न रहे! अतः जैसे रज्जुसर्प की सत्ता तभी सिद्ध है जब उसे किसी ने देखा हो, वैसे मनोवृत्तियों के बारे में भी समझना चाहिये। प्रातिभासिक और व्यावहारिक का भेद होने पर भी साक्षिभास्यता दोनों में समान है। स्वप्न-प्रबोध से अतिरिक्त स्मृति जहाँ एक ओर सभी वृत्तियों के उपलक्षणार्थ कही गयी है, तदतिरिक्त प्रतिसन्धाता अपेक्षित नहीं। कुछ लोग प्रत्यभिज्ञा को स्मृति व प्रत्यक्ष इन दो हिस्सों में बाँटकर अनुगत आत्मा को नकारना चाहते हैं। उनके मनोरथ भग्न करने के लिये कहा कि स्वयं स्मृति की स्थिति आत्मा की अपेक्षा रखती है अतः उससे वह गतार्थ क्यों कर होगा?

इस प्रकार सांख्यमतावलम्बियों द्वारा स्वीकृत विचार-प्रणाली से यह युक्तिसिद्ध

---

१. दृष्टान्तेन उक्तमर्थम् आकाशस्येवात्मनोऽविकारित्वम्, उपपादयति दार्ष्टान्ते संगमयतीत्यर्थः।

प्रतिपादितमुपपत्तिभिः। अथाधुना श्रौतीं प्रक्रियामवलम्ब्योच्यते[1]–

अस्तु वा परिणामोऽस्य दृशेः कूटस्थरूपतः ।
कल्पितोऽपि मृषैवासौ दण्डस्येवाप्सु वक्रता ॥८४॥
षट्सु भावविकारेषु निषिद्धेष्वेवमात्मनि ।
दोषः कश्चिदिहासक्तुं[2] न शक्यस्तार्किकश्वभिः ॥८५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं षड्भावविकाररहितत्वप्रतिपादनेन कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसर्वानर्थसम्बन्ध आत्मनो निराकृतो द्रष्टव्य इत्याह–षट्स्विति।।८५।।

किया कि निर्विशेष आत्मा सब परिवर्तनों से रहित है। यद्यपि एकान्तेन सांख्यसिद्धान्त को यहाँ स्वीकृति नहीं दी, इसे तत्र-तत्र स्पष्ट भी किया गया, तथापि विचार का ढंग वही था जो सांख्य सिद्धांत में प्रयुक्त है। अब श्रुति पर अवलम्बित प्रक्रिया के सहारे कहते हैं—**वस्तुतः ध्रुवशील ज्ञानरूप इस आत्मा में चाहे परिवर्तन हो, किन्तु कल्पित होने से वह होगा मिथ्या ही, जैसे पानी में आधे डूबे डण्डे का टेढ़ापन**॥८४॥ इस व्याख्यानकी श्रौतता वस्तुतः यही है कि इसमें मिथ्या परिवर्तन को ही मान्यता दी है। पूर्व व्याख्यान में भी इसका उपसंहार सम्भव है, यह देखा जा चुका है। तथापि दर्शनप्रसिद्ध प्रक्रियाओं का सहारा लिये बिना 'मैं सुखी, मैं घड़े को जानता हूँ' आदि अनुभवों को श्रुतिमर्यादा के अनुसार उपपन्न करने के लिये उतनी लम्बी कल्पनाओं को न कर, सीधे ही आत्मा में मिथ्या तादृश परिवर्तन स्वीकार किया जाये, तो भी वेदान्ती के अनुकूल ही है, यह यहाँ बता दिया। श्रुतिवचनों की उपपत्ति तो दोनों प्रक्रियाओं में समान है!

आत्मा में छहों भावविकारों का न होना सिद्ध हो चुकने के कारण इस प्रक्रिया में उन तार्किकों को कोई दोष दिखाने का मौका न मिलेगा जो अपनी कुकल्पनाओं से विलक्षण युक्ति सुनकर उसी तरह वावदूक हो उठते हैं जैसे

---

१. 'आत्मनः परमार्थतो विकारो नास्तीत्येतावता साम्येन साङ्ख्यमताभ्युपगमः कृतः पूर्वस्मिन्ग्रन्थे। सिद्धान्ते तु साक्षिणि विकल्पितपरिणामोऽस्तीति कृत्वा श्रौतीं प्रक्रियामवलम्ब्योच्यते'। (नै.सि.वि.)

२. आसक्तुं = आसञ्जयितुमिति भावः।

प्रकृतमेवोपादाय बुद्धेः परिणामित्वमात्मनश्च कूटस्थत्वं युक्तिभिरुच्यते–

प्रत्यर्थं तु विभिद्यन्ते बुद्धयो विषयोन्मुखाः[१]।
न भिदावगतेस्तद्वत् सर्वास्ताश्चिन्निभा यतः[२] ॥८६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रकृतमेवोपादायेति–**श्रौतमेव मतमवलम्ब्येति। यावदवगतेर्घटपटादि-बुद्ध्युपाधिभेदपरामर्शमन्तरेणाविभाव्यमानभेदस्येव नभसः, स्वत**

किसी अपरिचित व्यक्ति की गन्ध पाकर कुत्ते भौंकने लगते हैं॥८५॥ मिथ्या परिवर्तन स्वीकार करना सभी युक्तियों का रास्ता रोक देता है। अनिर्वाच्य में युक्ति पूछना ही अपनी मूर्खता का विज्ञापन कर देना है। तार्किकों को कुत्ते से उपमित कर यह भी द्योतित कर दिया कि वे अपनी युक्तिस्वामिनी के ऐसे भक्त हैं कि उन्हें अनिर्वाच्यवाद सहन नहीं होता। किं च सांख्यमत भी तर्क पर आधारित ही मत है। अतः तार्किकों के युक्तिघोष का प्रशम करने के लिये उनमें समानता वाले, पर उनसे बलवत्तर सांख्यसारमेय हमने भी पाले हुए हैं जिससे कि हमें हैतुकी रव डराता नहीं, यह भी ध्वनित हो गया। इस प्रकार वेदान्त मार्ग के भीरु पथिकों के सहारे के लिये सांख्यानुकूल युक्तियों द्वारा स्वपक्षस्थापित करने का स्वसिद्धांत-रहस्य बता दिया। समग्र संसार जिसमें कल्पित है उसमें कुछ परिवर्तनों की भी कल्पना हो जाने से कौन-सा अतिभार हो जायेगा।

विषयादि-ज्ञान होने पर भी आत्मा में कोई वास्तव परिवर्तन नहीं होता, यह जो प्रसङ्ग चला है उसी के विषय में बुद्धि की परिवर्तनशीलता और आत्मा की ध्रुवशीलता को युक्तियों द्वारा और पुष्ट करते हैं—**जिस प्रकार प्रत्येक बाह्याभ्यन्तर विषयों का ग्रहण करने वाली बुद्धिवृत्तियाँ अलग-अलग होती हैं, वैसे ज्ञानरूप चैतन्य में कोई भेद नहीं क्योंकि वे सभी वृत्तियाँ समान रूप से ज्ञान प्रकाश की ग्राहिका हैं**॥८६॥ जिस प्रकाश को वे ग्रहण करती हैं वह एकरूप है, उसे प्रतिविषय विभिन्न मानना प्रामाणिक नहीं।

१. विषयोन्मुखाः—'विषयाकाराः'।
२. 'यथा प्रतिविषयं बुद्धयः स्वतोभिद्यन्ते तद्वद् अवगतेः चैतन्यस्य न भेदोऽस्ति चिदाकारत्वात् सर्वासां बुद्धिवृत्तीनां तस्माद् घटपटादिबुद्ध्युपाधिभेदपरामर्शम् अन्तरेण स्वतो भेदानवगमाद् उपाधिपरामर्शमन्तरेण अविभाव्यमानभेदस्य इव नभसः, स्वत एकत्वम्, एवं चैतन्यस्येत्यर्थः'। चन्द्रिका।

स्वसंबद्धार्थ एव–
सावशेषपरिच्छेदिन्यत एव न कृत्स्नवित्[१]।
नो चेत् परिणमेद् बुद्धिः सर्वज्ञा स्वात्मवद्भवेत् ॥८७॥
अतोऽवगतेरेकत्वात्–
चण्डालबुद्धेर्यद् द्रष्टृ तदेव ब्रह्मबुद्धिदृक[२]।
एकं तदुभयोर्ज्योतिर्भास्यभेदादनेकवत् ॥८८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एकत्वमेवेत्यर्थः॥८६-८७-८८॥

अपने से सम्बद्ध पदार्थ के निमित्त से ही, **बुद्धि पदार्थ के कुछ हिस्सों को ही विषय करती है, अतएव उसे भी पूरी तरह नहीं जानती। बुद्धि यदि विषयाकार को लिये बिना विषय को जान लेती तब यह निजात्मा की तरह सर्वज्ञ हो जाती**॥८७॥ सम्बन्धोक्ति श्लोक से अन्वित जाननी चाहिये। पदार्थ का भार आदि, प्रत्यक्ष ग्रहकाल में धी-विषय नहीं होता। अतः कुछ ही हिस्सों को विषय करती है यह कहा। केवल परिणामशून्य होने से सर्वज्ञतापत्ति हो नहीं सकती अतः 'परिणामशून्य रहते हुए जान ले'—इतना विवक्षित समझना चाहिये। इष्टापत्ति तो अनुभवपराहत है ही। आत्मा की सर्वज्ञता किसी व्यवहार में हेतु बने यह नियम नहीं। रूप ज्ञान तो स्वयं ही व्यवहार है क्योंकि विवरणाचार्य अभिज्ञा को व्यवहार मानते हैं। (द्र. 'लोकव्यवहारः' की व्याख्या)।

इसलिये ज्ञानरूप आत्मा के एक होने के कारण—**चाण्डाल की बुद्धि का जो साक्षी है, वही ब्रह्मा जी की या ब्राह्मण की बुद्धि का भी साक्षी है। दोनों को प्रकाशित करने वाली ज्योति एक है जो प्रकाश्य के भेद से विभिन्न की तरह प्रतीत होती है**॥८८॥ अतः पूर्वोपपादित आत्मैक्य सिद्ध हो जाता है।

प्रकाशक आत्मज्योति क्यों भिन्न नहीं है, यह श्लोक द्वारा बताते हैं—**अवस्था,**

१. 'बुद्धेः परिणामलक्षणधर्मसम्बन्धप्रतिपादनायोत्तरश्लोक इत्याह—**स्वसम्बद्धार्थ इति**। बुद्धिः परिणामिनीति यतः, अत एव कतिपयपरिच्छेदिनी भूत्वा न कृत्स्नविद् भवति। यदि न परिणमेत्, तदा सर्वज्ञा स्यात्। ततः परिणामिनी बुद्धिः इत्यर्थः।' चन्द्रिका।
२. ब्रह्मा चतुर्मुखः, हिरण्यगर्भ इति भावः। चाण्डालबुद्धेः-चाण्डालोऽयम् इत्यत्यन्ताशुद्ध-वस्तुगोचरबुद्धेर्यच्चैतन्यं द्रष्टृ साक्षिभूतं तदेव ब्रह्मबुद्धिदृक् हिरण्यगर्भबुद्धिसाक्षिभूतमपि ब्राह्मणबुद्धिसाक्षिभूतं वा। उभयोरपि ज्योतिः प्रकाशकं चैतन्यमेकमेव सत् उपाधिभूतभास्यवस्तुवशादनेकवद् विभाव्यते। अतः सर्वदेहेष्वपि साक्षी एक एवेति सिद्धम् इत्यभिप्रायः। (क्लेशापहारिणी)

कस्मात्?

अवस्थादेशकालादिभेदो[1] नास्त्यनयोर्यतः ।
तस्माज्जगद्धियां वृत्तं ज्योतिरेकं सदेक्षते ॥८९॥

सर्वदेहेष्वात्मैकत्वे प्रतिबुद्धपरमार्थतत्त्वस्य अपि अप्रतिबुद्धदेह-सम्बन्धात्, अशेषदुःखसंबन्ध इति चेत्? तत्र–

बोधात्प्रागपि दुःखित्वं नान्यदेहोत्थमस्ति नः ।
बोधादूर्ध्वं कुतस्तत्स्याद् यत्र स्वगतमप्यसत्[2] ॥९०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

बुद्धेरपि परिणामित्वोपपादनायोत्तरश्लोक इत्याह–कस्मादिति। आदिशब्देन भेदगुणादयो गृह्यन्ते।।८९।।

ऐकात्म्यवादे दोषमाशङ्क्य परिहरति–सर्वदेहेष्विति।।

देश, काल, गुण आदि कोई भेद चाण्डाल और ब्राह्मण की बुद्धि के प्रकाशकों में नहीं। अतः संसार-भर की बुद्धियों की लीला आत्मा अकेला ही देखता है।।८९।। जितने भी भेदकों का ऊह किया जाये, वे बुद्धि-भेद से ही उपपन्न हो जाते हैं अतः आत्मभेद में कोई प्रमाण नहीं। अवस्था से जाग्रत् आदि या कौमार्यादि समझनी चाहिये। यद्यपि तत्तद्देशादि-स्थित बुद्धियों के साक्षी भी तत्तद्देशादि-स्थित ही प्रतीत होते हैं तथापि केवल बुद्धियों की तत्तद्देशादिस्थितता से उपपत्ति हो जाने के कारण देशादिभेद से साक्षिभेद का उन्नयन नहीं हो सकता।

सभी देहों में एक ही आत्मा है तो जिस पुरुषधौरेय ने वास्तव आत्मतत्त्व को जान लिया उसका भी सम्बन्ध अज्ञानिदेहों से होने के कारण उनमें होने वाले दुःखादि से उसका सम्बन्ध हो जायेगा? इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर श्लोक द्वारा देते हैं— **आत्मज्ञान से पूर्व भी अन्य देह के कारण होने वाला दुःख 'यह मेरा दुःख' इस प्रकार प्रतीत नहीं होता तो आत्मज्ञान के बाद जब अपने देह से होने वाला दुःख भी नहीं रहा तब दूसरे के देह के दुःख से सम्बन्ध कैसा?**।।९०।। तात्पर्य है कि

---

१. 'अवस्थापदेन ह्रस्वत्वादिपरिमाणमुच्यते कालिकविशेषाङ्गीकारे कालपदेन पुनरुक्त्यापत्तेरि'ति सारार्थकारः।

२. 'यत्र = यस्मिन्नात्मनि पूर्वं स्वगतत्वेन भातमपि दुःखम् इदानीम् अहं ब्रह्मास्मीति बुद्ध्या बाधितं, कथं पूर्वम् अन्यगतत्वेन भातम् इदानीं मम स्याद! इत्यर्थः'। चन्द्रिकायाम्। तत्र स्वगतमित्यस्य स्थाने, प्राक्तनम् इति कतिपयमातृकासु पाठः।

न चेयं स्वमनीषिकेति ग्राह्यम्। कुतः? श्रुत्यवष्टम्भात्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तार्किकैरिव न तर्कावष्टम्भादस्माभिरेव तदुपपाद्यत इत्याह–न चेयमिति[1]।।९१।।

अविद्यानिवृत्ति से सभी भेद निवृत्त हो गये अतः न पर देह है, न तद्गत दुःख है व उससे सम्बन्ध नतराम् है। कुछ विचारक आत्मैक्य ज्ञान का ही यहाँ विषय मानते हैं, ब्रह्मात्मैक्य का नहीं। उनका कहना है कि वाक्य-तात्पर्य है कि आत्मैक्य-ज्ञान से पूर्व भी अन्य देहगत दुःख अन्यदेहगत आत्मा से सम्बद्ध हो—यह वेदान्त सिद्धान्त में दोष नहीं आता। आत्मज्ञान के अनन्तर जीव की जीवता के ही निवृत्त हो जाने पर परदुःख से सम्बन्ध कैसा? यह इनके मत में श्लोकार्थ है। किन्तु यह अनुचित व्याख्या है। प्रसङ्ग आत्मा की अविकारिता का है, एकता का नहीं। अविकारिता-सिद्धि के लिये 'अवगतेरेकत्वात्' यह हेतु दिया और इसकी असिद्धि की शंका के निवारण के लिये अवस्थादिभेद से साक्षी का भेद नहीं, यह कहा। उसी पर अवान्तर शंका उठी कि आत्माऽभेद होने पर भोगादिसांकर्य होगा, तो उसे निवृत्त प्रकृत श्लोक में किया। उत्तर श्लोक पुनः आत्मा की ध्रुवशीलता व बुद्धि की परिणामिता को प्रामाणिक बतायेंगे। इस प्रकार प्रसंग आत्मा की अविकारता का है, एकता-अनेकता का नहीं। किं च 'स्वगत' शब्द का 'जीवत्व' अर्थ करना ठीक नहीं। तथा पूर्वार्ध के 'बोध' शब्द और उत्तरार्ध के 'बोध' शब्द का अलग-अलग अर्थ करना और भी अयुक्त है। यदि उत्तरार्ध में भी बोध का अर्थ हो आत्मैकत्व-ज्ञान, तब तो ग्रन्थ असंगत हो जायेगा क्योंकि आत्मैकत्वज्ञान से स्वगत दुःख या जीवत्व निवृत्त नहीं होता। और यदि आत्मैकत्व का तात्पर्य आत्मब्रह्मैकत्व समझें तब वही दोष है कि पूर्वार्ध से विलक्षणार्थ स्वीकृत हुआ। जो तो वे ब्रह्मात्मैक्य को अप्रसक्त कहते हैं वह तो संभवतः पाठकों के क्लेश को अपहरण करने की उत्कण्ठा में अध्याय प्रारम्भ को उनके द्वारा भूलने के कारण है। वाक्यार्थ-ज्ञान के लिये आवश्यक पदार्थ-शोधन के लिये ही यह अध्याय प्रारम्भ हुआ है अतः परात्मैक्य ही प्रकृत है। अतः यथाव्याकृत ही साधु है।

अपनी बुद्धि से युक्तियुक्त प्रतीत होने मात्र से यह सिद्धान्त स्वीकार्य है, ऐसा भी नहीं क्योंकि वेद के सहारे इसका प्रतिपादन है।—**शब्दादिविषयाकार, उत्पत्ति-विनाशशाली अन्तःकरण वृत्ति आत्मा द्वारा प्रकाशित की जाती है–यह श्रुति**

---

१. न चैवमिति हस्तलिखितपुस्तके दृश्यते।

शब्दाद्याकारनिर्भासा हानोपादानधर्मिणी[1]।
भास्येत्याह श्रुतिर्दृष्टिरात्मनोऽपरिणामिनः ॥९१॥
का त्वसौ श्रुतिः?
दृष्टेर्द्रष्टारमात्मानं न पश्येर्दृश्यमानया[2]।
विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्धियां पतिम्[3] ॥९२॥

यस्मात् सर्वप्रमाणोपपन्नोऽयमर्थस्तस्मात् अतोऽन्यथावादिनो जात्यन्धा इवानुकम्पनीया इत्याह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवमर्थमुपवर्ण्य तत्र श्रुतिमवतारयति–का त्वसाविति। **'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः', विज्ञातारमरे केन विजानीयादि'**ति च **वाक्यद्वयमत्र प्रमाणमित्यर्थः।।९२।।**

एवं श्रुतिस्मृतिसिद्धम्[4] **प्रत्यक्षानुमानादीनां प्रमाणानां सम्भवाद्भेदान्त-सिद्धान्ते नाविश्वासः करणीय इत्यभिप्रेत्याह–**यस्मादिति।

बताती है, न कि यह कि आत्मा उसके द्वारा प्रकाशित किया जाता है।।९१।। श्लोकान्वय है—शब्दाद्याकारनिर्भासा हानोपादानधर्मिणी दृष्टिः अपरिणामिन आत्मनो भास्या इति श्रुतिराह। पाठान्तर में, दृष्टिं भास्या इत्याह—यह सम्बन्ध है।

जो श्रुतिवाक्य इस अर्थ को बताते हैं उन्हें श्लोक द्वारा सूचित करते हैं—**'दृष्टि को देखने वाले आत्मा को, दीखने वाली दृष्टि से न देखो'; 'सकलबुद्धिवृत्तिप्रकाशक विज्ञाता आत्मा को किससे जाना जाये'।।९२।।** इत्यादि श्रुतिवचन इस बात में प्रमाण हैं। प्रथम वाक्य बृहदारण्यक ३.४.२ के वाक्य का और द्वितीय वाक्य २.४.१४ का परामर्शक है। दृष्टिपद बुद्धिवृत्ति का सूचक है। प्रकाश्य से प्रकाशक का प्रकाश अदृष्टचर है ही। 'अचिन्त्योहम्' (२.२५) 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' (७.२५), 'मान्तु वेद न कश्चन' (७.२६) 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं' (१०.१५) आदि स्मृति और 'मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचय' आदि विद्वदनुभव भी प्रमाण समझ लेने चाहिये।

---

१. हानोपादानधर्मिणी—'उत्पत्तिविनाशादिमती'ति सारार्थकारः। 'दृष्टिः' इत्यस्य स्थाने 'दृष्टिम्' इति चन्द्रिकानुसारी बहुहस्तलेखानुसारी च पाठः। 'श्रुतिर्दृष्टिम् अन्तःकरणवृत्तिमाह' (चन्द्रि.)।आत्मस्वरूपदृष्ट्या जन्यदृष्टिर्भास्या, न तु विपरीतमिति संक्षेपः।

२. दृश्यमानया—'मनोवृत्त्या' (सारार्थः)। ३. धियां पतिं सकलबुद्धिवृत्तिप्रकाशकम्।

४. अत्र '...सिद्धप्र...' इति पठनीयं, सिद्धः = विद्वान्। 'श्रुतिस्मृतिविद्वत्प्रत्यक्षानुमानादीनां सम्भवाद्'ति चन्द्रिका।

तदेतदद्वयं ब्रह्म निर्विकारं कुबुद्धिभिः।
जात्यन्धगजदृष्ट्येव कोटिशः परिकल्प्यते ॥९३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यथा जात्यन्धास्स्वयमाकलितकरिकरचरणदर्शनादिष्वयं गजोऽयं गज इति तत्र तत्रावयवे करिभावं कल्पयन्ति तथेत्यर्थः।।९३।।

क्योंकि सभी प्रमाणों से उपरोक्त सिद्धान्त ही स्थापित होता है अतः यह स्पष्ट है कि इस विषय में इस सिद्धान्त से विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले, जन्मान्ध की तरह इसे नहीं जानते, अतः उन पर कृपा की जानी चाहिये—कृपा पूर्वक उन्हें इस सिद्धान्त को समझा देना चाहिये। इसे श्लोक द्वारा कहते हैं—**जैसे जन्मान्ध लोग अपने-अपने स्पर्शानुभव के अनुसार पैर, सूँड़ आदि अवयवों को ही 'यह हाथी है' इस प्रकार नाना प्रकार से कल्पित कर लेते हैं, वैसे ही कुतर्कों से दूषित अपनी अपनी बुद्धियों द्वारा तार्किक लोग इस शास्त्रप्रसिद्ध एवं नित्यानुभवसिद्ध यत्किंचित्परिवर्तन से भी शून्य आत्मतत्त्व के विषय में करोड़ों प्रकार की धारणायें बना लेते हैं।।९३।।** आत्मा के विषय में जितने सम्भव विकल्प हैं, सभी किसी न किसी सिद्धान्त में स्वीकृत हैं। आत्मा है, नहीं है, एक है, अनेक है, एक-अनेक दोनों है, सगुण है, निर्गुण है, सगुण भी है निर्गुण भी, न सगुण है न निर्गुण, अणु है, महान् है, मध्यम परिमाणी है, अनादि है, सादि है, अनन्त है, सान्त है, इत्यादि जो कुछ भी विचार या अविचार से कहा जा सकता है, सभी विस्तृत प्रबन्धों में प्रतिपादित किया गया है। अतः 'करोड़ों' कोई अतिशयोक्ति नहीं। अथवा 'कोटियों में या श्रेणियों में बाँट कर'—यह अर्थ है। ईश्वर कोटि, जीव कोटि, सिद्ध कोटि, देव कोटि, नित्य सालोक्य को प्राप्त कोटि आदि जितनी सम्भव कोटियाँ हैं उनमें आत्मा को बाँट कर कुछ लोग समझते हैं कि उन्होंने आत्मविचार कर लिया। केवल अनुभव को ठीक न समझ भूल करते हों ऐसा नहीं, अपने कल्पित सिद्धान्तों से उसे रंग डालते हैं—यह कहने के लिये 'परिकल्पित' शब्द का प्रयोग किया। कुबुद्धि पद से यह बता दिया कि इस प्रकार ऊह करने वाले तार्किक अपने अनुकूल श्रुति वचन भी ढूँढ लेते हैं अर्थात् श्रुति भी इन्हें वही बताती सुनाई देती है जो ये सुनना चाहते हैं क्योंकि भट्टकुमारिल ने कहा है 'दोषो ह्यविद्यमानोपि तच्चित्तानां प्रकाशते'। अतः तरुणेन्दुशिखामणि उमारमण की अहैतुकी कृपा से कृत सर्वकर्मत्याग निरभिनिवेश उदासीन मुमुक्षु को इन मतवादों की दलदल से बचते हुए औपनिषद पुरुष को साम्प्रदायिक रीति से ही समझने का प्रयास करना चाहिये।

प्रमाणोपपन्नस्यार्थस्याऽसंभावनात् तदनुकम्पनीयत्वसिद्धिः।
तदेतदाह–

यद्यद्विशेषणं दृष्टं नात्मनस्तदनन्वयात्।
खस्य कुम्भादिवत् तस्माद् आत्मा स्यान्निर्विशेषणः ॥९४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एतदेव प्रपञ्चयति–प्रमाणेति॥९४॥

श्रुति व युक्ति से सिद्ध अर्थ को वे गलत बताने का प्रयास करते हैं अत: उनकी मन्दबुद्धि स्पष्ट है और इसीलिये उन पर कृपा करनी चाहिये। प्रमाणसिद्ध अर्थ को ही श्लोक द्वारा कहते हैं—**विशेषण–व्यावर्तक–के रूप में जो कुछ भी अनुभव में आता है, वह अनुगत न होने के कारण आत्मा का स्वरूप नहीं। जैसे घट आदि विशेषण, आकाश के स्वरूपभूत नहीं, उसी प्रकार समझना चाहिये। अत: आत्मा सब विशेषणों से अस्पृष्ट है**॥९४॥ विशेषण पद उस व्यावर्तक का वाचक होता है जो स्वरूपान्तर्निविष्ट हो। एवं च विशेषण भी कहें, और स्वरूप नहीं, यह भी कहें, यह असंगत प्रतीत हो सकता है। पर आचार्य इसे स्पष्ट करना चाहते हैं कि मूढदृष्टि से चाहे हमें विशेषणतया ही क्यों न प्रतीत हो, वह आत्मा का स्वरूप नहीं ही है। जब विशेषण ही स्वरूप नहीं तब अन्य व्यावर्तकों का क्या कहना, इसी दृष्टि से सच्चिदादि भी असदचिदादिव्यावृत्तिमात्रपरक स्वीकृत हैं क्योंकि यदि वे भी व्यावर्तक रूप में आत्मविशेषण हों तो तुल्यन्याय से आत्मरूप नहीं रह सकते। यह अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये कि असदादिव्यावृत्तत्व आत्मविशेषण है या नहीं? क्योंकि वस्तुत: तो वह भी विशेषण नहीं है और प्रश्नकर्ता की दृष्टि से तो असद्भेद सद्रूप ही मान लिया जा सकता है जिससे कि कोई शंका न रहे। किन्तु इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि आत्मा कोई निषेधात्मक वस्तु है, या बौद्धों का शून्य ही है, क्योंकि यह आनन्दादि रूप है। सत्यादि उसके विशेषण नहीं यह जितना ठीक है उतना ही यह भी कि वह सत्यादिरूप है। अत: शून्य या निषेधात्मक नहीं।

यह भी एक कारण है कि आत्मा का भेदरूप प्रपंच से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि भेद का स्वभाव है मिथ्या, और आत्मा का स्वभाव है सत्य। सत्य और मिथ्या का वस्तुत: कोई भी सम्बन्ध सम्भव नहीं। भेद का मिथ्यात्व किसी ने रुचिर प्रकार से प्रकट किया है—

अतश्चात्मनो भेदासंस्पर्शः, भेदस्य मिथ्यास्वाभाव्यात्। अत आह–

अवगत्यात्मनो यस्मादागमापायि कुम्भवत्।
साहङ्कारमिदं विश्वं तस्मात् तत् स्यात् कचादिवत् ॥९५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्माऽसम्बन्धित्वेऽपि विशेषणानामन्यमतत्वेन[1] स्वरूपेण सद्भावोऽङ्गीकृत इति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह–एकस्यात्मन **इति**[2]॥९५॥

'भेदोऽयं भिन्नधर्मिप्रतिभटविषयज्ञानजज्ञानवेद्यो
धर्म्यादेर्भेदसिद्धिः पुनरपि च तथेत्यापतेच्चानवस्था।
भेदे, धर्म्याद्यभेदे बत भवति मृषा भेदबुद्धिर्विभेदे
प्रादुष्युः पूर्वदोषा न च गतिरपरा तेन भेदो मृषैव'[3] ॥

अर्थात्—घट से पट भिन्न है इस अनुभव के आधार पर माना जाता है कि पट में घट का भेद है। अत: जिसमें भेद बताना है उससे भिन्नधर्मी रूप प्रतियोगी—जिसका भेद बताना है—का ज्ञान जरूरी है। घट पट से भिन्न है इस ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान है कि पट घट से भिन्न है अर्थात् पट में घट का भेद है। अत: पटनिष्ठ घटभेद उस ज्ञान से जाना जाता है जिसका जन्म घटनिष्ठ पटभेद के ज्ञान से होता है। पुन: घटनिष्ठ भेदज्ञान उक्त रीति से पटनिष्ठ घटभेद-ज्ञान पर आधारित है। अत: दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं, निरपेक्षरूप से न घटनिष्ठ पटभेद सिद्ध होता है और न पटनिष्ठ घटभेद। यदि यह कहें कि अन्य पट का घटनिष्ठ भेद तो इस पट पर आश्रित नहीं व अन्य पटनिष्ठ घटभेद इस घट का न लेकर घटान्तर का लें तो उनमें भी परस्पर आश्रयता नहीं, तब तो अनवस्था दोष मूलहानि करने में कदापि नहीं चूकेगा। अत: भेद मानने में अनवस्थादि दोष हैं। और यह भी प्रश्न है कि घटनिष्ठ भेद घट से भिन्न है या नहीं। यदि भिन्न नहीं, तब तो मुखत: ही मान

---

१. '…मन्यत्वेन' चन्द्रिकानुसारी भवेत्।

२. पाठोऽयं मुद्रितपुस्तके मूले नास्ति। 'अतश्चात्मन:' इति वर्तते। चन्द्रिकायामवतरणमेतत् श्लोकस्य वर्तते। ततोऽत्र 'एकस्य' इति लेखकप्रमादाद्भाति। यद्वा 'एकस्य आत्मन' इति विना सन्धि पठित्वा पाद: पूरणीय:। श्लोकार्थ: 'यस्मादात्मन: सकाशात् साहंकारमिदं विश्वं कुम्भवद् आगमापायितया सिद्ध्यति, तद् विश्वं तत: केशोण्डूकादिवत् स्वरूपं न भवति' इति चन्द्रिकोक्त:।

३. भेदखण्डन का अतिविस्तृत विचार बृहद्वार्तिक में देखना चाहिये (४.३.१६४१ प्रभृति)।

सर्वस्यैवानुमानव्यापारस्य फलमियदेव यद्विवेकग्रहणम्। तदुच्यते–

बुद्धेरनात्मधर्मत्वमनुमानात् प्रसिध्यति।
आत्मनोऽप्यद्वितीयत्वमात्मत्वादेव सिध्यति ॥९६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तर्ह्यात्मनोऽन्वयव्यतिरेकलक्षणानुमानप्रमाणाधीनसिद्धिकत्वात् स्वयं प्रकाशत्वाभ्युपगमो भज्येतेत्यत आह–सर्वस्यैवेति। **आत्मत्वाद् आत्मनस्स्वभावबलात्, स्वत एवेति यावत्।।९६।।**

लिया कि भेद मिथ्या है, वस्तुतः वह घटरूप है। तथा यदि घटनिष्ठ भेद घट से भिन्न है तब तो पूर्वोक्त दोष यथावत् यहाँ भी प्राप्त हो जायेंगे। इससे अतिरिक्त कोई गति अर्थात् विकल्प हो नहीं सकता इसलिये भेद केवल मान्यतामात्र है, प्रमाण-सिद्ध नहीं, अतः मिथ्या है। यद्यपि भेद स्वयं को भेद्य से स्वयं ही भिन्न कर लेता है ऐसी तार्किक मान्यता है—'भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो यथैव भेदान्तरमन्तरेण' (सं.शा.), तथापि आत्माश्रयादि दोष निवृत्त नहीं होते। 'अद्वैतरत्नरक्षणम्' नामक लघुकाय किन्तु अत्यन्त गम्भीर ग्रन्थ में सरस्वती स्वामी ने भेद का तिलशः खण्डन किया है, जिसे वहीं से समझना चाहिये।

क्योंकि भेद मिथ्या है अतः कहते हैं—**अवगति रूप आत्मा की अपेक्षा अहंकार सहित सारा प्रपंच उसी प्रकार उत्पन्न व नष्ट होने वाला होने से अननुगत है जिस प्रकार अनित्य घड़ा नित्य आकाश की अपेक्षा अननुगत रहता है। अतः वह आत्मा का स्वरूप नहीं और इसीलिये वैसे ही मिथ्या है जैसे आँख मलने पर दीखने वाले बाल के गुच्छे**।।९५।।

इस सब मननरूप युक्तिविचार का फल इतना ही है कि प्रपंच और आत्मा का पार्थक्य स्पष्ट हो जाये, आत्मा का बोध फल नहीं क्योंकि स्वप्रकाश होने से आत्मबोध स्वतःसिद्ध है। श्लोक द्वारा इसे कहते हैं—**अन्वय-व्यतिरेकादि विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि वृत्तिज्ञान अनात्मरूप अन्तःकरण की ही विशेषता है तथा आत्मरूप होने के कारण ही आत्मा अद्वितीय है यह भी सिद्ध हो जाता है**।।९६।। परप्रकाश्यता का यहाँ निषेध किया। मननफल आत्मबोध न होने से आत्मा की स्वप्रकाशता की रक्षा हो जाती है व आत्मा की अद्वितीयता को विषय करने वाला भी कोई आत्मभिन्न हेतु न होने से उसकी स्वप्रकाशता

यद्यप्ययं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यगृहीतितत्फलात्मक आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तः संसारोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामनात्मतया निर्माल्यवद्[1] अपविद्धः, तथापि तु नैवासौ स्वतःसिद्धात्मव्यतिरिक्तानात्मप्रकृतिपदार्थव्यपाश्रयः साङ्ख्यानामिव, किं तर्हि? स्वतःसिद्धानुदितानस्तमितकूटस्थात्म-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सांख्यादयो बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तम् आत्मानम् असंसारिणम् अभ्युपगम्य बुद्ध्यादीनां प्रधानकार्यत्वेन तदाश्रयत्वं सत्यत्वज्ञाभ्युपगच्छन्ति; तथा नास्मत्सिद्धान्तः, किन्तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयानाद्यविद्याविजृम्भिततया तदाश्रया बुद्ध्यादयः प्रत्यगात्मनि परिकल्पिता इतीममर्थमाह–यद्यपीति।।९७।।

पर कोई आँच नहीं आती। यद्यपि वृत्तिज्ञान का ही नाम लिया है तथापि सभी परिवर्तनों से तात्पर्य है। आत्मा में द्वितीयता का आधान किसी न किसी उपाधि से ही होता है, स्वतः तो वह अद्वितीय ही है अतः आत्मता को ही आत्माद्वितीयता में हेतु कहा। यहाँ सद्वितीयत्वव्याप्त अनात्मत्व की व्यतिरेक हेतुता अभीष्ट होने से यह दोष नहीं कि पक्ष और हेतु एक ही है।

यद्यपि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और उसका फल—एतन्मात्र जो ब्रह्मा से क्षुद्र जन्तु पर्यन्त जीव का संसार है, वह अनुगम-अननुगम के आधार पर अनात्मा सिद्ध होने से आत्मस्वरूपता से उसी तरह हटा दिया गया जैसे पर्युषित निर्माल्य देवमूर्ति से हटा दिया जाता है; तथापि इसे आत्मा से भिन्न स्वतन्त्रसत्ताक अनात्मरूप किसी प्रकृति आदि पदार्थ का वास्तव धर्म नहीं समझ लेना चाहिये। तब क्या समझना चाहिये? अविचार पर्यन्त ही कार्यकारी, आत्मसम्बन्धी अज्ञान पर आश्रित जो, स्वतःसिद्ध, नित्य अपरिवर्तनशील, केवल ज्ञानरूप आत्मा का प्रतिबिम्बरूप जीव है, उसी का संसार है, आत्ममात्र का या अनात्ममात्र का नहीं, यह समझना चाहिये। विषयगत अज्ञात ब्रह्म चैतन्य प्रमेय, विषयगत अभिव्यक्तियोग्यत्व भाग से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमिति और विषयगत ज्ञात ब्रह्म चैतन्य फल कहा जाता है। सिद्धान्तबिन्दु (प्रथमश्लोक व्याख्यान) आदि में यह स्पष्ट है। इससे अनभिज्ञ कुछ असाम्प्रदायिक व्याख्याता उपलब्ध पाठ से विलक्षण 'ग्रहीतृग्रहणग्राह्यगृहीतिफलात्मकः' ऐसे पाठ की कल्पना का क्लेश उठाते हैं और

---

१. निर्माल्यवत्—'गतसारवस्तुवत्' इति भावः।

प्रज्ञानमात्रशरीरप्रतिबिम्बितविचारितसिद्धात्माऽनवबोधाश्रय एव, तदुपादानत्वात्तस्येतीममर्थं निर्वक्तुकाम आह–

ऋते ज्ञानं[1] न सन्त्यर्था अस्ति ज्ञानमृतेऽपि तान्।
एवं धियो हिरुग् ज्योतिर्विविच्यादनुमानतः ॥९७॥

यस्मात् प्रमाणप्रमेयव्यवहार आत्माऽनवबोधाश्रय एव, तस्मात्

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एतेनात्मनोऽप्रमेयत्वमपि साधितं भवतीत्याह–यस्मादिति।

गृहीतिफल का अर्थ प्रमेयपरिच्छित्ति करते हैं। इतना अर्थ तो गृहीति से ही मिल जाता है, जैसे उत्तराध्याय के प्रयोग में वे स्वयं मानते हैं। अत: निराधार पाठकल्पना का व्यर्थप्रयास हेय जानना चाहिए[2]।

यहाँ पुन: सांख्य सिद्धान्त से वैलक्षण्य बता दिया गया है। उस मत में यद्यपि आत्मसंसरण अवास्तविक है तथापि प्रधानगत संसार वास्तविक है जबकि औपनिषद मत में चिज्जडग्रन्थिरूप जीव का ही अध्यस्त संसरण है, वास्तविक संसरण है ही नहीं। इससे भेदाभेदवादी निम्बार्कादि का भी निराकरण समझ लेना चाहिये। यद्यपि यहाँ 'प्रतिबिम्बित' शब्द का प्रयोग है, तथापि तात्पर्य उसका 'आभास' ही समझना चाहिये।

इसी सब को श्लोक द्वारा कहते हैं—**ज्ञाता के बिना अहङ्कारादि पदार्थ हैं नहीं, पर उनके बिना भी ज्ञाता आत्मा है। इस कारण से विचार-पूर्वक ज्ञानस्वरूप आत्मा को बुद्धि आदि से पृथक् जान लेना चाहिए**॥९७॥ मूल में प्रयुक्त ज्ञानपद कर्तृव्युत्पत्ति से ज्ञातृपरक समझना चाहिये। अथवा क्योंकि ज्ञाता से भी यहाँ आत्ममात्र की विवक्षा है इसलिये ज्ञानपद ज्ञप्तिरूप आत्मा का द्योतक है जिससे किसी शंका को स्थान नहीं।

क्योंकि प्रमाण-प्रमेय का व्यवहार आत्मा को न जानने से ही है अत: यह सिद्ध होता है कि आत्मा प्रमेय नहीं, प्रमाणविषय नहीं। कार्य अपने कारण को छोड़ अन्यत्र—स्वकारण से भिन्न पदार्थ पर आश्रित नहीं होता अत: प्रमाण प्रमिति

---

१. 'जानातीति ज्ञानं, द्रष्टा' चंद्रिका।

२. बृ.वा. ३.४.१०६-९ तक प्रमाता, ज्ञान, विषय और प्रमाणफल-इनका विस्तार किया है जिससे यहाँ कहा अर्थ ही सर्वथा उपयुक्त है, पाठान्तर-कल्पना गलत ही है।

सिद्धमात्मनोऽप्रमेयत्वम्। नैव हि कार्यं स्वकारणमतिलङ्घ्य अन्यत्राकारके आस्पदमुपनिबध्नाति। अत आह–

व्यवधीयन्त एवामी बुद्धिदेहघटादयः।
आत्मत्वादात्मनः केन व्यवधानं मनागपि ॥९८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मानवबोधाश्रयत्वमेव साधयति–न हीति[1]। व्यवधीयन्त **इति। आत्मनश्चैतन्याभासोदयापेक्षत्वात् बुद्धिसिद्धेः तदनपेक्षस्स्वतस्सिद्धात्म-स्वभावापेक्षया बुद्धेर्व्यवधानं, देहस्य पुनर्बुद्ध्यपेक्षत्वादिन्द्रियापेक्षत्वाच्च ततोऽपि व्यवधानम्। घटादीनां पुनर्देशकालादिसंनिधानापेक्षत्वात् बुद्ध्याद्यपेक्षत्वाच्च देहादपि व्यवधानमात्मन इत्यर्थः।।९८।।**

आदि अविद्याकार्य अविद्या पर ही आश्रित हैं, आत्मविद्या में इनकी गति नहीं। वेदान्त का यह दृढ सिद्धान्त है कि यद्यपि आत्मा का ज्ञान होता है, तथापि आत्मा ज्ञात नहीं होता; वृत्ति आत्मा को विषय करती है, पर आत्मा में विषयता नहीं आती। इसे उपनिषत् 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' कहकर सूचित करती है व नाना प्रकार से इसे समझाया गया है। यहाँ आचार्य स्पष्ट कर देते हैं कि प्रमाण-प्रमिति-प्रेमय आदि व्यवहार अविद्याश्रित हैं अत: विद्या में उन्हें ढूँढने का श्रम व्यर्थ है। अविद्या अर्थात् अविद्याकार्य वृत्ति की दृष्टि से तो प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था आत्मस्थल में भी बन जायेगी, पर विद्या की दृष्टि से उस व्यवस्था को कोई स्थान नहीं।

इस बात को दृष्टि में रखकर कहते हैं—**बुद्धि, शरीर, घटादि, सभी आत्मा से दूर हैं। आत्मा होने के कारण आत्मा की तो किसकी अपेक्षा थोड़ी भी दूरी हो सकती है**॥९८॥ तात्पर्य है कि बुद्धि आदि सब अज्ञानादि-सापेक्ष हैं जबकि आत्मा किसी की अपेक्षा नहीं रखता। आत्मा तो स्वरूप ही है अत: स्वयं से अपनी ही दूरी संभव नहीं। यहाँ भी आत्मा अव्यवहित: आत्मत्वात्—ऐसा प्रयोग मानकर असाधारण अनैकान्तिक दोष की शंका नहीं करनी चाहिये जैसी 'शब्दो नित्य: शब्दत्वाद्' आदि में होती है। क्योंकि यहाँ आत्मा की आत्मता, व्यवधान से अनुपपन्न होकर अव्यवधान का आक्षेप करती है—यह अर्थापत्ति विवक्षित है, अनुमान नहीं। किं च, शब्दत्व हेतु

---

१. 'नैव हि' इति मूले पाठः।

स्वयमनवगमात्मकत्वात्, अनवगमात्मकत्वं च मोहमात्रोपादानत्वात्–

प्रमाणमन्तरेणैषां बुद्ध्यादीनामसिद्धता।
अनुभूतिफलार्थित्वादात्मा ज्ञः[1] किमपेक्षते ॥९९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तार्थे[2] स्वयमेव हेतुमाह–स्वयमिति। अनुभूतिफलार्थत्वादिति। **अनुभूतिरेव फलम् अनुभूतिफलं तदर्थित्वात् स्वतस्तद्रहितबुद्ध्यादीनां व्यवधानमित्यर्थः।।९९।।**

तो नित्यत्व व अनित्यत्व दोनों का साधक होने से असत् माना जाता है। शब्दनित्यत्व और शब्दत्व का अन्वयव्यतिरेक संभव न होने से जहाँ शब्दता नहीं वहाँ आकाशादि में नित्यता व घट आदि में अनित्यता दोनों होने से शब्दता की विद्यमानता दोनों को ही सिद्ध कर सकती है जिससे हेतु को असत् मानना संगत है। किन्तु प्रकृत स्थल में; जो आत्मा नहीं वह सभी व्यवहित ही है अतः आत्मा होना अव्यवधान का ही साधक है, व्यवधान-अव्यवधान दोनों का नहीं, अतः कोई दोष नहीं।

आत्माऽज्ञानमात्रहेतुक होने से बुद्ध्यादि अस्फुरणस्वभाव हैं व अतएव वे व्यवहित हैं। **बुद्धि आदि की सिद्धि प्रमाण के बिना नहीं होती क्योंकि वे अनुभूतिरूप फल के सापेक्ष हैं। ज्ञानरूप आत्मा तो चिन्मात्रस्वरूप होने के कारण किसी की अपेक्षा नहीं रखता अतः सर्वथा अव्यवहित है**॥९९॥ यहाँ प्रसंगवशात् कुछ लोग पंचदशी में बताई इस व्यवस्था को कल्पनामात्र बताते हैं कि बुद्धि और चिदाभास दोनों विषय को व्याप्त करते हैं, बुद्धि अज्ञान को नष्ट करती है और चैतन्य से विषयस्फुरण होता है। आलोचकों का आक्षेप है कि वृत्ति चिद्व्याप्त ही रहती है जिससे यह कहने का कोई आधार नहीं कि अमुक अंश का अमुक कार्य है। किन्तु यह दोषाभिधान ग्रन्थार्थ न समझने के कारण है। वृत्ति के बिना भी आत्मस्फुरण वृत्ति की स्फुरण के प्रति कारणता असिद्ध कर देता है। किं च अविद्याकार्य होने से वृत्ति ही अविद्या का विरोध करे यह संगत है। सजाति वस्तुओं में ही विरोध देखा गया है। इसलिये पंचदशीकार की व्यवस्था

---

१. अज्ञाननिवृत्तये वृत्तिमर्थयमानोप्यात्मा नानुभूतिरूपफलस्यार्थीत्याह—ज्ञः = स्वप्रकाश इत्यर्थः।

२. बुद्ध्यादीनां व्यवहितत्वमुक्तोऽर्थः।

वक्ष्यमाणेतरेतराध्याससिद्ध्यर्थम् उक्तव्यतिरेकानुवादः–

घटबुद्धेर्घटाच्चार्थाद् द्रष्टुर्यद्वद् विभिन्नता।
अहंबुद्धेरहंगम्याद् दुःखिनश्च तथा दृशेः ॥१००॥

एवमेतयोरात्मानात्मनोः स्वतः परतः सिद्धयोः, लौकिकरज्जुसर्पाध्यारोपवदविद्योपाश्रय एवेतरेतराध्यारोप इत्येतद् आह–

अभ्रयानं[1] यथा मोहाच्छशभृत्यध्यवस्यति।
सुखित्वादीन् धियो धर्मांस्तद्वदात्मनि मन्यते ॥१०१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मानात्मनोरुक्तन्यायेन अत्यन्तविशिष्टविविक्तस्वभावयोः संयोगसमवायतादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवाद् अन्तरेण च सम्बन्धं प्रकाश्यप्रकाशकभावायोगाद् आध्यासिक (दध्यासित) एव सम्बन्धो वक्तव्यः। तस्य चाध्यासस्य विद्यमानभेदयोस्तदग्रहपूर्वकत्वाद् उक्तो व्यतिरेको विवक्षिताध्याससिद्धयेऽनूद्यत इत्याह–वक्ष्यमाणेति। **यथा द्रष्टृदृश्ययोर्व्यतिरेकस्तथा साक्षिसाक्ष्ययोरपि व्यतिरेकस्साधित इत्यर्थः।।१००।।**

इदानीं व्यतिरेकं दर्शयित्वा तदग्रहनिबन्धनोऽध्यासः प्रदर्श्यत इत्याह–एवमेतयोरिति।।१०१।।

में शंका करना निरर्थक है। उनका यह तात्पर्य ही नहीं कि कभी ऐसा होता है कि चिद्व्याप्त वृत्ति अज्ञान का नाश करती है और विषय-स्फुरण नहीं होता।

आगे बताये जाने वाले अन्योन्याध्यास की सिद्धि के लिए अब तक बताये आत्माऽनात्मविभेद को पुनः कहते हैं—**जिस प्रकार घटज्ञान और घटपदार्थ दोनों से द्रष्टा भिन्न है उसी प्रकार अहं–इस ज्ञान और उस ज्ञान का विषय दुःखादिमान् अहंकार, दोनों से ज्ञानरूप आत्मा पृथक् है**॥१००॥

इस प्रकार निरूपित स्वतःसिद्ध आत्मा और परतःसिद्ध अनात्मा का अन्योन्याध्यास उसी प्रकार अधिष्ठान अज्ञान के कारण है जिस प्रकार रस्सी के अज्ञान के कारण उस पर साँप का आरोप होता है, इसे बताते हैं—**जिस तरह बादलों का चलना चन्द्रमा पर आरोपित कर दिया जाता है उसी प्रकार बुद्धि अर्थात् अहंकार के सुखादि धर्म आत्मा में मान लिये जाते हैं**॥१०१॥ **जैसे आग की**

---

१. अभ्रयानं—'मेघाश्रितं चलनमि'ति सारार्थः।

दग्धृत्वं च यथा वह्नेरयसो मन्यते कुधीः।
चैतन्यं तद्वदात्मीयं मोहात् कर्तरि मन्यते ॥१०२॥

सर्व एवायमात्मानात्मविभागः प्रत्यक्षादिप्रमाणवर्त्मनि अनुपतितोऽविद्योत्सङ्गवर्त्येव, न परमात्मव्यपाश्रयः। अस्याश्चाविद्यायाः सर्वानर्थहेतोः कुतो निवृत्तिरिति चेत्? तदाह–

दुःखराशेर्विचित्रस्य सेयं भ्रान्तिश्चिरन्तनी।
मूलं संसारवृक्षस्य तद्बाधस्तत्त्वदर्शनात् ॥१०३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवमात्मन्यनात्मधर्मारोपं सदृष्टान्तमाह–दग्धृत्वमिति॥१०२॥

ननु सर्वस्य भेदजातस्यात्मन्यध्यस्तत्वमनुपपन्नं, प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् बाधाभावाच्चेत्याशङ्क्य; प्रत्यक्षादीनां तत्त्वात् (...त्त्वावगन्तृत्व-) लक्षणप्रामाण्याभावाद्, देहात्मप्रत्ययवद् व्यवहारसमर्थत्वलक्षणमेव प्रामाण्यम्[1], अपरोक्षभ्रमस्य च परोक्षज्ञानेन यौक्तिकेन प्रतिभास-निवृत्तिपर्यन्तबाधाभावेऽद्वैतसाक्षात्कारज्ञानेन वेदान्तवाक्यजनितेन बाधोऽपि सम्भवतीत्यभिप्रेत्य परिहरति–सर्व एवायमित्यादिना। अद्वैतसाक्षात्कारस्य बाधकत्वं क्वापि न दृश्यत इत्याशङ्क्य; अधिष्ठानसाक्षात्कारस्याध्यस्त-बाधकत्वस्य लोके दृष्टत्वाद् अत्राप्यनुमेयमित्याह–तद्बाधस्तत्त्व-दर्शनादिति॥१०३॥

जलाने की क्षमता अविवेकी व्यक्ति लोहे की ही मान लेता है वैसे ही आत्मा की चेतनता अविवेकवशात् अहंकार में मान लेता है॥१०२॥ प्रथम श्लोक में अनात्मधर्म आत्मा में आरोपित होता है इसका उदाहरण दिया व द्वितीय में आत्मधर्म अनात्मा में आरोपित होता है, इसका उदाहरण दिया। अन्यधर्म का अन्यत्र आरोप तो एक जैसा होने से यद्यपि एक दृष्टान्त पर्याप्त है तथापि स्पष्टता के लिये ऐसा विभाग किया है।

प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषयभूत आत्मा व अनात्मा का समस्त विभाग आविद्यक सम्बन्ध से ही है। पारमार्थिक सम्बन्ध से आत्माश्रित नहीं, बल्कि अविद्याश्रय ही है। यह अविद्या ही सब अनर्थों का कारण है। इसकी निवृत्ति कैसे? इस प्रश्न पर कहते हैं—**विचित्र दुःखराशि रूप संसार वृक्ष का मूल कारण अनादि अविद्या**

१. संभवतीति सम्बन्धः।

'तद्बाधस्तत्त्वदर्शनात्' इति कुतः संभाव्यत इति चेत्? अत आह–आगोपालाविपालपण्डितमियमेव प्रसिद्धिः–

अप्रमोत्थं प्रमोत्थेन ज्ञानं ज्ञानेन बाध्यते।
अहिरज्ज्वादिवद् बाधो देहाद्यात्ममतेस्तथा ॥१०४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कुत इत्यादिना। 'तत्त्वदर्शनादि'त्युक्तमात्मनोऽभ्युपगतं[1] ततश्च

है जिसका त्रैकालिक अभाव-निश्चय आत्मतत्त्व के अवबोध से होता है॥१०३॥ भ्रान्ति का कारण होने से अविद्या को भ्रान्ति कहा, जैसे—भाष्यकार ने अध्यास को अविद्या कहा। सांख्यमत की तरह बिना अविद्या के ही अनादि भ्रम की मान्यता वेदान्त में नहीं। भ्रम तो सकारणतया ही अनुभूत है और अविद्या का कारण लोक में भी प्रसिद्ध नहीं, अतः भ्रम की अपेक्षा अविद्या को अनादि मानना ही युक्तिसंगत है। यहाँ स्पष्ट ही आचार्य ने अविद्या को मूल कहा है, जैसा कि अन्य अनेक स्थलों पर कहा है, अतः वार्तिक मत में मूलाविद्या स्वीकृत नहीं यह आलोचना अकिंचित्कर है। मूलाविद्या को वार्तिक-असंमत मानने वाले टीकाकार ने इस श्लोक को 'स्पष्टार्थ' कहकर ही छोड़ दिया, यह द्रष्टव्य है।

अविद्या का बाध अधिष्ठान तत्त्वावबोध से कैसे संभव है? इस प्रश्न का उत्तर है कि **पण्डितों से लेकर गाय व भेड़ चराने वालों तक में प्रसिद्ध है कि भ्रम से उत्पन्न ज्ञान प्रमा से उत्पन्न ज्ञान द्वारा बाधित होता है। अतः जैसे रज्जुज्ञान से रज्जु पर आरोपित सर्प का बाध होता है वैसे आत्मज्ञान से देहादि में आत्मबुद्धि का बाध समझना चाहिये**॥१०४॥ रज्जुसर्प दृष्टान्त से स्पष्ट किया कि न केवल प्रमा से अप्रमा बाधित होती है अपितु अप्रमाज्ञान का विषय भी बाधित होता है। अप्रमा के बाध का तात्पर्य इतना ही है कि उस ज्ञान में जो स्वतः सिद्ध प्रमात्व था वह बाधित हो जाता है। स्वरूप से तो ज्ञान का कभी बाध नहीं होता। यह नहीं सोचना चाहिये कि ग्वाले आदि में ही यह बात प्रसिद्ध है, पण्डितों में नहीं, क्योंकि पण्डितों का परबोधन का प्रयास ही यह सिद्ध कर देता है कि वे इससे सहमत हैं कि अन्यथाबोध सम्यग्बोध से बाध्य है जैसा कि वार्तिक में कहा है—'तद्वद् बाधोप्यबोधस्य बोधेनाभ्युपगम्यते' (१-४-१३६६)।

जैसे लौकिक-प्रमेयप्रसंग में अज्ञात का ज्ञानरूप प्रमाणफल होता है, वैसा

१. दर्शनविषयत्वमिति शेषः। 'तत्त्वदर्शनादिति उक्तत्वात् प्रमाणजनितप्राकट्यविषयत्वम् आत्मनः अभ्युपगतं' (चन्द्रिका)।

लौकिकप्रमेयवैलक्षण्यादात्मनः, नेहानधिगताधिगमः प्रमाण-फलम्–

अविद्यानाशमात्रं तु फलमित्युपचर्यते ।
नाज्ञातज्ञापनं न्याय्यमवगत्येकरूपतः ॥१०५॥
यस्मादनवबोधमात्रोपादानाः प्रमात्रादयः, तस्मात्–
न विदन्त्यात्मनः सत्तां द्रष्टृदर्शनगोचराः ।
न चान्योन्यमतोऽमीषां ज्ञेयत्वं भिन्नसाधनम् ॥१०६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्वतस्सिद्धत्वहानिरित्याशङ्क्य परिहरति–लौकिकेति।।१०४-१०५।।

आत्मव्यतिरिक्तस्य[1] नात्माध्यक्षत्वादपि न तदधीनाधिगम आत्मेत्याह–यस्मादिति। **अन्योन्यवदेकत्वमपि**[2] **किं न स्यादिति? तत्राह–**न चेति।।१०६।।

आत्मप्रसंग में नहीं—**केवल अविद्या का नष्ट हो जाना ही यहाँ फलशब्द से व्यवहृत हो जाता है। अज्ञात का ज्ञापन आत्मप्रसंग में स्वीकार किया जाये यह संगत नहीं क्योंकि आत्मा का एकमात्र स्वरूप ज्ञान ही है अतः उसका ज्ञापन हो यह उचित नहीं।**।१०५।। इसे फलव्याप्ति और वृत्तिव्याप्ति के भेद से अन्यत्र स्पष्ट किया गया है। इतना स्मरण रखना चाहिये कि मीमांसादर्शन ज्ञान का फल ज्ञाततारूप एक विशेषता ज्ञेय पर उत्पन्न होती है, ऐसा मानता है। पर वेदान्त-दर्शन में ऐसा नहीं माना गया, अज्ञाननाश ही उसका कार्य माना जाये यही उचित तथा स्वीकृत है[3]।

क्योंकि प्रमाता आदि केवल आत्मा के अज्ञान के कारण विद्यमान हैं इसलिये—**द्रष्टा के दर्शन के विषयभूत प्रमाता आदि न तो आत्मा की सत्ता को जानते हैं और न स्वयं एक-दूसरे को जानते हैं। अतः अपने से भिन्न आत्मा के ही ये वेद्य हैं। इसलिये आत्मावगति इनके अधीन नहीं।**।१०६।। 'स्वयं एक दूसरे को

---

१. 'आत्मव्यतिरिक्तस्यात्मवेद्यत्वादपि' इति चन्द्रिकायाम् अतोऽत्र 'नात्मे'त्यस्य स्थाने 'त्वात्मे'ति पठितव्यम्।

२. 'द्रष्टृदर्शनगोचराः—द्रष्टा दर्शनं गोचराश्च ते तावत् स्वात्मानं स्वयमेव न जानन्ति, जडत्वात्; नाप्यन्योन्यम्, अतस्तेषां स्वव्यतिरिक्तात्मवेद्यत्वमेव। तस्माद् न तदधीनाधिगतिरात्मा' चन्द्रिका।

३. तथा च लघुचन्द्रिका—'अज्ञानस्य प्रामाणिकत्वेन तन्निवृत्तेरेव ज्ञानफलत्वसम्भवेन ज्ञातता न स्वीक्रियते (पृ. ४५४)।

द्रष्टृादेरसाधारणरूपज्ञापनायाह–

बाह्य आकारवान् ग्राह्यो ग्रहणं निश्चयादिमत् ।
अन्वय्यहमिति ज्ञेयः साक्षी त्वात्मा ध्रुवः सदा ॥१०७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

द्रष्टृादिव्यतिरिक्त आत्मा नास्माकं प्रसिद्ध इति परमतमाशङ्क्य, लक्षणतस्तस्योपपादनायाह–द्रष्टृादेरिति। बाह्यः **पराग्भूतः** आकारवान् **पृथुबुध्नोदरत्वादिधर्मवान्** अन्वय्यहमिति **अहं पश्याम्यहं शृणोम्यहं स्मरामीति च दर्शनाच्च श्रवणादिषु व्यभिचारिषु यः प्रत्यभिज्ञया एकत्वेनानुसन्धीयते सोऽयं ग्रहीता** साक्षी **पुनरेषां त्रयाणां भावाभावसाधकस्सुषुप्तकैवल्यादिष्वन्वयी कूटस्थनित्यः परैरपि बलादभ्युपेयोऽन्यथा द्रष्टृादेरसिद्धिरिति भावः।।१०७।।**

नहीं जानते' का तात्पर्य है कि कुछ भी जानने के लिये ये आत्माश्रित हैं क्योंकि जड हैं, जानने की सामर्थ्य से रहित हैं।

द्रष्टा आदि के विशेष रूपों को समझाने के लिये कहते हैं—**अपने से भिन्न, आकारवान् पदार्थ ग्रहण के विषय अर्थात् ग्राह्य हैं। ज्ञाता द्वारा किये जाने वाले उक्त ग्राह्यविषयक निश्चय, स्मरण आदि को ग्रहण कहा जाता है। 'मैंने सुना', 'मैं समझ रहा हूँ' आदि निश्चयादि में जो अनुगत 'मैं'–पदार्थ है, उसे द्रष्टा (ग्रहीता) समझना चाहिये। इन तीनों के–ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता के–होने और न होने का जो अनुभव करता है वह अपरिवर्तनशील नित्य स्वतःप्रकाश आत्मतत्त्व साक्षी है।**।१०७।। वह साक्षी सभी को मानना होगा क्योंकि उसके बिना ग्राह्यादि की ही सिद्धि नहीं हो सकती। अनात्मवादी से केवल मृत्युविषयक प्रश्न पूछना चाहिये, क्योंकि उसी के उत्तर में उसकी मान्यता कितनी खोखली है यह स्पष्ट हो जायेगा। मूल में 'बाह्य' पद से आत्मातिरिक्त सकल प्रपंच कहा है और 'आकार'पद विशेषता का वाची है। आकार-शब्द के एतादृश अर्थ में इस सारस्वत वचन को प्रमाण समझना चाहिये—'आकारश्च वृत्तिनिष्ठः कश्चिद् धर्मः असाधारणव्यवहारहेतुः' (अ.सि.पृ. ३९५)।

बृहदारण्यकवार्तिक में भी इस विषय पर चर्चा है। बृ.वा. ३.४.१०८ में कहा है कि ज्ञाता के क्रियारूप ज्ञान के कारण ज्ञाता आदि से अन्य जो जाति-रूप-क्रियादि वाला भासता है, वह विषय है। बृ.वा. ३.४.१०७ का तात्पर्य है कि अर्थ विशेषित कर्तृनिष्ठ प्रकाश का नाम ज्ञान है। अर्थविशेषित अर्थात् घटादि

विषय जिसके विशेषण अर्थात् ज्ञानमात्र व ज्ञानान्तर से पृथक् करने वाले धर्म बने हैं। तथा 'स्मृति-निश्चिति-संशीति-रागादिहिरुगात्मसु। अहं-रूपेण योऽन्वेति स प्रमाता परो मतः॥' (बृ.वा. ३.४.१०६) का तात्पर्य है कि स्मृति आदि परस्पर भिन्न वृत्तियों में 'मैं'—रूप से जो अनुगत है वह प्रमाता है। सक्षिता भी वार्तिक में बताई है—'द्रष्टृदर्शनदृश्यानां संहतानां परस्परम्। साक्षित्वमात्मनो नित्यं वस्तुस्वाभाव्यमुच्यते॥३.४.८२॥ अर्थात् परस्पर मिलकर अन्य किसी के लिये व्यापारशील द्रष्टा, दर्शन और दृश्य को जानना आत्मा की साक्षिता है। एवं क्योंकि यह प्रत्यग्दृष्टि नित्य है—प्रमाता आदि के पहले भी सुप्त्यादि में विद्यमान है—अतः उनके द्वारा ग्राह्य यह नहीं हो सकती—'प्रमात्रादिप्रवृत्तेः प्राक् सदाऽनस्तमितोदिता। अकारकात्मना तस्थौ प्रत्यग्दृष्टि-रसंगतः॥३.४.९३॥ इतना और याद रखना चाहिये कि यद्यपि साक्षी वास्तविकता है तथापि उसकी साक्षिता अवास्तविक, मायिक है—'कूटस्थदृष्टि-तन्मोहौ दृष्ट्याभासश्च तत्त्रयम्। कारणं जगतः साक्षी नियन्तेति च मण्यते'॥३.४.८६॥ प्रमाता आदि के होने व न होने दोनों को जानने वाला साक्षी है। तथा उसकी दृष्टि वास्तव है—'तत्प्रत्यगात्मदृष्टिस्तु विज्ञेया पारमार्थिकी'॥४.४.९९॥ सुषुप्ति के अनुभव के बल पर प्रमाता आदि से भिन्न साक्षी सिद्ध होता है—'व्यावृत्तश्च प्रमात्रादेः सिद्धः साक्षी सुषुप्तिगः'॥३.४.१०२॥ साक्षिता की मायिकता के कारण ही अद्वैतसिद्धिकार ने दोषजनित अविद्यावृत्ति में प्रतिफलित चेतन को साक्षी कह दिया है—'चैतन्यस्य स्वरूपतो दोषाजन्यत्वेऽपि तदवच्छेदिकाया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात् तत्प्रतिफलित-चैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वात्'। (पृ. ३९५)। चद्रिकाकारने भी इसे ही कहा है—'तद्विषयाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं तद्विषयं प्रति साक्षी। तदाकारवृत्ति-प्रतिबिम्बितचिदेव तत्साक्षिणी, तादृशस्यैव भासकत्वात्'। (पृ. ३९२-६)। वार्तिकमत में साक्षी का स्वरूप क्या है इसका संक्षेप सिद्धांतबिन्दु में बताया है 'अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञानतादात्म्यापन्नः स्वचिदाभासाऽविवेकाद् अन्तर्यामी साक्षी ईश्वरो जगत्कारणम् इति च कथ्यते'। यहाँ साक्षीपद सब व्यवहारों के हेतु ज्ञानस्वरूप का वाचक है। वार्तिक मत में तो ईश्वर और साक्षी अनर्थान्तर हैं। साक्षी के विषय में मतभेदों का संग्रह अष्टम श्लोक व्याख्या में बिन्दुकार ने किया है—'अविद्याप्रतिबिम्बेश्वरपक्षे बिम्बचैतन्यं साक्षी; बिम्बेश्वरपक्षे तु बिम्बप्रतिबिम्ब-मुखाऽनुगतमुखस्वरूपवत् जीवेश्वराऽनुगतसर्वानुसन्धातृ चैतन्यं साक्षी'। प्रसंगवशात् यह भी जान लेना चाहिये कि वाचस्पति मत में भी ईश्वर ही साक्षी है।

वक्रप्रक्रियाधुरन्धर चित्सुखाचार्य इस अनुमान से साक्षी को सिद्ध करते हैं—'चैत्र के इच्छादि, स्वविषयक अनित्यज्ञान से अतिरिक्त चैत्र के प्रत्यक्ष से ग्राह्य हैं, प्रत्यक्ष होने के कारण, जैसे पटादि' (पृ. ५८७)। इस प्रकार इच्छादि के ग्राहक नित्य अपरोक्ष साक्षी की सिद्धि होती है और वह जीव के ही स्वरूप के अन्तर्गत भी है 'तस्य च जीवात्मान्तर्भावात् साक्षिप्रत्यक्षस्य लौकिक-व्यवहारांगत्वोपपत्तेः' (चित्सु पृ. ५८७)। वार्तिकमत में अन्तर्यामितया जीवस्वरूप में अन्तर्भाव मानकर अविरोध समझना चाहिये। चित्सुख मुनि स्पष्ट कहते हैं कि साक्षि-विषय के कारण चिन्मात्र की साक्षिता है—'चिद्रूपस्यैवात्मनः साक्ष्यसम्बन्धे साक्षित्वेन व्यवहारात्' (पृ. ५९८)। अतः साक्षिता वास्तव नहीं, यह सिद्ध है। अत एव 'साक्षी चेता' आदि श्रुति में साक्षितारूप गुण का विधान सम्प्रदायविरुद्ध है, जैसा कि नृसिंहाश्रम ने कहा है—'अत एव निर्गुणवाक्ये साक्षित्वादिगुणो न विधीयते, 'केवलो निर्गुणश्चे'ति (उत्तर-) श्रुतिविरोधात्' (परिच्छेद ३ पृ. ४५१ अ.दी.)। विचार का निष्कर्ष तत्त्वप्रदीपिका में बताया—'तस्मात् सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्मात्र जीवाभेदेन साक्षी इति प्रतिपाद्यते'। (पृ. ५८९)। अद्वैतदीपिका में आश्रमस्वामी भी नित्य व अनित्य ज्ञान का भेद बताकर साक्षी का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—'प्रत्यक्षानुमानसिद्धं वृत्तिरूपं ज्ञेयात्मकं ज्ञानमेकम्, अन्यच्च अहंकार-तद्वृत्ति-तदभावानुसन्धानाऽन्यथानुपपत्तिप्रमेयमिति सिद्धम्। स चानुभवः' (प्रथम परि. पृ. १००)। क्योंकि अनुसन्धेय ज्ञान के समानकाल में ही स्फुरण होता है, विचारणीय वृत्तिज्ञान की विद्यमानतादशा में उसका भान होता है, इसलिये स्फुरण को मन का कार्य नहीं माना जा सकता—'स्फुरणस्यापि मनोजन्यत्वे अनुसन्धेयज्ञान-समानकालीनत्वानुपपत्तिः, ज्ञानद्वययौगपद्यायोगात्' (पृ. १०३)। स्फुरणात्मक साक्षी के नित्य होने पर भी जो कभी स्फुरण न भी होने का अनुभव है, वह वृत्ति के न होने से उत्पन्न भ्रममात्र है—'वृत्तिविरह एव भेदाऽग्रहात् स्फुरणविरहत्वेन अनुभूयते'। (पृ. १०४)। पूर्वोक्त अद्वैतसिद्धिवाक्य के अनुकूल ही तद्वृत्ति के प्रति तत्साक्षी की व्यवस्था भी दीपिकाकार को अभीष्ट प्रतीत होती है—'वृत्तिरूपेण विकसितान्तःकरणाऽभिव्यक्तचैतन्यप्रतिभास्यत्वात् अहमर्थ-वृत्ति-तद्विषयाणां तदुत्पन्नसंस्कारस्यापि तत्त्रितयगोचरत्वं युज्यते' (पृ. १०७)। प्रकृत नैष्कर्म्यसिद्धि श्लोक में ग्राह्य, ग्रहण और द्रष्टा को ही दीपिकाकार ने व्युत्क्रम से अहमर्थ, वृत्ति और विषय कह दिया है। अभिव्यक्त चैतन्य का तात्पर्य साक्षी ही समझना चाहिये। नित्यानुभव मानने में ज्ञानाभाव के अनुभव को एक पुष्ट कारण माना गया है—

'नित्यानुभवानंगीकारे ज्ञानाभावोपि नानुभूयेत' (पृ. १११)। एवं 'ज्ञानाभाव-साक्ष्यहमर्थधर्मातिरिक्तो नित्यानुभव एषितव्यः' (पृ. ११८)। तथा इस साक्षी को एक ही मानना संगत है—'स चानुभव एक एव, भेदे प्रमाणाभावात्' (पृ. १२२)।

वेदान्तकौमुदी में जीव की प्रवृत्ति-निवृत्ति को निरन्तर जानने वाला, पर स्वयं सर्वव्यापारशून्य परमेश्वर का ही एक रूप साक्षी है, ऐसा माना है। इसमें वार्तिकमत की भी अनुगति हो जाती है और जीवस्वरूपान्तर्गततया अनुभव और प्रसिद्धि का भी समाधान हो जाता है। कुछ विचारक (द्र. सिद्धान्तलेश संग्रह, प्रथम परि., पृ. १५६, सिकंदराबाद) अविद्योपाधिक जीव को ही साक्षी मानते हैं। अन्य मत तो जीव और साक्षी में कुछ भेद मानते हैं अथवा सर्वथा भेद मानते हैं, पर इस मत में अत्यन्त अभेद है। वस्तुतः बिन्दुकार ने जिसे मुख्य वेदान्तसिद्धान्त कहकर प्रशंसित किया है, उसी में यह व्यवस्था समझनी चाहिये। उस मत में अज्ञानोपहित जीव है व अज्ञानानुपहित शुद्ध चैतन्य ही ईश्वर है। किन्तु जगज्जन्मादि का अभिन्न निमित्तोपादान जीव ही है न कि ईश्वर—'अस्मिंश्च पक्षे जीवएव स्वाज्ञानवशाज्जगदुपादानं निमित्तं च' (सि.बिं. श्लो. १)। अतः बलात् जीव को ही साक्षी मानना होगा। किन्तु क्योंकि अन्य मत जिसे ईश्वर कहते हैं वह यहाँ जीव ही कह दिया गया, अतः उन मतों से विरोध नहीं, यह ध्यान देना चाहिये।

इतना अवश्य है कि पूर्वोक्त अद्वैतदीपिकाकार के मत में अन्तःकरणोपहित साक्षी होने से अन्तःकरणभेद से साक्षिभेद है और सम्भवतः पूर्वोदाहृत अद्वैतसिद्धिवाक्य से अवगत साक्षी की भी यही स्थिति है। किन्तु ईश्वर को साक्षी मानने पर या अभी बताये जीव को साक्षी मानने पर, एक ही साक्षी सिद्ध होता है। यद्यपि दीपिका में साक्षी एक सिद्ध कर दिया है तथापि यह समझना चाहिये कि साक्षी-रूप से तो वह नाना है, स्वरूप से—स्फुरणरूप से—एक है, अतः कोई विरोध नहीं। आश्रमस्वामी के मत को परामृष्ट कर दीक्षितजी ने कहा है 'तस्मादन्तःकरणोपधानेन जीवः साक्षी, तथा च प्रतिपुरुषं साक्षिभेदात्' (सि.ले., पृ. १५७)। अतः यहाँ बताया अविरोध अवश्य अनुसंधेय है[1]। पंचदशी के कूटस्थदीप-प्रकरण में (श्लो. ४८) स्थूल-शरीर व सूक्ष्म शरीर के अधिष्ठान निर्विकार कूटस्थ चैतन्य को साक्षी कहा है। एवं नाटकदीप में (श्लो. १०.११) नाट्यशाला में विद्यमान दीपक के दृष्टान्त से जीव से पृथक् साक्षी का वर्णन है। अतः उनके

१. सिद्धान्तलेश के अनुसार विचार है। मूल अनुसन्धेय है।

सर्वकारकक्रियाफलविभागात्मकसंसारशून्य आत्मेति कारक-क्रियाफलविभागसाक्षित्वादात्मनस्तदाह–

ग्राहकग्रहणग्राह्यविभागे योऽविभागवान्।
हानोपादानयोः साक्षी हानोपादानवर्जितः ॥१०८॥

ग्राहकादिनिष्ठैव ग्राहकादिभावाभावविभागसिद्धिः कस्मान्नेति चेत्?

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

साक्षित्वेनासंसारित्वमात्मनः प्रसाधितमित्याह–सर्वकारकेति। इति-**शब्दः इत्थं कारकक्रियाफलविभागसाक्षित्वादित्युत्तरेण सम्बध्यते।।१०८।।**

अविभागवत् कस्मान्न सिध्येदित्याशङ्क्योत्तरमाह[1]–ग्राहकादीति।

मत में साक्षी का यह स्वरूप है—'चिदाभासविशिष्टाहंकाररूपजीव-भ्रमाधिष्ठानकूटस्थचैतन्यात्मा साक्षी' (सि.ले.सं. पृ. १५२)। इस मत में भी ईश्वर से अभेद व एकता सुलभ है। सर्वथापि, नित्य ज्ञप्तिरूप साक्षिपदार्थ शास्त्र-प्रसद्धि है। उसी का प्रस्तुत प्रसङ्ग में निर्देश है।

आत्मा क्योंकि क्रिया, उसके कारण व उसके फल का साक्षी है अतः नाना प्रकार की क्रिया, उसके साधन और उनके फल रूप संसार से आत्मा अस्पृष्ट है। साक्षी हमेशा साक्ष्य से असम्बद्ध ही होता है। इसे श्लोक द्वारा कहते हैं— **ग्राहक, ग्रहण व ग्राह्य के विभक्त रहते हुए जो स्वयं सब प्रकार के विभागों से रहित है, ग्राहकादि के भाव और अभाव का साक्षात् द्रष्टा तथा स्वयं ग्रहण और त्यागरूप संसार-व्यवहार से शून्य है, वह साक्षी है**॥१०८॥ ग्राहकादि के विभक्त रहते हुए उनसे सर्वथा पृथक् होने से यह अविभक्त है। अथवा ग्राहकादि विभक्तों में अनुगत होने से यह अविभक्त है यह भाव है। तात्पर्य यही है कि ज्ञानात्मक साक्षी एकरूप है।

ग्राहकादि की विद्यमानतादशा में एवं अविद्यामानतादशा में जो उनका परस्पर

---

१. 'ननु ग्राहकादिविभागसिद्धिहेतुत्वेन साक्षिणः सिद्धिरुच्यते, ग्राहकादिविभागोऽपि ग्राहकादिभिरेव सिद्ध्येत्, ततः किं साक्षिणा? इत्याशंकते' चन्द्रिका।

तदाह–

स्वसाधनं स्वयं नष्टो न नाशं वेत्त्यभावतः ।
अत एव न चान्येषामतोऽसौ भिन्नसाक्षिकः ॥१०९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ग्राहकादीनामन्यतमः स्वनाशं स्वसाधनं यथा भवति तथा स्वयं न वेत्ति स्वस्याभावात्। अत एवान्येषामपि ग्रहणादीनां नाशं न वेत्ति। प्रतीयते चासौ, तस्मात् ग्राहकादिव्यतिरिक्तात्मसाक्षिक एवासावित्यर्थः।।१०९।।

अलगाव है उसकी सिद्धि ग्राहकादि से ही क्यों नहीं हो जाती, उनसे पृथक् साक्षी ही क्यों उसे सिद्ध कर पाता है? इस शंका का श्लोक द्वारा समाधान करते हैं— **ग्राहकादित्रितय में से कोई भी वस्तु स्वयं अपने जन्म को नहीं जानती और नष्ट होने पर अपने नाश को नहीं जानती क्योंकि तब वह स्वयं है ही नहीं। स्वयं विद्यमान न होने से ही वह अन्यों के जन्म व नाश को नहीं जानती। अतः उनका विभाग स्वयं उनसे सिद्ध नहीं, उनसे भिन्न नित्य साक्षी से सिद्ध है।।१०९।।** ग्राहकादि अपने जन्म व नाश को नहीं जानते। एक दूसरे के जन्मादि को जान सकते हैं या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में यह समझना चाहिये कि इनकी सिद्धि परस्पर आश्रित है क्योंकि ग्राहक के होने पर ग्रहण व ग्राह्य तथा ग्रहण हो तो उसका आश्रय ग्राहक और विषय ग्राह्य एवं ग्राह्य हो तो वह ग्रहण का विषय बने जो ग्राहक के आश्रित हो। अतः ये युतसिद्ध हैं—इकट्ठे ही सिद्ध होते हैं। इसलिये ये एक-दूसरे के जन्म-नाश को भी नहीं जान सकते। नाश पद से अभाव को कहा। अतः कोई वस्तु अपने अभाव को नहीं जानती यह अर्थ है। एवं च परस्पर अपने विभाग को—अलगाव या अन्योन्याभाव को—स्वयं नहीं जानती। अतः उसकी सिद्धि के लिये उनसे पृथक् साक्षी अपेक्षित है, यह भाव है।

वस्तुतस्तु ग्रहण और ग्राह्य तो स्वयं न एक-दूसरे को जानते हैं और न ग्राहक को, अतः आपस के भेद को जान नहीं सकते। ग्राहक के विषय में पूछा जा सकता है कि वह आपसी भेद को क्यों नहीं जानता; क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है कि चाहे हम अपने जन्म को न जानें व चाहे अपने प्रागभावादि को न जानें पर अपने भेद को तो जानते ही हैं; घड़ा मैं नहीं, घड़े में मेरा भेद है—यह कौन नहीं जानता? इसका उत्तर यह

ग्राहकादेरन्यसाक्षिपूर्वकत्वसिद्धेः स्वसाक्षिणोऽप्यन्यसाक्षिपूर्वकत्वात् अनवस्था इति चेत्? तन्न। साक्षिणो व्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वात्। अत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ग्राहकस्यापि ग्राह्यत्वे साक्षिणोऽपि ग्राह्यत्वं, ततश्चानवस्था स्यादिति चेत्? मैवं, तस्याजडत्वेन स्वसिद्धावन्यानपेक्षत्वादित्याह–ग्राहकादेरिति। **अन्येषामात्मग्रहणत्वेन[1] तद्ग्राहकत्वायोगाच्च नान्यग्राह्यत्वम् आत्मनस्तु[2]**

समझना चाहिये कि ग्रहणादि की विद्यमानतादशा में ग्राहक ग्रहण करने में निरत है व ग्रहण हो चुकने पर ग्रहणादि रह नहीं जाते कि उनका भेद जाना जाये। अतः यह साक्षी से ही सम्भव है कि वह इनका भेद जाने। अथवा, जो जिसकी उत्पत्ति और नाश से अनभिज्ञ है, वह उसके अस्तित्व से भी अनभिज्ञ हो यह संगत है। जिसके नाश को नहीं जाना जा सकता, वह है या नहीं इसका निश्चय कैसे हो? और जिसके अस्तित्व को नहीं जाना जाता उसके भेद को कैसे जाना जाये? एवं च तात्पर्य यह है कि ग्राहकादि एक दूसरे से अनभिज्ञ होने के कारण अपने अलगाव को सिद्ध नहीं कर सकते अतः उसके लिये साक्षी की अपेक्षा है। उत्सर्गतः अभेद प्रामाणिक होने से यह भी नहीं कह सकते कि ग्राहकादि हैं अतएव भिन्न हैं।

प्रश्न उठता है कि जब ग्राहकादि अपने से भिन्न साक्षी से सिद्ध हैं तो उनका साक्षी भी अपने से भिन्न किसी अन्य साक्षी से सिद्ध होना चाहिये तथा उस द्वितीय साक्षी की सिद्धि तृतीय साक्षी की अपेक्षा करेगी, और इस प्रकार अनन्त अप्रामाणिक साक्षिकल्पना करनी होगी? यह भी नहीं कह सकते कि साक्षी ग्राहकादि को सिद्ध करे व ग्राहकादि साक्षी को, क्योंकि एक तो वैसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, व दूसरी बात है कि ग्राहकादि ज्ञानरूप नहीं जो कुछ सिद्ध कर सकें। इसी प्रकार दो साक्षी मानकर भी गुजारा नहीं, क्योंकि यदि दूसरे साक्षी की सिद्धि ग्राहकादि से हो तब चक्रिका व पूर्वोक्त दोष की आपत्ति और यदि प्रथम साक्षी से हो तो अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति। अतः ग्राहकादि को जड सिद्ध करने के लिये जो परसापेक्षासिद्धिकत्व का नियम बनाया वह तो उसी प्रकार निकला जैसे कोई अपने दुश्मन का अमंगल करने के लिये अपनी नाक काट ले!

---

१. आत्मग्राह्यत्वेनेत्यर्थः।
२. 'आत्मन इत्याह–' इति पठनीयम्।

धीवन्नापेक्षते सिद्धिमात्माऽन्यस्मादविक्रियः ।
निरपेक्षमपेक्ष्यैव सिध्यन्त्यन्ये न तु स्वयम् ॥११०॥

यतो ग्राहकादिष्वात्मभावोऽविद्यानिबन्धन एव, तस्माद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभज्यानात्मनः स्वयम्–

उत्पत्तिस्थितिनाशेषु योऽवगत्यैव वर्तते[1] ।
जगतोऽविकारयाऽवेहि तमस्मीति न नश्वरम् ॥१११॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

निरपेक्षमिति।।११०।।

इदानीं पूर्वप्रसाधितेतरेतराध्यासफलमुपसंहरति–यत **इति।** जगत उत्पत्तिस्थितिनाशेषु यः **ईश्वरोऽविकारावगतिस्वरूपेण** वर्तते तम् **अहम्** अस्मीति अवेहि, **न तु** नश्वरं **प्रमात्रादिरूपमित्यर्थः।।१११।।**

इस प्रश्न बिभीषिका का सरल सा उत्तर है कि साक्षी की सिद्धि अपने से भिन्न किसी कारण पर आश्रित नहीं जिससे कि इतनी लम्बी कल्पना को जगह मिले। साक्षी स्वयम्प्रकाश है, बुद्धिविषय न होते हुए स्वापरोक्षव्यहृतियोग्य है; अतः उसकी सिद्धि न ग्राहकादि से है, न साक्ष्यन्तर से, बल्कि वह स्वयंसिद्ध है। स्वप्रकाशताको कारण मानकर उक्त प्रश्न का श्लोक द्वारा उत्तर देते हैं—**निर्विकार साक्षी चैतन्य अपनी सिद्धि के लिये किसी अन्य पर आश्रित नहीं जैसे बुद्धि आदि हैं। आत्मा से अन्य सभी स्वयंसिद्ध नहीं बल्कि अन्य की अपेक्षा के बिना सिद्ध आत्मा की अपेक्षा से सिद्ध हैं। अतः आत्मा अपनी अपेक्षा से सिद्ध बुद्ध्यादि की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता, स्वयं ही सिद्ध है।।११०।।** लौकिक स्वयंज्योति दीपकादि भी स्वप्रकाश्य घटादि से प्रकाश्य नहीं होते, अतः आत्मा का उनसे प्रकाशित न होना सुतरां सिद्ध है।

क्योंकि 'ग्राहकादि मैं हूँ' ऐसा निश्चय अपने को न जानने के कारण ही है इसलिये-अननुगम के विचार के द्वारा अपने को अनात्मा से पृथक् कर—**जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-लय में जो एकरूप ज्ञानस्थिति से रहता है वह ईश्वर मैं हूँ**

---

१. अविकारया अवगत्यैव वर्तते—इत्यम्भावे तृतीया। अवगतिस्वरूप एव वर्तते इति भावः। सारार्थकृन्मते 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभज्यानात्मनः स्वयम्'—इति पादद्वयं श्लोकान्वयि चरणषट्कस्य गाथारूपस्यात्र निवेशादिति द्रष्टव्यम्।

स्वतः सिद्धात्मचैतन्यप्रतिबिम्बिताविचारितसिद्धिकात्मानवबोधोत्थेतरेतरस्वभावापेक्षसिद्धत्वात्, स्वतश्चासिद्धेरनात्मनो द्वैतेन्द्रजालस्य–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

'तमहमस्मीत्यवेहि न नश्वरमि' त्युक्तत्वाद् आत्मव्यतिरिक्तमपि वस्त्वङ्गीकृतमित्याशङ्क्य; तस्य स्वतः परतश्चासिद्धेः प्रत्यगात्माश्रयानिर्वाच्यानाद्यविद्याविजृम्भितत्वाद् मैवमित्याह–स्वतस्सिद्धेति। **चैतन्ये प्रतिबिम्बितं स्फुरितम् इतरेतरापेक्षसिद्धत्वादिति प्रतियोगिनो भेदेन सिद्धेस्तत्र तत्सिद्धौ च प्रतियोगिनो**

ऐसा निश्चय करो, नाशवान् प्रमातादिरूप मैं हूँ इस निश्चय को छोड़ो।।१११।। ज्ञप्तिरूप साक्षी के अनुगम व ग्राहकादि साक्ष्य के अननुगम को पूर्वग्रन्थ में बताया जा चुका है। शब्दानुसरण से वाक्य यह है—उसे 'मैं हूँ' ऐसा जानो। तात्पर्य है कि ईश्वर ही मेरा वास्तव स्वरूप है यह निश्चय होना चाहिये। ईश्वरपद से शुद्धचिद् ही विवक्षित है पर नामग्रह का तात्पर्य है कि ईश्वर से भेदभाव भी नष्ट होना चाहिये। मूलकार ने यद्यपि ईश्वरपद नहीं कहा है तथापि जगत् के उत्पत्ति आदि का परामर्श ईश्वर के स्मरणार्थ ही समझना चाहिये। श्लोक के तृतीय चरण में एक अक्षर अधिक है। शिष्ट प्रयोग होने से इसे भुरिगनुष्टुब् छन्द मान लेना चाहिये क्योंकि छन्दोवेत्ता पिंगलमुनि ने ऐसी व्यवस्था दी है कि यदि श्लोक में एक अक्षर कम हो तो उसे निचृदनुष्टुब् और यदि एक अधिक हो तो भुरिगनुष्टुब् समझना चाहिये। यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल श्रौत प्रयोगों के लिये यह व्यवस्था है क्योंकि भरताचार्य ने स्पष्ट किया है कि यह नियम लौकिक श्लोकों में भी समान है। अतः शास्त्रसम्मत ही यह प्रयोग समझना चाहिये।

स्वयंप्रकाश आत्मस्फुरण के प्रतिबिम्ब से युक्त, (जो) अविचारपर्यन्त कार्यकारी आत्माज्ञान (उस)से उत्पन्न अतएव अन्योन्याश्रय दोषदुष्ट होने से द्वैतमाया रूप अनात्मा की सिद्धि नहीं, क्योंकि उसकी सिद्धि स्वयं नहीं, परतः ही है। अनात्मा है अज्ञान से उत्पन्न पर चिदध्यासयुक्त अज्ञान की ही कारणता सम्भव है, स्वयं जड होने से उसकी कारणता नहीं। भेदात्मक द्वैतसिद्धि में अन्योन्याश्रय पूर्वत्र (श्लो. ९५) बताया जा चुका है। एवं च प्रथमतः स्वतः असिद्ध होने से असिद्धि कही, व परतः सिद्धि की आशंका होने पर तथाविध सिद्धि में अन्योन्याश्रयादि दोष बताये, यह समझना चाहिये। भेदाऽसिद्धि को ही श्लोक द्वारा बताते हैं और भेदासिद्धि के कारण भेदमिथ्यात्व व

न स्वयं स्वस्य नानात्वं[1] नावगत्यात्मना यतः ।
नोभाभ्यामप्यतः सिद्धमद्वैतं द्वैतबाधया ॥११२॥
यथोक्तार्थप्रतिपत्तिद्रढिम्ने श्रुत्युदाहरणोपन्यासः-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भेदसिद्धिरिति[2] परम्पराश्रयत्वादित्यर्थः। स्वस्येति स्वस्य **इन्द्रजालस्य** स्वयमेव नानात्वं न **सिद्धं, जडत्वाद्; नाप्यवगतिरूपेण, जडाजडयोरैक्यायोगाद्;** नोभाभ्यामपि, **संयोगसमवायादिसम्बन्धासम्भवाद्[3], अतो दुर्निरूपसिद्धिकत्वाद् द्वैतस्याद्वैतमेव परमार्थमित्यर्थः।।११२-११३।।**

अद्वैतात्मा की पारमार्थिकता स्थापित करते हैं—**द्वैत का निजी नानात्व न स्वयंसिद्ध है और न आत्मा से अभिन्नरूप से सिद्ध है, क्योंकि तादृश अत्यन्ताऽभेद है नहीं; दोनों मिलकर भी प्रपंच-भेद सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि विरुद्ध स्वभाव वाले आत्मा-अनात्मा का वास्तविक मिलना सम्भव नहीं। अतः द्वैतभेद प्रमाणसिद्ध न होकर बाध्य होने से, अविचार-सिद्ध होने के कारण मिथ्या होने से, अद्वैत ही परमार्थतः सिद्ध होता है।।११२।।** प्रायः यही भाव पहले भी (श्लो. ४५) प्रतिपादित किया जा चुका है। द्वैतभेद साक्षिसिद्ध है यह ऊहापोह-पूर्वक सिद्ध करने के बाद उसकी असिद्धि और बाध्यता बताई जा रही है। तात्पर्य है कि प्रपंच न अद्वैतरूपेण सिद्ध है, न द्वैतरूपेण, अथ च प्रतीत हो रहा है अतः मिथ्या है। साक्षिसिद्धि प्रमाण नहीं, भ्रम-स्वप्नादि में साक्षिसिद्धता तो है पर प्रामाणिकता या अबाध्यता नहीं। असिद्धिमात्र कहने पर प्रतीति की उपपत्ति बतानी शेष रह जाती है, अतः साक्षिसिद्धतया भेदप्रतीति की उपपत्ति बताई है। यद्यपि आत्मा-अनात्मा का 'मिला' रूप ही अनात्मसिद्धि का कारण बनता है, तथापि वह 'मिलना' आध्यासिक होने से प्रामाणिकता का हेतु नहीं बनता।

---

१. अद्वैतात्मन एव परमार्थत्वं द्वैतस्य च मिथ्यात्वं स्पष्टयत्यनेन श्लोकेन। नानात्वम् = वस्त्वन्तरत्वमिति भावः। (सारार्थः)

२. 'प्रतियोगिनो भेदेन सिद्धौ धर्मिणस्ततो भेदेन सिद्धिः, तत्सिद्धौ च प्रतियोगिनो भेदसिद्धिरिति परस्पराश्रयत्वाद् इत्यर्थः' चन्द्रिका।

३. दृग्दृश्ययोरिति शेषः।

नित्यावगतिरूपत्वात् कारकादिर्न चात्मनः ।
अस्थूलं नेति नेतीति न जायत इति श्रुतिः ॥११३॥

यथोक्त विषय के बोध की दृढता के लिये श्रुतिप्रमाण देते हैं—**नित्यज्ञानरूप होने से आत्मा कारक आदि से सम्बद्ध नहीं। श्रुति ने आत्मा को 'अस्थूल' कहा है, इदन्तया ज्ञात सबसे भिन्न कहा है तथा जन्मादि से रहित बताया है।।११३।।** कभी विषय न होने से, प्रकाशरूप होने से व अन्य का प्रकाशक होने से, नित्य ज्ञान ही परम सूक्ष्म है, इसे अस्थूलश्रुति के (बृ. ३.८.९) उदाहरण से बताया। सर्व द्वैतनिषेधक श्रुति 'नेति नेति' द्वारा (बृ. २.३.६) कारकादि का निषेध सूचित किया। उत्पन्न होने वाले ज्ञान से—जो कारकादि से सम्बद्ध व अनित्य अवगतिरूप है—व्यावृत्त करने के लिये उसके जन्म की निषेधक श्रुति (कठ. १.२.१८) उद्धृत की है। अथवा अस्थूल से नित्यता, नेति से ज्ञानरूपता और अजन्मा से कारकादि से असम्बन्ध बताया है, यह समझना चाहिये। अथवा नित्यावगतिरूपता कहकर 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ. ३.९.२८) और कारकादि से असम्बन्ध कहकर 'तत्केन कं पश्येत्' (बृ. ४.५.१५) इत्यादि श्रुति इंगित की गई है ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। श्रुति बताने का भाव यह है कि केवल तर्क के अनुसार यद्यपि सम्भावना उपस्थित हो जाती है तथापि निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि सूक्ष्म से सूक्ष्म तर्कों का कालान्तर में या अन्य तर्क से खण्डित होना देखा जाता है, अतः निर्णय करने के लिये अखण्ड प्रमाण अपेक्षित है जो श्रुति के अतिरिक्त कोई नहीं। किन्तु वस्तु सूक्ष्म होने से श्रुति द्वारा बताने पर भी संशय हो जाता है अतः युक्ति बताना भी उचित है। प्रामाणिक विषय में भी युक्ति-प्रदर्शन प्रमाण को हीन नहीं करता क्योंकि आँख से दीखने वाली वस्तु के विषय में भी युक्ति-पूर्वक 'यह ऐसी ही है' ऐसा निश्चय देखा जाता है। अथवा जैसे तर्करसिक उपलब्ध वस्तु को भी युक्ति से सिद्ध करना चाहते हैं, वैसे यहाँ समझना चाहिये। यद्वा आस्तिकों के लिये श्रुति बताई व नास्तिकों के लिये युक्ति कही है। वेदान्त में प्रमाणसम्लव स्वीकृत होने से वस्तुतः शब्द व अनुमान दोनों का उपन्यास अनुचित नहीं। जो वस्तु केवल शब्द प्रमाण से गम्य होती है उसके विषय में निश्चय के लिये युक्ति उपदर्शन संगत ही है, क्योंकि लोक में भी ऐसा ही देखा गया है।

सर्वस्यास्य ग्राहकादेर्द्वैतप्रपञ्चस्य आत्मानवबोधमात्रोपादानस्य स्वयं सेद्धुमशक्यत्वाद् आत्मसिद्धेश्चानुपादेयत्वात्–

आत्मनश्चेन्निवार्यन्ते[1] बुद्धिदेहघटादयः ।
षष्ठगोचरकल्पास्ते विज्ञेयाः परमार्थतः ॥११४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

मिथ्यादेर्द्वैतप्रपञ्चस्यात्मव्यतिरिक्तस्य त्वसाधनम्[2] तस्य जडस्य स्वतोऽसिद्धेः; आत्मचैतन्यस्य जडे प्रतिसङ्क्रामयितुं शक्यत्वाद्[3] मिथ्यात्वं बलादापततीत्याह–सर्वस्येति। निवार्यन्ते **तत्स्वरूपत्वेन, तदीयत्वेन(च) निषिध्यन्ते चेदिति यावत्।।११४।।**

ग्राहकादि समस्त द्वैत प्रपञ्च आत्मा के अज्ञान के कारण है अतः स्वयं अपनी सिद्धि नहीं कर सकता, और आत्मा की सिद्धि से द्वैत-सिद्धि में कोई उपकार नहीं होता। **अतः यदि बुद्धि, शरीर, घटादि प्रपञ्च की आत्मरूपता का निषेध कर दिया जाये तो वे वस्तुतः हैं ही नहीं यह निश्चय रखना चाहिये।।११४।।** मूल में प्रयुक्त 'षष्ठ'-शब्द प्रत्यक्षादि पाँच की अपेक्षा छठे अनुपलब्धि प्रमाण का बोधक है। अतः तात्पर्य है कि जैसे अनुपलब्धि प्रमाण का विषयभूत अभाव पदार्थ है, उसी तरह बुद्धि आदि सभी पदार्थ हैं। स्मरण रखना चाहिये कि द्रव्यादि की तरह अभाव नाम के किसी पदार्थ को वेदान्त में मान्यता नहीं। उपादानरूप या अनुपयोगीरूप मानकर अभाव व्यवस्थित हो जाता है। अतः उसे पृथक् पदार्थ मानना अपार्थक है।

वस्तुतः अभाव सिद्ध ही नहीं होता, यह तत्र तत्र आचार्यों ने स्पष्ट किया है। आनन्दगिरि स्वामी 'तर्कसंग्रह' नामक प्रकरण ग्रन्थ में नाना विकल्पों को उठाकर निराकरण करते हैं। प्रायः उसी रीति से लगभग उनके समानकालिक आचार्य चित्सुखमुनि ने भी अभावबंभञ्जन किया है। तर्कसंग्रहकार प्रश्न उठाते हैं—

---

१. यद्यात्मनः सकाशाद् बुद्धिदेहघटादयः शुक्त्यादे रजतादिवत्पृथक्क्रियन्ते। (सारार्थः)

२. 'बुद्ध्यादिद्वैतप्रपंचस्य आत्मव्यतिरिक्तासाधकत्वात्' इति चंद्रिका। मिथ्यादेरित्येव पाठेऽनित्यानात्मतादिसंग्रहः। असाधनम् = असाधनत्वम्; साधयतीति कर्तृव्युत्पत्त्याऽसाधकत्वमित्यर्थः।

३. अशक्यत्वाद् इति पठनीयम्। 'जडं प्रति संक्रमयितुमशक्यत्वेन' इति चन्द्रिकायाम्।

अभाव किसे कहते हैं? यदि कहो निषेध के विषय को अभाव कहते हैं, तब अतिव्याप्ति स्पष्ट है क्योंकि भाव पदार्थ भी निषेध के विषय होते हैं—भाव के उद्देश्य से कहा जाता है कि यह अभाव नहीं। 'नहीं है' इस निषेध का विषय भाव पदार्थ होता ही है जिससे कि अतिव्याप्ति—अलक्ष्य में लक्षण का गमन—सिद्ध है। यदि कहो, जिसका विधान न किया जाये वह अभाव है, तब लक्षण में असम्भव दोष है क्योंकि 'अभाव है' आदि प्रयोग में अभाव का भी विधान किया जाता है। यदि कहो, सापेक्ष बुद्धि के विषय को अभाव कहते हैं, क्योंकि अभाव बताने के लिये यह सदा अपेक्षित रहता है कि वह किसका है यह बताया जाये; तो यह लक्षण भी अतिव्याप्त है क्योंकि पिता, पुत्र, लम्बा आदि अनेक भाव हैं जो सापेक्ष बुद्धि के विषय ही हैं। पिता कहने के लिये किसका, यह बताना आवश्यक है। यह भी नहीं कह सकते कि जिसका केवल सविकल्पक ज्ञान हो वह अभाव है क्योंकि इसमें भी अव्याप्ति है, कारण कि अभाव को निर्विकल्पबुद्धि का विषय मान लेना पड़ता है—प्रातः आँगन में बहुत कुछ नहीं देखा, अर्थात् निर्विकल्पक अभाव दर्शन किया यह स्वीकारना होगा। यह नहीं कह सकते कि तब अभाव-दर्शन ही नहीं किया, क्योंकि सायंकाल जब कोई पूछता है कि क्या प्रातः आँगन में हाथी था? तो यही उत्तर होता है कि 'नहीं था, मैंने स्पष्ट देखा था, हाथी नहीं था'। अर्थात् हाथी के अभाव के अनुभव का परामर्श होता है जिससे सिद्ध हो जाता है कि प्रातः हाथी के अभाव का दर्शन किया था। इसी विकल्प में चित्सुखाचार्य ने अतिव्याप्ति दोष भी दिया है क्योंकि ब्राह्मणत्वादि भी निर्विकल्प बुद्धि के विषय नहीं, माता-पिता के ज्ञान से ब्राह्मणत्वादि का निश्चय होता है जैसा कि वार्तिक में भट्टाचार्य ने कहा है—'ब्राह्मणत्वादि जन्मतः' (श्लो. वन २९)। यदि कहें द्रव्यादि छह से अतिरिक्त पदार्थ अभाव है तब तो आत्माश्रय है ही क्योंकि अतिरिक्त कहना अभाववान् कहना ही है। अभाव-लक्षण के निरूपण में अभाव का निवेश करने पर लक्षण बन ही न पायेगा। इसी प्रकार भावतत्त्व का जो आधार नहीं वह अभाव-ऐसा कहने पर आत्माश्रय स्पष्ट है—आधार नहीं का तात्पर्य आधारता का अभाव ही है। और अभावत्व के आश्रय को अभाव कहें तो भी आत्माश्रय है ही, एक और दोष यह है कि अभाव से अतिरिक्त अभावत्वरूप जाति या उपाधि सिद्ध नहीं जिसका वह आधार बने।

तत्त्वप्रदीपिकाकार ने कुछ और विकल्प रखे हैं। केवल भाव से भिन्न को अभाव कहें तो अतिव्याप्ति है क्योंकि भाव से भिन्न भाव भी होते ही हैं—घट

से भिन्न पट होता है जब कि दोनों भाव हैं। यदि भावविरोधी को अभाव कहें तब भी दोष आता है क्योंकि भाव-विरोधी से क्या यत्किंचिद् भाव-विरोधी से तात्पर्य है या सब भावों के विरोधी से? यदि यत्किंचिद्भाव-विरोधी को अभाव कहें तब अतिव्याप्ति, क्योंकि भाव भी भाव का विरोधी होता है, जल आग का विरोधी है। यदि सर्वभाव विरोधी को अभाव कहें तो असम्भव दोष है क्योंकि कोई अभाव सब भाव का विरोधी नहीं होता, घट का अभाव घट का ही विरोधी होता है न कि सारी दुनिया का; तथा 'विरोधी' शब्द का अर्थ यदि करें तादात्म्य का अभाव, तब भावपदार्थों में अतिव्याप्ति क्योंकि घट और पट का तादात्म्य नहीं होता। और कोई अर्थ करें तो आत्माश्रय है ही। यदि कहें जो भावपदार्थ से स्वरूपसम्बन्ध से सम्बद्ध होता है वह अभाव है, तब समवाय, प्रमेयत्वादि में अतिव्याप्ति है क्योंकि वे भी स्वरूप सम्बन्ध से ही रहते हैं।

आगे यह भी प्रश्न संग्रह में उठाया है कि भाव और अभाव में भेद है या नहीं? यदि नहीं, तब तो अभाव भाव ही होगा और यदि है तब अनवस्था दोष है क्योंकि उस भेद का अभाव में भाव है या अभाव? आदि प्रश्न-शृङ्खला में जकड़ा अभाव दम तोड़ ही देगा। भेद की असिद्धि पूर्वत्र (श्लो. ९५) की भी जा चुकी है। अतः संग्रहकार वेदांताभिमत भाव-अभाव के विषय में कहते हैं—'प्रतीतिमात्रसिद्धौ भावाभावौ, न प्रमाणयुक्तिसिद्धौ,...न अभावोऽपि व्यवहारालम्बनतामन्तरेण कञ्चिद्विचारसहोस्ति' (पृ. १५)। इसी प्रकार चित्सुखाचार्य भी स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार के भूतलादि में घटाद्यभाव का व्यवहार होता है उसी को घटाद्यभाव के व्यवहार का कारण मान लेना चाहिये, अतिरिक्त अभाव पदार्थ के बोझ ढोने का रासभप्रयत्न व्यर्थ है। जिस प्रकार के भूतल पर घटाद्यभाव रहता है, वह भावाभाव निरपेक्ष भूतल-स्वरूप है क्योंकि यदि वैसा न मानें तो अभाववादी को भी इस समस्या का सामना करना पड़ेगा कि कैसा भूतलादि घटाद्यभाव का आश्रय है? घटवद्भूतल घटाभाव का आश्रय हो नहीं सकता क्योंकि एकत्र भावाऽभाव का विरोध होता है। और घटाभाववद्भूतल घटाभाव का आधार कहें तो आत्माश्रय, और अनवस्था दोषों की मार असह्य होगी। अतः उन्हें भी जिसे मानना ही है उसी से काम चल जाने पर पृथक् अभाव पदार्थ मानना व्यर्थ है। अतः अविचारसिद्ध ही अभाव से व्यवहार चलता है—'लोकप्रसिद्ध-भावाभावव्यवहारिणं मायावादिनं प्रति (प्रश्नस्य) अनुत्थानात्। तथाहि अवधीरितसत्त्वाऽसत्त्वानां हेत्वादीनां लोकप्रसिद्धं स्वरूपमात्रमुपादाय सर्वोयं

मायावादिनः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः' (पृ. ४४७ योगीन्द्रानंदजी)। मानमनोहर में प्रतिबन्धकाभाव की कारणता के कुशावलम्बन से अभाव सिद्ध किया है—'पतनादिकार्यं प्रतिबन्धकाभावोत्पादककारणादेवोत्पाद्यते, कार्यत्वाद् दाहादिवत्' (पृ. १३२)। किन्तु प्रतिबन्धकाभाव की कारणता ही असिद्ध है। आश्रम स्वामी जी ने अन्योन्याश्रय दिखाया है—'कारणीभूताऽभावप्रतियोगित्वं प्रतिबन्धकत्वं, प्रतिबन्धकाभावत्वेन तदभावस्य कारणत्वेऽन्योन्याश्रयात्'। (अ.दी. १, पृ. १३६)। किं च केवल प्रतिबन्धकाभाव को कारण माना भी नहीं जा सकता और इसलिये वैशेषिक भी उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानते हैं। उत्तेजक का स्वरूप ही परीक्षणीय है। यदि सामग्री के रहते कार्याऽनुत्पादप्रयोजकाऽभाव-प्रतियोगी को उत्तेजक कहें तब प्रतिबंधकाभाव की कारणता नहीं रहेगी। क्योंकि यदि उसकी कारणता हो तब सामग्री जुटने पर कार्य हो ही जायेगा। यदि प्रतिबन्धक-विरोधिता को उत्तेजकता कहें तो चक्रक दोष आता है क्योंकि कारणता का पता चलने पर प्रतिबन्धक का पता चलता है, प्रतिबन्धक का पता चलने पर उत्तेजक का पता चलता है और उत्तेजक का पता चलने पर कारणता का पता चलता है। अर्थात् कारणान्तर्गत प्रतिबन्धकाभाव है, अतः पहले पता चले अमुक अभाव कारण है तब उसके प्रतियोगीरूप प्रतिबन्धक का पता चले और उसके पता चलने पर उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबन्धकाभाव रूप कारण का पता चले। इस प्रकार क्रमशः एक दूसरे की सिद्धि में ये अपेक्षित रहते हैं जिससे कि तीनों की सिद्धि नहीं हो पाती तो प्रतिबन्धकाभाव की सिद्धि की आशा कहाँ! जो तो वादिवागीश्वर का कहना है कि केवल भूतल का ज्ञान न होने पर भी अभाव-व्यवहार होने से अभाव मानना होगा, वह तो भाव न समझने के कारण ही है क्योंकि हमें भूतल से कोई लगाव नहीं, जहाँ भी अभाव का अनुभव है, तत्स्वरूप की ही विवक्षा है। 'यहाँ घड़ा नहीं' इत्यादि जब भी अभावानुभव होगा तब किसी-न-किसी आधार पर ही होगा, अतः दोष नहीं। इसी प्रकार घट में रूप है ऐसा अनुभव होने से उनका यह आक्षेप भी निरस्त है कि रूपाभाव बिना आधार के प्रतीत होता है। किंच भेदखण्डन तो पूर्व में किया ही जा चुका है, अतः अन्धों को भी करपरामर्श से जगह का ज्ञान होने पर उसमें घटाभाव का जो ज्ञान होता है वह हमारे सिद्धांत में विरुद्ध नहीं। इसी प्रकार मनोहरकार का जो यह अनुमान है—चक्षु, चक्षुर्ग्राह्य भावपदार्थ से अतिरिक्त का ग्रहण करती है, इन्द्रिय होने से, घ्राण की तरह; उसकी काट नयनप्रसादिनी के इस अनुमान से समझ लेनी चाहिये—चक्षु, चाक्षुष

कुतो न्यायबलादेवं निश्चितं प्रतीयते? यस्मात्–
नित्यां संविदमाश्रित्य स्वतःसिद्धामविक्रियाम् ।
सिद्धायन्ते धियो[1] बोधास्तांश्चाश्रित्य घटादयः ॥११५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ननु बुद्ध्यादेर्द्वैतप्रपञ्चस्यापरोक्षतया प्रतिभासमानस्य कथं षष्ठगोचरकत्वम्[2] इत्याक्षिपति–कुत **इति। परिहरति–**यस्मादित्यादिना। **अपरोक्षतया स्वतःप्रकाशमानसंविदैक्याध्यासात् धियामापरोक्ष्यं, तत्र प्रतिबिम्बितत्वाच्च घटादीनामापरोक्ष्यप्रतिभासो, न तु वास्तव इत्यर्थः।।११५।।**

भावपदार्थ की ग्राहक होते हुए अतिरिक्त ग्राहक नहीं है, बहिरिन्द्रिय होने से, घ्राण की तरह (पृ. ४४९ योगीन्द्र.)। अतः यह निर्णीत है कि अभावरूप अतिरिक्त पदार्थ वेदान्त सिद्धान्त में मान्य नहीं। तथापि अनुपलब्धि से गम्य होता है अतः विचारसिद्ध न होने पर भी अनुभूत होने से वह मिथ्या है। इसी प्रकार बुद्धि आदि भी हैं, यह भाव है।

युक्ति के बल पर यह निश्चित कैसे कर लिया जाये कि स्पष्ट प्रतीत होने वाला द्वैतप्रपंच असत्सम है? इसलिये निश्चय किया जा सकता है—**क्योंकि स्वयंज्योति ध्रुवशील सनातन ज्ञान के ऐक्याध्यास से ही बुद्धिगत ज्ञान सिद्ध होते हैं और तादृश बौद्ध ज्ञान से घटादि सिद्ध होते हैं इसलिये सर्वथा अनपेक्ष रूप से सिद्ध आत्मरूप ज्ञान ही वास्तव है, तदपेक्षया सिद्ध प्रपंच मिथ्या है यह निश्चय संगत है।**।११५।। मूलस्थ 'सिद्धायन्ते' का अर्थ सारार्थ में 'चिदभिव्यंजकत्वयोग्यतां प्राप्नुवन्ति, प्रमाणभावं लभन्ते' किया है जिसका सरलार्थ 'आपरोक्ष्य' कर दिया है। रस्सी निरपेक्ष होने से सत्य और साँप रस्सी पर आश्रित, तत्सापेक्ष, होने से मिथ्या है यह अनुभवसिद्ध व्याप्ति ही इसे संगत करती है कि सापेक्ष को मिथ्या समझा जाये। पुनः रस्सी भी स्वावयवादि सापेक्ष

---

१. बौद्धप्रत्यया बोधपरिणामिन्यो वा सिद्धायन्ते चिदभिव्यञ्जकत्वयोग्यतां प्राप्नुवन्ति प्रमाणभावं लभन्त इति यावदिति सारार्थकारः।

२. चंद्रिकायां '...रकल्पत्व...' इति वर्तते।

यस्मान्न कयाचिदपि युक्त्या आत्मनः कारकत्वं क्रियात्वं फलत्वं चोपपद्यते, तस्माद् आत्मवस्तुयाथात्म्यानवबोधमात्रोपादानत्वात् नभसीव रजोधूमतुषारनीहारनीलत्वाद्यध्यासो यथोक्तात्मनि सर्वोऽयं क्रियाकारक-फलात्मकसंसारोऽहंममत्वयत्नेच्छादिर्मिथ्याध्यास एवेति सिद्धम्। इममर्थमाह–

अहम्मिथ्याभिशापेन दुःख्यात्मा तद्बुभुत्सया[1] ।
इतः श्रुतिं तया नेतीत्युक्तः कैवल्यमास्थितः ॥११६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमुपपादितमित्युपसंहरति–यस्मादित्यादिना। अहंमिथ्याभिशापेनेति–**अविद्यमानाहंकारात्मत्वाध्यारोपापवादेनात्मा दुःखी, संशोधनेच्छया मातृकल्पां श्रुतिमुपगतः, तया च 'नेति नेत्यात्मा अगृह्यो न गृह्यत' इत्यादिलक्षणया निराकृतापवादोऽध्यारोपिताहङ्कारादिकं विहाय स्वस्थः** कैवल्यमास्थित इत्यर्थः।।११६।।

होने से मिथ्या है एवं इस प्रकार बाधावधिभूत निरपेक्ष एकमात्र आत्मा ही सत्य है, प्रपंच सारा मिथ्या है यह तात्पर्य है।

क्योंकि किसी भी युक्ति से आत्मा क्रिया, कारक या फल नहीं सिद्ध होता इसलिये आत्मा के यथार्थ ज्ञान के न होने से ही पूर्वोक्त शुद्ध आत्मा पर क्रिया, कारक, फलरूप 'मैं' 'मेरा', यत्न, इच्छादि यह सारा ही संसार उसी प्रकार अध्यस्त है जिस प्रकार आकाश में मिट्टी, धुआँ, धुन्ध, ओस, नीलिमा आदि का अध्यास होता है। आकाश में मिट्टी आदि के अध्यास का तात्पर्य है मिट्टी आदि देखने से 'आकाश मैला है' आदि निश्चय से। इस विषय को श्लोक द्वारा कहते हैं—**अहंकार रूप मिथ्या अभिशाप के कारण दुःखी जीव, अपनी वास्तविकता समझने की इच्छा से उपनिषत् का श्रवण करता है और उसके द्वारा 'नेति नेति' आदि रूप से अतद्व्यावृत्तिपूर्वक (तत्त्वमस्यादि विधायक रूप से) बोधित होने पर स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है।**।११६।।

---

१. बहुमातृकानुसारी, चित्सुखाचार्यव्याख्यानुसारी च 'तच्छुश्रुत्सया' पाठः। चंद्रिका तु 'आत्मा तद्बोधनेच्छया' इति व्याचक्षाणा 'तदबुभुत्सये'ति पठतीव।

तस्यास्य मुमुक्षोः श्रौताद् वचसः स्वप्ननिमित्तोत्सारितनिद्रस्येव इयं निश्चितार्था प्रमा जायते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तर्हि श्रुत्याचार्यादिप्रपञ्चस्य वास्तवत्वमभ्युपेयं, मिथ्यात्वे बाष्पधूमादिवत् प्रमाजनकत्वानुपपत्तेः आत्मनश्चाहंकाराद्यध्यारोपे तन्निवृत्तौ च सविशेषत्वा-न्निर्विशेषत्वाभ्युपगमहानिरित्याशङ्क्याह–तस्यास्येति।।११७।।

पदार्थज्ञानवान् मोक्ष के इच्छुक अधिकारी को श्रुतिवचन से आत्मविषयक सन्देहादिशून्य अबाधित ज्ञान हो जाता है। यद्यपि ज्ञान के साधन मिथ्या हैं तथापि वास्तव फलशाली ज्ञान होता है। जैसे स्वप्न में दीखने वाले सिंहादिनिमित्त से होने वाले मिथ्या ही भयादि का जगनारूप व्यावहारिक फल हो जाता है। यहाँ यह मानना आवश्यक नहीं कि आचार्यादिको स्वकल्पित अर्थात् प्रातिभासिक माना जाये; जैसा कि बिन्दुकार के मुख्य वेदान्त सिद्धान्त में स्वीकार है, या जैसा सर्वज्ञगुरु मानते हैं। व्यावहारिक साधन भी पारमार्थिक फल कैसे दे सकते हैं? इसी प्रश्न का यहाँ उत्तर है। अतः साधनों की व्यावहारिकता ही, जैसा कि सामान्य प्रक्रिया में मानी जाती है, यहाँ भी स्वीकार्य है। किन्तु यदि साधनों की प्रातिभासिकता भी माननी हो, तो भी कोई हर्ज नहीं। उस पक्ष के समर्थक इन वार्तिकों को समझना चाहिये—'अतोऽविद्यामहानिद्रासंवीतमनसामसौ। जन्मादि-विक्रियाषट्कं स्वप्नदर्शनविभ्रमः।।१४.१३२७।। ब्रह्मापि तत्स्वतः साक्षात् तदबोधैकहेतुतः। इदं रूपं समापेदे रशनेवाहिरूपताम्। अविद्याफलकारूढं तदेवंरूपकं परम्। ब्रह्मविद्याऽधिकारित्वं द्वैविद्ध्यात् प्रतिपद्यते। स्वतो मुक्तं यतस्तस्माद् ब्रह्मविद्यां तदर्हति। संसारित्वमविद्यातो मुमुक्षुत्वं ततो भवेत्।।'१.४.१३३४-६।। इत्यादि। किन्तु आचार्य का हृदय ऐसा नहीं यह इससे पता चल जाता है कि सम्बन्ध ग्रन्थ में ऊहापोह से उन्होंने तत्त्वमस्यादिवाक्यों से उत्पन्न अखण्डवृत्ति को मिथ्याकारणक होने पर भी सत्यफलक सिद्ध किया है और उपायमिथ्यात्व के प्रति उदासीनता का उपदेश दिया है क्योंकि उसका विचार व्यर्थ है—'न चैकात्म्याभ्युपायस्य मिथ्यात्वमिह शंक्यते। उपेयाप्तौ कृतार्थत्वादुपायं प्रत्यवीक्षणात्। ऐकात्म्यप्रतिपत्तेः प्राङ् न मिथ्या हेत्वभावतः। पुरुषार्थावसायित्वान्नाप्यूर्ध्वमनपेक्षतः'।।१.१.८९१।। इत्यादि। यहाँ 'प्राङ् न मिथ्या' कह कर स्पष्ट ही त्रिविधसत्तावाद की स्वीकृति है। अतः वार्तिक प्रस्थान में वैसा ही मानना उचित है। तथापि प्रकृत सिद्धिप्रसंग व एवंविध कतिपय अन्य प्रसंगों के आधार पर दृष्टिसृष्टि भी स्वीकार की जाये तो कोई सिद्धांत-विरोध नहीं।

नाहं न च ममात्मत्वात् सर्वदाऽनात्मवर्जितः।
भानाविव तमोऽध्यासोऽपह्नवश्च तथा मयि[1] ॥११७॥
सोऽयमेवंप्रतिपन्नस्वभावमात्मानं प्रतिपन्नोऽनुक्रोशति–
यत्र त्वस्येति साटोपं कृत्स्नाद्वैतनिषेधिनीम्।
प्रोत्सारयन्तीं संसारमप्यश्रौषं न किं श्रुतिम् ॥११८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं श्रुतिवचनाकर्णनमात्रनिरस्येऽपि संसारे वैषयिकसुखलवेलुब्ध-चेतस्तया 'इयन्तं कालं प्रमत्तोहमासमहो कष्टमिति' विदुषोऽनुक्रोशं दर्शयति मुमुक्षूणां प्रयोजनाय–सोऽयमिति।।११८।।

उत्पन्न होने वाले अबाधित निश्चय का आकार श्लोक द्वारा बताते हैं—**सदा अनात्मधर्मों से रहित और केवल आत्मरूप होने से मुक्त कूटस्थ का अहंकार-ममकार से सम्बन्ध नहीं, उनका मुझ साक्षी पर अध्यास और अपवाद उसी प्रकार है जैसे सूर्य पर अन्धकार का उल्लू द्वारा आरोप और मनुष्यादि द्वारा उसका निषेध**।।११७।। वस्तुतः अंधकार का यत्किंचिद् भी सम्बन्ध हुए बिना उसका सूर्य पर जैसे अध्यास और बाध होता है वैसे अविद्या-तत्कार्य का मुझ अखण्ड सुख-सुधाकर पर अध्यास था और बाध हुआ यह निश्चय उत्पन्न होता है। क्योंकि अध्यास आध्यासिक है अतः बाध भी आध्यासिक है यही रहस्य है जैसा कि विमुक्तात्माचार्य ने कहा है—'तस्मान्नेह नानास्ति किंचनेति श्रौतनिषेधेन आत्मातिरिक्तस्य अवस्तुत्वावगमात् पंचमप्रकारा निवृत्तिः मिथ्या इत्येव रहस्यम्' (इष्ट. अध्या ८)।

इस प्रकार अपास्तसमस्त क्लेशरूप आत्मा को समझ कर स्वयं पर आश्चर्य प्रकट करता है—**'जिस अवस्था में सब इसका आत्मस्वरूप ही है' (बृ. ४.४.५) इत्यादि विस्तृत व संगत प्रकार से पूरे द्वैतप्रपंच का निषेध करने वाली और आत्मा से संसार सम्बन्ध को दूरनिरस्त करने वाली श्रुति को क्या मैंने सुना भी नहीं कि इतने समय तक क्लेश का अनुभव किया!**।।११८।। यद्यपि 'नैनं कृताकृते

---

१. अस्य चन्द्रिकायां व्याख्या—'भानौ तमोऽध्यास इव अहंकारादयः प्रत्यगात्मनि अध्यस्ता एव, न तु परमार्थतः सन्ति, तस्य चैतन्यमात्रस्वरूपत्वात् ततस्तन्निवृत्तौ निर्विशेष आत्मेति मुमुक्षोः प्रमा जायते...। ...अहंकारादिर्यथात्मनि अध्यस्तः तथा तदपह्नवोऽपि तस्मिन्नध्यस्त एव...।'

इत्योमित्यवबुद्धात्मा निष्कलोऽकारकोऽक्रियः ।
विरक्त इव बुद्ध्यादेरेकाकित्वमुपेयिवान् ॥११९॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादशिष्यश्रीसुरेश्वराचार्यविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धौ ससंबन्धोक्तौ द्वितीयोऽध्यायः ॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीं विद्याफलं दर्शयन्नध्यायमुपसंहरति–इत्योमिति। ओमिति **श्रुत्याचार्योक्तमर्थमनुभवन्नभ्यनुज्ञामभिनयति। अर्थादोङ्कारस्य ब्रह्मप्रतिपत्ति-साधनत्वमपि दर्शितमिति द्रष्टव्यम्।।११९।।**

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुखमुनिरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धिभावतत्त्वप्रकाशिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥

तपतः' (बृ ४.४.२२)। इत्यादि श्रुति स्पष्ट करती है कि विद्वान् को अपने पूर्व चरित के विषय में कोई पश्चात्ताप नहीं होता तथापि मुमुक्षुजन को प्रशोचित करने के लिए ऐसा कहा है। अर्थात् जिस श्रौतार्थ को न समझने पर विद्वान् भी अपने को धिक्कारता है, उसे समझने के लिये सबको सश्रद्ध यत्न करना चाहिये।अतः ब्रह्मज्ञान के लिए यत्न करना चाहिये—इस विधि में तात्पर्य होने से अनुक्रोश अविवक्षित है।

आत्मा निर्भिन्न, अकारक व अक्रिय है, यह बात निश्चित है–इस प्रकार जो समझ लेता है वह संसरणनिदान बुद्ध्यादि से सर्वथा असम्पृक्त हो निजस्वरूपभूत महिमा में अवस्थित हो जाता है॥११९॥ ॐकार का उच्चारण निश्चय स्वीकार के लिये, प्रणव की आत्मबोध के प्रति साधनता बताने के लिए और प्रकरणान्त में मंगल के लिये समझना चाहिये।

॥ इति द्वितीय अध्याय ॥

नैष्कर्म्यसिद्धाऽऽत्मविबोधनाय दिदीक्षिरे दीक्षणदक्षपादाः ।
अव्याजकारुण्यसुधाप्तचित्तान् तान् पूज्यपादान् प्रणमामि मूर्ध्ना ॥

●

ॐ

तृतीयोऽध्यायः

सर्वोऽयं प्रमितिप्रमाणप्रमेयप्रमातृलक्षणः, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तो मिथ्याध्यास एव–इति बहुश उपपत्तिभिरतिष्ठिपम्[१]। आत्मा च जन्मादिषड्भावविकारवर्जितः कूटस्थबोध एवेति स्फुटीकृतम्। तयोश्च मिथ्याध्यासकूटस्थात्मनोर्नान्तरेणाज्ञानं संबन्धः, अन्यथा चोदना-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वृत्तं सङ्कीर्त्तयति, वर्त्तिष्यमाणस्याध्यायस्य सङ्गतिं दर्शयितुं–सर्वोऽयमिति। **पदार्थपरिशोधनार्थविचारनान्तरीयकतया सर्वस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं दर्शितमित्यर्थः। साक्षात्प्रतिपादितमर्थान्तरं दर्शयति**–आत्मा चेति। **तर्हि पदार्थपरिशोधनस्य सम्यङ्निष्पादितत्वात् विदितपदपदार्थस्य च स्वयमेव वाक्यार्थज्ञानोत्पत्तेः किमर्थः तृतीयाध्यायारम्भ इत्याह**–तयोश्चेति। **अध्यस्यमानाधिष्ठानयोः शुक्तिरूप्ययोरिवाधिष्ठानविषयाज्ञानव्यतिरेकेण सम्बन्धासम्भवादज्ञानं तावदहम् इदं ममेदमिति प्रतीयमानात्मानमसम्बन्ध-घटकमभ्युपेयम्। तस्य चाज्ञानस्य निवृत्तिव्यतिरेकेण पुरुषार्थापरिसमाप्ते-स्तन्निवृत्तेश्च वक्ष्यमाणन्यायेन वाक्यार्थीनत्वाद् वाक्यव्याख्यानायाध्यायारम्भो घटत इति भावः। अधिष्ठानाध्यस्यमानयोरज्ञानव्यतिरेकेणापि सम्बन्धो दृश्यत**

हिन्दी व्याख्या

यः कदापि न तार्तीयः त्रिपुट्या यः प्रकाशकः ।
न त्रैगुण्यचणस्तस्मै त्रयीख्याताय मे नमः ॥
नौमि गुरुमुखाम्भोजं यस्य शान्तिविवर्धनम् ।
विद्यासु धातृवत्सर्वदिक्ष्वप्रतिहता गतिः ॥

बहुत प्रकार की युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके पर्यन्त अवस्थित प्रमिति-प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृस्वरूप यह सारा ही संसार मिथ्या

---

१. उपपत्तिभिरभिहितमिति केचित्।

परिप्रापितात्, यथा 'इयमेवर्गग्निः साम' (छां. १-६-१) इति। तच्चाज्ञानं स्वात्ममात्रनिमित्तं न संभवतीति कस्यचित् कस्मिंश्चिद् विषये भवति–इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

इह च पदार्थद्वयं निर्धारितम्–आत्माऽनात्मा च। तत्रानात्मनस्तावद्

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इत्याशङ्क्याह–अन्यथेति[1] **निवर्त्याज्ञानस्य निवर्त्तकज्ञानेन समानाश्रय-विषयत्वनियमस्येदं रजतमियं शुक्तिरित्यादौ दर्शनात् इहापि ब्रह्मविज्ञानेनात्माज्ञानस्य समानाश्रय-विषयत्वं दर्शयति**–इयमिति[2]। **तत्साधनायोपक्रमते**–तच्चेति। **अज्ञानं स्वसत्ताप्रतीत्योः स्वयमेव प्रयोजकं न भवति, नित्यपरतन्त्रत्वात्, ततस्तस्याश्रयविषयौ निरूप्यमाणौ ज्ञानेन समानावेव भवत इति भावः।**

तावता कथमेकाश्रयविषयत्वमित्यत आह–इह चेति। इह **वेदान्तशास्त्र इति सम्बन्धः। अस्त्वेवं, तथापि कथं सम्यक् ज्ञानेनैकाश्रयविषयत्वमिति? परिशेषादित्याह**–तत्रेति। अभिसम्बन्ध **आश्रयाश्रयित्वलक्षणः। अत्र हेतुः**–तस्य

अध्यारोप ही है। यह भी स्पष्ट किया कि आत्मा जन्म, वृद्धि आदि छहों भावविकारों से रहित तथा केवल नित्यज्ञानरूप है। मिथ्या अध्यासरूप संसार और ध्रुवशील आत्मा का अज्ञान से भिन्न कोई सम्बन्ध नहीं। जहाँ तो विधित: अन्य में अन्यदृष्टि की जाती है, जैसे 'यही पृथ्वी ऋक् है, अग्नि साम है' (छा. १.६१) इत्यादि श्रुत्युक्त उपासना में, वहाँ भले ही सर्वथा विपरीत स्वभाव वाले पदार्थों में अज्ञानरूप सम्बन्ध न हो, पर जहाँ विधित: ऐसा नहीं, वहाँ अज्ञान ही सम्बन्ध होता है। रस्सी और साँप का आध्यासिक से भिन्न क्या सम्बन्ध है? अज्ञान अपनी सत्ता और अपनी प्रतीति का स्वयं ही प्रयोजक नहीं होता क्योंकि स्वभाव से ही नित्यपरतन्त्र है, अत: यह मानना होगा कि उसका कोई आश्रय और कोई विषय है।

वेदान्तशास्त्र में दो ही पदार्थ निश्चित किये गये हैं—आत्मा और अनात्मा। उनमें से अनात्मा तो अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता; क्योंकि उसका तो स्वरूप ही अज्ञान है, अज्ञान को ही अज्ञान हो यह संगत नहीं। यदि अज्ञानरूप अनात्मा

---

१. अन्यत्रेति चन्द्रिका पाठः। मुद्रितपुस्तके मूलेऽपि तथैवास्ति।

२. '....विषयत्वं दर्शनीयमिति तत्साधनाय....' इति चन्द्रिकावदत्र भवेत्।

नाज्ञानेनाभिसंबन्धः। तस्य हि स्वरूपमेवाज्ञानम्; न हि स्वतोऽज्ञानस्य अज्ञानं घटते। संभवदप्यज्ञानस्वभावेऽज्ञानं कमतिशयं जनयेत्? न च तत्र ज्ञानप्राप्तिरस्ति येन तत्प्रतिषेधात्मकमज्ञानं स्यात्। अनात्मनश्च अज्ञानप्रसूतत्वात्। न हि पूर्वसिद्धं सत् ततो लब्धात्मभावस्य सेत्स्यतः

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

हीति। तथापि को विरोधः? इत्यत आह–न हीति। **अज्ञानात्मकमज्ञानाश्रयो न भवति अज्ञानान्तरादिवच्छुक्तिरूप्यादिवच्चेति भावः। अज्ञानाश्रयत्वप्रयुक्त-संशयविपर्यासाश्रयत्वादर्शनादप्यनात्मनो घटादिवन्नाज्ञानाश्रयत्वमित्याह**–सम्भवदपीति। **अज्ञानसम्यग्ज्ञानानधिकरणस्यानात्मनो**[1] **ज्ञानाधिकरणत्वसम्भव इत्याह**–न च तत्रेति। **अज्ञानकार्यत्वादप्यनात्मनो न तदाश्रयत्वमित्याह**–अनात्मनश्चेति। **अज्ञानस्य स्वभावालोचनायामपि न तस्याहङ्कारादेनात्माश्रयत्वं युक्तमित्याह**–न हीति। **कारणतया पूर्वसिद्धमज्ञानं तत एवाज्ञानाल्लब्धात्मक-स्याहङ्कारादेस्तदेवाज्ञानमाश्रित्य** सेत्स्यत**स्स्वाश्रयत्वेनाभिमतस्याश्रयि न भवति, तेनाश्रयेणाश्रयवन्न भवितुमर्हति, कार्योदयात् प्रागेव तस्य स्वाश्रयतयैव सिद्धत्वादित्यर्थः।** यद्वा **पूर्वोक्तमेव प्रपञ्चयति** न हीति। **कारणतया पूर्वसिद्धस्याज्ञानस्य ततः सेत्स्यदनात्माख्यकार्याश्रयत्वमनुपपन्नमिति। किं**

को अज्ञान हो भी जाये, तो अनात्मा में किस विशेषता का आधान करेगा? अनात्मा जड है अत: उसमें संशयादि संभव नहीं जो अज्ञान के कारण हुआ करते हैं। अनात्मा को ज्ञान हो यह संभव नहीं, इसलिये भी ज्ञान का विरोधी अज्ञान उसे हो यह उचित नहीं क्योंकि यह नियम है कि अज्ञान और सम्यग्ज्ञान समानाश्रय में होते हैं। अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण भी अनात्मा उसका आश्रय नहीं हो सकता। यह संभव नहीं कि अनात्मा से पूर्व ही स्थित अज्ञान उस अनात्मा के आश्रय में रहे जो अपना स्वरूपलाभ अज्ञान से ही सिद्ध करता है। इतना ही नहीं, यह देखा गया है कि आश्रय आश्रयी से निरपेक्ष स्वरूप वाला होता है किन्तु अनात्मा अज्ञान से निरपेक्ष स्वभाव वाला कुछ भी नहीं है। इन्हीं हेतुओं से यह भी स्वीकारना चाहिये कि अज्ञान अनात्मा को विषय करे यह भी संभव नहीं। अज्ञान सविषय ही होता है और अनात्मा अज्ञान के अनन्तर होता है, अत: अनात्मातिरिक्त

---

१. 'अज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः एकाधिकरणत्वनियमात् सम्यग्ज्ञानाऽनधिकरणस्य अनात्मनो नाऽज्ञानाधिकरणत्वसम्भव इत्याह'—चन्द्रिकायाम्।

आश्रयस्याश्रयि संभवति। तदनपेक्षस्य च तस्य निःस्वभावत्वात्। एतेभ्य एव हेतुभ्यः, नाऽनात्मविषयमज्ञानं संभवतीति ग्राह्यम्[1]। एवं तावत् नाऽनात्मनोऽज्ञानित्वम्, नापि तद्विषयमज्ञानम्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

चाधेयाकारनिरपेक्षाकारान्तरेणाधारस्याधारता दृष्टा, न चेहाज्ञानापेक्षस्यानात्मन आकारान्तरमस्तीत्याह–तदनपेक्षस्येति। **मा भूदज्ञानस्यानात्माऽऽश्रयो, विषयस्तु किं न स्यादित्यत आह**–एतेभ्य इति। **विषयस्याप्याश्रयवदज्ञानस्वरूपघटकत्वाद् अज्ञानात्मकस्य चानात्मनो ज्ञानवत्तद्विषयत्वेन घटकत्वायोगात्तमसीव तमोऽन्तरस्य तत्रातिशयाभावादज्ञानं विनापि तदाभासकज्ञानानुदयादेव तदनवभाससिद्धेरज्ञानकार्यत्वादेव रूप्यादिवत्तस्याज्ञाननिवर्तकसम्यग्ज्ञान-विषयत्वायोगात् पूर्वमेवाश्रयविषयघटिततया सिद्धादज्ञानात्सेत्स्यतः पूर्वसिद्ध-विषयभावायोगात् सम्यग्ज्ञाननिरसनीयाकारातिरिक्ताज्ञानविषयत्वयोग्या-कारान्तरासम्भवाच्च नाऽनात्मविषयमज्ञानं सम्भवतीत्यर्थः। परिशेषादात्मा-श्रयमात्मविषयञ्च तदज्ञानमित्युपसंहरति**–एवं तावदिति।

ही उसका विषय मानना होगा। एवं अज्ञानस्वरूप होने से ही अनात्मा की अज्ञानविषयता निरस्त है, स्वयं अपना विषय होना संभव नहीं। अनात्मा जड है अतः उसके अवभासक ज्ञान के उदय न होने से ही उसका अनवभास सिद्ध हो जाता है जिससे कि उसको विषय करने वाले अज्ञान का कोई कृत्य नहीं रहता। अनात्मा उसी प्रकार अज्ञानकार्य है जैसे शुक्तिरजत, अतः शुक्तिरजत की तरह ही अनात्मा सम्यग्ज्ञान का विषय नहीं हो सकता और इसीलिये अज्ञान का भी विषय नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान व अज्ञान की समानविषयता का नियम स्वीकृत है। विषय भी वही देखा जाता है जो विषयी से निरपेक्ष अपना स्वरूप रखे तथा अनात्मा तो सर्वथा अज्ञान-सापेक्ष है, अतः भी अज्ञान का विषय नहीं हो सकता। इस प्रकार यह स्थिर है कि अनात्मा न अज्ञान का आश्रय है, न उसका विषय है। वेदान्ताभिमत पदार्थ दो ही हैं, उनमें जब अनात्मा की आश्रयविषयरूपता असिद्ध हो गयी तो बचा हुआ आत्मा ही आश्रय-विषय सिद्ध होता है।

---

१. प्राप्तमिति पाठान्तरम्।

पारिशेष्यादात्मन एवास्त्वज्ञानं, तस्याज्ञोऽस्मीत्यनुभवदर्शनात्। 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्' इति श्रुतेः। न चात्मनोऽज्ञानस्वरूपता, तस्य चैतन्यमात्रस्वाभाव्यात्। अतिशयश्च संभवति ज्ञानविपरिलोपः, ज्ञानप्राप्तेश्च संभवस्तस्य ज्ञानकारित्वात्। न चाज्ञानकार्यत्वं, कूटस्थात्मस्वाभाव्यात्। अज्ञानानपेक्षस्य चात्मनः स्वत एव स्वरूपसिद्धेर्युक्तमात्मन एवाज्ञत्वम्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अनुभवसिद्धं चैतदित्याह–तस्येति। **आगमोऽप्यत्र प्रमाणमित्याह**–सोऽहमिति। **अनात्मनोऽज्ञानाश्रयविषयत्वयोरभिहितदोषाणामात्मन्यसम्भवा-दप्येवमभ्युपेयमित्याह**–न चेति। [1]**ज्ञानविपरीतरूप इति।** [2]**स्वयं प्रकाशत्वात् नित्यशुद्धबुद्धाद्वितीयाकारेण प्राप्तप्रकाशस्याद्वितीयप्रकाशं**[3] **तद्वि-परीतस्फुरणमतिशय** इत्यर्थः। **तथापि तस्य कूटस्थत्वादागन्तुकाज्ञाननिवर्तकं सम्यग्ज्ञानं नोपपद्यते? इत्यत आह**–ज्ञानेति। **अविद्यातत्कार्यान्तःकरणादिवृत्तिषु प्रमाणाप्रमाणरूपचैतन्याभासोदयहेतुत्वेन तस्य ज्ञानकारित्वादित्यर्थः। अनात्मन इवाज्ञानकार्यत्वलक्षणोऽपि न दोष इत्याह**–न चेति। **तस्याकार्यत्वमुभयवादि-संमतमिति भावः। यच्चोक्तं 'तदनपेक्षस्य तस्य निस्स्वभावत्वादि'ति, तदप्यत्र नास्तीत्याह**–अज्ञानेति। **अज्ञानस्य जडत्वात् तत्साधकोऽजडबोधस्वभाव आत्मा तदन्तर्गताकारनिरपेक्षाकारस्सिद्ध इत्यर्थः।**

आत्मा अज्ञान का आश्रय है इसमें एक तो यह अनुभव प्रमाण है—'मैं नहीं जानता'। श्रुति भी प्रमाण है क्योंकि सामवेद में नारद जी सनत्कुमार से कहते हैं—'हे भगवन्! यद्यपि मैंने इतना अध्ययन किया तथापि मुझे केवल मन्त्रों का ही ज्ञान है, आत्मा को मैं नहीं जानता' (छा. ७-१-३)। आत्मा चिन्मात्ररूप होने से अज्ञानस्वरूप भी है नहीं कि पूर्वोक्त युक्ति से उसकी तदाश्रयता का निषेध किया

---

१. 'अज्ञानस्वरूपता'-पदं व्याचष्टे—ज्ञानविपरीतरूप आत्मा नेतीत्यर्थः। चन्द्रिकायाम् 'आत्मनश्चेतनत्वेन अनात्मवद् अज्ञानस्वरूपत्वाऽभावाद् अज्ञानाश्रयत्वं सम्भवतीत्यर्थः।'

२. 'अतिशय'-पदं व्याकरोति—स्वयमित्यादिना।

३. 'काशस्याऽप्रकाशः, तद्वि' इति सङ्गच्छेत। चन्द्रिकायाम् 'प्राप्तप्रकाशस्य अप्रकाशत्वं तद्विपरीतस्फुरणं च ज्ञानविपरिलोपः, सोऽप्यात्मनि सम्भवति' इत्युक्तम्।

किंविषयं पुनस्तदात्मनोऽज्ञानम्? आत्मविषयमिति ब्रूमः। नन्वात्मनोऽपि ज्ञानस्वरूपत्वादनन्यत्वाच्च ज्ञानप्रकृतित्वादिभ्यश्च हेतुभ्यो

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भवत्वेवमात्मनोऽज्ञानाश्रयत्वं, विषयत्वं तु न युक्तम्, ज्ञानेच्छादीनां लोके भिन्नाश्रयविषयत्वदर्शनात्। प्रतीयमानाकारेणाज्ञानं प्रत्याश्रयत्वम्, अप्रतीयमानाकारेण विषयत्वमित्याकारभेदस्य तस्मिन्नेकरसे वस्तुन्यसम्भवाच्चेत्याक्षिपति–किंविषयमिति। **समाधत्ते**–आत्मविषयमिति। **मामहं जानामि, मामहं न जानामीति च ज्ञानाज्ञानयोरेकाश्रय-विषयत्वस्यापि लोके दर्शनाद्**

जाये। आत्मा में अज्ञान विशेषता का आधान भी करे यह संगत है क्योंकि स्वयंप्रकाश का अनवबोध अज्ञान के कारण ही संभव है। और ज्ञानप्राप्ति हो यह भी संभव है क्योंकि अज्ञान-विनाशक चैतन्यासाभास का कारण अज्ञानरूप मन ही है। वृत्त्यारूढ चैतन्य ही अज्ञान का निवर्तक है यह स्मर्तव्य है। नित्य आत्मस्वरूप होने के कारण आत्मा अज्ञान का कार्य हो यह बात भी नहीं, अत: अनात्मपक्ष के दोष प्राप्त नहीं होते। एवं आत्मा अज्ञान की अपेक्षा किये बिना स्वयं सिद्ध है जिससे कि आश्रय (और विषय) विषयक यह मांग भी पूरी हो जाती है कि आश्रय (और विषय) का स्वरूप आश्रयी (और विषयी) से निरपेक्ष सिद्ध होना चाहिये। अत: यही संगत है कि अज्ञान का आश्रय आत्मा ही हो।

प्रश्न होता है कि आत्मनिष्ठ वह अज्ञान किसे विषय करता है? उत्तर सरल है, आत्मा को ही विषय करता है। किन्तु पुन: शंका होती है कि ज्ञानस्वरूप होने से तद्विरुद्ध स्वभाव अज्ञान का आश्रय वह कैसे; तथा आत्मा अद्वितीयस्वरूप है जब कि आश्रय-आश्रयिभाव भेदगर्भित होता है, अत: आत्मा आश्रय कैसे; एवं आत्मा तो अज्ञान-निवृत्ति का कारण है, उस पर क्योंकर अज्ञान रह पायेगा, सूर्य पर अँधेरा रहता नहीं; ऐसे ही असंग नित्यमुक्तादि होने से भी आत्मा अज्ञानाश्रय कैसे? और जैसे आश्रय सम्भव नहीं वैसे विषय भी संभव नहीं। अत: आत्माश्रय व आत्मविषयक अज्ञान घटता नहीं।

समाधान है कि उक्त प्रकार वाला अज्ञान अवश्य घटता है। क्योंकि अज्ञान में निमित्त स्वयं अज्ञान है अत: ज्ञानस्वरूप आत्मा में अज्ञान की आश्रयतया व विषयतया घट जाती है। विरुद्ध स्वभाव वालों का सम्बन्ध वहीं नहीं घटता जहाँ

नैवाज्ञानं घटते? घटत एव। कथम्? अज्ञानमात्रनिमित्तत्त्वाद्विभागस्य,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अहमितिसाधारणाकारेण प्रतीयमानस्यापि आत्मनोऽद्वितीयानन्दाकारेणाप्रतीयमानत्वस्य अनुभवसिद्धत्वाद् अहं मनुष्य इति विभ्रमेऽहमिति साधारणाकारेण प्रतीयमानस्य देहव्यतिरिक्तासाधारणस्वभावेनाप्रतीयमानत्वस्य परैरभ्युपेतत्वात् ज्ञानस्यैकाश्रयविषयत्वे न कश्चिद्दोष इति भावः।

उक्तमेवार्थं हेत्वन्तरावष्टम्भेनाक्षिपति–नन्विति। **ज्ञानाज्ञानयोस्तमः-प्रकाशयोरिव परस्परविरुद्धस्वभावत्वाद् विज्ञानस्वभावस्यात्मनो नाज्ञानाश्रयत्वं, तदाश्रयत्वे तन्निवर्तकत्वायोगात्। तथाश्रयाश्रयिभावस्यान्यत्वव्याप्तत्वाद्, अद्वितीये चात्मनि तदयोगाद्, अज्ञाननिवर्त्तकप्रमाणज्ञानकारणत्वाच्चात्मन-स्तन्निवर्त्तकपुष्कलकारणवतः सवितुरिवान्धकाराश्रयत्वस्यासम्भवाद्, असङ्गत्वनित्यमुक्तत्वादिभिश्च हेतुभ्यो, नाज्ञानाश्रयत्वसम्भव इत्यर्थः। समाधत्ते**-घटत इति। **पूर्वोक्तहेतुषु जीवत्सु समाधानं दुर्घटमित्याक्षिपति**–कथमिति। **यदुक्तं 'ज्ञानस्वभावत्वादात्मनोऽज्ञानं नोपपद्यते, विरोधात्' इति। तत्किं**

अज्ञान से अतिरिक्त कोई निमित्त हो। और जो आश्रयाश्रयिभाव की भेदमूलकता का दोष दिया गया था उसका उत्तर है, एक ही आत्मा में आश्रयाश्रयिभाव की उसी प्रकार कल्पना हो जाती है जिस प्रकार रज्जु में सर्प की। इसी से ज्ञानरूपतादि विरोध भी परिहृत हो गये। यह भी कहा जा चुका है कि स्वयं ज्ञान का अज्ञान से विरोध नहीं, अत: आत्मा की ज्ञानरूपता से उसके अज्ञान-सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं आती। यद्यपि प्रमाण ज्ञान का अज्ञान से विरोध है तथापि स्वरूप ज्ञान प्रमाणज्ञानस्वरूप नहीं, अत: दोष नहीं। स्वरूपचैतन्य तो अज्ञान का साधक ही है, अत: विरोध कैसा! लोकदृष्ट व्यवस्था से भी अज्ञान की आत्मनिष्ठता सिद्ध होती है क्योंकि देखा यही जाता है कि जो (सर्प) जिसके (रज्जु के) अधीन सत्ता व प्रतीति वाला होता है वह (सर्प) उसी में (रज्जु में) अधिष्ठित होता है, इसलिये आत्माधीन सत्ता-प्रतीति वाला अज्ञान आत्माश्रित ही युक्त है। किं च स्व स्व का आश्रय नहीं होता अत: अज्ञान का आश्रय अज्ञानभिन्न अर्थात् ज्ञानरूप आत्मा ही

सर्पात्मतेव रज्ज्वाः। तस्मात्तदपनुत्तौ द्वैतानर्थाभावः। तदपनोदश्च

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणज्ञानस्वभावत्वम्, उत अनादिनिधनसाक्षिचैतन्यस्वरूपत्वम्? नाद्यः, तस्य प्रमातृ-प्रमेय-प्रमितिलक्षणविभागघटितस्वभावस्य अज्ञानमात्रनिमित्त-तयाऽनादिसिद्धात्मस्वभावत्वासंभवाद्, न हि कल्पितमकल्पितस्य स्वभावः, सर्पात्मतेव रज्ज्वाः। नापि द्वितीयः। साक्षिचैतन्यस्याज्ञानस्य च भास्यभासकभावेनाविरोधात्। साक्षिण्यध्यासलक्षणसम्बन्धमन्तरेण चाज्ञानस्य च तदवभास्यत्वायोगात्, भास्यभासकविभागस्योक्तन्यायेन आत्मसम्बन्ध्यज्ञान-मात्रनिमित्तत्वात्; लोकेऽपि यद्यदधीनसत्ताप्रतीतिकं तत्तस्मिन्नेवाध्यस्तं दृष्टं, यथा रज्ज्वास्सर्पात्मता रज्ज्वामेवाध्यस्ता। न च तर्हि, अविरोधादज्ञानं कदाचिदपि न निवर्त्येतेति शङ्कनीयम्। स्वरूपेणानिवर्त्तकस्याप्यात्मनो वेदान्तवाक्यजनित-प्रमाणभूतस्वाकारान्तःकरणवृत्तिफलकारूढस्य दारुगतस्येव वह्नेर्मथनादभि-व्यक्तस्य तन्निवर्तकत्वोपपत्तेः।

यदुक्तं 'आश्रयाश्रयिभावस्य भेदगतत्वाद्[1] अद्वितीये ब्रह्मणि नायमुपपन्नः' इति। तच्च न, परमार्थतोऽद्वितीयत्वेऽपि स्वस्मिन्नध्यस्ताज्ञानमात्रनिमित्तत्वाद् आश्रयाश्रयिविभागस्य; रज्ज्वास्सर्पात्मतापक्षस्याज्ञानाश्रयत्वाविरोधाद्[2], अहमज्ञ इति च चेतनाश्रयत्वस्य युक्तिमात्रेणापह्नोतुमशक्यत्वाद्। नित्यपरतन्त्रस्य चाज्ञानस्य स्वाश्रयत्वस्वकार्याश्रयत्वयोरसम्भवे परिशेषादात्माश्रयत्वस्य अनुभवबलादेवाभ्युपेयत्वात्। प्रतीयमानस्य च दुर्घटताया अविद्यात्वोप-पादकत्वाद् अविद्यावदेवाश्रयाश्रयिभावादेरपि ज्ञाननिवर्त्यस्य दुर्निरूपत्वात्।

यदुक्तं ज्ञानप्रकृतित्वादसङ्गत्वान्नित्यमुक्तत्वाच्चात्मनोऽज्ञानमनुपपन्नम्[3]

सम्भव है। इसी प्रकार विषय भी समझना चाहिये। जो तो असंगता व नित्यमुक्तादि

---

१. 'अन्यत्वव्याप्तत्वाद्' इति पूर्वपक्षग्रन्थ उक्तम्।

२. चन्द्रिकायाम् 'रज्ज्वाः सर्पात्मतावत् तस्याज्ञानाश्रयत्वाऽविरोध' इति दर्शनात् '···सर्पात्मतापक्षस्या···' इत्यत्र 'सर्पात्मतावत् तस्या···' इति पठनीयम्। यथा रज्जुः सर्पाश्रयो भवति तथा तस्य=आत्मनः, अज्ञानाश्रयत्वम् संगच्छत इति। यथाश्रुतेऽपि, 'पक्षस्य' इत्यनन्तरम् 'इव' इत्यध्याहृत्य अयमेवार्थः संगमनीयः।

३. 'विज्ञानस्वभावस्य आत्मनः न अज्ञानाश्रयत्वम् तदाश्रयत्वे तन्निवर्तकत्वाऽयोग' इति तत्र वचनम्।

वाक्यादेव तत्पदपदार्थाभिज्ञस्य। अतो वाक्यव्याख्यानायाध्याय आरभ्यते।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इति। तदपि न, रज्जुसर्पयोः प्रकृतिविकारविभागस्येव[1] ज्ञानात्मनोः प्रकृतिविकारविभागस्याज्ञानमात्रनिमित्तत्वात्। ज्ञानप्रकृतित्वेनैव तदाश्रयाज्ञान-स्यावश्यकल्पनीयत्वात्[2]। निरवयवस्यापरिणामस्य निष्क्रियात्मस्वरूपेणैव ज्ञानप्रकृतित्वानुपपत्तेः, अज्ञाननिवृत्तिपुष्कलकारणस्य च तत्त्वमस्यादि-वाक्यजन्यस्य प्रमाणज्ञानस्य श्रवणादिपराधीनतया ततः प्रागसिद्धेःतदुदयात् पूर्वमज्ञानाश्रयत्वोपपत्तेः। असङ्गत्वनित्यमुक्तत्वादेश्च वास्तवस्वभावस्य अज्ञानमात्रपरिकल्पितप्रतिभासमात्रशरीरेण सम्बन्धादिना (विभागेन) विरोधाभावात् घटत एवात्मनोऽज्ञानमिति भावः।

एवमात्मनोऽज्ञानविषयत्वपक्षेऽपि पूर्वोत्तरपक्षौ[3] स्वभावपरिहारग्रन्थौ[4] योजनीयौ। यत एवं सर्वविभागानर्थनिदानम्[5] अतस्तन्निवृत्तये तृतीयाध्यायारम्भ उपपन्न इत्यभिप्रेत्योपसंहरति–तस्मादिति।

भवत्वेवं, तथापि द्वितीयाध्यायोक्तयुक्तिभिरेव द्वैतस्य मिथ्यात्वाव-धारणाद् आत्मनस्तदधिष्ठानस्य सत्यतयाऽधिगतत्वात्तत एव द्वैतानर्थस्य निवृत्त्युपपत्तेः, किं वाक्यव्याख्यानेनेति? तत्राह–तदपनोदश्चेति। युक्तीनां प्रमाणानुग्राहकतया स्वातन्त्र्येणानिश्चायकत्वाद् वाक्यादेव सम्यग्ज्ञानद्वारेण तदपनोद इति भावः। तर्ह्ययमेवाध्याय आरभ्यतां, किमतीतेन द्वितीयाध्यायेनेति? अत आह–तत्पदेति। यस्मिन् वाक्ये यानि पदानि ये च पदार्थास्तान् प्रसिद्धलक्षणागुणवृत्तिभिश्चतुर्विधान्वयव्यतिरेकाभ्यां[6] चाभिजानत एव

दोष उद्भावित किये थे, उनके विषय में समझ लेना चाहिये कि वे पारमार्थिक

---

१. ज्ञानं वृत्तिज्ञानं, तस्य आत्मनश्च परस्परं सम्बन्धो विनाऽज्ञानं न सम्भवीति भावो यथा रज्जुसर्पयोः।

२. स्वगताज्ञानस्यैव स्वगतज्ञानेन निवृत्तेरौचित्याद्। एतदेवोपपादयति—निरवयवस्येत्यादिना।

३. 'यवोर्णावाक्षे' इति हस्तलिखितपुस्तकपाठः।

४. स्वभावपरिहारग्रन्थाविति हस्तलिखितपुस्तकेऽस्ति। '.....विषयत्वपक्षेऽपि यथोक्तावाक्षेप-परिहारग्रन्थौ.....' पाठः कल्प्यते।

५. अज्ञानमितिशेषः।

६. चतुर्विधान्वयव्यतिरेकाभ्याम्—प्रकृतस्थले अन्वयव्यतिरेकशब्दाभ्यामनुवृत्तिव्यावृत्ती गृह्येते इति केचित्।

हैं और अज्ञान-तत्सम्बन्धादि व्यावहारिक हैं अतः दोनों का कोई विरोध नहीं। आत्मा ही अज्ञान का आश्रय-विषय है यही अद्वैतमत है। इस विषय पर अनुभवानुसारी विचार करते हुए सर्वज्ञमुनि ने कहा है कि—न तो अद्वयानन्दरूप से आत्मा ज्ञान व अज्ञान का आश्रय हो सकता है क्योंकि 'अद्वयानन्दरूप ब्रह्म मूढ है' ऐसा अनुभव नहीं होता; न ईश्वर ही आश्रय हो सकता है क्योंकि यह भी अनुभव नहीं होता कि 'ईश्वर मूढ है', बल्कि ईश्वर सर्वज्ञ है यही श्रुति, स्मृति, लोक में प्रसिद्ध है; और न प्रतिबिम्बरूप जीवात्मा ही आश्रय हो सकता है क्योंकि सुषुप्तिकाल में जीवत्व के लीन हो जाने पर भी अज्ञान का अपरोक्ष रहता है; अतः प्रत्यग्रूप ब्रह्म ही प्रज्ञान का आश्रय है। सुषुप्ति में भी प्रत्यक्चैतन्य के आश्रय में ही अज्ञान का स्फुरण होता है। इसी के आधार पर निर्णय होता

तथाहि—ग्राहकः ग्रहणम् ग्राह्यश्चेतिरूपेणाऽहमिति अन्वयव्यपदेशः। एतेभ्योऽतिरिक्तः साक्षी एवाहमिति व्यतिरेकः।

वस्तुतस्तु अन्वयव्यतिरेकयोश्चातुर्विध्यम् यथा मधुसूदनसरस्वतीपादैरालोचितं तदेवात्र युक्तमिति भाति। तथाहि—

'दृग्दृश्यान्वयव्यतिरेकः, साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेकः, आगमापायितदवध्यन्वयव्यतिरेकः, दुःखिपरमप्रेमास्पदान्वयव्यतिरेक इति समन्वयाध्यायाविरोधाध्यायसाधनाध्याय-फलाध्यायाः। अनुवृत्तव्यावृत्तान्वयव्यतिरेकः पञ्चमः।' (सि.बिं.व्या. ८) अत्र पुनः ब्रह्मानन्दपादाः—दृशि दृश्यानां तादात्म्यमन्वयः। तस्य च निरूपणासम्भवात् दृशि दृश्यानि कल्पितानीति दृशि दृश्यानामन्वयेनैव व्यतिरेकस्सिध्यतीत्यर्थः। 'स्वप्रकाशदृशस्तादात्म्येन सिद्धं जडं यदि सत्यं स्यात्, तदा जडत्वादिना स्वप्रकाशादत्यन्तविलक्षणं न स्यादि'ति तर्को बोध्यः। एवमग्रेऽपि 'निर्विकारसाक्षितादात्म्येन सिद्धं यदि सत्यं स्यात्, तदा विकारवत् न स्यात्'। 'एवमागमापायशून्यात्मतादात्म्येन सिद्धं दृश्यं यदि सत्यं स्यात्, तदा आगमापायित्व-रूपकादाचित्कत्ववत्र स्यात्, परमप्रेमास्पदात्मतादात्म्येन प्रतीयमानं यदि सत्यं स्यात् तदा दुःखसाधनं न स्यात्, सद्वस्तुतादात्म्येन प्रतीयमानं पटादिकं यदि सत्यं स्यात् तदा मिथो व्यावृत्तं मिथ्याभूतं न स्यादि'ति बोध्यम्। एवं साक्षिणो निर्विकारत्वात् साक्ष्याणां च विकारित्वात् साक्षिणि साक्ष्यस्यान्वयेन व्यतिरेकः सिद्ध्यतीत्यर्थः। एवमागमापायितया उत्पत्तिविनाशवत्त्वरूपया कादाचित्कत्वेन मिथ्यात्वात् सर्वकादाचित्कानामधिष्ठानमात्मा। स हि तेषामवधिः, आगमापायशून्यत्वात्। यथा वृष्टिमतां देशानां वृष्टिशून्या गङ्गाऽवधिरुच्यते, तथा च तेषां तत्र तादात्म्येनानुपपन्नेन

तत्र यथोक्तेन प्रकारेण तत्त्वमस्यादिवाक्योपनिविष्टपदपदार्थयोः कृतान्वयव्यतिरेकः[१]–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भवति। अतस्तत्प्रतिपादको द्वितीयाध्यायोऽध्यायस्य हेतुः, अतो हेतोरनन्तरं हेतुमतोऽस्यारम्भ उपपन्न इति भावः। [२]यद्वाक्यादेव चेत्तदपनोदः, वाक्यमेवोच्यताम्। किं तत्र पदपदार्थनिरूपणेन वक्ष्यमाणेनेति? अत आह– तत्पदेति। **एवं प्रयोजनत्वादगतार्थत्वाच्चाध्यायारम्भमुपपादितमुपसंहरति–**अत इति। **चिकीर्षितवाक्यव्याख्यानप्रदर्शनपरमुत्तरश्लोकमधिकारिविशेषाकाङ्क्षां पूरयन्नवतारयति–**तत्रेति।।१।।

है कि जो नहीं जानता, उसी की अविद्या है और अविद्या के कारण ही अविद्यावत्त्व है। इसलिये अपने अज्ञान से ब्रह्म का ही संसरण है और ब्रह्म का ही मोक्ष है।

व्यतिरेकः। एवं दुखित्वेनोपलभ्यमानस्याहङ्कारादेः परमप्रेमास्पदात्मभिन्नत्वात् तयोस्तादात्म्यरूपान्वयेनानुपपद्यमानेनात्मन्यहङ्कारादि कल्पितम्। एवं सर्वेषु दृश्येषु मिथो व्यावृत्तेषु भिन्नेषु सद्रूपेणानुवृत्त आत्मा, तस्मात्तत्र तेषामन्वयेन तादात्म्यरूपेण व्यतिरेकस्सिध्यति। तत् येषु व्यावृत्तेषु तादात्म्येनान्वितं तत्र तानि कल्पितानि। यथा रज्जौ मालासर्पादि यथा वा जातौ व्यक्तय इति भावः।

१. 'पदार्थस्यान्वयव्यतिरेकौ नाम—आत्मपदार्थो द्रष्टा साक्षी न कदापि दृश्यः साक्ष्यो वा भवति तस्यालुप्तप्रकाशसन्मात्रतया स्वतःसिद्धत्वात्। अतोऽनन्याश्रयत्वात्र कदापि विशेषणमात्मा। तथा यादृशं साक्ष्यं चाहंकारादि विषयान्तं तदन्याधीन-प्रकाशसत्ताकतयान्यश्रयं सत्सदा विशेषणभावं न व्यभिचरति। तस्मादनाग-मापायिदृगात्मरूपं सत्यं शुक्त्यादिवत्। तद्विपरीतमसत्यं रजतादिवदित्य-नृतजडपरिच्छिन्नपराचीनपरागर्थव्यावृत्तः सत्यज्ञानानन्तप्रत्यगानन्दरूप आत्मेति विवेचनम्। पदस्यान्वयव्यतिरेकौ नाम—'आत्मा' 'चैतन्यं' 'प्रज्ञानं' 'ब्रह्म' 'सत्' इत्यादिपदानि कर्तेत्याद्युपपदविधुराणि केवलस्यैवात्मनः समर्पकाणि न विशेषणतद्विशिष्ट-विषयाण्यसामर्थ्यात्। 'कर्ता' 'भोक्ता' 'ज्ञाता' 'द्रष्टा' 'श्रोता' 'वक्ता' 'गन्ता' 'कृशः' 'स्थूलः' इत्यादीनि तु न केवलपूर्णात्मविषयाणि अन्याधीनक्रियाद्युपरागदशायामेव प्रयुज्यमानत्वादिति विवेचनम्।।' (उपदेशसाहस्री, रामतीर्थटीका १८-९६)

२. 'यद्वा वाक्याद्' इति चन्द्रिकायाम्।

यदा ना तत्त्वमस्यादेर्ब्रह्मास्मीत्यवगच्छति।
प्रध्वस्ताहंममो नैति तदा गीर्मनसोः सृतिम्॥१॥

अतः भगवत्पादीय दर्शन में यही निष्कर्ष है कि प्रत्यगात्मा का ही ज्ञानित्व और अज्ञानित्व है। सम्भवतः जितना स्पष्ट यह विषय सर्वज्ञगुरु द्वारा बताया गया है उतना अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि समस्त संसार-निदान अज्ञान आत्माश्रय व आत्मविषयक है। अतः उस अज्ञान के नष्ट, बाधित हो जाने पर द्वैतरूप अनर्थ समाप्त हो जाता है। अज्ञान का बाध औपनिषद महावाक्य के श्रवण से ही सम्भव है। आत्मविषयक अज्ञान आत्मविषयक प्रमा से ही निवृत्त होगा और आत्मा प्रत्यक्षादि का विषय नहीं, अतः केवल शास्त्रविषय है व अत एव वाक्यार्थ ज्ञान से आत्मबोध सम्भव है। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि लोक में जिनका सम्बन्ध गृहीत है उन्हीं वस्तुओं का बोध शब्द से हो सकता है और जब आत्मा लोकगृहीत नहीं तो शब्द से कैसे बोधित होगा; क्योंकि यह नियम पद द्वारा अर्थ बताने में है कि सम्बन्ध-ग्रहण जरूरी हो, वाक्यार्थ के विषय में यह नियम नहीं। अत एव लोक में कभी न अनुभव में आने वाले धर्म को शास्त्र बता देता है। भट्ट जी ने यही कहा है—'ननु शब्दोपि सम्बन्धबोधान्नर्ते प्रवर्तते?॥ पदं तत्, न च तद्वाच्यो धर्मो, वाक्यार्थ एव सः'॥ श्लो. २.१९॥ स्वयं भगवान् सुरेश्वर ने भी 'न पदार्थत्वमिष्यते' (१-३-७९) कह कर यही स्वीकारा है क्योंकि शास्त्रप्रकाशिकाकार वहाँ स्पष्ट करते हैं—'ब्रह्म वाक्यीयमित्यंगीकारात्पदार्थत्वकृतदोषाभावः वाक्याऽर्थत्वमंगीकृत्य पदार्थत्वमनंगीकारपरास्तम्' (पृ. २४४)। इसी दृष्टि से सिद्धि में भी 'वाक्यादेव' ऐसा सावधारण प्रयोग समझ लेना चाहिये। वाक्यज्ञान उसे ही होता है जो वाक्यगत पदों और उनके अर्थों को जाने। अतः पूर्वाध्याय में पद-पदार्थ समझा कर वाक्यार्थ के प्रतिपादन के लिये यह तीसरा अध्याय प्रारम्भ किया जाता है।

प्रकृत प्रसंग में पूर्वोक्त प्रकार से 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यान्तर्गत पद व उनसे बोध्य पदार्थों के अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक निर्धारण के अनन्तर—**जब मुमुक्षु 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से 'मैं ब्रह्म हूँ' यह समझ लेता है तब उसके अहंकार ममकार सर्वथा समाप्त हो जाते हैं व वह शब्द और बुद्धि से परे अर्थात् सब व्यवहारों से अतीत हो जाता है।**॥१॥ पदों के अन्वयादि से

यह तात्पर्य समझना चाहिये कि समस्त उपनिषत् प्रसंगों के अनुशीलन से पहले तो निर्धारित कर लेना चाहिये कि वाक्य में कौन-कौन पद हैं। यदि ऐसा न करें तो 'तत्त्वमसि' वाक्य के प्रथम पद को 'अतत्' मानने की मूर्खता कर लेंगे। अथवा 'अयमात्मा ब्रह्म' में 'अब्रह्म' शब्द मान लेंगे। अथवा 'ईशा वास्यम्' को एक पद मानकर 'इशस्य आवास्यम्' इत्यादि अनर्गल अर्थ करने लगेंगे। तत् आदि सर्वनाम किसके परामर्शक हैं यह भी पद-विवेक के अन्तर्गत आता है। अध्याहार, अश्रुताक्षेप, व्यत्यास, पदव्यवधान, विपरिणाम, प्रकृति-प्रत्ययान्यथाकरण, वाक्यान्यथात्वकरण, व्यवधारणकल्पना आदि का शास्त्रसम्मतनिर्णय भी पद-विवेक के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। अन्वयनिश्चय भी इसी में आता है। पदार्थान्वय तो पूर्व में बताया ही जा चुका है कि तत्पद के वाच्य व लक्ष्य का और त्वम्पद के वाच्य और लक्ष्य का निर्धारण कर लेना चाहिये। जब राधेय को कहा जाता है 'तू कौन्तेय है', तब उसे बोध होता है 'मैं कौन्तेय हूँ'। अतः 'तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न होने वाला शाब्दबोध यही होता है—'मैं ब्रह्म हूँ'। प्रस्तुत सिद्धिवाक्य में यह स्पष्ट है। अतएव सर्वज्ञपाद भी कहते हैं—'ब्रह्मैवाहमस्मि, अहमेव ब्रह्म इति तत्पदपरशुग्रहणदार्ढ्योपेतो यस्तत्त्वमसिवाक्यार्थः' (पंचप्र. ३)। बिन्दुटीका में श्रीनारायणतीर्थ ने यही इंगित किया है 'तत्त्वमसि-वाक्यस्य अहम्ब्रह्मास्मीत्यर्थ-प्रदर्शनात्' (पृ. ७ बाक्रे संस्क.)। अतः यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि साम्प्रदायिकमर्यादा में तत्त्वमसि से अबाधित शाब्दापरोक्ष उत्पन्न होता है और शाब्दज्ञान का आकार 'मैं ब्रह्म हूँ' यही होता है। लौकिक प्रयोग में भी वक्ता द्वारा प्रयुक्त त्वम्पद श्रोता में अहमर्थ का ही उपस्थापक देखा गया है जब तक इतिशिरस्कत्वादि कारणों से अन्यथा कल्पना आवश्यक न हो। अतः अहमर्थ को त्वंपद का बोध्य मानना होगा जिससे अशाब्दता दोष नहीं आता। इससे 'न चाशक्यस्य शाब्दबोधे संसर्गो भाति' (ल.चं.पृ. ४५०) इस आचार्य-वचन का अविरोध स्पष्ट है। वैसे प्रस्तुत शाब्दबोध में संसर्गभान होता ही नहीं जिससे 'अशक्यस्ये'त्यादि नियम लगे। प्रकृत बोध में भान अभेद का होता है। व्युत्पत्तिवाद में नैयायिकों को भी यह स्वीकृत है कि 'अभेदस्य संसर्गमर्यादया भानं तु समासस्थले एव' (पृ. १७ आदर्श संस्करणम्) अतः प्रकृत स्थल में स्वरूपतः ही अभेदभान न्याय्य है। वैसे अभेद को संसर्ग माना भी नहीं जाता—'सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वनियमेन अभेदस्य संसर्गत्वाभावात्' (परि. पृ. ९४) यह दीक्षित जी ने स्पष्ट

किया है। ब्रह्मविद्याभरणकार भी अभेद को स्वरूपमात्र मानते हैं (१. पृ. १४७) तथा स्वरूप सम्बन्ध नहीं यह गौडस्वामी ने कण्ठत: कहा है—'स्वं न स्वस्मिन् स्वं न स्वीयम् इति प्रामाणिकानुभवात् स्वस्य स्वप्रतियोगिकत्व-स्वानुयोगिकत्वयोर-बोधात् स्वरूपं न सम्बन्धः' (ल.च.पृ. ४५)। पदार्थद्वैविध्य न होने के कारण संसर्गमर्यादया भाननियम की भी प्रवृत्ति नहीं क्योंकि उसका क्षेत्र वहीं है जहाँ एकपदार्थ का अपरपदार्थ से संबंध-भान हो। न्यायरत्नावली में आचार्य ने सूचित किया है कि जिस स्थल में विशेषण और विशेष्य अत्यन्त अभिन्न होते हैं वहाँ सम्बन्ध के रूप में विशेष्य-व्यापकत्वविशिष्टतादात्म्य का भान संभव है क्योंकि तादृशस्थल में विशेष्य के व्यापकत्व के बोध का ही अनुभव होता है। तादात्म्य भी संबंध नहीं, विशेष्य के रूप में भेदाभाव का भान स्वीकार्य है। अत: यद्यपि यह सत्य है कि प्रकृतस्थल के शाब्दबोध को अन्य दृष्टान्तों के अनुसार बाँधा नहीं जा सकता तथापि यह निश्चित है कि शाब्दबोध होता है। विधान की विचित्रता भी ब्रह्मानन्द जी ने मानी है—'शुद्धयोस्तादात्म्याभावात्, तादात्म्यसंसर्गक-तदात्मप्रकारकबोधसंभवे भेदाभावत्वावच्छिन्नविषयताकबोधस्य आवश्यकत्वे विशेष्यपदार्थस्य शुद्धत्वेन विशेष्यत्वासंभवे च अगत्या व्युत्पत्तिवैचित्र्यकल्पनेन उक्तबोधस्वीकारात्' (न्यायरत्न.श्लो. १)। शाब्दबोध से उत्पन्न ज्ञान अपरोक्ष होता है इस साम्प्रदायिक सिद्धान्त को भी याद रखना चाहिये। इस विचार से यह सिद्ध है कि जो कुछ आधुनिक विचारक कह देते हैं 'तत्त्वमस्यादिवाक्यतो न शाब्दबोधः किन्तु साक्षात्कार एव' वे केवल शाब्दबोध की सप्रकारतादि के भय से उसे नहीं स्वीकारना चाहते। इसी प्रकार जो वे कह देते हैं कि जिस मत में शाब्दबोध होता है उसमें वह परोक्षात्मक ही होता है, उसे भी वास्तविकता का अंश ही समझना चाहिये क्योंकि यद्यपि वाचस्पति मत में वैसा स्वीकार्य है तथापि वार्तिक-विवरणपक्ष में नहीं। शाब्दबोध उभयत्र स्वीकार्य है। वह होगा लौकिकस्थल से विलक्षण, यह बात अवश्य है। माण्डूक्य में जिसे अव्यवहार्य चौथी स्थिति कहा है उसी स्थिति को प्राप्त मुमुक्षु को यहाँ 'सर्वव्यवहारातीत' कहा गया है।

जब अधिकारी तत्पद के अर्थ अद्वितीय आनन्द ब्रह्म को त्वम्पद के अर्थ बुद्ध्यादि-साक्षी में समझ लेता है अर्थात् तत्पदार्थ व त्वम्पदार्थ की एकता को जान लेता है, तब वह अप्रमेय सच्चिद्व्यक्तिरूपता को प्राप्त हो जाता है तथा वाणी और मन की पहुँच को लाँघ चुकता है। यह निश्चय कैसे होता है? क्योंकि—**तत्पद**

यदैव तदर्थं त्वमर्थेऽवैति तदैव अवाक्यार्थतां[1] प्रतिपद्यते गीर्मनसोः सृतिं न प्रतिपद्यते–इति कुत एतदध्यवसीयते?

यस्मात्–

तत्पदं प्रकृतार्थं स्यात् त्वंपदं प्रत्यगात्मनि।
नीलोत्पलवदेताभ्यां दुःख्यनात्मत्ववारणे ॥२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तमर्थं कीर्तयंस्तद्धेतुत्वेनोत्तरं श्लोकमवतारयति–यदैवेति। **यस्मिन्नेव क्षणे** तदर्थं **तत्पदस्यार्थमद्वितीयानन्दं ब्रह्म त्वंपदस्यार्थे बुद्ध्यादिसाक्षिणि परिशोधिते** अवैति **एकत्वेन प्रतिपद्यत इति यावत्,** तदैव **तस्मिन्नेव क्षणे देशकालसाधनान्तरनिरपेक्षवाक्यार्थतां[2] भेदसंसर्गवाक्यार्थविलक्षणा-खण्डैकरसतां प्रतिपद्य सर्वव्यवहारातीतो भवतीत्यत्र को हेतुरित्यर्थः। तत्त्वमसिवाक्ये तत्पदं विधित्सितप्रकृताद्वितीयब्रह्मपरं त्वंपदं चोद्दिश्यमाने प्रत्यगात्मनि वर्तते। ततश्चैताभ्यां पदाभ्यामन्योन्यनियम्यनियामकावस्थिताभ्यां[3] विधित्सितब्रह्मभावादेव प्रत्यगात्मनि दुःखित्वात्मोपाधित्वाच्च ब्रह्मणो नात्मव्यावर्त्यते[4]। यथा नीलमुत्पलमित्युक्ते उत्पलस्यानीलत्वं नीलस्य चानुत्पलत्वं प्रतिपद्यते तत्र[5] देशकालसाधनान्तराद्यपेक्षा तथेहापीत्याह**–तत्पदमिति।।२।।

जिसका प्रकरण चल रहा है उस ब्रह्म का परामर्शक है और त्वम्पद प्रत्यगात्मा अर्थ में प्रसिद्ध ही है। दोनों के सामानाधिकरण्य का उपदेश होने पर तत्पद दुःखिता का और त्वंपद परोक्षता का–अपरोक्षात्मा से भिन्नता का–वारण कर देते हैं जैसे नीलकमल कहने पर नीलपद रक्तादि रंगों का और कमलपद पटादि का वारण कर एक ही नीलकमल वस्तु का बोध होता है। इस प्रकार तत्त्वमस्युपदेश से अपरोक्ष आनन्दरूपता का अखण्ड बोध हो जाता है जिस स्थिति को शास्त्र भी वाङ्मनसातीत बताता है।।२।। 'जिसका

---

१. 'अवाक्यार्थतामप्रमेयध्रुवसच्चिद्व्यक्तिमात्रतां प्रतिपद्यते अनुभवतीति' सारार्थः।
२. '…पेक्षामवाक्यार्थ…'-इति चन्द्रिकानुसारी पाठः।
३. 'नियामकतयाऽवस्थि'-इति चन्द्रिकायाम्।
४. 'दुखित्वम्, अनात्मनो बाधितत्वाच्च ब्रह्मणोऽनात्मत्वं च व्यावर्तते'-इति चन्द्रिकायाम्।
५. 'प्रतिपद्यते तत्र' इत्यस्य स्थाने 'व्यावर्तते न तत्र' इति चंद्रिकापाठ एव साधुः।

एवं कृतान्वयव्यतिरेको वाक्यादेवावाक्यार्थं प्रतिपद्यत इत्युक्तम्। अतस्तद्व्याख्यानाय सूत्रोपन्यासः–

सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसंबन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्[1] ॥३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

लोके 'गामानय दण्डने'ति भिन्नविभक्तिनिर्दिष्टानां[2] संसर्गात्मकश्च वाक्यार्थो द्विविध एव दृश्यते, न तदतिरिक्तोऽखण्डैकरसतालक्षणः। तत्कथं तदभिप्रायेण वाक्यार्थतां[3] प्रतिपद्यत इत्युच्यते? इत्याशङ्क्य प्रतिपादयितुं प्रतिपत्तिसौकर्याय प्रथमं तावदुत्तरश्लोकः सूत्रस्थानीय उपन्यस्यत इत्याह– एवमिति। सामानाधिकरण्यं चेति। **तत्त्वमस्यादिमहावाक्यस्थपदधर्मस्सामानाधिकरण्यं च[4]। सति च तस्मिन् वाच्यपदार्थयोः परस्परं विशेषणविशेष्यता; सत्यां च तस्यां विरोधस्फूर्त्तौ वाच्यार्थयोर्वाच्यतात्पर्यविषयस्य च प्रत्यगात्मनो लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः। एवं यथाक्रमेण पदतदर्थप्रत्यगात्मनां सामानाधिकरण्यं विशेष्यविशेषणता लक्ष्यलक्षणसम्बन्धश्च भवतीत्यर्थः।।३।।**

प्रकरण चल रहा है' का तात्पर्य छान्दोग्यषष्ठ से है जहाँ 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश है। जिस प्रकार 'भूवादयो धातवः' में भूपद अव्यय वा-पद का व्यावर्तक और वापद भूम्यर्थक भूपद का व्यावर्तक होता है व तभी यह अर्थ निकलता है कि क्रियावाची भू, वा आदि का नाम धातु है, उसी प्रकार जीव-ब्रह्म की एकता कहने पर दोनों पद इतरपदों के अनपेक्षित अर्थों का व्यावर्तन कर अखण्डबोध के प्रयोजक बनते हैं। इसी दृष्टि से कैवल्य में 'तत्त्वमेव त्वमेव तत्' कहकर व्यावृत्ति को दोनों ओर से स्पष्ट कर दिया है।

इस प्रकार यह बताया कि जिस मुमुक्षु ने अन्वय-व्यतिरेक से निश्चित कर लिया कि तत्-त्वमादि पदों का अभिप्रेतार्थ क्या है, वह वाक्यश्रवण से ही अखण्ड-

---

१. इयं प्रक्रिया। प्रथमं समानविभक्तिपदयोः सामानाधिकरण्येनान्वयः। ततस्तदर्थयोर्विशिष्टाभेदज्ञानम्। ततो विरोधप्रतीतिः। ततो लक्षणया शुद्धयोरुपस्थितिः। ततस्तयोरैक्यव्यक्तिमात्रनिर्विकल्पकम्। ततोऽज्ञाननिवृत्तिः स्वरूपप्रतिपत्तिश्चेति भावः।

२. 'ष्टानाम् अन्वयलक्षणो भेदो वाक्यार्थः, नीलमुत्पलमित्यभिन्नविभक्तिनिर्दिष्टानां संसर्गा'-इति ज्ञानोत्तमीये। ३. अवाक्यार्थताम्-इति चन्द्रिकायाम्।

४. 'च' इत्यस्य स्थाने 'प्रथमं भवति' इति चन्द्रिका।

अस्मिन् सूत्र उपन्यस्ते कश्चिच्चोदयति–योऽयं वाक्यार्थप्रतिपत्तौ पूर्वाध्यायेनान्वयव्यतिरेकलक्षणो न्यायः सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकोऽभिहितः, किमयं विधिपरिप्रापितः, किं वा स्वरसत एवात्र पुमान् प्रवर्तत इति?

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नन्वज्ञाननिवृत्तेर्दृष्टफलत्वात् तत्साधनस्य ज्ञानस्याविधेयत्वात् ज्ञानं प्रति च श्रवणादेरन्वयव्यतिरेकसिद्धसाधनत्वात् ज्ञानार्थितामात्रेण यस्य कस्यचिद्विधिं विनापि प्रवृत्त्युपपत्तेश्शास्त्रीयस्य विशिष्टाधिकारिणोऽभावादधिकारिणः प्रमितिजनको वेद इति च न्यायात्तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य न प्रमितिजनकत्वम्। अतस्तद्व्याख्यानाय सूत्रोपन्यासोऽपि व्यर्थ इत्याशयवान् कश्चित् प्रत्यवतिष्ठत इत्याह– अस्मिन्निति।

उक्तपूर्वपक्षनिरासाय श्लोकमवतारयति– विधिपरिप्रापित **इति। 'शान्तो**

एकरसता को प्राप्त करता है। अतः यह आवश्यक है कि महावाक्य की व्याख्या की जाये। इसलिये पहले सूत्र रूप में विषय को उपस्थापित करते हैं—**पद, पदार्थ और प्रत्यगात्मा के क्रमशः सामानाधिकरण्य, विशेष्यविशेषणभाव और लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध होते हैं अर्थात् तत् व त्वं-पदों का सम्बन्ध है सामानाधिकरण्य, एकार्थ प्रतियादकता; तत्पदार्थ व त्वंपदार्थ का परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध है एवं पदार्थ और अभिप्रेतार्थ (या वाक्यार्थ) का लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है।।३।।** इस श्लोक का तात्पर्य वेदान्तसार में सविस्तार स्पष्ट किया गया है।

इस सूत्र के स्थापित हो चुकने पर कोई विचारक प्रश्न उठाता है—वाक्यार्थ के सम्यग्ज्ञान के लिये पूर्वाध्याय में जो यह नियम बताया कि सब कर्मों के साधनसहित त्याग पूर्वक विवेकाभ्यास करना चाहिये, क्या वह शास्त्रीय विधि से लभ्य नियम है या व्यक्ति उसमें अपनी इच्छा से ही तथा उसकी लोकसिद्ध साधनता और तल्लभ्य फल की इष्टता से ही प्रवृत्त हो जाता है? इससे अन्तर क्या पड़ता है? बताते हैं क्या अन्तर पड़ता है, सुनो—यदि आत्मा के साक्षात्कार के लिये संन्यासपूर्वक श्रवणादि का नियम विधि से प्राप्त है तब तो यह आवश्यक होगा कि शुभ व अशुभ सब शास्त्रीय कर्म छोड़कर एकाग्रचित्त से आत्मसाक्षात्कार के लिये पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक द्वारा

किञ्चातः? शृणु। यद्यात्मवस्तुसाक्षात्करणाय विधिपरिप्रापितोऽयं न्यायः, तदाऽवश्यमात्मवस्तुसाक्षात्करणाय व्यावृत्तशुभाशुभकर्मराशिः,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दान्त[1] उपरतस्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येदि'त्यादिवाक्ये ज्ञानस्याविधेयत्वात् यत्पश्येत्तच्छान्त्यादिगुणयुक्तो भूत्वेति ज्ञानसाधने विधेः पर्यवसानात् 'श्रेतव्योमन्तव्य' इति वचनात् श्रवणादेर्दृष्टोपायत्वेऽपि नियमादृष्ट-

---

आत्मदर्शन पर्यन्त यत्न करे, क्योंकि दर्शनपर्यन्त किये बिना श्रवणादि का त्याग प्रत्यवाय का हेतु होगा।

'त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्।
श्रुत्या विधीयते यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेद्॥'

इत्यादि स्मृति; 'ब्रह्मनिष्ठत्वमेव तस्य शमदमाद्युपबृंहितं कर्म, तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः' (ब्र.सू. ३.४.२०) इत्यादि भगवद्वचन; और

'अन्तरंगमपवर्गकाङ्क्षिभिः कार्यमेव यतिभिः प्रयत्नतः।
त्याज्यमेव बहिरंगसाधनं यत्नतः पतनभीरुभिर्भवेत्॥३.३२८॥
कारकस्य करणेन तत्क्षणाद्भिक्षुरेष पतितो भवेद्यथा।
व्यंजकस्य परिवर्जनात्तथा सद्य एव पतितो भवेदसौ॥'३.३३२॥

इत्यादि सर्वज्ञगुरु के वचन इसमें प्रमाण हैं। दूसरी ओर यदि रागतः श्रवणादि में प्रवृत्ति मानी जाये, विधितः नहीं, तो न पूरी तरह यत्न ही आवश्यक होगा और न फलपर्यन्त या यावज्जीवन यत्न न करने से कोई दोष होगा। अतः विधि मानने न मानने से बहुत बड़ा अन्तर पड़ता है। इस प्रश्न को इस अध्याय के प्रारम्भ में रखकर यह निर्देश दिया कि तृतीयाध्याय होने से यह साधन-विचार में प्रवृत्त है। जो तो कहा कि 'इस सूत्र के उपन्यस्त होने पर यह प्रश्न उठता है', उसका इतना ही तात्पर्य है कि अध्याय की भूमिका उस सूत्र के उपन्यास पर्यन्त है, न कि भूमिका स्थिर हो जाने पर अध्याय के विशिष्ट प्रश्न उठ जाते हैं। क्योंकि औपनिषद ज्ञान में संन्यासी का ही अधिकार है—

---

१. उपलक्षणेनात्र शमादिषट्साधनानि विवृणोति। शान्तो-दान्त इत्यादि शब्दैः यथाक्रमम् शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा-मुमुक्षुत्वानि इति ज्ञेयम्।
शान्तः=शमयुक्त। उपरतः=उपरतियुक्तः।
दान्तः=दमसम्पन्नः। तितिक्षुः=तितिक्षासम्पन्नः।

एकाग्रमनाः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यथोक्ताभ्यामात्मदर्शनं करोति। अपरिसमाप्यात्मदर्शनं ततः प्रच्यवमान आरूढपतितो भवति। यदि पुनः, यदृच्छातः प्रवर्तते, तदा न कश्चिद्दोषः इति।

विधिपरिप्रापित इति ब्रूमः। यत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विशिष्टतया ज्ञानसाधनस्याभ्युपेयत्वादेवं विशिष्टाधिकारिणस्सद्भावान्नोक्तदोष इत्यर्थः। केनोपायेनेत्यत आह–अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति॥४॥

'त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः।
जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्रयन्तेष्वधिकारिता॥' (बृ.वा. १.१.१२)

(ऐकात्म्यं जिज्ञासोरिति सम्बन्धः)—अतः यही प्राथमिक प्रश्न उचित है कि क्या संन्यासपूर्वक श्रवण वैध है या अवैध है?

इस प्रश्न के दो भाग समझने चाहिये—क्या श्रवणादि यत्न वैध है या नहीं?—यह एक भाग है। श्रवणादि यत्न के लिये संन्यास वैध है या नहीं?—यह द्वितीय भाग है। कुछ एकदेशी आचार्यों के मत में स्वाध्यायविधिमूलक ही ब्रह्मकाण्ड विचार है, श्रवणविधि मूलक नहीं (द्र.सि.ले.सं. ३३८); और सम्भवतः यह ब्रह्मसिद्धिकार को अभिमत है क्योंकि नियोगकाण्ड में वे स्वीकारते हैं—'अथाप्येष विधिः स्वाध्यायाध्ययन-विधिनाऽर्थाक्षिप्तमर्थज्ञानम् उच्येत, तथापि ब्रह्मस्वरूपाभिधेयि-वेदवाक्यप्रभवे बोधे च पृथग्-विधिरपेक्षितव्यः' (पृ. ७५)। अतः अन्य विधि न मान स्वाध्यायविधि से वेदान्तग्रहण अभीष्ट है। एवमपि वे संन्यासविधि नहीं मानते क्योंकि मोक्ष के लिये कर्म की अपेक्षा उन्हें अभिलषित है—'निर्विचिकित्सादाम्ना-यादवगतात्मतत्त्वस्य अनादिमिथ्यादर्शनाभ्यासोपचितबलवत्संस्कारसामर्थ्यात् मिथ्यावभासाऽनुवृत्तिः, तन्निवृत्तये अस्ति अन्यद् अपेक्ष्यम्, तच्च तत्त्वदर्शनाभ्यासो लोकसिद्धः यज्ञादयश्च शब्दप्रमाणकाः।' (ब्रह्मकाण्ड पृ. ३५)। अतः यद्यपि वे वैदिक होने से कृतसंन्यासों का भी, गृहस्थों की अपेक्षा विलम्ब से सही, मोक्ष मानते हैं (पृ. ३६), तथापि उनका हृदय यही है कि शमादिविधि संन्यास की साधनता नहीं बताती, केवल अत्यधिक भोग से निवृत्त करने में तात्पर्य रखती है जैसा कि टीकाकार शंखपाणि ने कहा है—'एतदुक्तं भवति—ब्रह्मानन्दवर्जम् इतरत्र रागः शमविधिना निषिध्यते'

शमादिसाधनः पश्येदात्मन्यात्मानमञ्जसा ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां त्यक्त्वा युष्मदशेषतः ॥४॥

(पृ. १२)। अतः प्रश्न के दो भाग मानना संगत है। मण्डनमिश्र भी आत्मप्राप्ति के यत्न की रागमूलकता का कण्ठरवेण निषेध करते ही हैं (पृ. ३०)।

यह प्रश्न नहीं पूछा जा सकता कि ऐसा होने पर प्रश्न का प्रथम भाग किसके द्वारा पूछा जा रहा है क्योंकि मीमांसक, जैसा कि प्रसिद्ध है, वेदों की ऊषर भूमिरूप वेदान्तों का जपादि में विनियोग मानते हैं, अर्थचिन्तन में नहीं, अतः उनकी ओर से यह प्रश्न सम्भव है। यदि व्याकरणाधिकरणवार्तिक के 'आत्मतत्त्वज्ञानं हि संयोगपृथक्त्वात् क्रत्वर्थपुरुषार्थत्वेन ज्ञायते' इत्यादि सन्दर्भ से (१.३.८, पृ. ८८) तथा 'दृढत्वमेतद्विषयस्य बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन' इत्यादि आत्मवादगत श्लोकवार्तिक से, एवं प्रभाकर की इस मान्यता से कि 'कर्मसंगी पुरुषों को उपनिषद्बोध नहीं कराना चाहिये जिससे उनमें बुद्धिभेद न हो, किन्तु निवृत्तकामों के लिये उस वास्तविकता को स्वीकारना आवश्यक है' यह माना जाये कि मीमांसक भी ऐसा प्रश्न नहीं कर सकते; तब सांख्यादिसिद्धान्तियों की ओर से यह प्रश्न समझना चाहिये क्योंकि वे श्रुतिनिरपेक्ष विवेकादि को मोक्ष के लिये अलम् मानते हैं जिससे यह सहज है कि औपनिषद विचार का नियम उन्हें भारी पड़े और वे उसकी कर्तव्यता पर प्रश्नचिह्न लगावें।

कुछ आधुनिक व्याख्याता आरूढपतित से 'तद्भूतस्य तु नातद्भावः' (३.४.४०) सूत्र की विषयता समझते हैं, किन्तु वह कल्पना व्यर्थ है क्योंकि वह सूत्र आश्रम-परिवर्तन अथवा असंयत आचार को विषय करता है, जब कि प्रस्तुत प्रश्न में केवल श्रवणादि के त्याग की विषयता है। श्रवणादि छोड़कर संन्यासाश्रम में नहीं रहा जा सकता यह कहना असम्भव है, अतः उस सूत्र से सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं।

इस प्रश्न का उत्तर है कि मोक्ष के लिये संन्यासपूर्वक श्रवणादि वैध है, क्योंकि शास्त्र में बताया है—**समस्त इदङ्कारास्पद का बाध कर अन्वय व्यतिरेकरूप उपाय से प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का अनुभव शान्ति आदि गुणों से युक्त होकर करे**॥४॥ शास्त्र पद से बृहदारण्यक (४.४.२३), गीता (१८.५१-५३) तथा ब्रह्मसूत्र इत्यादि श्रुति, स्मृति व न्याय तीनों की विवक्षा समझनी चाहिये। श्रवणादि विषयक विधि की स्वीकृति से प्रश्न के पूर्वाङ्ग का व उसकी संन्यासपूर्वकता की स्वीकृति से उत्तरांग का निराकरण जानना चाहिये। यदि

श्रवणादिविधिविषयक प्रश्न सांख्यादि का है तब तो निराकरण का अभिप्राय है कि आत्मज्ञान प्रामाणिक होने पर ही अज्ञान-नाशक सम्भव है व युक्ति कोई प्रमाण है नहीं अतः प्रमाणरूप वेदान्तविचार ही आवश्यक होने से विधि उचित है। यह प्रश्न नहीं हो सकता कि यदि यही एकमात्र उपाय है तब विधि कैसे? क्योंकि पक्षतः प्राप्ति होने पर विधि सार्थक है कारण कि अपूर्वविधि तो पक्षतः प्राप्त न होने पर भी सार्थक है व साम्प्रदायिकों ने श्रवणादि में अपूर्वविधि को स्वीकारा ही है। यदि नियम विधि ही मानी जाये, जैसा कि विवरणाचार्य मानते हैं, तब भी कोई दोष नहीं क्योंकि भ्रमवशात् पक्षतः अप्राप्ति है ही अन्यथा सांख्यादिसिद्धान्त ही उत्थित न होते। तथा यदि प्रस्तुत ग्रन्थकार की दृष्टि से परिसंख्या विधि मानी जाये तब भी दोष नहीं क्योंकि अकरण या अन्यकरण की निवृत्तिरूप फल सम्भव है।

यदि प्रश्न मीमांसक की ओर से उठा हो तब निराकरण का तात्पर्य है 'श्रोतव्यः', 'पश्येत्' (माध्यंदिन बृहदारण्यक ४.२.२८) आदि विधि श्रुतियों के बल से श्रवण को वैध मानना आवश्यक है। ज्ञान में विधि नहीं हो सकती पर साधन में अवश्य हो सकती है। और अनन्तानन्दरूप फल होने से वेदान्त-ज्ञान निष्फल नहीं अतः ऊषर भाग नहीं। एवं कर्मप्रकरण में न होने से स्वार्थ में तात्पर्य वाला है अतएव कर्तादि की स्तुति आदि रूप अर्थवाद भी नहीं। सिद्ध वस्तु को भी शास्त्र बताये यह सम्भव है जबकि बताना सफल हो, क्योंकि शास्त्र को सिद्ध से परहेज नहीं, साध्य में अनुराग नहीं, केवल सफल बात बताने में अभिरुचि है। स्वयं भट्टाचार्य की घोषणा है—'न च विधिप्रतिषेधविषयेणैव शास्त्रेण भवितव्यं, न प्रमेयस्वरूपज्ञापनार्थेन इत्येतत् ईश्वराज्ञासिद्धम्! न हि अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा इत्यादि शास्त्रगतानाम् अर्थतत्त्वप्रतिपादनपरत्वं न लभ्यते।' (तं.वा. १.३, अधि. ८ पृ. २८१)। अतः विधि सार्थक है।

यदि वेदान्त-एकदेशी की ही शंका मानी जाये, अर्थात् स्वाध्यायविधिसिद्ध वेदान्तविचार मानने वाले की ओर से श्रवणविधि पर आक्षेप हो, तब परिहार का अभिप्राय यह समझना चाहिये कि विवरणमतानुसार स्वाध्यायविधि शब्दग्रहणमात्र से गतार्थ है अतः तन्मात्रविहित होने पर उपनिषत् के भी अक्षरग्रहण से पुमर्थताप्रसंग होगा जिसे एकदेशी भी स्वीकार नहीं कर सकते अतः वेदान्तार्थविचार के लिये श्रवणविधि आवश्यक है। स्वाध्यायविधि की अक्षरावाप्तिमात्रपर्यन्तता का विचार आकरों में व प्राभाकरग्रन्थों से समझ लेना चाहिये। एवं च श्रवणादि विधि

युष्मदर्थे परित्यक्ते पूर्वोक्तैर्हेतुभिः श्रुतिः।
वीक्षापन्नस्य कोऽस्मीति तत्त्वमित्याह सौहृदात्॥५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

किमन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव वाक्यनिरपेक्षाभ्यामात्मदर्शनमिति? नेत्याह–युष्मदिति। **युष्मदि**[1] **अहंकर्तुरिदमंशप्रमुखे देहेन्द्रियादिपर्यन्ते पूर्वाध्यायोक्त-हेतुभिरनात्मतया** परित्यक्ते **सत्यप्यद्वितीयपरमानन्दस्वरूपस्यात्मनोऽनाद्य-ज्ञानव्यवहितत्वात् कोऽहमित्यनिर्धारितासाधारणात्मस्वभावतया पर्यालोचना-समाकुलस्याधिकारिणो मातृकल्पा श्रुतिस्त्वं तदेवासीति** सौहृदादज्ञाननिरसनाय **आहेत्यर्थः।।५।।**

आवश्यक है। प्रश्न के दूसरे भाग के उत्तर के विषय में यह समझ लेना चाहिये कि पूर्वोक्त रीति से श्रवण वैध सिद्ध हुआ तो उसकी इतिकर्तव्यता भी श्रुति द्वारा अर्पित माननी होगी तथा श्रुति स्पष्ट कहती है कि शमादिपूर्वक ही आत्मदर्शन करे, जैसा चन्द्रिकाकार ने प्रस्तुत खण्ड की टीका में कहा है—'यत्पश्येत् तच्छान्त्यादिगुणयुक्तो भूत्वा।' अतः उत्थित प्रश्न का साकल्येन निरास हो गया, यह स्पष्ट है।

केवल अन्वयव्यतिरेक-बोध के लिये पर्याप्त नहीं यह श्लोक द्वारा सूचित करते हैं—**'पूर्वोक्त युक्तियों से इदंकारास्पद की आत्मरूपता का निराकरण हो जाने पर अगर यह सब मैं नहीं तो मैं हूँ कौन?' इस प्रकार विचार करने वाले मुमुक्षु को वात्सल्यमयी भगवती श्रुति कहती है–'तू ब्रह्म है'**॥५॥ तर्क की अप्रतिष्ठा को पूर्वाध्याय में (श्लो. ५१) सविस्तार बताया था अतः प्रमाणभूत श्रुति की अपेक्षा है, यह भाव है। यह शंका अनुचित है कि शब्दात्मक श्रुति में वात्सल्य कैसा? क्योंकि वेद ईश्वरज्ञानरूप है यह तैत्तिरीयभाष्यादि में स्पष्ट है व ईश्वर की करुणामयता में कोई संशय नहीं। किं च, केनश्रुति में भगवती ने ही कृपापूर्वक देवताओं को आत्मोपदेश दिया था यह प्रसिद्ध है। अथवा मूल में जो सुहृदता कही है वह सखिभाव को स्मरण दिलाने के लिये है क्योंकि श्रुति ने ईश्वर को जीव का सखा कहा है—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु. ३-१-१, श्वे. ४-१-१)।

---

१. युष्मद्यर्थ इति भावः।

अत्रापि चोदयन्ति साङ्ख्याः–शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिषु अनात्मस्वात्मेति निस्सन्धिबन्धनं[1] **मिथ्याज्ञानमज्ञानम्। तन्निबन्धनो हि आत्मनोऽ-नेकानर्थसंबन्धः। तस्य चान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव निरस्तत्वात्, निर्विषयं**

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मानात्मविवेके सत्यप्यज्ञाननिवृत्तये वाक्यं प्रवर्त्तत इत्युक्तम्। अस्मिन्नर्थे सांख्याश्चोद्यमुद्भावयन्ति–अत्रेति। निस्सन्धिबन्धनमिति। **अहमित्येक-प्रातिपदिकार्थत्वेन ज्ञानं तदेव मिथ्याविषयद् मिथ्याज्ञानं, तदेव चाज्ञानं, नान्यदनाद्यनर्थहेतुतया प्रसिद्धिगामीत्याह**–तन्निबन्धन **इति। अतोऽनित्यत्व-परिहाराय**[2] **अन्वय व्यतिरेकाभ्यां सहितस्य मिथ्याज्ञाननिरसनेनात्मानात्म-**

शास्त्राश्रित ही जीवपरैक्यज्ञान है जो अज्ञाननाश-पूर्वक मोक्ष का कारण है, यह कहा जाने पर, सांख्यवादी पुनः प्रश्न उठाते हैं। उनका कहना है कि अनात्मरूप शरीर, इन्द्रिय, मन व बुद्धि को निश्चय पूर्वक अपना स्वरूप माननारूप मिथ्याज्ञान—अन्यथाज्ञान—ही अज्ञान है और इसी के कारण जीव को नाना दुःखाभिघात सहने पड़ते हैं। वह अज्ञान अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही निवृत्त हो जाता है अतः तत्त्वमस्यादि महावाक्य यदि अखण्डार्थबोधक माना जाये तो व्यर्थ होगा क्योंकि उसका जो फल संमत है अविद्यानाश, वह तो विवेकख्याति से ही सम्पन्न हो चुका है। अतः तत्त्वमस्यादि वाक्यों की सप्रयोजनता की रक्षा के लिये यही स्वीकारना चाहिये कि वाक्य की यह महत्ता है कि आत्मा और अनात्मा के भेद को वह सूचित करता है। सांख्यवादी विशुद्ध तार्किक हैं तथा अपने आस्तिकत्व की रक्षा के लिये श्रुतिप्रमाण मानने पर भी आत्मादि के विषय में वे अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं, श्रुति भी 'नेदममूलं भविष्यति' (छा ६-८-३), 'यतो वा इमानि' (तै. ३-१-१) द्वारा अनुमान ही बताती है ऐसा स्वीकारते हैं। अतः उनके दर्शन में सत्त्वशब्दित प्रकृति और पुरुषशब्दित आत्मा की अन्यता के ज्ञान से ही मोक्ष स्वीकृत है, आत्मब्रह्मैक्य के ज्ञान को मान्यता नहीं। मोक्ष के उपाय का सूचक सांख्यसूत्र है—'प्रधानाऽविवेकादन्याऽविवेकस्य तद्धाने हानम्' (१-५७)। श्रवण-मनन मोक्ष के लिये अपर्याप्त हैं यह भी कहा—'युक्तितोपि न बाध्यते दिङ्मूढवत्,

---

१. 'निःसंधिबन्धनं—बाधकप्रत्ययरहितमित्यर्थः। तन्निबन्धनो ह्यात्मनोऽनेकानर्थसंबन्धः। अनर्थहेतुरपीदमेवाज्ञानमित्याह—**तन्निबन्धन** इति। 'विपर्ययादिष्यते बन्धः' (सां.का.-४४) इत्युक्तेः।' इति सारार्थः।

२. अनित्यत्वम् अप्रामाण्यम् तत्त्वमादेर्वाक्यस्य यत्प्राप्तं तत्परिहाराय।

तत्त्वमस्यादिवाक्यं प्राप्तम्। तस्माद्वाक्यस्य चैष महिमा योऽयमात्मानात्मनोर्विभाग इति। तन्निराकरणायेदमुच्यते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विवेककरणं वाक्यस्य कृत्यं, नाऽनाद्यज्ञाननिरसनमित्याह–तस्मादिति।

इदानीमेतदुत्तरत्वेन श्लोकमवतारयति–तन्निराकरणायेति। **यदिदमात्मा-**

अपरोक्षादृते' (१.५९), भिक्षु ने स्पष्ट किया 'युक्तिर्मननं, अपिशब्दः श्रवणसमुच्चयार्थः'। तथा विवेक का साधन अनुमान बताया है—'अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधः, धूमादिभिरिव वह्नेः' (१६०)। भिक्षु को यह कमी यद्यपि महसूस हुई कि अचाक्षुषों को वचन भी विषय करता है तथापि उन्होंने ईमानदारी से अपनी तार्किकता की घोषणा कर दी 'अनुमानाऽसिद्धमपि आगमात् सिद्ध्यति इत्यपि बोध्यम् अस्य शास्त्रस्य अनुमानप्राधान्यात् तु केवलानुमानस्य मुख्यतयैवोपन्यासः' (पृ. ३९ कलिकाता)। तथा 'अनेन सूत्रेणेदं मननशास्त्रमित्यवगम्यते' (पृ. ३९)। अतः विवेक के लिये श्रुतिनिर्देश की अपेक्षा अनुमाननिर्देश ही किया है—'येनानुमानविशेषेण प्रमाणेन मुख्यतोत्र प्रकृतिपुरुषौ विविच्य साधनीयौ तद्वर्णयति—(सूत्रम्) सामान्यतो दृष्टाद् उभयसिद्धिः' (१.१०३ पृ. ६७)। इसीलिये जब श्रुति का उद्धरण आवश्यक समझा तो सूत्रकार को महावाक्य स्मरण नहीं आया, अतद्व्यावृत्ति बोधक वाक्यं का ही निर्देश दिया—'तत्त्वाभ्यासात् नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः' (३.७५)। प्रकृति पर्यन्त सब जड वस्तुओं से आत्मनिवृत्तिरूप तत्त्वाभ्यास को ही मोक्षहेतु विवेकनिष्पत्ति के लिये पर्याप्त माना है। ईश्वरकृष्ण भी यह मानते हैं कि पच्चीस पदार्थों की आत्मभिन्नता के ज्ञान से आत्मा की निष्क्रियता, अकर्तृता व अस्वामितारूप सत्त्वपुरुषान्यता का साक्षात्कारिज्ञान उत्पन्न होता है—'एवन्तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्'।।६४।। अतः स्पष्ट है कि इस मत में अविवेकमात्र को अज्ञान माना है व विवेकमात्र को तत्त्वज्ञान स्वीकार लिया है तथा विवेक का मुख्य उपाय तर्क है पर आस्तिक होने से श्रुति भी यदि उपकार करे तो कोई हानि नहीं यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है।

इस पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये कहते हैं—**यह जो आत्मा-अनात्मा का विवेकज्ञान है वह भेद-विषयक प्रमिति का फल है जबकि साक्षिस्वरूप में कोई भेद नहीं है। भेदात्मक होने से यह विवेक अज्ञान का ही फल है, सम्यग्ज्ञान का नहीं। तत्त्वमस्यादि वचन अद्वितीय ज्ञानरूप आत्मा के**

भेदसंविदिदं ज्ञानं भेदाभावश्च साक्षिणि।
कार्यमेतदविद्याया ज्ञात्मना त्याजयेद् वचः[1] ॥६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नात्मविवेकविज्ञानं तद् भेदसम्विद् **भेदस्संवेद्यते प्रकाश्यते अनेनेति। स च भेदस्साक्षिणि वाक्यतात्पर्यविषये नास्ति तस्याद्वितीयत्वात्, तस्मादिदं विवेकविज्ञानं वाक्यार्थावगतिसाधनमप्यनाद्यविद्याकार्यम्, भेदगोचरत्वादागन्तुकत्वाच्च तस्मिन्निवर्त्तितत्वादविद्याया[2] वाक्यमेव ज्ञानात्मनाऽद्वितीयबोधाकारवृत्तिद्वारेण ज्ञानं तावन्मात्रतया वा[3] एतत्कार्यमज्ञानं ॥जयेन्निवर्तयतीत्येतदाह**–भेदसम्विदिति।।६।।

अवबोध से इस अविद्याकार्य को सकारण निवृत्त कर देते हैं।।६।। तात्पर्य है कि केवल इतना जान लेने से कि आत्मा क्या नहीं है, आत्मस्वरूप का बोध होता नहीं व जब तक आत्मबोध न हो, आत्माऽज्ञान निवृत्त नहीं होता। अतः विवेक यद्यपि बहुत उपकारक है तथापि तावन्मात्र पर्याप्त नहीं है। सांख्यवादी का यह कहना कि अविवेक से अतिरिक्त अज्ञान नहीं, असंगत है। सुषुप्ति में अविवेक नहीं रहता पर वह मोक्षावस्था नहीं है। अविवेक सदा जन्य देखा गया है व विशेष भाग का अज्ञान ही उसमें कारण होता है। मूलाऽविवेक को अनादि मानने में कोई प्रमाण नहीं। अज्ञान तो स्वभावतः अनादि लोक में भी देखा गया है अतः मूलाऽज्ञान की अनादिता में कोई दोष नहीं। 'मैं आत्मस्वरूप को नहीं जानता'

---

१. श्लोकतात्पर्यं सारार्थदृष्ट्या—'भेदविषयकमेव ज्ञानं। तदविद्याकार्यं भ्रमात्मकमेवेत्यर्थः। वचः वाक्यं तात्पर्यविषयीभूतब्रह्मात्माकारवृत्तिज्ञानात्मना आत्माज्ञानं त्याजयेत् ऐक्योपलक्षितात्मज्ञानद्वारा नाशयेदित्यर्थः।'
ज्ञानोत्तमीये—'यदिदम् आत्मानात्मविवेकविज्ञानं तद् भेदसंविद् भेदप्रमितिफलम्। 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिना च साक्षिणि वाक्यतात्पर्यविषये भेदाभावः श्रूयते। तस्माद् इदं विवेकविज्ञानं भेदशून्ये वस्तुनि भेदज्ञानत्वाद् अविद्याकार्यं भ्रमरूपम्। ततश्च तद् न वाक्यजन्यम्। तस्माद् वाक्यं ज्ञात्मना अद्वितीयबोधाकारवृत्तिद्वारेण ज्ञात्मतावन्मात्रतया सकार्यम् एतद् अज्ञानं त्याजयेद् निवर्तयति।'

२. तस्मिन् विवेके सति अविद्याया अविवेकस्य निवर्तितत्वाद्, वाक्यम् अज्ञानं निवर्तयति—इति सम्बन्धः। अज्ञानमेव विशिनष्टि-एतत्कार्यम् एतद् भेदज्ञानं कार्यं यस्य तद् मूलभूतमज्ञानमित्यर्थः।

३. वृत्तिद्वारेण वा, ज्ञानतावन्मात्रतया वेति भावः। 'ज्ञानताव···' इत्येकपदमस्तु। वृत्तिद्वारा निवृत्तिः, वृत्त्या यज्ज्ञानमात्रमवशिष्यते तेन निवृत्तिरिति मत्त्वा पक्षद्वयोक्तिः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अनाद्यग्रहव्यतिरेकेण भावरूपाविद्या न विद्यत इति चोद्यान्तरमुत्थाप्य

यह अनुभव भी अज्ञान का पोषक है, 'तम आसीत्' आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। अत: अज्ञान का अस्तित्व असन्दिग्ध है और उसकी निवृत्ति स्वरूपज्ञान से ही संभव है केवल भेदज्ञान से नहीं। यह नहीं कहना चाहिये कि स्वप्रकाश होने से इतरव्यावृत्ति हो जाने पर आत्मभान होगा ही जिससे कि अभेदज्ञान व्यर्थ है; क्योंकि जैसे स्वरूप से कौन्तेय होने पर भी केवल 'तुम राधेय नहीं' इतना कहने पर 'मैं कौन्तेय हूँ' यह बोध नहीं होता या 'दशमस्त्वमसि' कहे बिना 'दशमोहम्' बोध नहीं होता, वैसे परिच्छिन्न व अनात्मा से भेद बताने पर अपनी अनन्तानन्दरूपता का बोध नहीं होता। सांख्यवादी तो आनन्दादिरूप आत्मा मानता नहीं, अत: वह भेदज्ञानमात्र से कृतकार्य हो भी जाये, पर श्रुतिसिद्ध आनन्दादिरूप आत्मा मानने वाले औपनिषदनय में भेदज्ञान पर्याप्त हो नहीं सकता। आनन्दादि को आत्मरूप मानना आवश्यक है यह श्रुतिसिद्ध है व सौषुप्तानुभव से पुष्ट है। अत: सांख्यकल्पना को स्थान नहीं। वस्तुत: अनात्मा मिथ्या है अत: उसका भेद भी आत्मा में सत्य नहीं हो सकता अत: सांख्यसंमत भेदज्ञान को अज्ञान का फल या अयथार्थ बोध बताया। अभेद तो वास्तविक है अत: उसका ज्ञान यथार्थ है। यह कहना कि अभेदज्ञान भी वृत्तिरूप होने से अविद्या-कार्य है एवं च दोनों समान हैं, अकिंचित्कर है क्योंकि अविद्याकार्यत्व सम्यक्त्व-असम्यक्त्व में प्रयोजक नहीं, किन्तु अबाधितविषयता ही सम्यक्त्व में प्रयोजक है जैसा कि आचार्य पद्मपाद ने कहा है—'मिथ्याऽऽलम्बनं ज्ञानं मिथ्या ज्ञानं, न स्वतो ज्ञानस्य मिथ्यात्वं अस्ति, बाधाभावात्' (पृ. ५२ मद्र.), जिसके आधार पर सरस्वती जी ने स्पष्ट किया है कि—'नह्यस्माकं तत्त्वावेदकत्वं तद्वति तत्प्रकारकत्वं, तद्भिन्नत्वमतत्त्वावेदकत्वं; किन्तु अबाधितविषयत्वं तत्त्वावेदकत्वं, बाधितविषयत्वं चाऽतत्त्वावेदकत्वम्' (अ.सि.पृ. ३५२)। अत: उक्त आपत्ति तुच्छ है। इस प्रकार सांख्य मान्यताओं के प्रतिकूल आत्माऽविद्या तथा आत्मयाथात्म्य-साक्षात्कार से उसका नाश एवं तादृश नाश के लिये प्रमाण की आवश्यकता सिद्ध होने के कारण वह मत निराकृत हो जाता है, यह इस श्लोक का तात्पर्य है।

'महावाक्य आत्मज्ञान द्वारा अज्ञान को सकार्य निवृत्त करा देता है' यह सुनकर

'ज्ञात्मना त्याजयेद्वचः' इत्युपश्रुत्याह कश्चित्। मिथ्याज्ञान-व्यतिरेकेणात्मानवबोधस्याभावात् किं वाक्येन निवर्त्यते? अज्ञानं हि नाम ज्ञानाभावः, तस्य चावस्तुस्वाभाव्यात् कुतः संसारकारणत्वम्? न हि असतः सज्जन्मेष्यते। 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति...कथमसतः

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तदुत्तरत्वेन श्लोकमवतारयति–[1]ज्ञानात्मनेति। अनर्थहेतुतया निवर्तनीयत्व-मप्यज्ञानस्य न सिद्धमित्याह–तस्य चेति। अज्ञात एवेति। अयमर्थः–बुद्धिजन्मतः प्राक् सुषुप्त्यवस्थायां सर्वोऽयम् अज्ञातः ज्ञानप्रागभावातिरिक्तेन भावरूपेणाज्ञानेनावृतः, 'न किञ्चिदवेदिषमि'त्युत्थितस्य परामर्शदर्शनाददननुभूते च तदयोगाद् धर्मिप्रतियोगिज्ञानं विना सुषुप्तौ ज्ञानाभावस्यानुभवितुमशक्यत्वात्, तत्सद्भावे च सुषुप्तिव्याघाततया[2] चानुभूयमानस्य षष्ठप्रमाणगोचरत्वानुपपत्तेः, उत्थितस्य च सुषुप्तिदशायां ज्ञानाभावानुमानस्य लिङ्गाभावादसिद्धेः, स्मरणाभावस्यानैकान्तिकत्वेनालिङ्गत्वात्, तदात्मतदज्ञानसामर्थ्यस्य च ज्ञानाभावेन समानयोगक्षेमतया प्रत्येतुमशक्यत्वेन ज्ञानाभावानुमापकत्वायोगात्, ज्ञानाभावेनैव तदनुमाने परस्पराश्रयप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षेणैव भावरूपाज्ञानसिद्धेः; अनुमानेनापि–विवादाध्यासित आत्मा एवं तन्निष्ठाग्रहणातिरिक्तानाद्य-ज्ञानाश्रयस्संसारित्वात् सम्प्रतिपन्नात्मान्तरवदिति भावरूपाज्ञानसिद्धेः।

तार्किक प्रश्न करता है—ज्ञानाऽभाव से अतिरिक्त आत्माऽज्ञान कोई भावरूप पदार्थ न होने से वाक्य किसे निवृत्त करता है? ज्ञान का न होना ही अज्ञान है तथा अभावरूप होने से केवल वही भावरूप संसार का कारण है यह संभव नहीं, क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार्य नहीं, कारण कि श्रुति कहती है 'हे सौम्य यह कैसे हो सकता है कि असत् से सत् उत्पन्न हो जाये' (छा. ६-२-२)।

प्रश्न-कर्ता अज्ञान को भाव पदार्थ न समझ कर आक्षेप कर रहा है। उसकी

१. ज्ञात्मनेति मुद्रितपुस्तके दृश्यते। पूर्वश्लोकानुरोधेन 'ज्ञात्मना' इति, एतदेव साधु इति भाति।
२. अत्र ग्रन्थे त्रुटिर्भाति।

सज्ज्येत' (छां. ६-२-२) इति श्रुतेरिति। अत्रोच्यते–

अज्ञात एव सर्वोऽर्थः प्राग्यतो बुद्धिजन्मनः।
एकेनैव सता संश्च सन्नज्ञातो भवेत्ततः ॥७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अनुमानेनापि विवादाध्यासितस्य अहं ममेदमित्यात्मन्यहङ्काराध्यासस्य प्रतीतत्वे सति बाध्यत्वादनिर्वचनीयस्य सदसदुपादानानुपपत्त्याऽनाद्यनिर्वचनीयोपादानतया, अवश्यकल्पनीयत्वात्। 'नासदासीन्नोसदासीत्' 'तम आसीद्' 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद्' 'नीहारेण प्रावृता', 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' 'आसीदिदं तमोभूतमि'त्याद्यागमतश्च तत्प्रसिद्धेः।

तर्हि सर्वार्थविषयत्वाङ्गीकारादज्ञानस्यात्मैकविषयत्वं पूर्वोक्तमनवगतमित्यत आह–एकेनेति। **अयं हि नामरूपकर्मात्मकः सर्वप्रपञ्चलक्षणोऽर्थः प्रलय इव सुषुप्तावज्ञाने सन्मात्रात्मावशेषं विलीयते, अतश्च प्रबोधसमये पुनरुद्भवतीति हि वेदान्तराद्धान्तः स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणात्। 'यदा सुषुप्तस्स्वप्नवन्नकञ्चन पश्यति'। 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' 'अथ तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिस्सहाप्येती'त्यारभ्य 'स यदा प्रबुध्यते, यथाग्नेर्ज्वलनस्सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनस्सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते, प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका' इति।**

मान्यता है कि 'न जानना' अर्थात् जानने का अभाव ही जब अनुभव की व्याख्या करने में समर्थ है तो उससे पृथक् अज्ञानरूप किसी भाव पदार्थ की कल्पना क्यों? अतः केवल सांख्यसम्मत अतस्मिंस्तद्बुद्धिरूप अज्ञान को ही तत्त्वज्ञान निवृत्त करे यह मानना चाहिये। यद्यपि अभावरूप मानने पर भी अज्ञान ज्ञान द्वारा निवृत्त होगा ही तथापि अभावरूप होने से वह जगदुपादान न हो पायेगा जिससे कि संसार का मिथ्यात्व अतएव ज्ञाननिवर्त्यत्व सिद्ध नहीं होगा। श्रुत्युद्धरण में इतना समझना चाहिये कि तार्किक असदुपादानक सदुत्पत्ति नहीं स्वीकारना चाहता। अभाव को सर्वथा कारणकोटि से बहिष्कृत करना उसे अभिप्रेत नहीं।

इस प्रकार प्रश्न उठने पर श्लोक द्वारा उत्तर देते हैं—**घटाद्याकार बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व सुषुप्तिकाल में सभी विषय अज्ञात होते हैं तथा एक सद्रूप आत्मा से अभिन्न हुए ही सत्तावान् होते हैं अतः सुषुप्ति में सदात्मा ही अज्ञात रहता**

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

युक्तेश्च–कल्पितस्य द्वैतस्य शुक्तिरजतादेरिव प्रतिभासमात्रशरीरस्य[1] विषयः ततोऽन्यस्य तत्कल्पितस्य कल्पितत्वानुपपत्तेरस्त्यर्थस्यैव[2] च परमार्थस्य प्रमाणगम्यत्वात् प्रमाणस्य चानधिगतार्थगन्तृत्वात् सन्नेवाज्ञात[3] इति।

यद्वा, जाग्रद्दशायामपि सर्वोऽर्थो **घटपटादिलक्षणस्स्व**बुद्धिजन्मनः प्रागज्ञातः **पूर्वोक्तयुक्तिभिरेकेनै**व सता संश्च **तयैव च रीत्या सन्नेवाज्ञात इति।**

है।।७।। सुषुप्ति के अनुभव से भावरूप अज्ञान सिद्ध होता है क्योंकि सब का यह अनुभव है कि कुछ नहीं जाना जा रहा जो 'मैंने कुछ नहीं जाना' इस अनुसन्धान से सिद्ध है। उसे ज्ञानाभाव से गतार्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि उसे सामान्यतः सब ज्ञानों का अभाव कहने पर उस अज्ञान-विषयक ज्ञान से ही विरोध होता है और यत्किंचिज्ज्ञानाभाव मानने पर अतिव्याप्ति तथा अनुभव-विरोध होता है। अतः बलात् भावरूप अज्ञान स्वीकारना पड़ता है। वह परिणामी उपादान जगत् का है। अतः शंका के दोनों अंश निराकृत हो गये। जब वह अज्ञान है तो वाक्य से उत्पन्न प्रमा उसे निवृत्त करेगी इसमें कोई आपत्ति नहीं रह जाती। जिस कारण से सुषुप्ति के अनन्तर समस्त प्रपंच का उदय होता है, यह मानना आवश्यक है कि तब उसी में प्रपंच लीन रहता है। अभावोपादानकता व अभाव में कार्य का लय संभव न होने से व सौषुप्तानुभव से भावरूप अज्ञान सिद्ध होने से उसमें ही लय स्वीकार्य है। एवं च अर्थ की अज्ञातरूप में अवस्थिति बताकर भावरूप अज्ञान सिद्ध कर दिया। इस पर यह अभ्यधिका शंका हुई कि ऐसा है तब अज्ञान घटादिविषयक मान लिया गया एवं च अपसिद्धान्त हो गया? तब स्पष्ट किया कि सदभिन्न ही सर्वप्रपंच तब है अतः सद्विषयकता का नियम भंग नहीं हुआ।

अज्ञान की भावरूपता को सरल रीति से पञ्चपादिकाकार ने कहा है—'अज्ञानमिति च जडात्मिका अविद्याशक्तिः ज्ञानपर्युदासेन उच्यते' (पृ. ८८ कलिकाता)। नञ् जिससे अन्वित होकर तद्भिन्न-तत्सदृश का जब बोध कराये तब 'पर्युदास' ऐसा व्यवहार होता है। जैसे अब्राह्मण कहने पर ब्राह्मणभिन्न ब्राह्मणसदृश क्षत्रियादि का

---

१. अत्रापि त्रुटिर्भाति। चन्द्रिकायाम्—'शरीरस्य प्रतिभासदशायां स्वकल्पनाधिष्ठानसन्मात्रातिरेकेण स्वरूपेणाऽवस्थानाऽसम्भवाच्च। तथा च, सुषुप्तिदशायाम् **एकेनैव सता** सर्वस्य सत्त्वं, स एव च सन्नादेरज्ञानस्य विषयाकांक्षस्वभावस्य विषयः, ततोऽन्यस्य तत्कल्पितस्य तद्विषयत्वानुपपत्तेः।' इति लेखः। २. अधिष्ठानस्यैवेति भावः।
३. सद् ब्रह्मैवाज्ञातम् इति भावः। ब्रह्मैवाज्ञानस्याप्यधिष्ठानम्।

'सन्नज्ञातो भवेत्तत' इत्युक्तमधस्तनेन श्लोकेन। कोऽसौ सन्नज्ञातः? इत्यपेक्षायां, तत्स्वरूपप्रतिपादनायाह–

प्रमित्सायां य आभाति स्वयं मातृप्रमाणयोः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अथवा, संसारदशायां नामरूपादिलक्षणस्सर्वोऽर्थः प्रागात्मविद्योदयात्तत्त्वतोऽपरिज्ञानात् अत[1] एव, तथैकेनैव स्वानुगतेन सता संश्च **प्रत्येकं नियमेन तदनुविद्धबुद्धिबोध्यत्वात्। तथा च तदधिष्ठानभूतः सदेव[2] अज्ञात इति।।७।।**

भवत्वेवम्भूतमज्ञानं, तस्य कथं प्रतीतिरित्यत आह–प्रमित्सायामिति। **पदार्थानां प्रमित्सादशायां प्रमातरि प्रमाणे च स्फुरणात्मना स्वयमेव योऽवभासते, स्फुरति प्रमाता स्फुरति प्रमाणमिति; तदभावे च तदभावसाक्षितया**

बोध होने से अब्राह्मण पर्युदास का दृष्टान्त है। अब्राह्मण कहने से केवल 'जो ब्राह्मण नहीं' इतना ही बोध नहीं होता क्योंकि 'अब्राह्मण को लाओ' कहने पर कोई मृत्पिण्ड नहीं लाता, क्षत्रियादि को ही लाता है। उसी प्रकार अज्ञान को पर्युदास मानने पर ज्ञानभिन्न ज्ञानसदृश अर्थ का लाभ होता है। सादृश्य भावरूप से ही समझना चाहिये। किं च अज्ञान विषय-सापेक्ष होता है व अभाव विषय-सापेक्ष कभी नहीं देखा गया इत्यादि युक्तियाँ आकरों से समझनी चाहिये। जो कुछ दुर्विदग्ध पुनः पुनः लांछन लगाते हैं कि अनाद्यग्रहण से भिन्न भावरूप अविद्या ग्रन्थकार को संमत नहीं, वह असांप्रदायिक दुराग्रहमात्र होने से उपेक्ष्य ही है। यहाँ स्पष्ट ही 'अज्ञानं हि नाम ज्ञानाभवः' पूर्वपक्ष रखा है जो इससे भिन्न भावरूप मूलाज्ञान ग्रन्थकार-संमत है यह सिद्ध करता है; तब 'न वक्तुं पार्यते केनापि सचेतसा ग्रन्थाक्षराण्यनुसरता' कैसे कहा जा सकता है? अतः यही ग्रन्थार्थ है कि सौषुप्तानुभव-सिद्ध भावरूप अज्ञान है जो वाक्यजन्य वृत्ति द्वारा सविलास नाश्य है।

पूर्वश्लोक में कहा कि सदात्मा ही अज्ञात रहता है। वह सद्रूप कौन है इस प्रश्न के उठने पर उसका स्वरूप श्लोक द्वारा बताते हैं—**प्रमित्सा होने पर जो प्रमाता और प्रमाण में स्फुरणरूप से भासता है और प्रमातादि के न होने**

---

१. 'अज्ञान' इति पठनीयम्। २. सन्नेव–इति पठनीयम्।

स्वमहिम्ना च यस्सिद्धः सोऽज्ञातार्थो[1]ऽवसीयताम्॥८॥

अत्र केचिदाहुः। यत्किञ्चिदिह वाक्यं लौकिकं वैदिकं वा तत् सर्वं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सुषुप्त्यादौ स्वभावादेव यः स्फुरति, सोऽयमज्ञातोर्थः, तेन स्वतस्सिद्धसाक्षिचैतन्यसिद्धमज्ञानं, प्रमाणनिवर्त्यस्य प्रमाणसिद्धतानुपपत्तेरित्यर्थः।।८।।

तत्त्वमस्यादिवाक्यादवाक्यार्थतां प्रतिपद्यत इति यदुक्तं[2] उपायान्तरादवाक्यार्थप्रतिपत्तेरित्याक्षिपति–अत्रेति। **कुतस्तर्ह्यवाक्यार्थ-**

पर उनके अभाव के साक्षी रूप से स्वस्वरूपात्मना भासता है वही अज्ञान का विषय है यह निश्चय करना चाहिये॥८॥ एवं च अज्ञान को साक्षिसिद्ध बता दिया। प्रमित्सा का अर्थ है प्रमा की इच्छा। कुछ व्याख्याता पूर्वश्लोक में भावरूप अज्ञान की सविषयता का प्रसंग न मानने के कारण अज्ञान की साक्षिसिद्धता को ग्रन्थार्थ नहीं मानना चाहते, पर पूर्वश्लोक में ही उनकी मान्यता खण्डित हो जाने से प्रस्तुत आक्षेप भी निराकृत हो गया।

इस प्रकार तार्किकों के प्रश्न उत्तरित हो चुकने पर कुछ समुच्चयवादी जो ग्रन्थारम्भ में (३.२) यह कहा था कि वाक्यार्थ-ज्ञान से अव्यवहार्य शिवरूपता प्राप्त होती है, उस पर शंका उठाते हैं—लौकिक व वैदिक सभी वाक्य संसर्गरूप वाक्यार्थ का ही बोध कराते हैं। अतः तत्त्वमस्यादि वाक्य से ब्रह्म से अपने सम्बन्ध को जानकर तब तक ध्यान करना चाहिये जब तक संसर्गरूप वाक्यार्थ से भिन्न प्रत्यगात्मा को विषय करने वाला 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अखण्ड बोध न उत्पन्न हो। उसके उत्पन्न होने से उसी से नित्यानुभवरूप मोक्ष प्राप्त होता है। केवल वाक्यार्थ-ज्ञान अविद्यानिवृत्ति द्वारा मोक्ष का कारण नहीं। संसर्ग का तात्पर्य सामान्यतः सम्बन्ध से है।

वाक्यार्थ के विषय में तन्त्रवार्तिककार ने दो पक्ष रखे हैं—प्रथम उस मत के अनुसार जो व्यक्ति को पद का अर्थ मानते हैं व द्वितीय उसके अनुसार जो सामान्य या आकृति को पद का अर्थ मानते हैं। यही भेद आचार्य पतञ्जलि ने 'समर्थः पदविधिः' सूत्र

---

१. 'स एवात्मा प्रमाणजन्यज्ञाननिवर्त्यावरणाज्ञानविषयत्वादज्ञातार्थ' इति भावः।

२. 'यदुक्तं, तदयुक्तम्, उपाया···' इति चन्द्रिकानुसारी पाठः।

संसर्गात्मकमेव[1] वाक्यार्थं गमयति। अतस्तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यः संसर्गात्मकं 'अहं ब्रह्म' इति विज्ञाय तावन्निदिध्यासीत

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रतिपत्तिरित्यत आह–अत इति। वाक्यजं विज्ञानं मोक्षसाधनमपि न

के भाष्य से सूचित किया है। प्रथम मत का कहना है कि भेद वाक्यार्थ होता है। अभिप्राय यह है कि 'शुक्लो गौः' कहने पर सभी शुक्ल व्यक्तियों का और सभी गो व्यक्तियों का उपस्थापन तो पद ही कर देता है। जब सभी गोव्यक्तियाँ गोपद से कह दी गई तो शुक्ल गोव्यक्ति भी उस पद से कह ही दी गयी। एवं च शुक्लत्वसंसर्ग (या शुक्ल सामाधिकरण्य)। तो पदार्थ ही हो गया। वाक्य भी वही कहे तो पुनरुक्ति होगी अतः वाक्य का अर्थ कृष्णादिभेद है। अतः कहते हैं कि इस मत में भेद वाक्यार्थ है। भाट्टश्लोक है—'भेदो नाम पदार्थानां व्यवच्छेदः परस्परम्। स च प्रतिपदार्थत्वात् नैकत्वं प्रतिपद्यते।'।२.१.४६।। दूसरी ओर आकृति को पदार्थ मानने वाले मीमांसकादि मत में 'शुक्लो गौः' कहने पर शुक्लत्व और गोत्व पदार्थ हैं व संनिधानादि से उनका संसर्ग, शुक्लत्व व गोत्व का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध, वाक्यार्थ है।

अतः जब संसर्ग पदार्थ होगा तब भेद वाक्यार्थ होगा, जब भेद अर्थलभ्य या अनुमेय होगा तब संसर्ग वाक्यार्थ होगा। कैयट ने एक पक्ष में संसर्ग को अनुमेय मानकर भेद को वाक्यार्थ और दूसरे पक्ष में भेद को अनुमेय मानकर संसर्ग को वाक्यार्थ बताया है—'भेदः संसर्गाऽविनाभावित्वात् अनुमीयमान-संसर्गः; संसर्गो वा भेदाऽविनाभाव्यनुमेयभेदः' ('समर्थः पदविधिः' सूत्र पर पृ. ५२१ झज्जर.)।

इसकी अपेक्षा इन्हीं पदों का भिन्नव्याख्यान शास्त्रप्रकाशिका में मिलता है। सम्बन्धवार्तिक है—'अन्यत्रैव न चाप्यत्र वाक्यार्थो भेदलक्षणः। संसर्गलक्षणो वापि ब्रह्मात्माऽभेदतो भवेत्।' २०२ पृ. १६७।। जिस पर आनन्दगिरि स्वामी कहते हैं—'गामानयेत्यत्र क्रियाकारकसम्बन्धभेदो वाक्यार्थः, नीलमुत्पलमित्यत्र समानविभक्तिपदोक्तपदार्थ-संसर्गो वाक्यार्थः।' अर्थात् जहाँ नाना पदार्थों का भेद-घटित सम्बन्ध हो वहाँ भेद वाक्यार्थ है व जहाँ अभेदघटित सम्बन्ध हो वहाँ संसर्ग वाक्यार्थ है। अभेदघटित इस दृष्टि से कि न्यायमत में तो नीलकमल सुनने पर

---

१. 'सामानाधिकरण्यस्य प्रसक्तत्वात्सर्वं संसर्गात्मकमेवेत्युच्यते। 'एष त आत्मा' इत्यादौ तु विशिष्टो वाक्यार्थः'। (विद्यासुरभिः)

नीलाभिन्नोत्पल का बोध होगा और हमारे मत में भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्यघटित बोध होगा। इस व्याख्या का हृदय है कि 'भेदलक्षणः' का अर्थ है संसर्ग और 'संसर्गलक्षणः' का अर्थ है विशिष्ट। इसका आधार वाक्यवृत्ति का वचन समझा जा सकता है—'संसर्गो वा विशिष्टो या वाक्यार्थो नात्र सम्मतः। अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।'।।३८।। किन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि वाक्यवृत्तिटीका में व्याख्या का ढंग उल्टा कर दिया है—'नीलोत्पलवत् पदार्थसंसर्गो वा, गामानय इति वाक्यवत् तद्विशिष्टपदार्थो वा किमति वाक्यार्थो न भवतीत्याशंक्याह-संसर्गो वेति।' अतः यही प्रतीत होता है कि वेदान्ताचार्यों की दृष्टि में इन दोनों में—भेदवाक्यार्थपक्ष एवं संसर्गवाक्यार्थपक्ष में—स्वरूपतः कोई अन्तर नहीं। तन्त्रवार्तिक या महाभाष्य के भेद को यहाँ लिया ही नहीं गया है। संसर्ग को ही दो प्रकार से समझा गया है।

किन्तु संसर्ग को एक अन्य प्रकार से भी समझा गया है। संसर्ग का एक रूप तो यह है कि वाच्य से अतिरिक्त योग्य पदार्थों से अन्वित (सम्बद्ध) वाच्यार्थ की उपस्थिति और दूसरा रूप है कार्य से अन्वित वाच्यार्थ की उपस्थिति। शालिक नाथमिश्र ने स्पष्ट कहा है—'आकांक्षासन्निधिप्राप्तयोग्यार्थान्तरसंगतान्। स्वार्थानाहुः पदानीति व्युत्पत्तिः कांक्षिता मया'।। पंजिका पृ. ३८४।। 'यद्यदाकांक्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते। तदन्वितः पदेनार्थः स्वकीयः प्रतिपाद्यते'।।तत्रैव।। तथा 'एकयैव आकांक्षित-संनिहित-योग्यार्थान्वितस्वार्थाभिधानशक्त्या प्रतियोगिभेदेन कार्यभेदोपपत्तेः' (पृ. ३९४)। यही विचार अष्टम वर्णक का विषय है जैसा कि नवम वर्णक के प्रारम्भ में वृत्तकीर्तन करते हुए आचार्य प्रकाशात्मपाद कहते हैं—'लोके पदानां योग्येतरसंसृष्टस्वार्थप्रतिपादने सामर्थ्यमंगीकृत्य भूतेप्यर्थे प्रामाण्योपगमेन··· प्रमाणान्तराभावात् विध्यनुसारेणैव प्रामाण्यं वक्तव्यमित्याशंक्य नेति प्रतिपादितम्' (पृ. ७३४ मद्रास)। अर्थात् शब्द योग्येतर-संसृष्ट स्वार्थ-प्रतिपादक हैं यह तो स्वीकार्य है किन्तु एतावता मानान्तरसापेक्षार्थ-प्रतिपादक हैं यह स्वीकार्य नहीं, यह अष्टमवर्णक में विचार किया। 'अंगीकृत्य' में किसी अस्वारस्य की शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि संक्षेपशारीरक में भी अन्विताभिधान को श्रेयान् स्वीकारा है तथा न्यायरत्नावली में ब्रह्मानन्द जी ने भी कहा है—'शब्दधीजननसामर्थ्यरूपा शक्तिः पदानां इतरान्वितघटत्वादावेव' (पृ. २०२ पं. १० प्रक.द्वा.)।

संसर्ग का द्वितीय रूप यह है कि पद कार्यान्वितस्वार्थ का बोधक है। यह प्रभाकर ने साग्रह प्रतिपादित किया है। पंचिकाकार कहते हैं—

'(प्रमाणान्तरेणाऽप्रतीतश्शब्दार्थः) नियोगार्थ एव। ···पदान्तराणामपि तदन्वितस्वार्थपरतयैव व्युत्पत्तेः।··· अर्थवादा अपि विधेयस्तुतिं उत्पादयन्तः स्तुतिविषयविधेयान्वितनियोगप्रतिपत्तिपरा एव इति कृत्स्न एव वेदोऽपूर्वे कार्यात्मनि प्रमाणम्' (प्र.पं.पृ. २३५-६)। गौडस्वामी ने भी यह प्रभाकरमत बताया है—'पदानां कार्यान्वितार्थशाब्दानुभवं प्रत्येव हेतुत्वस्य क्लृप्तत्वात्' (न्या.रत्न.पृ. २०१ प्र.द्वा.)। यह वेदान्ती को अस्वीकार्य है व इसी का निराकरण नवम वर्णक का विषय है जैसा कि विवरणाचार्य ने कहा—'इदानीं कार्यसंसृष्टस्वार्थे शब्दसामर्थ्यमिति मन्वानाः कार्यशेषतयैव भूतेप्यर्थे प्रामाण्यमिति प्रत्यवतिष्ठन्ते' (पृ. ७३५ मद्र.)। यही मत ब्रह्मदत्त का है व इसका विस्तृत खण्डन सम्बन्धवार्तिक (६९७-८०८) में उपलब्ध है। आनंदगिरि जी ने ब्रह्मदत्त का नाम लेकर इस श्लोक का अवतरण किया है—'नियोगपक्षमाश्रित्य विध्यर्थासंभवो यथा। ऐकात्म्यसिद्धौ यत्नेन तथात्र प्रतिपाद्यते'।। पृ.१५०।। साक्षात्कार के लिये प्रसंख्यानविधि मानने पर वेदान्तों का ऐकात्म्य में तात्पर्य नहीं रह सकता। अतः इसी मत के अनुयायी शालिकनाथ ने घोषित किया है—'वेदान्तानामपि आत्मा ज्ञातव्य इत्यपुनरावृत्तये समाम्नातेन विधिना एकवाक्यतामाश्रित्य कार्यपरत्वमेव वर्णनीयम्।··· अपि च सिद्धार्थपरत्वेपि शब्दस्य न वेदान्तानां परमानन्दादिरूपत्वे ब्रह्मणः प्रामाण्यमवकल्पते[1]। तत्र हि ब्रह्मस्वरूपानुवादेन आनन्दादिविधिरास्थेयः। (प्र.पं.पृ. २४२)। यही ब्रह्मदत्त को बलात् मानना होगा। प्रसंख्यान की अप्रमाणता होने से वह ज्ञानोत्पादक नहीं हो सकता यह दोष तो है ही। किं च प्रसंख्यान को आवृत्तिरूप माना जाता है और आवृत्ति क्रिया नहीं, क्रियावृत्ति धर्म है अतः उसे कार्य कहना ब्रह्मदत्त जैसे विद्वानों को ही शोभा देता है! यदि विधि श्रवणादि-विषयक मान ले तब तो भाष्यकार की ही शिष्यावली में स्थान पा जाये। अतः यह कार्यान्वित स्वार्थबोधकपक्ष असंगत है व हेय है। इसी पक्ष को पद्मपादाचार्य ने निरस्त करने के लिये उठाया है—'यत्पुनः कैश्चिदुच्यते शाब्दज्ञानादन्यदेव ज्ञानान्तरमलौकिकं वेदान्तेषु कर्तव्यत्वेन विधीयत इति' (पृ. ३३५ मद्र.)।

यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि नियोगपरता ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मिश्र को स्वीकृत है। ब्रह्मसिद्धि में तो इस पक्ष का स्पष्ट खण्डन है व प्रकरणपंचिका में

१. ब्रह्मणः परमानन्दादिरूपत्वे वेदान्तानां प्रामाण्यमित्यन्वयः।

यावदवाक्यार्थात्मकः प्रत्यगात्मविषयोऽवबोधः 'अहं ब्रह्म' इति समभिजायते, तस्मादेव विज्ञानात् कैवल्यम् आप्नोतीति।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भवतीत्याह–तस्मादिति।

सामानाधिकरण्यादेरित्ययमर्थः–**यद्यपि 'नीलं सुगन्धि महदुत्पलमि'त्यादौ पदानां सामानाधिकरण्यं, पदार्थानां चान्योन्यविशेषणविशेष्यभावः संसर्गात्मवाक्यार्थपर्यवसायी दृष्टः तथापि 'घटाकाशो महाकाश' इत्यादौ पदसामानाधिकरण्यात् पदार्थानां विशेषणविशेष्यभावः पदार्थवाक्यार्थ-**

भी ब्रह्मसिद्धिकार की ओर से इस विषय पर पूर्वपक्ष उठाया गया है। सिद्धिकाण्ड के इन वाक्यों से स्पष्ट है कि मण्डन कार्यान्वित स्वार्थपक्षपाती नहीं—'न तावदभियोगतः प्रमाणस्य पुरुषार्थफलता। न खलु हितोपादानाऽहितहाने एव प्रमाणफले। उपेक्षामपि हि प्रमाणफलं प्रमाणविद आचक्षते। न च पुरुषार्थता प्रमाणलक्षणम्। प्रमाहेतुत्वं तु तत् (=प्रमाणलक्षणम्)। तस्मान्न पुरुषार्थाभावेन अप्रामाण्यम्। नहि प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयस्यैव पुरुषार्थता इति नियमः। प्रत्यक्षादीनि हि प्रमाणानि, न च तावत्प्रवृत्तिनिवृत्तिपराणि, सिद्धवस्तुविषयाणि, न च पुरुषार्थतां जहाति' (ब्रह्मसिद्धि पृ. १५८-१५९)। अतः मण्डनमत को ब्रह्मदत्त या कार्यान्वित बोध पक्ष से विलक्षण समझना आवश्यक है। इनके मत में शब्द से तत्त्वज्ञान उत्पन्न तो होता है पर जब तक उसका संस्कार पटु या दृढ न हो जाये तब तक वह कार्यकारी नहीं हो पाता 'जातेऽपि तत्त्वदर्शने अनाहिते च पटौ संस्कारे द्रढीयसि च मिथ्यादर्शनजे संस्कारे निश्चया अपि मिथ्यार्था भवन्ति। तस्माज्जातेपि प्रमाणात् तत्त्वदर्शने अनादिमिथ्यादर्शनाभ्यास-परिनिष्पन्नस्य द्रढीयसः संस्कारस्य अभिभवाय उच्छेदाय वा तत्त्वदर्शनाभ्यासं मन्यन्ते' (पृ. ३६)। भाष्यकारीय मत में दृढज्ञान और अदृढज्ञान का जो भेद है, उसे ही मण्डन स्वीकारते हैं। अन्तर इतना ही है कि हमारे सिद्धान्त में ज्ञानोत्पत्ति के बाद असंभावनादि की निवृत्ति के लिये यत्न है जबकि मण्डनमत में दृढज्ञान के लिये यत्न है। अतः सैद्धान्तिक रूप में भेद है व दृष्टिकोण का भी भेद है क्योंकि भाष्यमत में ज्ञान श्रवणज ही है, प्रतिबंधक यदि है तो उन्हें निवृत्त करना है जबकि मिश्रमत में दृढसंस्कार के लिये, अद्वैतवासना के लिये यत्न करना है; किन्तु फलतः, व्यवहारतः विशेष अन्तर

नहीं, क्योंकि वे भी किसी अन्य उपासना या कर्म का विधान नहीं करते, शाब्दज्ञान का ही अभ्यास कहते हैं—'अथात्रापि सन्ततं शाब्दं ज्ञानमनुसन्दधीत, किमन्यदुपासनमस्मात्' (पृ. १३४)। पंचमवर्णक में भाष्यकार का वचन है—'वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः।' मुण्डकभाष्यटीका में कहा है—'वाक्यार्थस्यैव पुनः पुनर्भावना युक्त्यनुसन्धानं च उपायः' (पृ. १४६(MRI))। अतः व्यावहारिक समानता नकारी नहीं जा सकती। अतः जब ब्रह्मसिद्धि का निगमनवाक्य कहता है 'शब्दात् प्रमिते ब्रह्मणि साक्षात्करणाय प्रवृत्तेरिष्टत्वात्' (पृ. १५९) तब शांकर को कोई कष्ट नहीं होता, किन्तु सिद्धिकार जब यह कहते हैं कि 'परोक्षरूपं शाब्दज्ञानं उपासनादिना साक्षात्कृतात्मतत्त्वस्य··· प्रपंचावभासो नात्मसंस्पर्शी' (पृ. १३४) तब अवश्य जिसने भाष्यसौरभ का अनुभव किया है, वह विरोध में उठ खड़ा होता है। शब्द से ही आत्मापरोक्ष हो जाता है यही वेदान्त सम्प्रदाय है, चाहे मण्डन और उनके पृष्ठसेवी इसे न माने। भट्टाचार्य की इस उक्ति को स्मरण करना चाहिये—'नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते' (श्लो.वा. २४७)। ध्यान से यदि अपरोक्ष होता है तो भ्रमात्मक ही होता है, यह निश्चित है और यदि शास्त्रप्रमाण के बल पर ध्यान से अपरोक्ष मानने का क्लेश उठाना है तो यथानुभव शास्त्रसम्मत शाब्दापरोक्ष के लाघव को छोड़ने में कौन बुद्धिमानी है!

पूर्वापर विचारने पर यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मसिद्धिकार का तात्पर्य शब्द से परोक्षता के आपादन में नहीं, केवल उपासना से दृढता के विधान में है और संभवतः इसीलिये आचार्य से परवर्ती कुछ एकदेशी व्याख्याताओं ने सिद्धिकार और भाष्यकार के तालमेल का पर्याप्त सफल प्रयास किया। किन्तु जैसा पूर्व में देखा था, मिश्रमत का दृष्टिकोण आधारभूतरूप से भाष्यमत से पृथक् है व इसीलिये अनेक विषयों में सर्वथा विरुद्ध मान्यतायें हैं जिन्हें यद्यपि तालमेल बैठाने वालों ने आंशिक ग्रहण व आंशिक त्याग की नीति से संगत करने का प्रयास किया है तथापि सिद्धिग्रन्थ में जैसा सिद्धान्त उपलब्ध होता है, वह तो भाष्याऽनभिमत है इसमें सन्देह नहीं।

प्रस्तुत नैष्कर्म्यसिद्धि में तो ब्रह्मदत्त व मण्डन दोनों की ओर से ही पूर्वपक्ष समझा जा सकता है। मण्डनमत से 'संसर्गात्मक' का अर्थ अभेदात्मक ही करना होगा क्योंकि वे स्पष्ट कहते हैं—'तत्त्वमसीति श्वेतकेतुमुखेन अनुशासनीयाय पुरुषाय

तन्निराकरणायेदमुच्यते–

सामानाधिकरण्यादेर्घटेतरखयोरिव ।
व्यावृत्तेः स्यादवाक्यार्थः साक्षान्नस्तत्त्वमर्थयोः ॥९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

योर्लक्ष्यलक्षणभावेन अखण्डार्थपर्यवसायी दृष्टः। तथाहि घटविशिष्टाकाश-तदवच्छिन्नाकाशयोः परस्परसंसर्गे विरोधादविरोधाय घटाकाशे परिच्छिन्नत्वं महाकाशे च महत्त्वधर्मं व्यावर्त्य, लक्षणयाऽऽकाशस्वरूपमात्रपर्यवसायित्वं तत्र पदानां दृष्टम्। एवं तत्त्वमस्यादिवाक्यगतपदसामानाधिकरण्यात् तत्त्वमर्थयो-र्विशेषणविशेष्यभावात् संसर्गप्राप्तौ विरोधात् त्वमर्थगतदुःखित्वस्य तदर्थगत-पारोक्ष्यस्य च व्यावृत्तेः अखण्डैकरसस्य वस्तुनो वाक्यप्रतिपिपादयिषितस्य पदार्थाभ्यां लक्षणया वाक्यादेवावाक्यार्थप्रतिपत्तेर्न तत्प्रतिपत्तौ निदिध्यासना-पेक्षेति।।९।।

श्रुत्या अभिन्नमुपदिश्यते; अभिन्नं हि तद् अनुशासनीयात्। भेदेन च प्रतीयमानं न पुरुषार्थः' (पृ. १५९)। एवं निदिध्यासन को ही मण्डनीय उपासना समझना होगा जिसे पंचदशी में बताया है—'ताभ्यां निर्विचिकित्सेर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्। एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।।'१.५४।। भाष्यकारीय दर्शन से दोनों ही विपरीत होने से पूर्वपक्षकोटि में समझे जा सकते हैं।

उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिये कहते हैं—**जिस प्रकार घट-विशिष्ट आकाश और घटाऽनवच्छिन्न आकाश की[1] समानाधिकरणता आदि से परिच्छिन्नत्वांश और महत्त्वधर्मांश की व्यावृत्ति कर आकाश के स्वरूप मात्र में पर्यवसान होता है, उसी प्रकार तत्त्वमस्यादिवाक्यगत पदों के सामानाधिकरण्य आदि से दुःखित्वादि और पारोक्ष्यादि की व्यावृत्ति कर वाक्य स्वयं ही अवाक्यार्थरूप अखण्डार्थ बोध कर देता है यह हमारा सिद्धान्त है अतः निदिध्यासनादि की अपेक्षा नहीं।**।९।। सामानाधिकरण्यादि का तात्पर्य तृतीय श्लोक में बताये सामानाधिकरण्य, विशेष्यविशेषणभाव और

---

१. द्र. कल्पतरु पृ. ९५—'उपाधिभेदभिन्नोर्थो येनैकः प्रतिपाद्यते। तदपि स्यादखण्डार्थं महत्खं कुम्भखं यथा'। एवं 'घटकाशो महाकाशइत्युक्तेश्चैक्यधीर्यथा (वार्तिक)।

कुतोऽवाक्यार्थोऽवसीयते इति चेत्? तत्प्रतिपत्त्यर्थं विशेषण-विशेष्ययोः सामर्थ्योक्तिः[१]–

निर्दुःखित्वं त्वमर्थस्य तदर्थेन विशेषणात्।
प्रत्यक्ता च तदर्थस्य त्वंपदेनास्य संनिधेः ॥१०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एकपदवाक्यस्याभावात् बहूनां पदानामेकार्थत्वे पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् अपुनरुक्तार्थानां कथमखण्डार्थपर्यवसायित्वमित्याक्षिपति–कुत इति। **अन्यव्यावृत्तिमुखेन एकार्थपर्यवसायिनां पदानां लक्ष्यार्थाभेदेऽपि व्यवच्छेद्यभेदादपुनरुक्तार्थत्वसम्भवात् सम्भवत्येव वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति दर्शयति उत्तरश्लोकेनेत्याह–**तत्प्रतिपत्त्यर्थमिति। त्वमर्थस्य **चेतनस्य**

लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध से है। अपरोक्ष वस्तु का शब्दज्ञान अपरोक्ष होता है यह सुखी को कहे गये 'त्वं सुखी' वाक्य में या 'दशमस्त्वमसि' वाक्य में देखा गया है। अतः तत्त्वमस्यादि वाक्य भी आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। उस ज्ञान के लिये आवृत्ति या उपासना की आवश्यकता नहीं। हाँ, जो संशय-विप्रतिपत्ति हो उसे निवृत्त करने के लिये चाहे वे आवश्यक हों। इस प्रकार जो यह प्रश्न किया था कि वाक्य से संसर्गात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है जो निदिध्यासन से अखण्डाकार होता है, उसका निराकरण हो गया क्योंकि दृष्टान्त सहित स्थापित कर दिया कि वाक्य संसर्गात्मक ही बोध उत्पन्न करे यह नियम नहीं जैसे यह नियम नहीं कि वाक्य परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न करे।

पुनः संसर्गवादी पूछता है कि वाक्य में नाना पद अवश्य होते हैं, वे भिन्नार्थक होते हैं तथा भिन्नार्थक पद अखण्डार्थ-बोधक नहीं हो सकते अतः संसर्ग को ही वाक्यार्थ माना जा सकता है, अवाक्यार्थरूप अखण्डार्थ तत्त्वमस्यादि का बोध्य है, यह कैसे? इसका उत्तर देने के लिये विशेष्यबोधक और विशेषण-बोधक शब्दों का कृत्य बताते हैं—**त्वं पदार्थ को तत्पदार्थ से विशेषित करने के कारण दुःखिता व्यावृत्त हो जाती है तथा त्वम्पदार्थ की संनिधि से तत्पदार्थ में प्रतीयमान परोक्षता व्यावृत्त हो जाती है। एवं च निर्दुःख प्रत्यग् अखण्डात्मा का बोध हो जाता है।।१०।।**

---

१. विशेष्यविशेषणवाचकपदयोरखण्डार्थप्रतिपादनसामर्थ्यं यथा तथोच्यत इति भावः।

उक्तं सामानाधिकरण्यं विशेषणविशेष्यभावश्च संक्षेपतः।
अथ लक्ष्यलक्षणव्याख्यानायाह–

कूटस्थबोधप्रत्यक्त्वमनिमित्तं सदात्मनः।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रसिद्धत्वादुद्दिश्यमानस्य विधीयमानतत्पदार्थेन विशेषणात्तद्विरुद्धं दुःखित्वं निरस्यते। तद्वत् परोक्षत्वेन प्रतीयमानस्य तत्पदार्थस्य विशेष्यवाचिना त्वंपदार्थेन संनिधेः **पारोक्ष्यव्यावृत्त्या प्रत्यक्ता भवति। तत्र कुतः पौनरुक्त्यं, कुतश्चाखण्डार्थाप्रतिपत्तिरित्यर्थः।।१०।।**

उत्तरश्लोकगतार्थपरत्वात्कथमनेनावतारयति[१]–उक्तमिति। **उत्तरत्रापि सामानाधिकरण्यादौ[२] विशेष्या व्याख्यातव्या इत्यभिप्रेत्य** सङ्क्षेपत **इति व्याख्यातम्। गिरिशृङ्गवन्निश्चलतया तिष्ठतीति कूटस्थः[३] कूटस्थश्चासौ बोधश्चेति कूटस्थबोधः। स चासौ प्रत्यक् चेति कूटस्थबोधप्रत्यक्। तस्य भावस्तत्त्वम्, तदिदं कूटस्थबोधत्वं प्रत्यक्त्वं** चात्मनो **लक्ष्यस्यानिमित्तं[४] निर्हेतुकं**

तात्पर्य है कि पदों का लक्ष्यार्थ एक होने पर भी अन्य-व्यावृत्ति के लिये उनका एक ही वाक्य में प्रयोग हो सकता है क्योंकि व्यवच्छेद्य भेद होने से पुनरुक्ति दोष नहीं होता। अतः अखण्डार्थ-बोधन के लिये पद पर्याप्त नहीं होते।

सामानाधिकरण्य और विशेष्यविशेषण भाव को संक्षेप में बताया। अब लक्ष्यलक्षणभाव को समझाने के लिये कहते हैं—**सद्रूपात्मा के ध्रुवशीलता, ज्ञानरूपता व साक्षादपरोक्षता, ये स्वभाव हैं। बुद्धि की ज्ञातृरूपता का और अहंरूपता का कारण बोधरूप व प्रत्यग्रूप आत्मा ही है तथा इस हेतुहेतुमद्भाव**

---

१. '…तार्थपरत्वेनाव…'—इति भवेत्पाठः।
२. आदिशब्देन विशेषणविशेष्ययोर्ग्रहणम्। विशेष्याइत्यत्र विशेषा इति पठनीयम्।
३. कूटस्थनिरूपणे पञ्चदशीकारोऽपि—
'अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते॥' (प.द. ६.२)
तत्रैव श्रीरामकृष्णः—पञ्चीकृताऽपञ्चीकृतभूतकार्यत्वेन स्थूल-सूक्ष्मरूपस्य देहद्वयस्याविद्या-कल्पितस्याधारतया वर्तमानत्वेन ताभ्यामवच्छिन्न आत्मा कूटस्थ इत्युच्यते।
'कालव्यापी स कूटस्थ' इत्यमरः (३-१-७३)।
४. 'लक्ष्यम् अनिमित्तम्' इति चन्द्रिकाकारः।

बोद्धृताऽहंतयोर्हेतुस्ताभ्यां तेनोपलक्ष्यते ॥११॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्वाभाविकमिति यावत्। अत एतदात्मनस्सदास्ति। यद्वा, सदात्मनः **परमार्थस्य भवत्वेवम् तावता प्रकृतलक्षणव्याख्याने**[1] **किमायातमित्यत आह–**बोद्धृतेति। **प्रकृताया बुद्धेस्स्वभावतो जडत्वादेव बोधशून्यायाः कूटस्थबोधो बोद्धृताहेतुर्वह्निरिवायसो दग्धृतायाः, तथात्मनः प्रत्यक्षत्वं पराचीनाया बुद्धेरहन्तायाः परागव्यावृत्तरूपताया हेतुः, तेन हेतुहेतुमल्लक्षणसम्बन्धेन बुद्धिगतबोद्धृताहन्ताभ्यामात्मोपलक्ष्यते। उपलक्षकत्वं च पुंसोऽहङ्कारेण साक्षिणो लक्षणादशायामहङ्कारस्य साक्षिबुद्धावनन्वयात्। तदेवं बुद्धिविशिष्टस्य त्वंपदवाच्यस्य लक्षकत्वं केवलस्य लक्ष्यत्वमुपपन्नमित्यर्थः।।११।।**

यदि बुद्धेर्बोद्धृताप्रत्यक्त्वे प्रत्यक्चैतन्यगतबोद्धृताप्रत्यक्त्वनिमित्ते, तर्हि

सम्बन्ध से बुद्धि में होने वाली ज्ञातृरूपता और अहंरूपता द्वारा आत्मा की लक्षणा हो जाती है। अतः बुद्धिविशिष्ट लक्षक व केवल आत्मा लक्ष्य है।।११।। क्योंकि बोध्यसम्बन्ध वाली वस्तु में लक्षणा होती है इसलिये सम्बन्ध को स्पष्ट किया। लक्षणा को बताते हुए लोचन में कहा है—'मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षा अर्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः' आदि से प्रयोजनादि समझने चाहिये। यद्यपि मूल में उपलक्षणा कही है, तथापि लक्षणा से ही तात्पर्य है। अथवा उपलक्षणा में ही तात्पर्य है। जो व्यावर्तक अपने सम्बन्ध को उदासीन बनाकर व्यावर्त्यगत किसी धर्म का उपस्थापन कर व्यावृत्ति-बुद्धि का जनक होता है उसे उपलक्षण कहते हैं—'येन च स्वोपरागमुदासीनं कुर्वता विशेष्यगतव्यावर्तकधर्मोपस्थापनेन व्यावृत्तिबुद्धिर्जन्यते, तदुपलक्षणम्' (अ.सि.पृ. ४४९) एवं 'विशेष्यवृत्तिधर्माऽनाश्रयत्वे सति परम्परया व्यावर्तकमुपलक्षणम्' (सिद्धान्तबिन्दु नारायणी पृ. ४८ बाक्रे.)। अतः विशेषण का उपस्थापक होकर कृतकार्य व्यावर्तक उपलक्षण होता है यह सार है। प्रकृत में भी बुद्धिगत बोद्धृता आत्मगत बोधरूपता का उपस्थापन कर आत्मा का ज्ञान कराती है अतः उपलक्षणता है यह ठीक है। यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि ज्ञानरूपता को आत्मगत विशेषता कैसे मानें क्योंकि पंचपादिकाचार्य बता चुके हैं—'आनन्दो विषयानुभवः नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः'।

आत्मरूप बोध और प्रत्यक्ता के अध्यास से होने वाले बुद्धिगत बोद्धृत्व और

---

१. प्रकृते लक्ष्यलक्षणव्याख्याने–इति चन्द्रिकायाम्।

बुद्धेः कूटस्थबोधप्रत्यक्त्वनिमित्ते बोद्धृताप्रत्यक्त्वे ये त्वसाधारणे, तयोर्विशेषवचनम्–

बोद्धृता कर्तृता बुद्धेः कर्मता स्यादहंतया।
तयोरैक्यं यथा बुद्धौ पूर्वयोरेवमात्मनि ॥१२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तयोर्विशेषो वक्तव्यः। अन्यथा हेतुहेतुमद्भावायोगादित्याशङ्क्याह–बुद्धेरिति। बुद्धेर्बोद्धृता नाम विषयाकारविज्ञानपरिणामाश्रयत्वं, न तत्त्वात्मवत् कूटस्थरूपबोधरूपात्मता। तस्य अहन्तया प्रत्यक्तया कर्मता स्यात्। आत्मन्यध्यस्तत्वेनाऽऽत्मनाऽवभास्यत्वमेव स्यात्। न त्वात्मन इवाशेषविषयव्यावृत्तनिरुपचरितप्रत्यक्त्वं, कतिपयदेहेन्द्रियविषयापेक्षया तस्याः प्रत्यक्त्वात्। तर्हि बोद्धृताप्रत्यक्तयोरत्यन्तं भेद एवात्मनीति? नेत्याह–तयोरिति। बुद्धेरपि बोद्धृतैव प्रत्यक्ता प्रतियोगिनोर्बोध्याकारबाह्याकारयोर्भेदाद् भिन्नवद् व्यपदिश्यते, तद्वदात्मन्यपि कूटस्थबोधप्रत्यक्तयोर्न वास्तवो भेद इत्यर्थः।।१२।।

प्रत्यक्त्व की विशेषता श्लोक द्वारा बताते हैं—**विषय के आकार में परिणत होना बुद्धि की बोद्धृता है, न कि आत्मा की तरह निर्विकार बोधरूपता। 'मैं अमुक' इस आकार में साक्षी के प्रति विषय होना बुद्धि की प्रत्यक्ता है, न कि आत्मा की तरह निर्विशेषरूप से स्वप्रकाशता। बुद्धि की बोद्धृता और प्रत्यक्ता परस्पर विलक्षण विशेषतायें नहीं, बोध्य की दृष्टि से बोद्धृता कह दी जाती है और देहादि बाह्यवस्तुओं की अपेक्षा आन्तर होने से प्रत्यक्ता कह दी जाती है, है तो बोद्धृता ही प्रत्यक्ता। इसी प्रकार आत्मा की ध्रुवशीलता, ज्ञानरूपता, प्रत्यक्ता आदि विभिन्न नहीं हैं। परिवर्तनशील की दृष्टि से ध्रुवता कही जाती है, जड की अपेक्षा ज्ञानरूपता कही जाती है, इदंकारास्पद की अपेक्षा प्रत्यक्ता कही जाती है।।१२।।** आत्मबोध व बुद्धिबोध का भेद बताने की अभिलाषा से यह श्लोक कहा गया क्योंकि अभेद होने पर कारणकार्यता व अतएव लक्ष्य-लक्षणता न हो पायेगी। साक्षी द्वारा बुद्धि अव्यवधानेन विषय की जाती है अतः अन्य सबकी अपेक्षा प्रत्यक् है क्योंकि अन्य वस्तुएँ बुद्धि आदि के व्यवधान से विषय होती हैं। यद्यपि रज्जुसर्पादि प्रातिभासिक पदार्थ

'यथा बुद्धौ पूर्वयोरेवमात्मनि' इत्यतिदेशेन बुद्धिसाधर्म्यविधानात्, नानात्वप्रसक्तौ तदपवादार्थमाह–

धर्मधर्मित्वभेदोऽस्याः सोऽपि नैवात्मनो यतः ।
प्रत्यग्ज्योतिरतोऽभिन्नं भेदहेतोरसम्भवात् ॥१३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यथा बुद्धेर्बोद्धृताप्रत्यक्त्वे, एवं पूर्वयोर्बोधप्रत्यक्तयोः[1] परस्परमैक्यमित्यतिदेशाद् आत्मा धर्मी, ते च धर्मा इति भेदाशङ्कायां तन्निरासाय उत्तरश्लोक इत्याह–यथेति। सोऽपीति। **सिद्धान्तैकदेशिभिरभ्युपगतत्वेन सम्भावितोऽपीत्यर्थः[2]।।१३।।**

बुद्धि की अपेक्षा के बिना ही साक्षी द्वारा विषय होते हैं तथापि क्योंकि उनमें आत्माध्यास नहीं होता इसलिये उन्हें प्रत्यक्-श्रेणी में नहीं रखा जाता। एवं च प्रत्यक् पक्ष में आने के लिये उसमें अहम्बुद्धि भी अपेक्षित है। अतः प्रत्यक्ता के विचार में देहादि को स्थान मिलता है, घटादि को नहीं। गौणात्मबुद्धि घटादि में भी सम्भव होने से घटादि का विचार भी असंगत नहीं। केवल आत्मावभास अहंकार नहीं किन्तु किसी उपाधि के साथ ही अवभास अहंकार पद से कहा जाता है। अहंकारटीका में स्पष्ट कहा है— 'अस्मत्प्रत्ययत्वाभिमतोऽहंकारः। स चेदमनिदं वस्तुगर्भः' (पृ. ८६ मद्र.)।

'जैसे बुद्धि में बोद्धृतादि हैं वैसे पूर्वोक्त बुद्धिगत बोद्धृत्व व प्रत्यक्त्व हेतुओं से आत्मा में बोधादि हैं' इस प्रकार बुद्धि से समानता बताई जाने पर, बोधादि आत्मा में भिन्न होकर रहते हैं यह प्रतीत हो सकता है, उसके निषेध के लिये कहते हैं—**धर्म और धर्मवान् का भेद बुद्धिस्थल में है, वह भी आत्मा में नहीं क्योंकि आत्मा अभिन्न ज्ञानरूप है। अतः भेद का कोई कारण न होने से बोधादि से आत्मा का कोई भेद नहीं है।।१३।।**

'भेद का कोई कारण नहीं' इसे श्लोक द्वारा समझाते हैं—**किसी भी अवस्था में बोधरूपता और प्रत्यग्रूपता (निजरूपता) का भेद नहीं देखा गया और न यही देखा गया है कि बोधरूपता व प्रत्यग्रूपता में से एक हो व दूसरा न हो। अतः**

---

१. बोधेति कूटस्थबोधेति भावः।

२. यतः अवेद्यस्य आत्मनः सिद्धान्तैकदेशिभिरभ्युपगतत्वेन सम्भावितोऽपि स भेदो न सम्भवतीत्यभिप्रायः।

भेदहेत्वसंभवं दर्शयन्नाह–

न कस्याञ्चिदवस्थायां बोधप्रत्यक्त्वयोर्भिदा ।
व्यभिचारोऽथवा दृष्टो यथाहंतद्विदोः सदा ॥१४॥
यस्मादज्ञानोपादानाया एव बुद्धेर्भेदो नात्मनः, तस्मात् एतत्

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

'यथाऽहंतद्विदोरि'ति वैधर्म्यदृष्टान्तः। अहङ्कारतत्साक्षिणोर्भास्यभासकभावेन यथा भेदो, यथा वा सुप्तादौ व्यभिचारो, न तथेत्यर्थः।।१४।।

प्रत्यगात्मनस्साक्षात्त्वम् **अपरोक्षत्वम्, द्वैतशून्यत्वं कूटस्थबोधत्वेन**

जैसे अहंकार और साक्षी के भेददर्शन, व सुषुप्ति में साक्षी के रहते अहंकार के न रहने से यह स्वीकारा जाता है कि दोनों भिन्न हैं, वैसे आत्मा की बोधरूपता और प्रत्यक्ता में भेद मानने का कोई कारण नहीं। अतः वे अभिन्न हैं, आत्मरूप हैं।।१४।। कुछ आधुनिक व्याख्यात बारहवें श्लोक के 'ऐक्यम्' का अर्थ 'सामानाधिकरण्यम्' करते हैं व साम्प्रदायिक व्याख्या का यह कहकर निरादर करते हैं कि ग्रन्थकार ने १३वें श्लोक में जिस शंका का निराकरण किया है व १४वें में जो दृष्टान्त दिया है वह बताता है कि मूल में ऐक्य पद समानाधिकरणता-बोधक है। वे 'अहन्तातद्विदोः' से बुद्धि-धर्मभूत अहंता और बोधकर्तृत्व समझते हैं। सर्वप्रथम तो यह समझ लेना चाहिये कि दृष्टान्त का उनका स्वरूप गलत है। वे 'अहमः कर्मता तद्बोद्धुश्च कर्तृता। एवं बोद्धा बुद्धेर्न सदा कर्ता नापि अहन्तैव सदा तत्कर्म' इस प्रकार अर्थ बताते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि अहंकार बुद्धि का विषय कभी नहीं होता, साक्षी का विषय होता है। अतः 'तद्बोद्धुः' इत्यादि रूप में दृष्टान्त बन ही नहीं सकता। दूसरी बात, 'ऐक्यं' का 'सामानाधिकरण्यम्' अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं। त्रयोदश श्लोक की निराकरणीय शंका ऐक्य के यथा-श्रुतार्थ में संगत ही है क्योंकि द्वादश में बोद्धृता प्रत्यक्ता के ऐक्य का विधान किया, उनका बुद्धि से ऐक्य तो कहा नहीं, अतः बुद्धि से साम्य कहने पर धर्मधर्मिभाव की प्राप्ति होती है जिसका निराकरण त्रयोदश में किया। अतः साम्प्रदायिक व्याख्यान ही संगत व मूलसंगत है, आधुनिक कल्पना को अवकाश नहीं।

क्योंकि बुद्धि अज्ञानरूप उपादान वाली है, अतः यह सिद्ध होता है कि

सिद्धम्–

कूटस्थबोधतोऽद्वैतं साक्षात्त्वं प्रत्यगात्मनः ।
कूटस्थबोधाद् बोद्धृत्वं धीः स्वतो हीयं विनश्वरी ॥१५॥

अथाऽधुना प्रकृतस्यैव परिणामिनः कूटस्थस्य च लक्षणमुच्यते–

विशेषं कञ्चिदाश्रित्य यत्स्वरूपं प्रतीयते ।
प्रत्यभिज्ञाप्रमाणेन परिणामी स देहवत् ॥१६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

द्वैतसम्बन्धायोग्यत्वात्। बोद्धृत्वेऽपि बुद्धिवदात्मनो द्वैतसम्बन्धः किं न स्यादित्याशङ्क्य; मैवं, तस्याः स्वतो बोद्धृत्वाभावादित्याह–कूटस्थबोधादिति। **कुत एतदिति? तदाह**–स्वतो हीति। **अनित्यत्वान्न नित्यबोधात्मकत्वमित्यर्थः।।१५।।**

एवं परिणामिनाऽहङ्कारेण कूटस्थ आत्मा लक्ष्यत इत्युक्तम्। तयोर्लक्षणजिज्ञासायां तदिदानीमुच्यत इत्याह–अथेति। **घटं जानामि पटं जानाम्यहं सुख्यहं दुःखीति विशेषत्वेऽपि**[1] **य एवाहं दुःखी स एवाहमिदानीं सुखीति प्रत्यभिज्ञाय** यदेकत्वेन प्रतीयते, **बाल्ययौवनाद्यवस्थाभेदेऽपि तदनुगतदेहवत्,** स परिणामीति।।१६।।

प्रत्यगात्मा नित्यज्ञानरूप होने से सर्वभेदशून्य व अपरोक्ष स्वभाव है तथा बुद्धि का बोधकर्तृत्व आत्मा के नित्यज्ञान के कारण है, स्वयं तो वह अनित्य है, बोधरूप नहीं।।१५।। अनित्यता अबोधरूपता में हेतु है क्योंकि बोध कभी सान्त सिद्ध नहीं होता।

परिणामी अहंकार द्वारा कूटस्थ आत्मा लक्षित किया जाता है यह बताया। इस प्रकार जिनका प्रकरण चला उन परिणामी अहंकार और कूटस्थ का क्रमशः लक्षण बताते हैं—**किसी विशेषता का सहारा लेकर जो अपना रूप प्रतीत होता है वह प्रत्यभिज्ञा-प्रमाण से सिद्ध अहंकार है जो शरीर की तरह परिणामशील है।**।१६।। 'मैं सुखी', 'मैं मनुष्य', 'मैं घटज्ञानवान्' आदि प्रकार से जो अपना रूप-सुखादिविशिष्ट मैं—प्रतीत होता है, वह अहंकार है। 'जो मैं सुखी था वही मैं दुःखी हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा से उसकी एकता सिद्ध होती है। तथापि जैसे शरीर यावज्जीवन एक

१. विशेषवत्त्वेऽपि इति ज्ञानोत्तममिश्रः।

सामान्याच्च विशेषाच्च स्वमहिम्नैव यो भवेत् ।
व्युत्थायाप्यविकारी स्यात् कुम्भाकाशादिवत्तु सः ॥१७॥

आत्मनो बुद्धेश्च बोधप्रत्यगात्मत्वमभिहितम्। तयोरसाधारणलक्षणाभिधानार्थमाह–

बुद्धेर्यत् प्रत्यगात्मत्वं तत् स्याद्देहाद्युपाश्रयात् ।
आत्मनस्तु स्वरूपं तन्नभसः सुषिता[1] **यथा ॥१८॥**

श्रीभादतत्त्वप्रकाशिका

य: **पुनरशेषजडसामान्यविशेषसाक्षित्वात् तेभ्यस्स्वमहिम्ना स्वभावबलाद् व्युत्थायावस्थितः;** कुम्भाकाशादिवत् **कुम्भाद्यवच्छिन्नतयाऽवभासमानोऽप्याकाशो यथा तेभ्यस्स्वभावबलाद् व्युत्थितस्तद्वत्;** सोऽविकारी **कूटस्थः** स्यादित्यर्थः।।१७।।

एवं लक्ष्यलक्षणयोर्बुद्ध्यात्मनोर्लक्षणमभिहितम्। अधुना तयोरसाधारणे ये रूपे उपदिष्टे बोधप्रत्यगात्मत्वे, तयोर्विशेषतो लक्षणाभिधानायोत्तरश्लोक इत्याह–आत्मन **इति। तत्र तावद् बुद्ध्यात्मनोः प्रत्यक्त्वे विशेषमाह**–बुद्धेरिति।

रहते हुए भी बाल्य, यौवन आदि नाना अवस्थाओं वाला है, वैसे अहंकार भी है, क्योंकि अहंकार विशिष्टात्मक है व विशेषणभेद से विशिष्ट में भेद स्वीकारा जाता है।

अहंकार का स्वरूप बताकर अब कूटस्थ का स्वरूप बताते हैं—**'मैं, मैं' इस प्रकार अनुवृत्त प्रत्यय से तथा 'सुखी, दुःखी' इत्यादि व्यावृत्त प्रत्यय से जो स्वभाव से ही पृथक्तया अवस्थित है, वह अविकारी साक्षी ही कूटस्थ है। जैसे कुम्भादि से अवच्छिन्नरूप में अवभासमान होते हुए भी आकाश कुम्भ आदि के विकारों से सविकार नहीं होता, स्वभाव से ही आकाश अपनी उपाधियों से पृथक् रहता है, वैसे अनुवृत्त व व्यावृत्त का साक्षी स्वयं उनसे अस्पृष्ट एवं च अविकारी रहता है।**।१७।।

आत्मा और बुद्धि की बोधरूपता और प्रत्यग्रूपता का (श्लो. ११-१२ में) प्रतिपादन किया। अब क्रमशः प्रत्यग्रूपता व बोधरूपता की विशेषता बताते हैं—**बुद्धि की प्रत्यग्रूपता देहादि की अपेक्षा से है जबकि आत्मा स्वभाव से प्रत्यक् है जैसे आकाश स्वभाव से अवकाशरूप या पोल-रूप है।**।१८।। जिसका भान

१. सुषिता—'आवरणाभावात्मकता अवकाशस्वरूपते'ति सारार्थकारः।

बोद्धृत्वं तद्वदेवास्याः प्रत्ययोत्पत्तिहेतुतः ।
आत्मनस्तु स्वरूपं तत्तिष्ठन्तीव महीभृतः ॥१९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

बुद्धेः **प्रत्यक्त्वं देहाद्यपेक्षं 'य आत्मा सर्वान्तरः' इति श्रुतेः, आत्मनः प्रत्यक्त्वं स्वाभाविकमाकाशस्य सुषिरत्ववदित्यर्थः।।१८।।**

इदानीं तयोर्बोद्धृत्वे विशेषमाह–बोद्धृत्वमिति। **बुद्धेर्बोद्धृत्वं बोधकर्तृत्वोपाधिकम्।** आत्मनस्तु **स्वभाव एव, नान्योपाधिकमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः** तिष्ठन्तीव महीभृत इति। **जङ्गमेषु प्राप्तगतिनिवृत्त्यपेक्षया तिष्ठतेः प्रयोगो, न तथा 'तिष्ठन्ति महीभृत' इति, किन्तु स्वभावसिद्धाचलत्वविवक्षया, तद्वदित्यर्थः।।१९।।**

'मैं' रूप से ही उसे प्रत्यक् कहते हैं। प्रायः 'यह'-इस रूप से वस्तुओं का भान होता है, इसी दृष्टि से उसकी अपेक्षा उल्टा होने के कारण इसे प्रत्यक्-शब्द से कहा जाता है। 'मैं मोटा' आदि में देहादि का भी 'मैं' रूप से भान होता है व इस प्रकार 'मैं'-रूप से भान होने वालों की श्रेणी में बुद्धि ही है जिसका कि 'यह' इस रूप में बहुत कम भान होता है। देहादि का तो 'यह' रूप से प्रायः भान हो जाता है। अतः 'मैं' रूप से प्रतीत होने वालों की दृष्टि से बुद्धि की प्रत्यक्ता है। बुद्धि के एकाग्र न होने आदि के अनुभव में बुद्धि भी अप्रत्यक्तया—पराक्त्वेन—भासती है अतः एकान्तेन वह भी प्रत्यक् नहीं, यह निश्चित है। आत्मा तो स्वयंप्रकाश होने से सदा प्रत्यक् है ही इसमें क्या सन्देह।

अब बोधरूपता की विशेषता बताते हैं—**जैसे प्रत्यक्ता सापेक्ष है वैसे बुद्धि की बोध-कर्तृता भी इसी से है कि यह विषयसम्बन्धादि से वृत्ति बनाती है। आत्मा तो स्वरूप से बोधात्मक है, उसकी बोधरूपता किसी कारण से नहीं। जैसे चलने वाली वस्तुओं के लिये गतिनिवृत्ति की अपेक्षा से 'स्थित है' यह प्रयोग होता है, जबकि 'पर्वत स्थित है' यह प्रयोग किसी अपेक्षा के बिना ही हो जाता है, वैसे ही बुद्धि की बोधरूपता इतने से ही है कि वह विषय-बोध हो सके इसके लिये वृत्ति निर्माण कर लेती है–वृत्त्याकारेण परिणत हो जाती है, जब कि आत्मा की बोधरूपता स्वाभाविक है।।१९।।** यह यहाँ सूच्य है कि बुद्धि, जन्य बोध में कारण होने से बोधकर्त्री कही जाती है। वह बोधरूप है नहीं।

तयोः कूटस्थपरिणामिनोरात्मानवबोध एव संबन्धहेतुः, न पुनर्वास्तवः कश्चिदपि संबन्धः उपपद्यत इत्याह–

सम्यक्संशयमिथ्यात्वैर्धीरिवेयं विभज्यते ।
हानोपादानताऽमीषां मोहादध्यस्यते दृशौ ॥२०॥
कुतः कूटस्थात्मसिद्धिरिति चेत्? यतः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं लक्ष्यलक्षणयोर्बुद्ध्यात्मनोस्सम्बन्धोऽस्ति वा न वा? न चेत्, न विशेषत्वमात्मनः[1] नास्ति चेत्, न लक्ष्यलक्षणभाव इति चेत्? मैवम्, आध्यासिकसम्बन्धाभ्युपगमेन दोषद्वयपरिहारादित्याह–तयोरिति। **सम्यग्धीस्संशयधीर्मिथ्याधीरित्येवमादिभिर्धर्मैर्बुद्धिरेव विशेष्यते। एषां पुनर्हानोपादानस्सदसत्त्वं[2], तत्साक्षिण्यात्मनि** मोहादनाद्यज्ञानवशादारोप्यते। **तेन न वस्तुतः सविशेषत्वं, नापि सम्बन्धाभावेनात्मनो लक्ष्यत्वाभाव इत्यर्थः।।२०।।**

बुद्ध्युपाधिसम्बन्धमन्तरेणात्मनोऽपि बोद्धृत्वाद्यदर्शनात् कूटस्थत्वं न सिद्ध्यतीति शङ्कोत्तरत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति–कुत **इति। तद्वृत्तीनां** हानमभावो, **न तन्मात्रेण सिध्यति,** तदुदयस्तत्सद्भावोऽपीयता **सद्भाव-**

कूटस्थ व अहंकार का आत्माऽज्ञानरूप आध्यासिक ही सम्बन्ध है, उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध हो यह संगत नहीं; इस बात को श्लोक द्वारा कहते हैं—**सम्यग्ज्ञान, संशयज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि प्रकारों से बुद्धि का ही विभाग होता है व सम्यक्त्वादि विशेषताओं का ही जन्म व नाश होता है। आत्मा पर तो वे अज्ञान के कारण होने वाले अविवेक वशात् अध्यारोपित कर दिये जाते हैं।।२०।।** प्रश्नकर्ता का हृदय यह था कि लक्ष्यलक्षणभूत कूटस्थ व अहंकार का कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है, तब तो आत्मा की निर्विशेषता नहीं रहेगी और यदि नहीं है तो सम्बन्ध न होने से लक्षणा भी नहीं हो पायेगी। इस उभयतः पाशा रज्जु की तरह प्रतीत होने वाले प्रश्न का उत्तर आध्यासिक सम्बन्ध के सहारे सरलता से दे दिया; जिससे लक्षणा हो सके इसके लिये सम्बन्ध की व्यवस्था भी हो गयी और सविशेषता भी नहीं आ पायी।

कूटस्थ आत्मा की सिद्धि कैसे? इसका उत्तर देते हैं—**बुद्धिवृत्तियों का**

---

१. 'अस्ति चेद्, आत्मनः सविशेषत्वम्'—इति चन्द्रिकापाठ एव युक्तः।
२. 'हानोपादानता सदसत्त्वम्'—चन्द्रिकापाठः।

न हानं हानमात्रेण नोदयोऽपीयता यतः ।
तत्सिद्धिः स्यात्तु तद्धीने हानादानविधर्मके ॥२१॥
एवम्–
आगमापायिहेतुभ्यां धूत्वा सर्वाननात्मनः ।
ततस्तत्त्वमसीत्येतद्धन्त्यस्मदि निजं तमः ॥२२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

रूपतामात्रेण न सिध्यति यतस्ततस्तयोस्सिद्धिस्तद्धीने बुद्धितद्वृत्तिविरहिते हानादानधर्मशून्ये[1] साक्षिणि तस्मिन्नध्यस्ततया तच्चैतन्याभासोदयात्तद्-गतविकारमन्तरेण भवति। तेन कूटस्थत्वं, न व्याहतिरित्यर्थः।।२१।।

ततो वाक्यमेवान्वयव्यतिरेकसहकृतमज्ञाननिवर्तकं, न त्वन्वयव्यतिरेकावे-वेत्युक्तमर्थमुपसंहरति–एवमिति।।२२।।

अभाव केवल उनके अभाव से सिद्ध नहीं होता और उनका सद्भाव भी केवल उनके होने मात्र से सिद्ध नहीं होता। बुद्धिवृत्तियों का होना-न होना उससे सिद्ध होता है जो उनके होने-न होने से असम्बद्ध हो। अतः बुद्धिवृत्तियों के होने-न होने की सिद्धि की अन्यथाऽनुपपत्ति से कूटस्थात्मा सिद्ध हो जाता है।।२१।। जो स्वयं आगमापायी होगा वह अन्य की स्थिति या अस्थिति का बोध न कर पायेगा। किं च यदि साक्षी का अभाव मानना हो तो उस अभाव का कोई ज्ञाता अवश्य मानना होगा व इस प्रकार अनन्त साक्षी मानने होंगे जो अप्रमाणिक भी है व अनुभवविरुद्ध भी। अतः कूटस्थसिद्धि निर्विवाद है।

इस प्रकार **सिद्ध होता है कि तत्त्वमस्यादि वाक्य पहले अन्वयव्यतिरेक द्वारा अनात्ममात्र से आत्मबुद्धि को निवृत्त कर तदनन्तर हमारे अपने अज्ञान को नष्ट कर देता है।**।२२।। यह जो प्रश्न उठा था कि वाक्यमात्र से अज्ञान-नाश नहीं हो पाता, उसी को यहाँ भी उत्तरित किया है। वेदान्त-रहस्य यही है कि महावाक्य के प्राथमिक श्रवण से अपरोक्ष आत्मबोध होता है जो विचार में हेतु बनता है। विचार करने से असम्भावना-निवृत्ति होती है। विपरीत भावना निदिध्यासन से निवृत्त कर ली जाती है। तदनन्तर महावाक्यानुसन्धान रूप

---

१. हानोपादानधर्मशून्य इत्यर्थः।

चरमश्रवण ही मुक्ति देने वाले चरमसाक्षात्कार का हेतु बनता है। इसी दृष्टि से यहाँ आचार्य ने वाक्य को ही अन्वयव्यतिरेकादि द्वारा अनात्मनिवर्तक और तदनन्तर अज्ञान-नाशक कहा है।

इस विषय में मधुसूदन महाराज जी के वाक्य स्मरणीय हैं—'तदयं क्रमः। शब्दात् प्रथमः अपरोक्षज्ञानं जायते विचारप्रयोजकम्। तदनन्तरम् असम्भावनोदये सति विचारशास्त्रं प्रवर्तते। तदनन्तरमपि विपरीतभावना तिष्ठत्येव, सा निदिध्यासनेन निराक्रियते। तदनन्तरं पुनरपि महावाक्यम् अनुसन्धीयमानं अविद्योन्मूलनसमर्थं अन्तःकरणवृत्तिभेदरूपं मुक्तिफलकं साक्षात्कारं उत्पादयति' (अद्वैतरत्नरक्षणम् पृ. ४४)। 'चरमश्रवण' के विषय से समझ लेना चाहिये कि ज्ञान तो प्राथमिक श्रवण से हो गया पर असंभावनादि से प्रतिबद्ध होने से वह कार्यकारी अर्थात् अज्ञाननिवर्तक नहीं हो पाया। जैसे नैयायिक मानता है कि मणिमन्त्रादि से प्रतिबद्ध जब अग्नि उत्पन्न होती है तब कार्यकारी नहीं होती और जैसे ही प्रतिबन्ध निवृत्त हो जाता है, वही अग्नि दाह, पाक आदि करने में समर्थ होती है, वैसे समझना चाहिये। किन्तु इतना अन्तर है कि अग्नि तो सब समय, प्रतिबन्धक काल में व तन्निवृत्ति काल में, उपस्थित रही अतः पुनः अग्नि के लिये प्रयास नहीं करना पड़ा जब कि प्राथमिक श्रवण से उत्पन्न वृत्ति तो नष्ट हो चुकी है जिससे कि प्रतिबन्धकनिवृत्ति के बाद पुनः वृत्ति के लिये प्रयास अपेक्षित है व वह प्रयास महावाक्यानुसंधान ही है जिसे 'चरमश्रवण' शब्द से कह दिया।

संक्षेपशारीरककार ने ग्रन्थारम्भ (श्लो. १५ आदि) में ही इस बात को विस्तार से स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से यही कहना उचित लगता है कि निरुक्त चरमश्रवण से ही ज्ञान हुआ क्योंकि प्रसंगानुसार ज्ञान से उसी वृत्ति को कहा जाता है जो अज्ञान का निवर्तन करे तथापि आत्माद्वैत अत्यन्त अप्रसिद्ध होने से यह आवश्यक है कि किसी प्रमाण से उसकी प्राप्ति हो। यदि मनुष्य प्रमाण से यह ज्ञान नहीं पायेगा कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो बैठे बिठाय खुद ही क्योंकर सोचने लगेगा कि जीव का व्यावहारिक व वास्तव स्वरूप क्या है तथा ईश्वर का तथाविध स्वरूप क्या है एवं दोनों का अविरुद्ध स्वरूप क्या है इत्यादि? यदि सोचने का श्रीगणेश होगा भी तो सांख्यादिवाद का ही अनुसरण सम्भव होगा। अतः प्राथमिक श्रवण मानना ही उचित है। क्योंकि चरम श्रवण भी ज्ञान वही उत्पन्न करता है जो प्रथम श्रवण में हुआ था, इसलिये यह भी कह दिया जाता है कि प्रथमतः उत्पन्न ज्ञान ही अब अप्रतिबद्ध हो अज्ञाननाश का कारण बना।

इत्यादि पुनः पुनरुच्यते ग्रन्थलाघवाद् बुद्धिलाघवं प्रयोजकमिति। तत्र यद्यपि तत्त्वमस्यादिवाक्यादुपादित्सिताद्वितीयात्मार्थवत्

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ननु 'यदा तु[1] तत्त्वमस्यादेः[2], 'ज्ञानात्मना[3] त्याजयेद्व च' इत्यादिना पूर्वमप्यनेकधा एतदुक्तमित्यत आह–इत्यादीति। **भवत्वेवमुत्तरग्रन्थेन किं क्रियत इत्यत आह–**तत्रेति। **यद्यपि तत्त्वंपदाभ्यां वाच्ययोरविशिष्टता प्रतीयते तथापि**

इस प्रकार यद्यपि यह विषय पहले भी कई बार कहा जा चुका है व आगे भी यथावसर बताया जायेगा तथापि पुनरुक्ति दोष की शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि ग्रन्थ के कलेवर की अपेक्षा यह ध्यान में रखना अधिक आवश्यक है कि विवक्षित विषय अध्येता को ठीक से समझ आ जाये। एक ही स्थान पर एक ही विषय पर बहुत अधिक लिखने से पाठक की बुद्धि थक जाती है—उकता जाती है, पर अलग अलग स्थलों पर विभिन्न प्रकारों से एक ही बात बताने पर बुद्धि रुचिपूर्वक विषय समझ लेती है। अतः तार्किक यद्यपि बात दुहराना दोष मानते हैं तथापि वेदान्ती उसे 'अभ्यास' रूप तात्पर्य-निर्णायक गुण मानते हैं। गौडस्वामी सूचित करते हैं कि अभ्यास अर्थात् अनन्यपरक पुनः श्रवण आदर का ज्ञापन कर तात्पर्यबोधक होता है। अभ्यास से अन्य की अपेक्षा उत्कृष्टतारूप प्राशस्त्य का ज्ञान होता है—'अभ्यासः अनन्यपरः पुनः श्रवणम्। आदरज्ञापनद्वारा तस्य तात्पर्यज्ञापकत्वम्। अभ्यासबोध्यं (प्राशस्त्यं) तु अर्थान्तरादुत्कृष्टत्वरूपम्' (ल.चं.पृ. ४२५)।

महावाक्य श्रवण करने पर यद्यपि जैसे विवक्षित सर्वभेदवर्ज्य अखण्डात्मा का बोध होता है वैसे ही मुख्यवृत्ति से परोक्षता व भेद की भी प्रतीति होती है तथापि यह निश्चित है कि मुख्यवृत्तिलभ्य अर्थ के प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य नहीं क्योंकि श्रुतिवाक्य सुनने के पहले भी ईश्वर की परोक्षता व जीव का उससे भेद मालूम ही है तथा प्रमाण उसे बताने से प्रमाण होता है जो प्रमाणव्यापार से

---

१. यदा वा इति मुद्रितपुस्तके मूलः पाठः, 'यदासौ' इति पाठान्तरम्।
२. नैष्कर्म्यसिद्धिः (३-१)।
३. नैष्कर्म्यसिद्धिः (३-६) ज्ञात्मना इति मूले चन्द्रिकायाञ्च पाठः।

पारोक्ष्यसद्वितीयार्थः प्रतीयते, तथापि तु नैवासावर्थः श्रुत्या तात्पर्येण प्रतिपिपादयिषितः। प्रागप्येतस्य प्रतीतत्वादितीममर्थमाह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नासौ विवक्षिता, प्रतिपिपादयिषितार्थविरोधात्तत्प्रतिपादने पुरुषार्थाभावात्, प्रमाणान्तरादपि तत्सिद्धेरित्युत्तरश्लोकाभ्यामुच्यत इत्यर्थः।

पूर्व ज्ञात न हो। इसकी सूचना आचार्य जैमिनि ने 'अर्थेऽनुपलब्धे' (१.१.५) कह कर दी है जिसका अर्थ भाट्टवचन में स्पष्ट है—'सर्वस्यानुपलब्धेर्थे प्रामाण्यम्' (श्लो.वा. ५-११)। अत एव सर्वज्ञमुनि प्रमाणलक्षणग्रन्थ में (पृ. ३) कहते हैं—'अज्ञातार्थसंवित्तिः प्रमा'। स्वयं वार्तिककार ने यह बताया है कि अज्ञात वस्तु के विषय में ही प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है—'अज्ञातं वस्तु चोद्दिश्य तत्तत्त्वप्रतिपत्तये। प्रमाणानां प्रवृत्तिः स्यात् अन्यथा नोपपद्यते'॥ बृ.वा ४-४-२१६॥ अतः जब सामान्यतः प्रमाणमात्र का यह स्वरूप है तब शास्त्र के विषय में पृथक् क्या कहना। वैसे शबरस्वामी ने शास्त्र के विषय में भी इसे दुहराया है—'शास्त्रं हि शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्' (पृ. ३७)। अतः प्रमा के निष्कृष्ट लक्षण में न्यायरत्नावलीकार कहते हैं (पृ. २७० प्र.द्वा.) 'स्वोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे स्वकरणक्षणे च यदज्ञातं, उक्तकालावच्छेदेन अबाधितं च, तद्विषयकज्ञानत्वं प्रमात्वम्', तथा 'अबाधिताऽज्ञातफलवदर्थ एव प्रामाण्यं (वेदान्तानां) (पृ. २७१)। सर्वत्र 'अज्ञात' पद से इतना ही तात्पर्य है कि यादृश प्रमा की उत्पत्ति स्वीकार्य है तादृश प्रमा का विषय वह पदार्थ पहले नहीं होना चाहिये। सामान्येन ज्ञात की विशेषेण प्रमा सभी को स्वीकार्य है—'तस्मात्सिद्धेपि सामान्ये विशेषो नागमादृते' (प्रत्यक्ष. १०८) यह भट्ट जी ने भी माना है। इसी प्रकार संशयादिज्ञान की विषयता का निराकरण नहीं है। इस दृष्टि से स्मृति से भिन्न अबाधित ज्ञान को प्रमा समझा जा सकता है जिससे प्रमा लक्षण प्रमाघटित नहीं होगा[1]। वैसे लक्षण की सदोषता तो मायावाद में स्वीकार्य ही है, अतः कोई दोष नहीं।

---

१. अतएव 'अनधिगतविषयपदेन स्वाऽन्यूनविषयकाऽनुभवाऽनन्यत्वस्य विवक्षितत्वाद्' इत्यर्थदीपिका। अनुभवजन्येति अनुभवजन्यसंस्काराऽजन्यत्वस्येत्यर्थः। अनुभवस्य साक्षादधिगतिजनकत्वाभावात्तस्य तद्रूपत्वात्।

तदित्येतत्पदं लोके बह्वर्थप्रतिपादकम्।
अपरित्यज्य पारोक्ष्यमभिधानोत्थमेव[1] तत् ॥२३॥
त्वमित्यपि पदं तद्वत् साक्षान्मात्रार्थवाचि तु।
संसारितामसंत्यज्य सापि स्यादभिधानजा ॥२४॥

विरुद्धोद्देशनत्वाच्च पारोक्ष्यदुःखित्वयोरविवक्षितत्वम् इत्याह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तदित्येतत्पदं पारोक्ष्यमपरित्यज्यानुगतसामान्यादेरभावात् **बहूनामर्थानां परोक्षतया प्रतिपत्त्युपायौ प्रतिपादकम्, तस्मात्** तत्पारोक्ष्यमभिधानोत्थमेव **शब्दादापाततः प्रतीयते, न वस्तुसंस्पर्शि, नापि प्रतिपिपादयिषितम्।।२३।।**

तथा तत्पदवत् त्वमित्यपि पदं **स्वप्रवृत्तेः प्रागेव सिद्धां** संसारितामसन्त्यज्य **साक्षान्मात्रार्थवाचि अव्यवहिततया नित्याऽपरोक्षे श्रोतरि बुद्धिमुत्पादयति। अतस्सापि संसारत**दभिधानजा **आपाततश्शब्दोत्था न वस्तुसंस्पर्शिनी, नापि शब्दप्रतिपाद्या, तत्प्रवृत्तेः प्रागेव सिद्धत्वात्, तत्प्रतिपादने पुरुषार्थाभावात्, प्रतिपिपादयिषितवाक्यार्थविरोधाच्चेत्यर्थः।।२४।।**

इतोऽपि पारोक्ष्यसंसारित्वयोरविवक्षितत्वमित्याह–विरुद्धेति। उद्देशनं

शास्त्र तात्पर्य अद्वैत में ही है भेद में नहीं, इसे श्लोकों द्वारा कहते हैं—**'तत्' पद लोक में नाना अर्थों का परामर्शक देखा जाता है किन्तु उसका वाच्य परोक्षता है क्योंकि वह परोक्ष अर्थों का ही परामर्श करता है।।२३।। 'त्वं' पद भी अव्यवहित रूप से नित्य अपरोक्ष अर्थ का वाचक होता है किन्तु वह सांसारिकता से अनुगत अपरोक्षार्थ को ही बताता है।।२४।।** तात्पर्य है कि परोक्षता व सांसारिकता 'तत्' व 'त्वं' पदों के वाच्य मात्र हैं, विवक्षितार्थ नहीं। महावाक्य में पारोक्ष्य व संसारिता अविवक्षित है, क्योंकि वाक्य के बिना ही वे सिद्ध हैं तथा उनका ज्ञापन निष्प्रयोजन है।

परोक्षता और दुःखित्वादि सांसारिकता परस्पर विरुद्ध अर्थ हैं, इसलिये भी इनके सामानाधिकरण्यबोधक वाक्य में इनके ये अर्थ विवक्षित नहीं हो सकते, यह

---

१. अभिधानोत्थमेव—'अभिधानं शब्दः। शक्त्या तत्पदोपस्थाप्यमेव। एवकारेण तत्र तात्पर्यविषयताराहित्यमुक्तमि'ति सारार्थकारः।

उद्दिश्यमानं वाक्यस्थं नोद्देशनगुणान्वितम्।
आकाङ्क्षितपदार्थेन संसर्गं प्रतिपद्यते ॥२५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रसिद्धरूपकथनं, विरुद्धमुद्देशनमनयोरिति विरुद्धोद्देशनौ, तयोर्भावस्तत्त्वं, तस्मादपि तद्गतयोर्विरुद्धरूपयोरविवक्षितत्व**मुत्तरश्लोकेनोच्यते इत्यर्थः। तत्त्वमसिवाक्यगत**मुद्दिश्यमानं **त्वंपदार्थात्मकं वस्तूद्देशनदशायां प्रतीयमानसंसारित्वगुणेनान्वितं विशिष्टमाकाङ्क्षितपदार्थेन विधित्सितेन तत्पदार्थेन सकलसंसारधर्मविरहितेन** संसर्गमन्वयं न प्रतिपद्यते। **एवं तत्पदार्थोऽप्युद्दिश्यमानपरोक्षादिगुणान्वितो नित्यापरोक्षेण प्रत्यगात्मना त्वंपदार्थेनान्वयं न प्रतिपद्यते। तेनोभयत्रापि विरुद्धयोरविवक्षितत्वमिति श्लोकार्थः।।२५।।**

बताते हैं—**'तत्त्वमसि' वाक्य में त्वंपदार्थ को उद्देश्य कर तत्पदार्थ का विधान है अतः जो उद्दिष्ट त्वंपदार्थ है वह अपने प्रसिद्ध सांसारिकतारूप गुण से अन्वित रहते हुए उद्दिष्ट नहीं हो सकता क्योंकि वैसा होने पर विधेय तत्पदार्थ से उसका अभेद नहीं समझा जा सकता।।२५।।** 'तत्त्वमेव त्वमेव तत्' आदि कैवल्यश्रुति के अनुरोध से तत्पदार्थ भी उद्दिष्ट समझ लेना चाहिये व त्वंपदार्थ के सामानाधिकरण्य की अन्यथानुपपत्ति से वह भी पारोक्ष्यादि-अन्वितरूप में उद्दिष्ट नहीं यह जानना चाहिये। इस प्रकार के उद्देश्य-विधेयभाव को मानने में भय नहीं खाना चाहिये। ब्रह्मविद्याभरणकार ने भी इसे स्वीकारा है—'अभेदसंसर्गेण तत्पदार्थप्रकारक-त्वंपदार्थविशेष्यक—बोधाभ्युपगमेन' (पृ. १९२)। भय का कारण होता है कि पदार्थ एक होने से उद्देश्य-विधेयभाव कैसे तथा निष्प्रकारक बोध स्वीकार्य होने से प्रकारविशेष्य भी कैसे? किन्तु इनका परिहार लौकिक दृष्टया कर लेना चाहिये। लोक में शब्दप्रयोग के अनुरूप कल्पना कर महावाक्य के अर्थ का स्वरूप यह है, इतना ही तात्पर्य है। वस्तुतः तो अवाङ्मनसगोचर होने से उसका लोक में अप्रसिद्धरूप समझाया जाना कठिन है ही। अथवा 'उद्दिश्यमानम्' का अर्थ नामग्रह मात्र समझना चाहिये। अर्थात् महावाक्य में जिन्हें कहा गया है वे तत्पदार्थ व त्वंपदार्थ सामानाधिकरण्य की अन्यथानुपपत्ति से अपने-अपने अविरुद्धार्थ को उपस्थापित करें यही विवक्षित है।

यत एतदेवम्, अतोऽनुपादित्सितयोरपि तत्त्वमर्थयोर्विशेषण-विशेष्यभावो भेदसंसर्गरहितवाक्यार्थलक्षणायैव-इत्युपसंहारः–

तदो विशेषणार्थत्वं विशेष्यत्वं त्वमस्तथा।
लक्ष्यलक्षणसंबन्धस्तयोः स्यात्प्रत्यगात्मना ॥२६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नीलमुत्पलमित्यादौ विशेषणविशेष्यभावस्य विशिष्टार्थपरत्वदृष्टेरिहापि तथाऽभ्युपगन्तव्यमित्याशङ्क्य, प्रतिपिपादयिषितार्थविरोधाद् मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ लक्षणपरत्वस्यापि दर्शनात् इहापि तथाऽभ्युपेयमित्याह–यत एतदेवमिति। **भवतु तथापि किं विशेषणं, किं वा विशेष्यमिति? तत्राह**–तद् इति। तदस्तत्पदार्थस्य विशेषणार्थत्वं **तथा** त्वंपदार्थस्य विशेष्यत्वम्। **त्वंपदार्थस्याहमिति सामान्यतः प्रसिद्धत्वाद् देहेन्द्रियादिविशेषेषु च विप्रत्तिपत्तेः, अद्वितीयस्यात्मतावगम एव पुरुषार्थपर्यवसानात् जिज्ञासानिवृत्तेस्त्वं-पदार्थस्तत्पदार्थेन विशिष्यते। अत्र च विरोधस्फूर्त्तौ पदार्थाभ्यामखण्डैकरसः प्रत्यगात्मा लभ्यत इत्यर्थः।।२६।।**

प्रामाणिक वाक्यों की सार्थकता की रक्षा के लिये क्योंकि लक्षणा की नीति स्वीकृत है, इसलिये तत्पदार्थ व त्वम्पदार्थ के विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से भेद व संसर्ग की अपेक्षा भिन्न, लक्षणा द्वारा अखण्डार्थ बोध होता है, यह उपसंहार करते हैं—**तत्पदार्थ विशेषण व त्वंपदार्थ विशेष्य है तथा प्रत्यगात्मा से इनका लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध है जिसके सहारे अखण्डार्थ-बोध होता है।**।२६।। पूर्वोक्त रीति से विशेषणविशेष्यभाव विपरीत भी समझ लेना चाहिये। कुछ आधुनिक व्याख्याता इस प्रसंग में आत्मा की अपदार्थता व अवाक्यार्थता का प्रतिपादन करते हैं किन्तु जैसा पूर्व में बताया जा चुका है, वार्तिकश्लोक से (१.३.७९ पृ. १४४) स्पष्ट है कि पदार्थ न होने पर भी आत्मा की वाक्यार्थता स्वीकृत है। क्योंकि शक्ति को लाँघकर लक्षणया अर्थबोध होता है, इसलिये अवाक्यार्थ रूप में भी व्यवहार हो जाता है। जिस मत में वाक्यार्थ सदा ही लक्ष्य होता है उस मत से अवाक्यार्थ का इतना ही अर्थ है कि भेद या संसर्ग से घटित वाक्यार्थ नहीं है। जिस मत में अखण्डवाक्य को अर्थ का वाचक माना जाता है, उसमें यद्यपि लक्षणा स्वीकृत नहीं; तथापि एकार्थीभाव में जैसा बोध वे मानते हैं, वैसा महावाक्य स्थल में समझा जा सकता है। 'समर्थः पदविधिः' के प्रदीप में स्पष्ट कहा है 'वेदान्तिमते

कथं पुनरविवक्षितविरुद्धनिरस्यमानस्य लक्षणार्थत्वम्?
लक्षणं सर्पवद्रज्ज्वाः प्रतीचः स्यादहं तथा।
तद्बाधेनैव वाक्यार्थं वेत्ति सोऽपि तदाश्रयात् ॥२७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीत्यादौ गङ्गाशब्दस्य तीरलक्षकत्वे तद्वाच्यस्य जलप्रवाहस्य नाविवक्षितत्वं, विशिष्टतीरावगतिप्रयोजकत्वात्। नाऽपि विरुद्धता, अविनाभावसम्बन्धात्। अतएव न लक्ष्यबुध्या निरस्यमानता। इहाहङ्कारस्य लक्षकत्वे त्रितयमपि नास्ति, तत्कथमस्य लक्षणत्वमित्याक्षिपति–कथमिति। **तत्रोत्तरं**–लक्षणमिति। **योऽयं सर्पस्सा रज्जुरिति प्रयोगे, सर्प उपलक्षणः स्वाधिष्ठानभूतायाः रज्ज्वाः, स्वरूपेण विवक्षारहितोऽध्यस्तत्वादेव परमार्थ-सम्बन्धशून्यो रज्जुबुद्ध्या निरस्यमानोऽपि, प्रतिभासमानसर्पाकारानुवादं विनाऽनवभासमानरज्ज्वाकारस्याप्तवाक्यादवगमाऽनुपपत्तेः; तद्वदनवभा-समानाद्वितीयप्रत्यगात्मनोऽहङ्कारोऽपि तस्मिन्नध्यस्तो लक्षणम्, अहमिति विपर्यासगृहीतस्य प्रत्यगात्मनस्तदनुवादव्यतिरेकेण वाक्यात्तत्त्वतः प्रतिपादनायोगात् तेन सोऽपि प्रत्यगात्माऽहङ्कारबाधेन स्वयाथात्म्यं वेत्ति, अध्यस्ताऽहङ्काराश्रयं विना अद्वितीयात्मनो याथात्म्यप्रतिपत्त्य-योगादित्यर्थः।।२७।।**

तत्त्वमस्यादिवाक्यादावखण्डार्थबोध इव वृत्तौ बोधः, अयमेव च एकार्थीभावः' (पृ. ५२२ झज्जर)।

अहंकार अविवक्षित भी है, लक्ष्य से विरुद्ध भी और उसके द्वारा निवर्त्य भी, अतः वह प्रत्यगात्मा का लक्षक कैसे? इसका उत्तर श्लोक द्वारा देते हैं—**जैसे कल्पित सर्प व्यावहारिक रज्जु का लक्षक हो जाता है वैसे अहंकार भी प्रत्यगात्मा का लक्षक हो जाता है। अहंकार का सहारा ले उसके बाध से ही महावाक्यार्थ का बोध होता है।**।२७।। पूर्व में भी (२.२९) त्वं-पदार्थ के बाध से वाक्यार्थ-बोध समझाया जा चुका है। यहाँ शंका करने वाले के मन में 'गंगा पर बस्ती है' आदि लक्षणा का दृष्टान्त है। उसमें गंगा को सर्वथा अविवक्षित नहीं कह सकते क्योंकि केवल जिस किसी किनारे पर बस्ती है यह विवक्षित नहीं, गंगा का किनारा विवक्षित है। ऐसे ही गंगा और किनारा अत्यन्त विरुद्ध भी नहीं व अतएव किनारा-अर्थ गंगा-अर्थ का बाधक भी नहीं

इयं चावाक्यार्थप्रतिपत्तिः, अन्वयव्यतिरेकाभिज्ञस्यैव।
यस्मात्–

यावद्यावन्निरस्यायं देहादीन् प्रत्यगञ्चति।
तावत्तावत्तदर्थोऽपि त्वमर्थं प्रविविक्षति ॥२८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं वाक्यादवाक्यार्थप्रतिपत्तिर्भवतीत्युक्तम्। तर्हि कथं केचिच्छुतवाक्या अपि तथा न प्रतिपद्यन्ते? इत्याह–इयञ्चेति। **देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यव्याकृतान्ताननात्मन आत्मत्वेन परिगृहीतान् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां** अयं **मुमुक्षुः स्थूलदेहादारभ्य यथा यथा निरस्यति तथा तथा तत्पदार्थोऽपि त्वंपदार्थाभेदादवगत्यनुसारितया प्रतीयते, तद्विरोधिनः परिच्छेदाभिमानस्य निरस्यमानत्वादितीममर्थमाह–**यावद्यावदिति।।२८।।

आरोपितसर्पादिनिवृत्तौ तदधिष्ठानरज्जुतत्त्वप्रतीतिरेव लोके दृष्टा, न रज्ज्वादेरर्थान्तरात्मताप्रतिपत्तिः, तत्कथमिह देहादेरात्मभावनिवृत्तौ तदधिष्ठानस्य त्वमर्थस्य तदर्थताप्रतिपत्तिः, प्रतिपत्तौ वा ब्रह्मकार्यतया देहादेः

होता। प्रकृत स्थल तो इससे सर्वथा पृथक् है अत: लक्ष्यलक्षणभाव सम्भव नहीं; यह शंका का तात्पर्य है। परिहार 'जो यह साँप (दीख रहा) है, वह रस्सी है' इस दृष्टान्त के सहारे किया गया है। यहाँ साँप स्वरूप से अविवक्षित है, 'जो भी कुछ लम्बा आदि दीख रहा है' इतना ही साँप-शब्द से अभिप्रेत है। विरोध और निवर्त्यता तो स्पष्ट है।

इस प्रकार विस्तार से बताया कि वाक्य से ही अज्ञाननिवर्तक अखण्डबोध होता है। प्रश्न होता है कि तब जो भी व्यक्ति वाक्य सुनता है उसे यह बोध क्यों नहीं हो जाता है? उत्तर है कि यह अखण्डबोध उसे ही होता है जिसने अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अनुगत आत्मा और अननुगत अनात्मा को ठीक से समझ लिया है। क्योंकि—**साधक देह, इन्द्रियादि में अहंता को छोड़ जितना-जितना प्रत्यगात्मा की ओर बढ़ता है, उतना ही उतना त्वमर्थ व तदर्थ का अभेद स्पष्ट होता चलता है**॥२८॥ सर्वज्ञगुरु ने भी कहा है—जिस जिस से निवृत्ति होती है उस उस से मुक्ति मिलती जाती है, सबसे निवृत्त हो जाने पर तनिक भी दु:ख नहीं रह जाता।

कस्मात् पुनः कारणात् देहाद्यनात्मत्वप्रतिपत्तावेव आत्मा तदर्थम् आत्मत्वेनाभिलिङ्गते, न विपर्यय इति? उच्यते। प्रत्यगात्मानवबोधस्य अनात्मस्वाभाव्यात् तदभिनिर्वृत्तश्चायं बुद्ध्यादिदेहान्तः, तस्मिन् आत्मत्वम्

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ब्रह्मात्मकत्वाद् देहाद्यात्मकत्वप्रतिपत्तावेव ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिः किं न स्याद् इत्याक्षिपति–कस्मादिति।

उच्यत **इत्यादिना समाधत्ते–आत्माविद्यायास्तावत् जडस्वभावत्वाद् दृश्यत्वाद् अज्ञाननिवर्त्यत्वाच्चानात्मत्वं स्वाभाविकं, तत्कार्यत्वाच्च देहादेरनात्मत्वं, केवलकूटस्थब्रह्मात्मकार्यत्वानुपपत्तेः। तथाऽऽत्मनश्च चिद्रूपत्वात् स्वयंप्रकाशत्वाच्च ब्रह्मत्वं स्वाभाविकं, तेन तस्य देहादावात्मत्वप्रतिपत्तिरेव ब्रह्मभावप्रच्युतिः, तन्निवृत्तौ तु स्वाभाविकब्रह्मरूपतामेवासौ प्रतिपद्यत इत्यर्थः।**

तथाप्यनात्मनां स्वरूपेणावस्थितत्वाद् 'द्वितीयाद्वै भयं भवतीति' श्रुतेर्नात्यन्तिकानर्थनिवृत्तिस्स्यादिति? अतआह–आत्मत्वमिवेति। **देहादीनामात्मभाववत् अनात्मस्वरूपमप्यविद्यावत एव भवति। रजतादिवत्तेषां स्वरूपेण संसृष्टरूपेण चात्मन्यध्यस्तत्वात्। तस्माद्वाक्यार्थप्रतिपत्तेरविद्यानिवृत्तौ सर्वानर्थनिवृत्तिरित्यर्थः।**

क्या कारण है कि शरीर आदि को अनात्मरूप समझने पर ही जीव की ब्रह्मरूपता समझ में आती है, उनमें आत्मबुद्धि के रहते ही वह रहस्य क्यों नहीं समझ में आता? उत्तर है कि प्रत्यगात्मा का अज्ञान प्रत्यगात्मा का स्वभाव नहीं है, व बुद्धि से देहादि पर्यन्त अहन्तया भासमान प्रपंच उक्त अज्ञान से ही बना है तथा उसमें मैं-पना भी अविद्या के कारण ही है। अनात्मजात स्वरूप से भी अविद्या के कारण ही अध्यस्त है। आत्मातिरिक्त सब आविद्यक है यह इससे पता चलता है कि शास्त्र में बताया गया है कि आत्मवेत्ता अविद्या के ध्वस्त हो चुकने से केवल अखण्डात्मरूप ही रहता है—पूर्ण ही रहता है, 'पूर्णमेवावशिष्यते' (बृ. ५.१)। यह प्रसिद्ध ही है कि अज्ञान निवृत्त हुए बिना विद्योदय नहीं हो सकता। अत: आत्मा की ब्रह्मता समझने के लिये आवश्यक है कि अनात्मा में आत्मबुद्धि छोड़ी जाये। आत्मस्वरूप समझने के लिये विचार करने पर देहादि की अनात्मता का निश्चय होता चलता है। जब तक पदार्थशोधन न होगा, वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता व पदार्थशोधन में देहादि अनात्म वस्तुओं में आत्मबुद्धि निवृत्त हो जाती है, यह भाव है। इस विषय को श्लोक द्वारा सूचित करते हैं—

अविद्याकृतमेव। आत्मत्वमिवानात्मत्वमपि साविद्यस्यैव। यतो निरविद्यो विद्वान् अवाक्यार्थरूप एव केवलोऽवशिष्यते, तस्मादुच्यते–

देहादिव्यवधानत्वात् तदर्थं स्वयमप्यतः ।
पारोक्ष्येणैव जानाति साक्षात्त्वं तदनात्मनः ॥२९॥

यथोक्तार्थप्रतिपत्तिसौकर्याय दृष्टान्तोपादानम्–

प्रत्यगुद्भूतपित्तस्य यथा बाह्यार्थपीतता ।
चैतन्यं प्रत्यगात्मीयं बहिर्वद् दृश्यते तथा ॥३०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तेऽर्थे श्लोकमवतारयति–तस्मादिति। **यस्माद् देहाद्यभिमान-लक्षणव्यवधानात्** स्वयं **स्वात्मभूतमपि** तत्पदार्थं **ब्रह्म** पारोक्ष्येणैव जानाति **व्यवहितानात्मभूतमिव प्रतिपद्यते। अतस्तेषामन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगतेऽनात्मत्वे साक्षात्त्वं तत्पदार्थस्यापरोक्षप्रत्यगात्मता भवतीत्यर्थः।।२९।।**

ननु कथं स्वात्मभूतस्य स्वात्मनि प्रकाशमाने परोक्षतया प्रतिभास इति? तत्राह–यथोक्तेति। **अहमित्यभिमन्यमानशरीरैकदेशसमुद्भूतपित्तस्य पुंसस्तद्-गतपीतता यथा बाह्यार्थोपरक्ततया बहिरवभासते शङ्खः पीत इति, एवं प्रत्यगात्मनोऽपि तदर्थस्य बाह्याव्याकृताद्युपाध्युपरागात्** बहिर्वदवभासते **इति।।३०।।**

यत उक्तन्यायेन तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थपर्यवसानमविरुद्धं

पदार्थशोधन के पूर्व अपनी स्वरूपभूत ब्रह्मरूपता को भी साधक परोक्षरूप से ही जानता है तथा देहादि की अनात्मरूपता के निश्चय के अनन्तर ही अपनी ब्रह्मरूपता का साक्षात्कार होता है।।२९।। 'तदनात्मनः' के अनन्तर 'अनात्मत्वनिश्चयानन्तरम्' इतना शेष समझना चाहिये। अथवा श्लोकार्थ है कि शोधन के पूर्व स्वरूपभूत ब्रह्मता को तो पारोक्ष्येण जानता है और जो आत्मा नहीं है उसकी अपरोक्षता जानता है—उसे स्वरूप समझता है।

स्वात्मभूत वस्तु के परोक्षरूप में प्रतीत होने में उदाहरण देते हैं—**जैसे शरीर में उत्पन्न पित्त की पीतिमा शंखादि बाह्य पदार्थों में प्रतीत होती है, वैसे स्वरूपभूत चैतन्य बाह्य बुद्ध्यादि में प्रतीत होता है।।३०।।** 'शंख पीला है' की तरह 'मैं दुःखी' आदि प्रतीति होती है जिसमें बुद्धि की आत्मरूपता का भान होता है।

क्योंकि महावाक्यों की अखण्डार्थता संगत है इसलिये निःशंक हो यह निश्चय

यस्मादेवमतो विशुद्धमवसीयताम्–

पदान्युद्धृत्य वाक्येभ्यो ह्यन्वयव्यतिरेकतः ।
पदार्थाँल्लोकतो बुद्ध्वा वेत्ति वाक्यार्थमञ्जसा ॥३१॥

कुतः पुनः सामान्यमात्रवृत्तेः पदस्य[1] **वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वम्**

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तस्माद्वाक्यान्निराशङ्कं यथोक्तार्थो निश्चीयतामित्युपसंहरति–[2]**यस्मादिति। पदानां वाक्येभ्यस्समुद्धारो नाम प्रयोगभेदेषु पदानामावापोद्वापाभ्यां ततस्तत्पदार्थेषु शक्यावधारणं,** पदार्थांश्च लोकतो **वृद्धव्यवहारतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां च पदशक्तिप्रतियोगिनो** बुध्वा, **वाक्यतात्पर्यानुसारेण वाक्यार्थः प्रतिपद्यत इति।।३१।।**

कथं पुनस्सामान्यतो गृहीतसम्बन्धस्य पदस्य विशिष्टार्थबोधकत्वम् इत्याक्षिप्य समाधत्ते–कुत इत्यादिना। **वाक्यवक्तृगः**[3] **वाक्यतात्पर्यविषय इति**

करना चाहिये कि **महावाक्य में प्रयुक्त तत्-त्वमादि पदों के विभिन्न प्रयोगों में प्रतीयमान विभिन्न अर्थों का विचार कर उनके वास्तविक अर्थ को लोकव्यवहार से समझकर वाक्य के विवक्षितार्थ को साधक समझता है।।३१।।** शास्त्रीय मर्यादा है कि लोक में जिन अर्थों में शब्द प्रसिद्ध होते हैं, जहाँ तक सम्भव हो शास्त्र में भी उनका वही अर्थ मानना चाहिये, पारिभाषिक आदि अर्थों की कल्पना नहीं करनी चाहिये। अतः तत्त्वमादिपदों के अर्थनिर्णय के लिये भी लौकिक प्रक्रिया पर्याप्त है। गौण, मिथ्या व मुख्य तीनों आत्माओं को त्वंपद बताता है। अनुगम को दृष्टि में रखने से पता चलता है कि वह प्रत्यगर्थ का वाचक है। पूर्वाध्याय में (२.५४ आदि) यह प्रसंग विस्तार से आ चुका है। प्रकृताध्याय में भी (श्लो. २३-२४) इसे स्पष्ट किया है। उस सब को ध्यान में रखते हुए यह उपसंहार वाक्य समझना चाहिये।

शंका होती है कि पद तो केवल सामान्य का उपस्थापक होता है, वह विशिष्ट वाक्यार्थ के बोध का कारण कैसे? पद व्यक्ति का वाचक माना जाये तो एक ही घटादि पद नाना घटादि का बोध न करा पाये। अतः यही संगत है कि सकल घटों में अनुगत

---

१. 'पदस्य सामान्यवृत्तिकत्वेऽपि वाक्यवृत्त्या वाक्यार्थबोधो न विरुध्यते।' सारार्थः।
२. तस्मादिति हस्तलिखितपुस्तके।
३. वाक्यकर्तृक इति मूलचन्द्रिकयोरनुरोधात् पठनीयम्।

इति? बाढम्–

सामान्यं हि पदं ब्रूते विशेषो वाक्यकर्तृकः ।
श्रुत्यादिप्रतिबद्धं सद् विशेषार्थं भवेत्पदम् ॥३२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यावत्। पदसमुदायात्मकत्वाद्वाक्यस्य पदानां च सामान्यमात्रविषयत्वाद्वाक्यमपि कथं विशिष्टार्थविषयं स्यादित्यत आह–श्रुत्यादीति। **यद्यपि स्वतस्सामान्यविषयं पदं, तथापि श्रुतिस्मृतिलिङ्गवाक्यादिभिर्नियन्त्रितं सदन्विताभिधानसमये विशिष्टार्थे तात्पर्यतो वर्तते। अन्यथा विशिष्टार्थासिद्धेरित्यर्थः।।३२।।**

जो समानता, जिसके कारण उन सब को घट कहते हैं, वही घट पद का अर्थ है। भगवान् भाष्यकार ने यही स्वीकारा है—'आकृतिभिः च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः' (सू.भा. १.३.२८)। विशिष्ट को शब्दार्थ मानने में वृथा गौरव होता है अतः उसे वेदान्त में यथासम्भव स्वीकार नहीं किया जाता। इस शंका का निराकरण है कि **यह सत्य है कि पद सामान्य का वाचक होता है तथा वाक्यतात्पर्य-विषय विशेष होता है, किन्तु श्रुति-आदि से नियन्त्रित पद अन्विताभिधान की रीति से विशिष्ट अर्थ में तात्पर्य रखता है जिससे वाक्य की विशेषपरकता संगत हो जाती**॥३२॥ प्रश्नकर्ता का आशय था कि जब पद केवल सामान्य को बताता है तब पदसमुदायरूप वाक्य उससे भिन्न अर्थ को क्योंकर बता सकेगा? निराकरण का आशय है कि सामान्य के पदार्थ होने पर यह मतलब नहीं कि वह विशिष्ट नहीं हो सकता। अन्विताभिधान वाद वेदान्त में—विवरण व वार्तिक प्रस्थान में—स्वीकृत है व इसका स्वरूप इसी अध्याय में (श्लो. ९) बताया जा चुका है। रत्नावली वाक्य भी उद्धृत किया जा चुका है जिसमें वे योग्य इतरान्वित घटत्व आदि में शब्दशक्ति स्वीकारते हैं। अतः वाक्य का विशेष-बोधकत्व उचित है।

श्रुत्यादि से मीमांसा में अंगताबोधकतया प्रसिद्ध श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या का निर्देश है। जो शब्द शब्दान्तर की अपेक्षा किये विना अंगताबोधक हो उसे श्रुति कहते हैं, जैसे विभक्ति आदि। लिंग का अर्थ है सामर्थ्य, शब्दगत व अर्थगत शक्ति; जैसे 'दामि' शब्द की सामर्थ्य से पता चलता है कि वह वाक्य शाखाच्छेदन का अंग है या स्रुवरूप अर्थ की सामर्थ्य से पता चलता है कि वह द्रव पदार्थों के अवदान

अन्वयव्यतिरेकपुरःसरं वाक्यमेव सामानाधिकरण्यादिना अविद्यापटलप्रध्वंसद्वारेण मुमुक्षुं स्वाराज्येऽभिषेचयति, न

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

चतुर्विधान्वयव्यतिरेकाभ्यां शोधितपदार्थस्य स्वयमेवाखण्डार्थप्रतीतिसिद्धेर्वाक्यमनर्थकमित्याशङ्क्य; प्रमाणान्तरेण युक्तिमात्रादज्ञानस्यानिवृत्तेस्तन्निवृत्तये वाक्यमेवाश्रयणीयमित्युक्तमर्थं निगमयति– अन्वयव्यतिरेकेति।।३३-३४।।

का अंग है। अंगांगिता-बोधक विभक्त्यादि न रहते अंग और अंगी का साथ उच्चारण वाक्य कहलाता है जैसे 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' वाक्य से पर्णशब्दित पलाश की जुहू के प्रति अंगता का पता चलता है। अंग व अंगी की परस्पर आकांक्षा का नाम प्रकरण है; जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इसे 'कैसे'—यह आकांक्षा है और 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' आदि को 'क्या'—यह आकांक्षा है, अतः प्रकरण प्रमाण से दर्शपूर्णमास की अंगिता और समिध आदि अंगता का पता चलता है। अंग व अंगी का पाठ-स्थान या अनुष्ठान-स्थान एक हो तो स्थान प्रमाण कहा जाता है, इसे क्रम भी कह सकते हैं जैसे 'ऐन्द्राग्नं एकादशकपालं निर्वपेत्', 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्'—इन वाक्यों से विहित कर्मों को याज्या पुरोनुवाक्या की आवश्यकता होने पर संहिता में उसी क्रम से संहिता में पठित मन्त्र-युगलों की अंगता का ज्ञान होता है; अथवा जैसे उपाकरण आदि अनुष्ठान सादेश्य से अग्नीषोमीय पशुयाग के अंग जाने जाते हैं। याज्या शब्द उन शब्दों का बोधक है जिनका उच्चारण यज्ञ में आहुति देते समय याज्ञिक मन्त्रों का संस्कार करने के लिये किया जाता है। किसी देवता को होम में भाग लेने के लिये आमन्त्रित करने के मन्त्र को पुरोनुवाक्या कहते हैं। याज्या का उच्चारण पुरोनुवाक्या के अनन्तर होता है। समाख्या का अर्थ है यौगिक शब्द—वह शब्द जो मुख्य रूप से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का बोधक हो; जैसे 'होतृचमसः' इस समाख्या से चमसगत सोमरस भक्षण का अंग है यह पता चलता है। अस्तु। तात्पर्य यह है कि शब्द जब अपने अर्थ का बोध कराता है तो श्रुत्यादि के कारण अंगता-अंगिता आदि विशिष्ट रूपों में कराता है अतः वाक्यार्थ के सविशेष होने में कोई विरोध नहीं। अंगतादि दृष्टान्त हैं, योग्येतर मात्र से तात्पर्य है।

अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक महावाक्य ही सामानाधिकरण्य आदि द्वारा अविद्यारूप

त्वन्वयव्यतिरेकमात्रसाध्योऽयमर्थ इत्याह–

बुद्ध्यादीनामनात्मत्वं लिङ्गादपि च सिद्ध्यति।
निवृत्तिस्तावता नेतीत्यतो वाक्यं समाश्रयेत् ॥३३॥

न केवलमनुमानमात्रशरणोऽभिलषितमर्थं न प्राप्नोतीति, अनर्थं चाप्नोति इत्याह–

अनादृत्य श्रुतिं मोहादतो बौद्धास्तमस्विनः।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥३४॥

आवरण का नाश कर मुमुक्षु को अपने स्वरूपभूत ऐश्वर परम पद पर अभिषिक्त करता है, केवल अन्वय-व्यतिरेक से यह साध्य नहीं, इसे श्लोक द्वारा कहते हैं—**बुद्धि आदि आत्मा नहीं हैं, यह तो युक्ति से भी सिद्ध हो जाता है किन्तु इतने से उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती, अतः महावाक्य का सहारा लेना चाहिये**॥३३॥ तात्पर्य है कि प्रपंच का बाध तो अज्ञाननिवृत्ति से ही होगा अतः अद्वैतस्थिति महावाक्य पर निर्भर है।

केवल युक्ति का सहारा लेने वाला अभीष्टलाभ नहीं कर पाता इतना ही नहीं, उसे अनिष्ट की प्राप्ति होती है, इसे श्लोक द्वारा कहते हैं—**युक्ति से प्रमाण की वरीयस्ता न समझने के कारण श्रुति का निरादर कर अज्ञानी बौद्ध विचारक निरात्मता के सिद्धान्त पर आरूढ हो गये क्योंकि वे केवल अनुमान या युक्तिरूप एक ही आँख से देखना जानते हैं, समर्थ प्रमाण का सहारा नहीं लेते**॥३४॥ युक्तिमात्राश्रयण का ही फल है कि अत्यन्त सूक्ष्म चिन्तन कर बौद्ध अनिर्वचनीयता को तो समझ गये पर आत्मसत्यत्व को समझ न पाये तथा आत्मा को भी अनिर्वाच्य कोटि में मान गये। वे आत्मा को सादि सान्त हो जाने के भय से स्कन्धरूप न मान सके व खपुष्पायमान होने के भय से अस्कन्ध रूप भी नहीं मान सके। अतः अनात्मा की कोटिमें ही आत्मा को रखा—'आत्मेत्यपि प्रतिज्ञातमनात्मेत्यपि देशितम्। बैद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्॥' मध्यमकशास्त्र १८.६॥ वास्तव में शून्यता ही उनके हाथ लगी—'सर्वोपलम्भोपशमः प्रपंचोपशमः शिवः। न क्वचित् कस्यचित् कश्चित् धर्मो बुद्धेन देशितः॥'२४-२४॥ अतः नागार्जुन के टीकाकार चन्द्रकीर्ति भगवद्वाक्य उद्धृत करते हैं—'शून्यमाध्यात्मिकं पश्य पश्य शून्यं बहिर्गतम्। न

न चानादरे कारणमस्ति। यस्मात्, सर्वत्रैवानादरनिमित्तं प्रमाणस्य प्रमाणान्तरप्रतिपन्नप्रतिपादनं वा, विपरीतप्रतिपादनं वा, संशयितप्रतिपादनं वा, न वा प्रतिपादनमिति। न चैतेषामन्यतमदपि कारणमस्ति। यत आह–

मानान्तरानवष्टब्धं निर्दुःख्यात्मानमञ्जसा।
बोधयन्ती श्रुतिः केन न प्रमाणमितीर्यते ॥३५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणभूतस्य वाक्यस्य लोके मूलप्रमाणापेक्षादर्शनाद्वेदस्यापौरुषेयत्वेन तदसम्भवात्तत्प्रतिपादितेऽर्थे नास्माकमादर इति सुगतमतमाशङ्क्य; प्रत्यक्षादिषु मूलप्रमाणाभावेऽपि प्रामाण्यदर्शनादनधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रमाणानां मैवमित्याह– न चेति। **'मानान्तरावष्टब्धम्' इति 'अग्निर्हिमस्य भेषजमि'त्यादिवदनुवादलक्षणमप्रामाण्यं निराचष्टे–मानान्तरानधिगतत्वे हेतुः–**निर्दुःखीति। **अहं दुखीति संसारातीतत्वस्य मानान्तरानधिगतत्वात्। विपरीतप्रतिपादनलक्षणमप्यप्रामाण्यं नाशङ्कनीयमित्याह–**आत्मानमञ्जसेति॥३५॥

विद्यते सोपि कश्चित् यो भावयति शून्यताम्॥' म.शा. १८-३ की टीका॥ एवं च निःसाक्षिक शून्य भी वे युक्तिबल पर स्वीकारने को बाधित हुए केवल इस लिये कि उन्होंने 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' के उद्घोष का अनादर किया। अतः ठीक ही उन्हें यहाँ 'काणा' कहा गया है।

कोई कारण नहीं है कि श्रुति का अनादर कर उसकी बात न मानी जाये। किसी वाक्य को प्रमाण न मानने में चार ही कारण होते हैं-१) अन्य प्रमाण से लब्ध विषय में जब अपर प्रमाण प्रवृत्त होता है तो अनुवादककोटि में आने से बाद में प्रवृत्त प्रमाण का आदर नहीं किया जाता।-२) अन्य प्रमाणों से विरुद्ध बात बताये, तब भी वाक्य में प्रामाण्य-बुद्धि नहीं होती।-३) वाक्य यदि संशयात्मक प्रतिपादन करे तब उसे प्रमाण नहीं मानते।-४) यदि शब्द अनर्थक हों तो भी उन्हें किसी विषय में प्रमाण नहीं माना जाता। इनमें से कोई कारण वेदान्तशास्त्र में नहीं मिलता। कैसे नहीं मिलता, यह अगले चार श्लोकों द्वारा बतायेंगे। **अन्य प्रमाणों से अज्ञात दुःखस्पर्श-शून्य आत्मा को स्पष्ट समझाती हुई श्रुति प्रमाण नहीं, यह किस कारण से कहा जा सकता है**॥३५॥ इस प्रकार प्रथम कारण निवृत्त हुआ।

न च संशयितमवगमयति। यतः–

सर्वसंशयहेतौ हि निरस्ते कथमात्मनि।
जायेत संशयो वाक्यादनुमानेन युष्मदि ॥३६॥

अपि च–

यत्र स्यात् संशयो नासौ ज्ञेय आत्मेति पण्डितैः।
न यतः संशयप्राप्तिरात्मनोऽवगतित्वतः ॥३७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मनस्स्वरूपेणाबाध्यत्वात्–सर्वेति। **सर्वसंशयानां हेतौ** युष्मद्यहङ्कारप्रमुखेऽनात्मनि **चतुर्विधान्वयव्यतिरेकलक्षणानुमानेन** निरस्ते वाक्यादात्मनि कथं संशयो जायेतेत्यर्थः।।३६।।

पूर्वं प्रमाणस्वभावालोचनया संशयो न भवतीत्युक्तम्। इदानीं प्रमेयस्वभावालोचनयापि न संशय इत्याह–अपि च, यत्रेति। **आत्मनो निस्सामान्यविशेषस्य स्वयंप्रकाशत्वेन नित्यापरोक्षतया संशयायोग्यत्वाद् आरोपितदृश्यप्रपञ्चस्य संशयालम्बनत्वेऽपि विशिष्टरूपस्य तस्य अनात्मत्वात् स्वरूपतावन्मात्रे संशयो नास्तीत्यर्थः।।३७।।**

अधिकारिणः प्रमितिजनको वेद इति न्यायात् प्रतिपत्तियोग्यमपि विषयं

श्रुति संशयात्मक प्रतिपादन भी नहीं करती, क्योंकि—**अन्वयव्यतिरेकरूप अनुमान से सब संशयों के कारणभूत अहंकारादि अनात्मा से आत्मत्व निवृत्त हो चुकने पर वाक्य से संशय क्योंकर उत्पन्न होगा**।।३६।। तात्पर्य है कि वाक्यार्थबोध के लिये आवश्यक पदार्थशोधन से ही संशय की संभावना समाप्त हो चुकती है अतः वाक्य संशय का जनक नहीं होता। इस प्रकार तृतीय कारण निवृत्त हुआ।

वेदान्त प्रतिपाद्य प्रमेय का स्वरूप ही ऐसा है कि संशय संभव नहीं—**जिसके विषय में संशय हो, बुद्धिमानों द्वारा वह आत्मा नहीं समझा जाता क्योंकि स्वयंप्रकाश होने से उसके विषय में संशय हो ही नहीं सकता**।।३७।। यह भी तृतीय कारण का निवर्तक है।

अनर्थक शब्दों द्वारा अप्रतिपादकता रूप दोष तो दूर से भी शास्त्र पर नहीं लगाया जा सकता। शास्त्रश्रवण कर भी जो उसके अर्थ को नहीं समझते वह समझने वाले की कमी है, शास्त्र का दोष नहीं। जैसे घटपद कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ का वाचक है पर जिस व्यक्ति को यह मालूम नहीं, वह सुनने पर भी प्रतिपाद्यार्थ को नहीं समझता तथा दोष

अनवबोधकत्वं तु दूरोत्सारितमेव। यत आह–

बोध्येऽप्यनुभवो यस्य न कथञ्चन जायते।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ॥३८॥

अन्वयव्यतिरेकपुरस्सरं वाक्यमेवावाक्यार्थरूपम् आत्मानं प्रतिपादयतीत्यस्य पक्षस्य द्रढिम्ने श्रुत्युदाहरणमुपन्यस्यति।

जिघ्राणीममहं गन्धमिति यो वेत्त्यविक्रियः।
स आत्मा तत्परं ज्योतिः शिरसीदं वचः श्रुतेः ॥३९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

गाढमूढतया[1] **अप्रतिपद्यमानस्यानधिकारित्वान्नाप्रतिपत्तिलक्षणमप्यप्रामाण्यमित्याह**–बोधेऽपीति।।३८।।

अन्वयव्यतिरेकलक्षणतर्कस्य पदार्थशोधनद्वारेण वाक्यार्थप्रतीतिहेतुत्वमुक्तम्। तत्राविशेषेण पुरुषोत्प्रेक्षारूपाणां तर्काणां तद्धेतुत्वप्रसक्तौ वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनियमनमाशङ्क्य, प्रतिवेदान्तं सृष्टिस्थितिनियमनप्रवेशार्थत्वादसूचितानामेव तर्काणां तद्धेतुत्वमिति दर्शयति–अन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्यादिना। जिघ्राणीति। अहमिमं गन्धं जिघ्राणीति **व्यवस्थितं प्रमातारं** यो वेत्तीति **व्यभिचारिणां गन्धादिवृत्तीनांतदाश्रयस्य च साक्षिणमव्यभिचारिणं त्वंपदार्थमन्वय-**

पुरुष का ही माना जाता है, शब्द का नहीं, वैसे ही समझना चाहिये। बृहद्वार्तिक में भी कहा है—'प्रथमश्रवणे यत्र न शब्दार्थावधारणम्। तत्राऽव्युत्पन्नता हेतुः शब्दानां न त्वशक्तिता'।।१.१-८७५।। अतः कहते हैं—**आराम से समझे जाने योग्य आत्मवस्तु का ज्ञान जिसे किसी प्रकार उत्पन्न न हो, उस पुरुषाकार मृत्पिण्ड को शास्त्र कैसे बोध कराये**।।३८।। इस प्रकार चतुर्थ कारण निवृत्त हुआ। द्वितीय कारण को मुखतः निवृत्त नहीं किया किन्तु आत्मा को मानान्तर से अज्ञात कहकर (श्लोक. ३५) यह बता दिया कि अन्य प्रमाण उसे विषय ही नहीं करते अतः उनका विरोध भी सम्भव नहीं।

अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक वाक्य ही अवाक्यार्थ रूप (अखण्डार्थ रूप) आत्मा का प्रतिपादन करता है, इस पक्ष की दृढता के लिये श्रुतिवाक्यों का उपन्यास करते हैं—

---

१. गाढमूढचेतस्त्वेनेति भावः।

यथा 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यस्य शेषत्वेन अन्वयव्यतिरेकश्रुतिर्यथा 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छां. ८.७.४) इत्याद्या 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणि' (छां. ८.१२.४) इत्यन्ता, तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. १.४.१०) इत्यस्य शेषः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

व्यतिरेकाभ्यां विविच्य 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुष' इति तत्पदार्थरूपतामाचष्ट इत्यर्थः।।३९।।

यथा छन्दोगानां तत्त्वमसीति महावाक्यशेषत्वेनावस्थात्रयसाक्षिणोऽन्वय-व्यतिरेकश्रुतिः, एवमहं ब्रह्मास्मीति महावाक्यशेषत्वेन वाजिनामपि[1] 'योऽयं विज्ञानमयः, प्राणेष्वि'त्यादिका[2] दृश्यते। तथा प्रतिवेदान्तमित्थमन्वय-व्यतिरेकश्रुतयो द्रष्टव्याः, तेन न शुष्कतर्काणामिहानुप्रवेश इत्यभिप्रेत्याह–यथेति।

अहम **इत्यस्यायमर्थः**–अहमोऽहं **ब्रह्मास्मीति वाक्यगताहंपदस्य लिलक्षयिषितवाक्यार्थानुरोधेन** निरस्ताशेषयुष्मदो **व्यावर्तिताशेषाहङ्कार-**

'मैं इस गन्ध को सूँघू' आदि प्रकार से अवस्थित प्रमाता को जो साक्षी जानता है, वह साक्षी आत्मा है, वही परंज्योति है–तत्पदार्थ से अभिन्न है; ये वेदान्तों में श्रुत वचन हैं।।३९।। छान्दोग्योपनिषत् के प्रसंगों का (८.१२.४; ८.१२.३) निर्देश है। भाव है कि निर्विरोध निःसंशय ज्ञान श्रुति उत्पन्न कर देती है। और यह भी विवक्षित है कि चाहे जिस युक्ति का अनुसन्धान वेदार्थग्रह का उपाय नहीं, श्रुति में कही दिशा से ही किया विचार उपकारक है।

जैसे 'वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तुम हो' (छा. ६.८.७), इस महावाक्य के अंगरूप में अन्वय-व्यतिरेक बताने वाली 'जो यह आँख में पुरुष दीखता है' से (छा. ८.७.४) 'मैं इसे सूँघू—इस प्रकार के प्रमाता को जो जानता है' (८.१२.४) तक कि श्रुति है, वैसे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस महावाक्य की अंगभूत श्रुति 'जो यह विज्ञानमय पुरुष है'

---

१. वाजसनेयिनामिति भावः।
२. इति आदिर्यस्या श्रुतेः सा श्रुतिरित्यादिका।
३. तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः (ब्र.सू. २.१.११) इति सूत्रे शुष्कतर्काणां (श्रुतिविरुद्धतर्काणां) निराकृतत्वात् सूत्रभाष्यकाराभ्याम्। 'नैषातर्केण मतिरापनेया (कठ. १.२.९) इति च श्रुतेः। तर्केण शुष्कतर्केणेति भावः।

अहमः प्रत्यगात्मार्थो निरस्ताशेषयुष्मदः।
बम्भणीति श्रुतिर्न्याय्या योऽयमित्यादिनाऽसकृत्।।४०।।

कथं पुनरयमर्थोऽवसीयते अहंव्याजेन अत्रात्मार्थो बुबोधयिषित इति? यतः–

एष आत्मा स्वयंज्योती रविसोमाग्निवाक्षु सः।
इतेष्वस्तं दृगेवास्ते भासयंश्चित्तचेष्टितम्।।४१।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमुखाऽनात्मजातस्य प्रत्यगात्मा **लक्ष्योऽर्थ इति 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष' इति श्रुतिश्चतुर्विधाऽन्वयव्यतिरेकलक्षणन्यायोपेता तात्पर्येणाचष्ट इति।।४०।।**

कया पुनरनुपपत्त्याऽहं शब्दो वाच्यार्थं परित्यज्य लक्षणया कूटस्थात्मनि वर्तत इत्यपेक्षायां, वाक्यशेषवशादित्युत्तरश्लोकेनोच्यत इत्याह–कथमित्यादिना। एष आत्मेत्ययमर्थः–**'किं ज्योतिरयं पुरुष' इत्युपक्रम्यादित्यादि-बाह्याभ्यन्तरज्योतिषामुपरमे 'आत्मैवास्य ज्योतिरात्मनैवायं ज्योतिषास्त' इति**

इत्यादि (बृ. ४.३.७) है। इसे श्लोक द्वारा सूचित करते हैं—**समस्त अनात्मकोटि से व्यावृत्त प्रत्यगात्मा अहंपद का अभिप्रेतार्थ है; यह बात 'जो यह' इत्यादि वाक्यों द्वारा श्रुति पुनः पुनः कहती है।।४०।।** तात्पर्य यही है कि श्रुतिवाक्यों के अर्थ को श्रौत प्रसंगों व वाक्यशेषों के अनुसार ही समझना चाहिये। अतः छान्दोग्य के विषय में अंगरूप से बताये वाक्य यद्यपि विद्यान्तर के अन्तर्गत आये हैं तथापि पदार्थशोधन में उपयोगी होने से महावाक्य के उपकारक समझने चाहिये।

यह निश्चय कैसे होता है कि अहंकार के सहारे यहाँ प्रत्यगात्मा को समझना इष्ट है? वाक्यशेष की अन्यथा अनुपपत्ति से यह निश्चय होता है, यह श्लोक द्वारा बताते हैं—**सूर्य, चन्द्र, अग्नि व वाणी के अस्त हो जाने पर जो दृग्रूप स्वयंज्योति चित्त की चेष्टाओं को प्रकाशित करते हुए अवस्थित रहता है, वह आत्मा है; इस प्रकार उपनिषत् में ही स्पष्ट कर दिया है कि किसे समझना इष्ट है।।४१।।** बृहदारण्यक का प्रसंग (४.३) यहाँ निर्दिष्ट है।

---

१. अन्वयव्यतिरेकयोश्चातुर्विध्यमत्रग्रन्थे नै.सि. तृतीयाध्यास्यस्य प्रथमश्लोकटिप्पण्याम् प्रदर्शितम्।

निर्णेनेक्ति च पृष्टो मुनिः–

आत्मनैवेत्युपश्रुत्य कोऽयमात्मेत्युदीरिते।
बुद्धेः परं स्वतो मुक्तमात्मानं मुनिरभ्यधात् ॥४२॥

यस्माच्चाऽऽत्मा अत्र अहंव्याजेन प्रत्यङ्मात्रो जिग्राहयिषितः, तस्मादहंवृत्तिः स्वरूपस्य विलयेनैव वाक्यार्थावगमाय कारणत्वं प्रतिपद्यत इतीममर्थमाह–

अहंवृत्त्यैव तद् ब्रह्म यस्मादेषोऽवगच्छति।
तत्स्वरूपलयेनातः कारणं स्यादहङ्कृतिः ॥४३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

बुद्ध्यादिसाक्षिणः कूटस्थज्योतीरूपेणाहंशब्दस्य प्रतिपादितत्वादिति।।४१।।

कतम आत्मेति जनकेन पृष्टो याज्ञवल्क्यो मुनिः 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष' इति देहेन्द्रियबुद्धितद्वृत्तितत्कारणाव्याकृतेभ्यः परं प्रत्यगात्मानमहं शब्दार्थं यतो निश्चित्य दर्शयति, अतोऽप्युक्तार्थोऽवसीयत इत्याह–निर्णेनेक्ति चेदित्यादिना[1]।।४२।।

नन्वहङ्कारस्य लक्षणत्वेन सम्भवाल्लक्ष्यस्याद्वितीयत्वासिद्धिरित्याशङ्क्य, लक्ष्यस्वरूपानुरोधेन तद्बुद्ध्युत्पादनसमय एव तस्य तत्रारोपितस्य विलयान्नोक्तदोष इति दर्शयति–यस्माच्चेति।।४३।।

तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थे प्रत्यक्षादिविरोधो नास्तीति द्वितीयाध्याये यत्प्रतिज्ञातं तदित्यनुपपादितम्[2] इदानीमुपसंहियत इत्याह–

पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य मुनि ने इसे अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। **'आत्मरूप ज्योति से रहता है' यह सुनकर राजा ने पूछा कि वह आत्मा कौन है? इसके उत्तर में मुनि ने कहा कि बुद्धि का अविषय जो स्वरूप से ही मुक्त चैतन्य है वही आत्मा है। अतः अन्य किसी के आत्मत्व के सन्देह को निवृत्त कर दिया।।४२।।**

क्योंकि अहंकार के सहारे केवल प्रत्यगात्मा को ग्रहण कराना यहाँ अभीष्ट है अतः अहंवृत्ति अपने रूप को विलीन कर वाक्यार्थ के ज्ञान के लिये कारण बनती है। इसे श्लोक द्वारा बताते हैं—**क्योंकि मुमुक्षु अहंवृत्ति के सहारे ही उस ब्रह्म को समझता है इसलिये स्वस्वरूप के बाध के द्वारा ही अहंकार बोध का कारण बनता है।।४३।।**

---

१. निर्णेनेक्ति चेत्यादिना-इति पठनीयम्।
२. तदित्थमुपपादितम्—इति पाठश्चन्द्रिकायाम्।

अतएव च यः प्रतिज्ञातोऽर्थो 'नाहंग्राह्ये न तद्धीने' (२-५) इत्यादिः, स युक्तिभिरुपपादित इति कृत्वोपसंह्रियते–

गृहीताहंपदार्थश्चेत् कस्माज्ज्ञो न प्रपद्यते।
प्रत्यक्षादिविरोधाच्चेत् प्रतीच्युक्तिर्न युष्मदि ॥४४॥

पूर्वस्यैव श्लोकार्थस्य विस्पष्टार्थमाह–

पराञ्च्येव तु सर्वाणि प्रत्यक्षादीनि नात्मनि।
प्रतीच्येव प्रवृत्तं तत् सदसीति वचोऽञ्जसा ॥४५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अत एवेति। पूर्ववादिनो मतमुत्थापयति–प्रत्यक्षादीति। उत्तरमाह–प्रतीचीति। सुखदुःखादिविशिष्टस्य बुद्ध्युपाधिकस्यैव प्रत्यक्षादिविषयत्वं [तद्विषयं] च वाक्यं न भवति। यत्परं पुनर्वाक्यं स तु प्रत्यगात्मा न प्रत्यक्षादिविषयः, अतो न मानान्तरविरोध इत्यर्थः।।४४।।

प्रतीच्युक्तिर्न युष्मदीति श्लोकविभागः प्रत्यक्ष्यत[1] इत्याह–पूर्वस्येति।।४५।।

इस प्रकार जिस बात की द्वितीयाध्याय में (श्लो. ५) प्रतिज्ञा की थी कि अपनी सद्ब्रह्मरूपता जानने वाले को शरीरादि से कोई विरोध नहीं होता, उसका युक्तियों द्वारा उपपादन किया। अतः उसका उपसंहार करते हैं—**जिसने अहम्पदार्थ का शोधन कर लिया वह वाक्यार्थ समझेगा क्यों नहीं? यदि कहो कि प्रत्यक्षादि के विरोध के कारण नहीं समझता तो वह ठीक नहीं क्योंकि तत्त्वमस्यादि वाक्य प्रत्यगात्मा को विषय करते हैं और प्रत्यक्षादि प्रमाण औपाधिक आत्मा को विषय करते हैं अतः दोनों में विरोध नहीं हो सकता।।४४।।**

पूर्वश्लोक के अर्थ को स्पष्ट करते हैं—**प्रत्यक्षादि सब प्रमाण परागात्मा को ही विषय करते हैं, प्रत्यगात्मा को नहीं। 'तुम वह सद्ब्रह्म हो' आदि वाक्य प्रत्यगात्मा को ही युक्तिपूर्वक विषय करते हैं। अतः दोनों का विरोध सम्भव नहीं।।४५।।**

---

१. प्रपञ्च्यते-—इति चन्द्रिका पाठः।

तस्मात्, प्रमातृप्रमाणप्रमेयेभ्यो हीयमानोपादीयमानेभ्योऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां मुञ्जेषीकावदशेषबुद्धिविक्रियासाक्षितयाऽऽत्मानं निष्कृष्य तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्योऽपूर्वादिलक्षणमात्मानं विजानीयात्। तदेतदाह–

अहं दुःखी सुखी चेति येनायं प्रत्ययोऽध्रुवः ।
अवगत्यन्त आभाति स म आत्मेति वाक्यधीः ॥४६॥

प्रमाणान्तरानवष्टब्धं निरस्ताशेषकार्यकारणात्मकद्वैतप्रपञ्चं सत्य-ज्ञानानन्दलक्षणमात्मानम् 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिवाक्यं संशयितमिथ्याज्ञानाज्ञानप्रध्वंसमुखेन साक्षादपरोक्षात् करतलन्य-स्तामलकवत् प्रतिपादयत्येव इत्यसकृदभिहितम्।

तत्र केचिदाहुः–तत्त्वमस्यादिवाक्यैर्यथावस्थितवस्तुयाथात्म्या-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यस्मात् शोधितपदार्थस्य वाक्यार्थप्रतिपत्तौ न मानान्तरविरोध-स्तस्मात्ततः प्रतिपत्तिर्घटत एवेत्युपसंहरति–तस्मादिति। अहं दुःखीत्ययमर्थः–**दुःखित्वादिप्रत्यय आगमापायित्वादध्रुवोऽवगत्यतः प्रमित्यन्तो येन साक्षिणाऽऽ-**भाति **स एव सर्वज्ञः परमेश्वरो ममात्मेति वाक्याद्धीर्भवतीति।।४६।।**

वृत्तानुद्रवणपूर्वकमुत्तरग्रन्थसन्दर्भतात्पर्यमाह–प्रमाणान्तरेति। अशेष-प्रत्यक्षादीत्ययं **भावः–न सिद्धार्थविषयत्वं प्रमाणान्तरसापेक्षत्वे प्रयोजकं, लोके**

क्योंकि मानान्तरादि विरोध इस औपनिषद दर्शन में नहीं है अतः मूँज से इषीकाको निकालने की तरह धैर्यपूर्वक अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा उत्पत्ति-विनाशशील प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयों से भिन्न सब बुद्धि-वृत्तियों के साक्षीरूप में स्थित अपूर्वादि स्वरूप आत्मा को तत्त्वमस्यादि वाक्यों से जानना चाहिये। अपूर्वादि से बृहदारण्यक श्रुति (२.५.१९) का निर्देश है। जिस निश्चय को प्राप्त करने की कर्तव्यता बतायी उसे कहते हैं—**'मैं दुःखी, मैं सुखी' आदि प्रमिति पर्यन्त सब आगमापायी वृत्तियाँ जिसके कारण प्रतीत होती हैं वह साक्षी मैं हूँ, यह वाक्यार्थनिश्चय है।।४६।।**

यह कई बार कहा जा चुका है कि अन्य प्रमाणों के सहारे के बिना ही 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि औपनिषद महावाक्य संशयज्ञान अन्यथा ज्ञान व अज्ञान को नष्ट कर कार्य-कारणात्मक समस्त द्वैतरूप प्रपञ्च से रहित सत्य-ज्ञान-आनन्दरूप आत्मा का हाथ में रखे आँवले की तरह साक्षाद् अपरोक्षरूप से प्रतिपादन करते हैं। किन्तु इस पर कुछ नियोगवादी कहते हैं—यथाभूत वस्तु की यथार्थतामात्र में तात्पर्य वाले तत्त्वमस्यादि

न्वाख्याननिष्ठैः न यथोक्तोऽर्थः प्रतिपत्तुं शक्यतेऽभिधाश्रुतित्वात्तेषाम्। न हि लोकेऽभिधाश्रुतेः प्रमाणान्तरनिरपेक्षाया 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इत्यादिकायाः प्रामाण्यमभ्युपगतम्। अतो नियोगमुखेनैवाभिधाश्रुतेः प्रामाण्यं युक्तम्, प्रमाणान्तरनिरपेक्षत्वात् नियोगस्य।।

अस्य परिहारार्थमशेषप्रत्यक्षादिप्रमेयत्वनिराकरणद्वारेणातीन्द्रि-यार्थविषयत्वादभिधाश्रुतेः प्रामाण्यं सुप्तपुरुषप्रबोधकवाक्यस्येव वक्तव्यमित्ययमारम्भः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

गामानयेत्यादिप्रवर्त्तकवाक्येष्वपि तद्दर्शनात्तेन वस्तुनिष्ठं कार्यनिष्ठं वा यद्वाक्यं पौरुषेयं तन्मानान्तरसापेक्षं दृष्टमिति पौरुषेयत्वमेव सापेक्षत्वे प्रयोजकमिति। इह पुनर्वेदान्तेषु तदभावान्मानान्तरायोग्यविषयत्वाच्च सुतरां मानान्तरानपेक्षत्वं, सुप्तपुरुषप्रतिबोधकवाक्यस्येव बोध्यमानपुरुषमात्रविषयतया तदनवबोध-निवर्तनेन प्रमाख्याच्चोत्पन्नमिति[1]।

नित्यावगतीत्यादेरयमर्थः–**स्वभावतोऽवगतिरहितस्य मानान्तरापेक्षा दृष्टा। आत्मनः पुनः कूटस्थावगतिरूपत्वात्, पुरुषान्तरस्य वेदनवच्च प्रत्यगात्मत्वादेव व्यवधानाभावात्, स्वात्मतयाऽन्योपभोग्यताभावाद् विषयित्वेन च प्रमेयत्वायोग्यत्वात् श्रुतिप्रवृत्ति विषयशब्दादि-गुणरहितत्वात्[2], सततमहमस्मि न वेति सन्देहरहितात्मस्वभावत्वेन अनुमानादिप्रवृत्त्ययोग्यत्वात्, ग्राहकप्रतीत्युत्तर-**

वाक्य प्रामाणिक अखण्डार्थ का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं क्योंकि उनमें कोई विधायक पद नहीं है तथा लोक में यह माना जाता है कि जिस वाक्य में विधायक पद न हो, जैसे—'नदी किनारे फल हैं' आदि, उसे तभी प्रमाण माना जाये जब उससे बोधित बात किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध हो। अतः केवल बोधिका श्रुति नियोग (कार्य, अपूर्व) के द्वारा ही प्रमाणिक हो सकती है क्योंकि प्रमाणान्तर का अविषय होने से नियोग अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता।

नियोगवादी (प्राभाकर) की इस शंका का निराकरण करने के लिए उत्तरग्रन्थ का आरम्भ है जिसमें प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों की विषयता के निराकरण द्वारा अतीन्द्रिय

---

१. प्रमाख्या चोपपन्नेति—इति पठनीयम्। 'प्रामाण्यं चोपपन्नम्' इति चन्द्रिकायाम्।
२. श्रुतीति श्रोत्रमित्यर्थः।

नित्यावगतिरूपत्वादन्यमानानपेक्षणात् ।
शब्दादिगुणहीनत्वात् संशयानवतारतः ॥४७॥
तृष्णानिष्ठीवनैर्नात्मा[1] प्रत्यक्षाद्यैः प्रमीयते ।
प्रत्यगात्मत्वहेतोश्च स्वार्थत्वादप्रमेयतः ॥४८॥

श्रुतिरपीममर्थं निर्वदति–

[2]दिदृक्षितपरिच्छिन्नपराग्रूपादिसंश्रयात् ।
विपरीतमतो दृष्ट्या स्वतो बुद्धं न पश्यति ॥४९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कालीनदिदृक्षया प्रयुक्तकरणव्यापारजन्यतया तृष्णाकार्यभूतैः प्रत्यक्षाद्यैरात्मा न विषयी क्रियत इति।।४७-४८।।

दिदृक्षितेति **दिदृक्षालम्बनदेशादिपरिच्छिन्नपराग्भूतरूपाद्यालम्बनत्वाद्**

वस्तु-विषयक बोधमात्रपरक श्रुति का प्रामाण्य बताया जायेगा। जैसे सोये पुरुष को जगाने के लिये उच्चरित वाक्य नियोगादि के बिना ही उसके स्वाप की निवृत्ति से प्रमाणतालाभ कर लेता है, वैसे यहाँ समझना चाहिये। इस दृष्टान्त को आगे (श्लो. १०५) समझाया जायेगा। तैत्तिरीयवार्तिक (ब्रह्म. ९) में भी इसका आश्रयण है।

नित्य ज्ञानस्वरूप होने के कारण, अपने से भिन्न व किसी प्रमाण के अधीन सिद्धि वाला न होने के कारण, प्रत्यक्षादि की विषयता के योग्य शब्दादि गुणों से रहित होने के कारण, कभी संशय का विषय न होने के कारण, अव्यवधानेन स्वस्वरूप होने के कारण, किसी अन्य का उपभोग्य न होने के कारण तथा अभी प्रमा का विषय न होने के कारण आत्मा तृष्णा के कार्यभूत प्रत्यक्षादि द्वारा प्रमित नहीं होता।।४७-४८।। जो स्वभाव से ज्ञानरूप न हो वही प्रमाण-सापेक्ष-सिद्धि वाला देखा गया है, आत्मा स्वभाव से ज्ञानरूप होने के कारण वैसा नहीं। आत्मा अपने अपरोक्ष-व्यवहार के लिये (अपने स्फुरण के लिये) न अपने से भिन्न किसी पर आधारित है और न किसी प्रमाण पर आधारित है। जानने वाले और जानने के विषय में भेद हो तभी वह उसे जानता है, आत्मा स्वरूप होने से जाना नहीं जा सकता। अभिन्न होने से आत्मा उसे नहीं जान सकता व जड होने से अनात्मा उसे नहीं

१. तृष्णानिष्ठीवनैः—'तृष्णानिष्ठीवनभूतैः प्रत्यक्षादिप्रमाणैरात्मा प्रमाणानामप्यवभासको न प्रमीयते न भास्यते सर्वभासकत्वादि'ति सारार्थः।

२. दिदृक्षितं-'दर्शनेच्छाविषयीभूतं दृश्यत्वेनेष्यमाणमि'ति सारार्थकारः।

न्यायसिद्धमतो वक्ति दृष्टेर्द्रष्टारमात्मनः ।
न पश्येत्[1] प्रत्यगात्मानं प्रमाणं श्रुतिरादरात् ॥५०॥
अनुमानाविषयत्वेऽन्यदपि कारणमुच्यते–
प्रत्यक्षस्य पराक्त्वान्न संबन्धग्रहणं यतः ।
आत्मनोऽतोऽनुमित्याऽस्याऽनुभवो न कथञ्चन ॥५१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दृष्टेस्तथा तद्विपरीतमदिदृक्षितमपरिच्छिन्नप्रत्यग्भूतं रूपादिरहितं स्वयं प्रकाशमात्मानं न पश्यतीत्यर्थः।।४९।।

इत्थमर्थमुपवर्ण्य तत्र श्रुतिमवतारयति–न्यायसिद्धमिति। **'न द्रष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्यादिका** श्रुतिः **प्रमाणभूता** दृष्टेः **स्वरूपस्य** द्रष्टारं **प्रत्यगात्मानं** न पश्येरित्युक्तयुक्तिसिद्धं **तात्पर्येण** वक्तीत्यर्थः।।५०।।

अनुमानविषयत्वे निराकृते सति अर्थापत्त्यादेरपि विषयत्वं निराकृतमेव भवतीति मन्यमान आह–अनुमानेति। **प्रत्यक्षस्येत्ययमर्थः**–प्रत्यक्षस्याविनाभावलक्षणं **सम्बन्धग्राहकस्य परावक्त्वात् सामान्यविशेषवदनात्मवस्तुगोचरतया तद्रहितात्माविषयत्वादात्मानुमानादप्यनुभूयते[2]। अर्थादर्थापत्त्यादिभिरपि नानुभूयत इति।।५१।।**

जान सकता। जो वस्तु किसी अन्य के लिये (अन्यार्थ, अन्यशेष) होती है, उसे वह अन्य जानता है। आत्मा तो अन्यार्थ है नहीं, अतः उसे कोई नहीं जानता।

वेद भी इस बात को बताता है—**दृश्य, परिच्छिन्न, बहिर्भूत और रूपादि गुणवान् बुद्धिविषयतया अनुभूयमान की अपेक्षा विपरीत होने के कारण स्वयं ज्ञानरूप आत्मा को बुद्धिविषय कोई नहीं बना पाता।।४९।। अतः श्रुति इस युक्तिसिद्ध बात में ही तात्पर्य वाली है कि दृष्टि के स्वरूप को जानने वाले प्रत्यगात्मा को प्रमाण विषय नहीं कर सकता।।५०।।** बृहदारण्यक प्रसंग (३.४.२) का निर्देश है।

आत्मा को अनुमानादि विषय नहीं कर सकते इसमें एक और कारण बताते हैं—**क्योंकि प्रत्यक्ष बाह्य वस्तु को ही विषय करता है अतः उससे आत्मसम्बन्धी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता; अतः प्रत्यक्षाश्रित अनुमानादि आत्मा के सम्बन्ध में निर्वीर्य हैं।।५१।।**

---

१. 'न पश्येः' इति टीकानुरोधी पाठः।

२. 'तद्रहितात्माऽविषयत्वाद् आत्माऽनुमानादपि नानुभूयते'—इति पठनीयम्।

एवमयं प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवहारः सर्व एव पराचीनविषय एव, न प्रतीचीनमात्मानमवगाहयितुमलम्। एवं च सति अनेनैव यथोक्तोऽर्थोऽवसातुं शक्यत इत्याह–

प्रमाणव्यवहारोऽयं सर्व एव परात्मकः।
सुविचार्याप्यतोऽनेन युष्मद्येव दिदृक्षते ॥५२॥

यस्माद् लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणानधिगम्योऽहंब्रह्मास्मीति वाक्यार्थस्तस्मात्–

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निरस्याऽऽप्राणतो यतेः।
वीक्षापन्नस्य कोऽस्मीति सदसीति श्रुतिर्जगौ ॥५३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इत्थमुक्तयुक्तिभिरात्मनः प्रमाणान्तरागोचरत्वं निश्चेतव्यमित्युपसंहरति– एवमिति। युष्मद्येवेति। **युष्मद्यनात्मन्येव दिदृक्षां करोतीत्यर्थः।।५२।।**

अतो वेदान्तानामेवात्मनि प्रामाण्यमित्येतदपि सिद्धमित्युपसंहरति– यस्मादिति।।५३।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयरूप यह समस्त व्यवहार बाह्यवस्तु को ही विषय करता है अत: अन्तरतम आत्मा को विषय करने में समर्थ नहीं। क्योंकि यही वस्तुस्थिति है अत: इसीसे यह निश्चय किया जा सकता है कि आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं। इस बात को श्लोक द्वारा कहते हैं—**क्योंकि सारा ही प्रमाणव्यवहार बाह्यवस्तुविषयक ही है, अतः सूक्ष्म विचार कर भी यही निश्चय होता है कि इससे अनात्मा ही विषय किया जा सकता है, आत्मा नहीं।**।५२।। विचार का प्रारम्भ इससे हुआ था कि मानान्तर का विरोध न होने से आत्मशास्त्र प्रमाण है व सिद्ध यह हो रहा है कि आत्मा प्रमाण-व्यवहार का विषय नहीं! एवं च शास्त्रप्रमाण का भी विषय आत्मा रहा नहीं जिससे कि यह उक्ति चरितार्थ हुई 'मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं किं न पश्यसि!' यह शंका सहज है। इसके निराकरण के लिये यह जानना चाहिये कि यद्यपि यह सत्य है कि शास्त्रप्रमाण की भी विषयता आत्मा में नहीं है तथापि क्योंकि आत्मविषयक अज्ञानादि की निवृत्ति में केवल शास्त्रप्रमाण समर्थ है अन्य प्रमाण नहीं, इसलिये कहा जाता है कि शास्त्र आत्मा का प्रामाणिक ज्ञान कराता है। तथा तादृश अज्ञानादि निवृत्ति के उपयुक्त प्रमाणभूत ज्ञान शास्त्र उत्पन्न कराता है व उसका विरोध

सोऽयमन्वयव्यतिरेकन्याय एतावानेव यदवसानो वाक्यार्थस्तदभिज्ञस्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याविर्भवति, द्रष्टृदृश्यविभागेनागमापायिसाक्षिविभागेन च श्रुत्यभ्युपगमतः[1] सङ्क्षिप्योच्यते–

दृश्यत्वाद् घटवद्देहो देहवच्चेन्द्रियाण्यपि।
मनश्चेन्द्रियवज्ज्ञेयं मनोवन्निश्चयादिमत् ॥५४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीं वाक्यार्थज्ञानसाधनपदार्थविवेकहेतुभूतान्वयव्यतिरेकयोः पूर्वाध्यायोदितयोः पुनस्सङ्क्षेपतः प्रदर्शनायोत्तरग्रन्थ इत्याह–सोऽयमिति। **अवसीयते निश्चीयते आभ्यामित्यवसानमन्वयव्यतिरेकौ यावदवसानमस्य वाक्यार्थस्य कियदवसानः[2]। असम्भावनाविपरीतभावनानिरासेन वाक्यार्थनिश्चयस्यान्वयव्यतिरेकाधीनत्वात्** तदभिज्ञस्यान्वयव्यतिरेकाभिज्ञस्य। घटवदनात्मेति यावत्। निश्चयादिमद् **अन्तःकरणम्।।५४।।**

प्रमाणान्तर नहीं कराते, अत: शास्त्रजन्य बोध को निर्णीत मानना संगत हो जाता है। अत: पूर्वोक्त शंका अविचारमात्रविजृम्भित है।

क्योंकि लोकविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वाक्यार्थ जाना नहीं जा सकता इसलिये—**अन्वय-व्यतिरेक द्वारा देहादि प्राणपर्यन्त सब उपाधियों की आत्मरूपता का निराकरण 'मैं कौन हूँ' इस जिज्ञासा वाले यति को श्रुति ने कहा–'तुम वह शिव हो'**।।५३।। यति कह कर बता दिया कि वेदान्तों का मुख्याधिकारी संन्यासी ही है।

पूर्ववर्णित अन्वय-व्यतिरेक-विचार का इतना ही फल है कि उससे पदार्थशोधन हो जाने पर तत्त्वमस्यादि महावाक्य का 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अर्थ स्पष्ट प्रतिभात हो जाता है। तात्पर्य है कि अन्वय-व्यतिरेक वाक्यार्थ-बोध का उपकारक है, स्वयं मोक्ष में समर्थ नहीं। अन्वयव्यतिरेक पूर्वाध्याय में (११-९५ श्लो.) व प्रकृत अध्याय में (१०-४२ श्लो.) बताया जा चुका है। प्रसंग के पुन: पुन: कथन का प्रयोजन भी बताया जा चुका है (३.२४)। अब श्रुति का अनुसरण करते हुए द्रष्टा-दृश्य के विभाजन द्वारा और आगमापायी-साक्षी के विभाजन द्वारा उसे संक्षेप में पुन: बताते हैं—**दृश्य होने से शरीर घट की तरह अनात्मा है। शरीर**

१. श्रुत्यभ्युपगमतः—'श्रुत्यनुरोधतः' इति सारार्थकारः।
२. 'कि' इति मास्तु। 'अवसीयते निश्चीयतेऽनेनेत्यवसानो योऽयम्/ अन्वयव्यतिरेकन्यायोऽवसानो निश्चायकोऽस्य वाक्यार्थस्येति यदवसानः।' इति चन्द्रिका।

की तरह इन्द्रियाँ भी अनात्मा हैं। इन्द्रियों की तरह मन को अनात्मा जानना चाहिये। निश्चयादिवृत्तियों वाले अन्तःकरण को मन की ही तरह अनात्मा समझ लेना चाहिये॥५४॥ शरीर की दृश्यता चक्षु-विषयता, अत्यन्त स्पष्ट है। शरीर व इन्द्रियों की दृश्यत्वेन, विषयत्वेन तो समानता है ही, साथ ही अस्मत्त्वेन और ममत्त्वेन भी समानता है; दोनों ही में कदाचिद् अहंबुद्धि व कदाचित् ममबुद्धि होती है। 'मैं आँख' आदि बुद्धि न होने पर भी 'मैं देख रहा हूँ' आदि बुद्धि होती ही है।

विषयज्ञान व क्रिया के शरीरनिष्ठ साधनों को इंद्रिय कहते हैं। अन्य दार्शनिक ज्ञान-साधनभूत इन्द्रियों को स्वीकारते हैं पर क्रिया-साधन-रूप में स्थूलशरीर के तत्तदंगों को ही मान्यता देते हैं। किन्तु श्रुति-स्मृति-प्रसिद्ध होने से व फालिज आदि रोग से शरीर के अविकृत दीखते हुए ही क्रिया करने में असमर्थता दीखने से, वेदान्त सिद्धान्त दस इन्द्रियाँ स्वीकारता है। कुछ विचारक कहते हैं कि क्रियासाधनों की इन्द्रियता गौण है; किन्तु प्राणविचार में क्योंकि बुद्धि-इंद्रिय व क्रिया-इंद्रियों को तुल्य स्थान सूत्रों में दिया गया है इसलिये गौणता का आपादन असंगत है। तथापि इतना सत्य है कि इन्द्रियपद से प्रायः ज्ञानसाधन ही उपस्थित होते हैं। अतः इन्द्रियशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त को बताने की प्रतिज्ञा कर भी वाचस्पति ज्ञानेन्द्रियों की ही बात सोच पाये—'देहाद्यधिष्ठानत्वे सति रूपाद्यालोचनकरणत्वम् (इंद्रियशब्दस्य) प्रवृत्तिनिमित्तम्' (२.४.१९)। दीक्षित जी ने उक्त न्यूनता का प्रदर्शन भी कर दिया—'कर्मेन्द्रियेभ्यो व्यावृत्तं निरुक्तम्'। लक्षण में देहशब्द गोलकसूचक है—'तद्गोलकेषु देहशब्दः' (कल्प.) देहाश्रितत्व से भी क्या समझना चाहिये, यह भामतीकार ने वहीं बता दिया—'इदं चास्य देहाधिष्ठानत्वं यद् देहानुग्रहोपघाताभ्यां तदनुग्रहोपघातौ'। देहशब्द पुनः गोलकवाची समझना चाहिये। अतः जो प्रकटार्थकार ने 'कण्ठोष्ठादि-प्रदेशसमवेतं शब्दव्यंजकं करणं वाक्' (२.४.१४) कह दिया है, वह भी समवेत-शब्द को इसी अर्थ में मानकर कहा समझना चाहिये। अन्यथा जैसे घटसमवेत रूपादि जैसे घट के बिना कहीं जा नहीं सकता वैसे वाक् भी न जा पायेगी व पुर्यष्टक में उसका जाना इष्ट है।

इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष की विषय नहीं, कार्यानुमेय हैं। वाचस्पति भाष्यानुसन्धान करते हुए कहते हैं—'रूपादि बुद्धिपंचककार्यव्यवस्थातः चक्षुरादिबुद्धीन्द्रियकरण-पंचकव्यवस्था।...वचनादिलक्षणकार्यपंचकव्यवस्थातो वाक्पाण्यादिलक्षणकर्मेन्द्रिय-पंचकव्यवस्था' (भामती २.४.६)। चाक्षुष आदि ज्ञान व वदनादि क्रिया होने से

करणापेक्षी हैं अतः इनके करण रूप से इंद्रियों को स्वीकृति है। भाष्य में इनकी साधनरूपता को साफ स्वीकारा है—'यदेव हि उपलब्धिसाधनं—वृत्तिः, अन्यद् वा, तस्यैव नः करणत्वम्' (ब्र.सू. २.४.७)। उपलब्धि से क्रिया भी समझनी चाहिये।

इन्हें भौतिक ही माना जाता है तथा मुख्य प्राण की अपेक्षा तत्त्वान्तर माना जाता है—'तत्त्वान्तराणि एव प्राणाद् वागादीनि' (भाष्य २.४.१७)। प्राण तो शरीरधारण का हेतु है जबकि इन्द्रियों का कार्य अन्य है—'विषयालोचनहेतुत्वमिन्द्रियाणाम्' (भा. २.४.१९)। भौतिक होने पर भी इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। इनका परिमाण भी परिच्छिन्न है व अपने गोलक में ही ये कार्यकारी होती है—'श्रोत्रादीनां कर्णशष्कुल्यादि-स्थानविभागनिष्पत्तौ वृत्तिलाभः' (भाष्य २.४.८)। इन्द्रियाँ वर्तमानकालिक विषय को ही ग्रहण करती हैं—'वर्तमानकालविषयाणि च इन्द्रियाणि' (छां.भा. पृ. ४२४ म.अ.सं.) भामती में भी कहा है 'इन्द्रियाणां वर्तमानमात्रविषयत्वात्' (२.४.१७)। श्लोकवार्तिककार भी इससे सहमत हैं—'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'। इन्द्रियाँ तत्तद्देवता से अधिष्ठित होकर ही कार्य करती हैं। तथापि इन्द्रियाँ हैं जीव की शेषभूत—'चक्षुरादीनां जीवं प्रति करणभावो भवति' (भाष्य. २.४.१०)। इसी दृष्टि से कहीं-कहीं जीव की ज्ञानशक्ति को ज्ञानेन्द्रियों का व क्रियाशक्ति को कर्मेन्द्रियों का स्वरूप कह दिया जाता है। इन्द्रियस्वरूप का सरल परिचय भाष्यकार ने इतने से ही करा दिया—'जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रति उपकरणानि' (इन्द्रियाणि) (ब्र.सू. २.४.१०)।

इन्द्रियों व मन की समानता इन्द्रियत्वेन भी है व विषयत्वेन भी। यद्यपि इसमें कुछ मतभेद है कि मन को इन्द्रिय मानें या नहीं, तथापि उसे इन्द्रिय मानने वालों का पक्ष पुष्ट प्रतीत होता है। स्वयं प्रकटार्थकार कहते हैं—'यद्यपि आपाततः मनसोऽनिन्द्रियत्वं प्राप्नोति, तथापि सकलश्रुति-स्मृतिपर्यालोचनया मनसोपि इन्द्रियत्वमेव' (२.४.१७)। जो तो कहीं उसे इन्द्रियों से पृथक् कहा जाता है उसका कारण भामतीकार बताते हैं कि वर्तमानमात्रग्राहक इन्द्रियों की अपेक्षा उसमें सार्वकालिक वस्तुओं को विषय करने की विलक्षणता है—'मनसस्तु त्रैकाल्यगोचरत्वाद् भेदेनाभिधानम्' (२.४.१७)। सिद्धि मन की भी इन्द्रियों की तरह ही कार्यान्यथानुपपत्ति से होती है—'कर्मबुद्धीन्द्रियाऽसंभाविन्या संकल्पादिक्रियाव्यवस्थयाऽन्तःकरणव्यवस्थानुमानम्' (२.४.३ भामती)। नैयायिक मन को अणु व मीमांसक विभु मानते हैं पर वेदान्त में इसे देहपरिमाणी माना गया है—'अपंचीकृतपंचभूतारब्धं सत्त्वप्रधानं संकोचविकासशीलं स्वच्छद्रव्यं चक्षुर्वन्मूर्तद्रव्याभि-घातयोग्यं च देहपरिमाणं मनोभ्युपगन्तव्यम्। सिद्धान्ते सुखदुःखेच्छाज्ञानादीनां

तथा सकलकार्यकारणागमापायिविभागसाक्षित्वेनापि–
प्रागसद् याति पश्चात्सत्सच्च यायादसत्तथा।
अनात्माभिजनं तत्स्याद्विपरीतस्त्वयं दृशिः ॥५५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीं द्वितीयमन्वयव्यतिरेकं दर्शयति–तथेति। प्रागिति। प्रागसद्भूत्वा पश्चात् सद्याति **सत्त्वं प्राप्नोति, सच्च भूत्वा प्रध्वस्तमसत्त्वं प्राप्नुयादित्येतदनात्मस्वाभाव्यम्; तत्साक्षी पुनस्तद्विपरीत आगमापायशून्यः कूटस्थ इत्यर्थः।।५५।।**

तदाश्रयत्वाभ्युपगमात् तेषां च सर्वशरीरव्यापित्वेन उपलम्भात् तदाश्रयस्य मनसोपि सर्वशरीरव्यापित्वात्' (भगवद्भक्तिरसायनम् पृ. ५३, १९ श्लोक के अनन्तर गद्य भाग में)। उसे कहीं अंगुष्ठ परिमाण कहा जाता है किन्तु वह उसकी विशेषरूप में उपलब्धि के स्थान के परिमाण की दृष्टि से व्यवहार समझना चाहिये। मननादिसाधनतया अनुमित होने से युगपज्ज्ञान की स्वीकृति में कोई विरोध नहीं। प्रायः मन-शब्द अंतःकरण का सूचक होता है। अन्तःकरण की चार वृत्तियों के कारण उसके मन आदि चार नाम भी पड़ते हैं। प्रकृत श्लोक में संकल्पविकल्पात्मक अन्तःकरणवृत्ति का वाचक है क्योंकि उससे पृथक् अंतःकरण का ग्रहण है। यद्यपि अंतःकरण कह देने से मन का भी बोध हो सकता था, तथापि पृथग् ग्रहण का तात्पर्य है कि अनुभव में मन आदि वृत्तियाँ ही आती हैं, वृत्तिमद् अन्तःकरण का अनुभव नहीं होता। अतः अनुभवानुसरण करते हुए दृश्यत्व हेतु से मनोवृत्ति की अनात्मता सिद्ध हो जाने पर वृत्ति-वृत्तिमान् के अभेद से अन्तःकरण की भी अनात्मता सिद्ध आसानी से की जा सकती है।

जैसे यह द्रष्टा-दृश्य विभाग है वैसे ही सब कार्यकारणों का आगमापायित्व और उनके साक्षित्व का विभाग भी है जो आत्मा की वास्तविकता का बोध कराता है। **अनात्मवस्तुओं का स्वभाव है कि वे पहले नहीं होती, फिर होती हैं और पुनः नष्ट हो जाती हैं। इससे विपरीत, दृग्रूप निजात्मा है जो अनात्मा के भावाभाव का साक्षी है**।।५५।। नहीं होने का तात्पर्य है कार्य का कारणरूप में होना, व नष्ट होने का भी तात्पर्य है कार्य का कारण में लीन हो जाना। जो सर्वथा नहीं है, उसका होना स्वीकृत नहीं, व जो होता है उसका न होना भी संगत नहीं। अतः यही तात्पर्य समझना चाहिये। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ही ऐसी व्याख्या है। एकान्तेन ऐसा अद्वैतवाद में माना जा सकता नहीं। अतः 'यायाद् असत्' का सीधा अर्थ यही समझना चाहिये कि 'बाध

तत्र घटादीनां दृश्यानामनात्मत्वं द्रष्टृात्मपूर्वकं प्रत्यक्षेणैव प्रमाणेनोपलभ्य अनात्मनश्चासाधारणान् धर्मानवधार्य, तैर्दृश्यत्वागमापायादिभिर्धर्मैः शरीरेन्द्रियमनोनिश्चयादिवृत्तीरनात्मतया व्युदस्य अहंवृत्तिमतोऽपि दृश्यत्वाविशेषाद् द्रष्टृपूर्वकत्वमवसीयते। तदेतदाह–

घटादयो यथा लिङ्गं स्युः परम्परयाऽहमः।
दृश्यत्वादहमप्येवं लिङ्गं स्याद् द्रष्टुरात्मनः ॥५६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदानीं द्रष्टृकोटिनिविष्टतया परैरात्मत्वेनाभिमन्यमानस्याहंकारस्यानात्मत्वं साधयति–तत्रेति। असाधारणधर्माः **दृश्यत्वागमापायरूपादिमत्त्वादयः**। घटादय **इत्ययमर्थः–देहाद् बाह्यघटादयो विषया देहविशिष्टस्य लिङ्गं भवन्ति। एवं देहोऽपीन्द्रियविशिष्टस्य, सोऽपि मनसः, तदपि बुद्धेः, साप्यहङ्कारस्य यथा लिङ्गमेवमहङ्कारोऽपि ग्राह्यत्वात् स्वव्यतिरिक्तं द्रष्टृलिङ्गमिति।।५६।।**

होने पर अनात्मा के त्रैकालिकाभाव का निश्चय होता है जिससे वह नहीं रह जाता' यह कह सकते हैं। एवं क्योंकि त्रैकालिकाभाव-निश्चय होता है अतः 'प्रागसत्' कहना भी संगत हो जाता है तथा क्योंकि वाग्व्यापार व्यवहार काल में हो रहा है अतः 'याति पश्चात् सत्' कहने में कोई विरोध नहीं। अर्थात् 'प्रागसत्' और 'यायादसत्' यह बाध की दृष्टि से कहा है व 'याति पश्चात् सत्' यह प्रतीति की दृष्टि से, एवं च न अद्वैतहानि है, न सादिताप्रसंग है तथा अनात्म पदार्थों की नित्यतापत्ति का भी वारण हो जाता है।

सत्ता व असत्ता को पर्यायेण प्राप्त करने वाले घटादि दृश्य प्रपंच की अनात्मता का निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाता है क्योंकि आत्मा की द्रष्टृता निश्चित होने से दृश्य आत्मा हो नहीं सकता। घटादि की अनात्मता का निश्चय कर उनके दृश्यत्व, आगमापायित्व, रूपादिमत्त्व आदि असाधारण धर्मों को समझ लेना चाहिये तथा उन धर्मों से युक्त होने के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि व्यापारों को अनात्मा होने से आत्मरूपता से निवृत्त कर अहंवृत्ति वाले अंतःकरण की भी अन्यों की तरह दृश्यत्वादि से युक्त होने के कारण अनात्मरूपता का निश्चय होता है। (द्रष्टृपूर्वकत्वं = द्रष्टृपूर्वकसिद्धत्वं, दृश्यत्वमित्येतत्)। इस बात को श्लोक के द्वारा कहते हैं—**जैसे घटादि दृश्य होने से क्रमशः अहंकार के अनुमापक होते हैं, वैसे ही अहंकार**

ननु द्रष्टृदर्शनदृश्यानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु आगमापायदर्शनात् यत्साक्षिकौ तेषामागमापायौ, स आगमापायविभागरहित आत्मा, यथा यन्निबन्धनौ जगतः प्रकाशाऽप्रकाशौ स प्रकाशाप्रकाशविभागरहितः सूर्य इति। यदा चैवम्, तदा वाक्यावगम्यस्यार्थस्य अनुदितानस्तमितविज्ञान-मात्रस्वभावस्य अनुमानेनैव प्रतिपन्नत्वात् पुनरपि वाक्यस्य निर्विषयत्व-प्रसङ्गः। नैष दोषः। लिङ्गव्यवधानेन तत्प्रतिपत्तेः।

ननु साक्षादपरोक्षादात्मस्वभावेनाऽनात्मनो हानोपादानयोः संबन्धग्रहणात्, कमतिशयं वाक्यं कुर्यात्?

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवमन्वयव्यतिरेकयोरात्माधिगतिहेतुत्वे प्रपञ्चिते, पुनरपि वाक्यस्य निर्विषयत्वं प्राप्तमिति सांख्यमतमुत्थाप्य समाधत्ते–नन्वित्यादिना। **साक्षाद-परोक्षात्मस्वभावस्यैवानुमीयमानत्वात् कथं व्यवधानमिति पुनराशङ्कते**–ननु

भी दृश्य होने से आत्मा का अनुमापक है।।५६।। देह की अनात्मता घटदृष्टान्त से, इन्द्रियों की अनात्मरूपता देहदृष्टांत से व इसी तरह क्रमशः अहंकार की अनात्मरूपता सिद्ध होती है। अहंकार दृश्य होने से अपने से पृथक् द्रष्टा आत्मा का अनुमान करा देता है, अथवा अहंकार की दृश्यता की अन्यथानुपपत्ति से अनात्मा सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न होता है कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में द्रष्टा-दर्शन-दृश्य का होना न होना देखा जाता है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि जो उनके होने न होने का साक्षी है वह आत्मा, होने न होने से परे है जैसे जिसके कारण जगत् का प्रकाश व अप्रकाश है, वह सूर्य प्रकाशन व अप्रकाशन के विभाजन से रहित है। जब स्थिति यह है तब महावाक्य द्वारा समझा जाने वाला नित्यानुभवैकस्वरूप आत्मार्थ अनुमान से ही गृहीत हो चुकने के कारण पुनः पूर्वोक्त दोष उपस्थित होता है कि वाक्य का कोई अपूर्व तात्पर्य नहीं है। प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि यह दोष प्राप्त नहीं होता क्योंकि अनुमान से आत्मा का परोक्ष ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञाननाश के लिए आवश्यक अपरोक्ष नहीं।

इस पर पुनः शंका होती है—अनात्मवस्तुओं के होने-न-होने से आत्मा का जो साक्ष्यसाक्षिभावसंबन्ध गृहीत हुआ है वह तो साक्षाद् अपरोक्ष रूप में ही हुआ है अतः उससे होने वाला अनुमान अपरोक्षरूप से ही आत्मा का ज्ञान देगा जिससे वाक्य का कोई

मैवं वोचः। लिङ्गाधीनत्वात्तत्प्रतिपत्तेः।न हि लिङ्गव्यवधानेनाऽऽत्म-प्रतिपत्तिः, साक्षादपरोक्षात् प्रतिपत्तिर्भवति। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (का. १.२.२३) इति श्रुतेः। अत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

साक्षादिति। **द्रष्टृदृश्यभावेनावध्यवधिमद्भावेन**[1] **च ग्रहणमित्यर्थः। समाधत्ते**–मैवमिति। **इदं दृश्यमानं द्रष्टा इवागमापायौ तदवधिरयमिति**[2] **च विशेषणवत्तयैवानुमानादात्माधिगम्यते न निर्विशेषणतया साक्षाद्। साक्षाच्चाधिगतिर्मोक्षसाधनमिति श्रूयते इत्यभिप्रायः।** यमेव **केवलं निर्विशेषणमात्मानमेष साधको** वृणुते **निरन्तरं तन्निष्ठतया भजते।** तेन **परमात्मनाऽयमात्मा** लभ्यः। **कथं?** तस्यैष आत्मा **तस्य साधकस्यैष प्रकृतः परमात्मा** स्वामसाधारणां **समस्तविशेषणविनिर्मुक्ततया निर्विकल्पां** तनुं विवृणुते **विवृतां करोति विस्पष्टमभिव्यञ्जयति। यद्वा,** यमेव **साधकमेषः परमेश्वरो 'मामयं जानात्वित्यनुगृह्णाति,** तेन **साधकेनायं** लभ्यः। **शेषं पूर्ववत्।**

कृत्य नहीं रह जाता। किन्तु यह शंका भी नहीं की जानी चाहिये क्योंकि अनुमान से होने वाला ज्ञान हेतु के अधीन होने कारण परोक्ष ही होगा। लिंगलिंगिभाव का ग्रह, सामान्य के क्षेत्र में होता है, धूममात्र वह्निमात्र का लिंग माना जाता है। अतः अनुमान वह्निविशेष का ज्ञापक नहीं बनता। जब तक विशदावभास—विशेषज्ञान—न हो, तब तक अपरोक्ष अज्ञान की निवृत्ति सम्भव नहीं। एवं च हेतु पर आश्रित आनुमानिक आत्मबोध साक्षात् या अपरोक्ष नहीं होता। इस विषय में 'यह साधक जिस आत्मा का नित्य भजन करता है, उससे ही यह प्राप्त होता है, आत्मा उसके लिये अपना असाधारण रूप प्रकट करता है' (कठ. २.२३)—यह श्रुति प्रमाण है।

जो तो यह कहा था कि साक्ष्यसाक्षिभाव सम्बन्ध साक्षाद् गृहीत होने से आत्मा के भी साक्षात् ज्ञान का हेतु बनना चाहिये; वह भी ठीक नहीं। यद्यपि साक्ष्यसाक्षिभावसम्बन्ध साक्षाद्गृहीत् है तथापि अनुमान तो साक्षी की आगमापायरहितता का किया जा रहा है तथा साक्षी व आगमापायरहितता का संबन्ध साक्षाद्गृहीत नहीं है। यदि कहें कि पहले

---

१. अवधिः परिच्छेदकः, परिच्छिन्नोऽवधिमान्। बाधकोवाऽवधिः, बाधगोचरोऽवधिमान्। हानोपादानयोर्वाऽवधिस्तद्रहितआत्मा, अनादिरूपावधिमाननात्मा।

२. अत्रापि काचन त्रुटिर्भाति। इदं दृश्यमानम् अयं द्रष्टा, इदमागमापायवद्, तदवधिरयम्—इतिरीत्या द्रष्टृत्वाऽवधित्वविशेषणवत्तयाऽऽत्मग्रहणमनुमानाद् इति भावः।

लिङ्गमस्तित्वनिष्ठत्वान्न स्याद् वाक्यार्थबोधकम्।
सदसद्व्युत्थितात्माऽयमतो वाक्यात् प्रतीयते ॥५७॥

ननु यदि व्यावृत्तसदसद्विकल्पजालं वस्त्वभीष्टं वाक्याद् भवतः, तथापि तूत्सार्यते वाक्यविषया तृष्णा। यस्मादन्तरेणापि वाक्यश्रवणं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अस्तित्वनिष्ठत्वाद्धर्मसद्भावमात्रनिष्ठतया तदसाधारणस्वभावप्रतिपादनोदासीनत्वादिति यावत्।।५७।।

आशङ्कितपूर्वपक्षोत्तरत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति–नन्वित्यादिना। **आगो-**

आगमापाय से साक्षी सिद्ध किया जायेगा, तब भी उसे साक्षात्त्वेन सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि दृष्टांत स्थलों में जहाँ व्याप्तिग्रह हुआ है वहाँ साक्षात्वेन संबंध ग्रह होता नहीं। अतः आनुमानिक ज्ञान तो अपरोक्ष नहीं होता। शाब्दज्ञान की अपरोक्षता तो दशमस्त्वमसि आदि लौकिक दृष्टान्त में सिद्ध है व मोक्ष की अन्यथानुपपत्ति से मान्य है, यह आकरों में बताया गया है।

क्योंकि अनुमान अपरोक्ष-जनन में असमर्थ है, अतः कहते हैं—**अनुमितिजनक हेतु केवल साध्य की विद्यमानता का बोधक होता है अतः वाक्यतात्पर्यभूत अखण्डार्थ का ज्ञान नहीं कराता। अतः कदाचित् विद्यमानता व अविद्यमानता से परे जो आत्मस्वरूप है, वह वाक्य से ही साक्षात् प्रतीत होता है**।।५७।। आत्मा को शास्त्र बताता है व कोई प्रमाण उसका विरोध नहीं करता अतः शास्त्र की उस विषय में प्रामाणिकता स्थिर होती है। यदि शास्त्र से आत्मा का परोक्ष ही ज्ञान हो तो अपरोक्षज्ञान निवृत्त न हो व फलतः मोक्ष भी न हो। अतः शब्द से आत्मा का अपरोक्षज्ञान भी निश्चित होता है। यह नहीं कहना चाहिये कि मन से अपरोक्ष हो जायेगा क्योंकि वैसा मानने पर एक तो मन में अज्ञातवस्तु के ज्ञानकी कारणता माननी होगी व उससे होने वाले ज्ञान को अपरोक्ष मानना होगा, अतः दो कल्पनायें करनी होंगी जबकि शब्द की करणता क्लृप्त होने से उससे होने वाले ज्ञान को ही केवल अपरोक्ष मानना होगा, अतः एक ही कल्पना होने से लाघव स्पष्ट है। दशमस्त्वमसीत्यादि अनुभव का बल भी इस पक्ष में है।

यदि केवल आगन्तुक अस्तित्वादिव्यपदेश से व्युदस्त आत्मवस्तु के ज्ञान के लिये वाक्य की आवश्यकता है, तब भी वाक्य की अनिवार्यता का आग्रह वेदान्ती को

निरस्ताशेषविकल्पमागोपालाविपालपण्डितं सुषुप्ते वस्तु सिद्धम्। अतो नार्थो वाक्यश्रवणेन।

नैतदेवम्। किं कारणम्? सर्वानर्थबीजस्य आत्मानवबोधस्य सुषुप्ते संभवात्। यदि हि सुषुप्ते अज्ञानं नाभविष्यदन्तरेणापि वेदान्तवाक्यश्रवणमननिदिध्यासनानि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यध्यवसायात् सर्वप्राणभृतामपि स्वरसत एव सुषुप्तप्रतिपत्तेः सकलसंसारोच्छित्तिप्रसङ्गः। न च कैवल्यात् पुनरुत्थानं न्याय्यम्। अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। न चान्य एव सुषुप्तोऽन्य एवोत्थितः इति शक्यं वक्तुम्, 'नाद्राक्षमहं सुषुप्तेऽन्यत् किञ्चिदपि' इति उत्थितस्य प्रत्यभिज्ञादर्शनात्। तस्मादवश्यं सुषुप्तेऽज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पालाविपालपण्डितपर्यन्तानां सुषुप्तेऽप्यज्ञानस्य विद्यमानत्वान्न वाक्याधिगम्यनिर्विकल्पकं वस्तु तत्र सिद्धमिति परिहरति–नैतदिति। **एतदेव साधयति**–यदि हीति। **ननु उच्छिन्न एष संसारःसुषुप्ताविति? मैवमित्थं पुनरुत्थानदर्शनादित्याह**–न चेति। **सुषुप्तौ मुक्त एव, पुनरुत्थानं पुनरन्यस्येत्याशङ्क्य, सुषुप्तोत्थितयोः प्रत्यभिज्ञायैकधीगमान्मैवमिति[1] परिहरति**–न चान्य इति। **सुषुप्त्यवस्थायां साक्षिवेद्यं चेदज्ञानमभ्युपगम्यते तर्हि तत्कालेऽपि तद्व्यवहारयोग्यं स्यात्। रागद्वेषघटाज्ञानानां साक्षिवेद्यानां जाग्रत्यपरोक्षत्वेन व्यवहारयोग्यत्वदर्शनादित्याशङ्कते**–नन्विति। **निर्विकल्पकानुभवसिद्धस्याप्यस्य स्फुटाभि-**

छोड़ना होगा, क्योंकि वाक्य को सुने बिना भी गहरी नींद में समस्त नामादिविकल्पों से रहित वस्तु गाय व भेड़ चराने वालों से विद्वानों तक के अनुभव में आती हैं, जिससे कि वाक्य-श्रवण कोई अपूर्व बात बताने वाला नहीं रह जाता। इस शंका के निराकरण में कहते हैं कि यह बात नहीं है कि सुषुप्ति में शुद्ध आत्मा का अनुभव है, क्योंकि सभी अनर्थों का कारण आत्माऽज्ञान उस अवस्था में विद्यमान है। यदि सुषुप्त्यवस्था में अज्ञान न होता तो वेदान्त वाक्यों का श्रवण, मनन व निश्चय किये बिना ही सभी लोग 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जानकर मुक्त हो जाते, क्योंकि सुषुप्ति तो सभी को स्वाभाविकरूप से होती है, और इस प्रकार संसार ही उच्छिन्न हो चुकता। यह संगत नहीं कि मोक्ष के बाद पुनः संसरण हो क्योंकि वैसा होने पर मोक्ष ही असम्भव होगा। वादी को भी यही इष्ट है कि

१. प्रत्यभिज्ञयैकत्वाऽधिगमान्मैवमिति पठनीयम्।

ननु यदि तत्राज्ञानमभविष्यत्, रागद्वेषघटाज्ञानादिवत् प्रत्यक्षमभविष्यत्। यथेह लोके 'घटं न जानामि' इत्यज्ञानमव्यवहितं प्रत्यक्षम्। अत्रोच्यते। न, अभिव्यञ्जकाभावात्। कथमभिव्यञ्जकाभाव इति चेच्छृणु–

बाह्यां[1] वृत्तिमनुत्पाद्य व्यक्तिः स्यान्नाहमो यथा।
नर्तेऽन्तःकरणं तद्वद् ध्वान्तस्य व्यक्तिराञ्जसी ॥५८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

व्यञ्जकोपाधेरन्तःकरणस्याभावात् घटादिविषयबुद्धिवृत्त्यादौ इवाहङ्कारस्य न स्फुटप्रतिपत्तिरिति परिहरति–अत्रोच्यत **इत्यादिना।।५८।।**

मोक्ष आत्यन्तिक हो, अतः सान्त मोक्ष की मोक्षता उसे भी स्वीकृत नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सोता कोई अन्य जीव है व उठता अन्य ही जीव है, क्योंकि उठने वाले को प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'मैं वही हूँ जिसने सुषुप्ति में और कुछ नहीं जाना', और यह तभी सम्भव है जब सोने वाला और जगने वाला एक ही हो। प्रत्यभिज्ञा को न्यायभाष्य में इस प्रकार बताया है—'ज्ञानयोःसमानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्' (३.२.२)। किं च, अन्य का जगना मानने पर जीव की सादिता माननी होगी जो अमान्य है, यह भी समझ लेना चाहिये। अतः सुषुप्ति में अज्ञान है यह अवश्य स्वीकार्य है। गौडस्वामी ने भी कहा है 'अविद्याध्यासस्तु सुषुप्तावस्त्येव' (ल.चं. पृ. ६१७)।

प्रश्न होता है कि यदि सुषुप्ति में अज्ञान होता तो उसका राग, द्वेष, घटाज्ञान आदि की तरह प्रत्यक्ष होता, जैसे लोक में 'घड़े को नहीं जानता' इस प्रकार अज्ञान साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि विद्यमान होने से उसका साक्षात्प्रत्यक्ष हो यह आवश्यक नहीं। सुषुप्ति में अज्ञान को स्फुट अभिव्यक्त करने की अन्तःकरणरूप उपाधि न होने से अज्ञान का स्पष्ट भान नहीं होता। स्पष्ट भान न होने में अभिव्यंजक का न होना कारण है, न कि अज्ञान का न होना।

---

१. बाह्यां वृत्तिमित्यादि—'यथा साक्षिचैतन्यानुभवसिद्धस्याप्यहंकारस्य बाह्यघटादिविषय-बुद्धिवृत्त्यनुदये स्फुटप्रतिपत्तिर्न भवति तथैव सुषुप्तावन्तःकरणस्याभावादहमिति विशिष्टवृत्तेरनुदयात्तत्राहं ब्रह्म न जानामीति नाज्ञानप्रत्यक्षापत्तिरि'ति सारार्थकारः।

कश्चिदतिक्रान्तं प्रतिस्मृत्य 'दृश्यत्वादहमप्येवं लिङ्गं स्याद् द्रष्टुरात्मनः' (३-५६) इति निर्युक्तिकमभिहितमित्याह। किं कारणम्? अहंतज्ज्ञात्रोर्विवेकाप्रसिद्धेः। यथेह घटदेवदत्तयोः ग्राह्यग्राहकत्वेन स्फुटतरो विभागः प्रसिद्धो लोके, न तथेहाहंतज्ज्ञात्रोर्विभागोऽस्ति। तस्मादसाध्वेतदभिहितमिति। अत्रोच्यते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

शङ्कोत्तरत्वेन श्लोकमवतारयति–कश्चिदित्यादिना। न तथेहेति। **अहं पश्यामीत्यहम एव द्रष्टृत्वानुभवात् घटवद् दृश्यत्वेन स्वव्यतिरिक्त-द्रष्टृनुमापकत्वमनुपपन्नमित्यर्थः। यद्यप्यहं पश्यामीति ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वञ्चैकाश्रयं प्रतीयते तथाप्यन्यत्रानयोर्विभिन्नाधिकरणत्वदर्शनाच्चिद्धातोरहङ्कारव्यतिरेकेण**

अभिव्यंजक वहाँ नहीं यह कैसे? इसका उत्तर श्लोक द्वारा देते हैं—**जैसे अनात्मवृत्ति को उत्पन्न किये बिना अहंकार व्यक्त नहीं होता, वैसे अन्तःकरण के बिना अज्ञान की स्फुटप्रतिपत्ति नहीं होती**॥५८॥ सर्वज्ञात्ममुनि ने भी अन्तःकरण की अज्ञानाऽभिव्यंजकता को पंचप्रक्रिया के पंचमप्रकरण में बताया है—'अन्तःकरणादेरज्ञानस्य अभिव्यंजकत्वमात्रम्'। जो कुछ आधुनिक व्याख्याता ज्ञानाभाव को ही अज्ञान मानने की कुचेष्टा करते हैं, वह असंगत है क्योंकि ज्ञानमात्र का अभाव मानने पर अज्ञान का ज्ञान न बनेगा और यत्किंचिज्ज्ञान का अभाव मानने पर ज्ञानकाल में भी अज्ञान मानना होगा, तथा यत्किंचित् से किसका ग्रहण किया जाये इसका विनियामक भी कुछ न होगा। अतः पूर्वाचार्यों द्वारा बहुशः निराकृत उस मत का अनुकरण कर वे अपनी अनध्ययनशीलता का ही प्रचार करते हैं।

कोई प्रश्नकर्ता, यह भूलकर कि प्रसंग कहाँ तक बढ़ चुका है, पूर्व में (श्लो. ५६) कहे 'अहंकार भी दृश्य होने से आत्मा का अनुमापक है'—इस वाक्य को असंगत बताता है। असंगति का कारण क्या है? कारण है कि अहंकार और उससे पृथक् उसका साक्षी प्रसिद्ध नहीं। जैसे घड़ारूप ग्राह्य-विषय और देवदत्तरूप ग्राहक-विषयी, इस प्रकार स्पष्ट विभिन्न रूप में प्रसिद्ध हैं, वैसे अहंकार और उसे जानने वाला कोई अन्य है ऐसा प्रसिद्ध नहीं। अतः वह जो कहा था वह असंगत है। प्रश्न तो ग्रंथकार ही उठाते हैं, अतः भूल जाने आदि को वाचोयुक्ति समझना चाहिये। व्यवहित वाक्य से सम्बन्ध बताकर विषय के विस्तार के लिये ऐसा कह दिया है।

दाह्यदाहकतैकत्र यथा स्याद् वह्निदारुणोः ।
ज्ञेयज्ञातृकतैवं स्यादहंज्ञात्रोः परस्परम् ॥५९॥

एवं तावदविद्योत्थस्यान्तःकरणस्य बाह्यविषयनिमित्तरूपावच्छेदाय अहंवृत्तिर्व्याप्रियते। तया अवच्छिन्नं सत् कूटस्थप्रत्यगात्मोपादानाव-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सुषुप्तादौ द्रष्टृत्वदर्शनादहङ्कारस्य च सुखदुःखादिवेद्यधर्मविशिष्टस्य घटादिवत् द्रष्टृत्वानुपपत्तेर्ग्राह्यत्वमेव, न ग्राहकत्वमिति ग्राहकानुमापकत्वं सिद्धमित्येतत् दृष्टान्तेनोपपादयति–दाह्येति।।५९।।

ननु यदि घटादिवदहङ्कारोऽपि साक्षिचैतन्यस्य विषयस्तर्हि विषयत्वाविशेषात् घटादाविव ममेति बुद्धिः किं न स्यान्मामहं पश्यामीति। अहं पश्यामीत्येव कुतः प्रतीतिः? तथा घटादावप्यहमिति बुद्धिः किं न स्यान्ममेति बुद्धिरेव कुतः? इत्याशंक्य एतदुपपादयन्नुत्तरश्लोकमवतारयति–एवमिति।

इस प्रश्न का उत्तर श्लोक द्वारा देते हैं—**जिस प्रकार एक ही जलती हुई लकड़ी में वह्नि का दाहकताधर्म और लकड़ी का दाह्यताधर्म दोनों उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार अहंकार की ज्ञेयरूपता और आत्मा की साक्षिरूपता दोनों 'मुझे घटज्ञान है' आदि अनुभवों में है जिससे यह सिद्ध होता है कि वे एक-दूसरे से ज्ञेय-ज्ञातृसम्बन्ध रखते हैं**।।५९।। सुषुप्ति में तो अहंकार से भिन्न साक्षी स्पष्ट ही सिद्ध है। कुछ एकदेशी आचार्य 'जो मैं सुखी था वही मैं दुःखी हूँ' आदि विशिष्टविषयकप्रत्यभिज्ञा से साक्षी सिद्ध करते हैं। उनके मत में सुखादि विशेषणमात्र का परामर्श तो अहंकार कर लेता है पर विशिष्टरूप से अपना परामर्श नहीं कर सकता। दृष्टान्त के आधार पर ही शंका का समाधान कर दिया है, युक्तियाँ पूर्व में (श्लो. ८) दिखा ही चुके हैं।

इस प्रकार यह प्रतिपादित हुआ कि बाह्य विषयों के कारण बनने वाली, आविद्यक अन्तःकरण की वृत्ति से 'जानता हूँ' इस प्रकार विशेषित होने के लिये अहंकारात्मिका वृत्ति उत्पन्न होती है। उस वृत्ति से निरूपित अन्तःकरण कूटस्थरूप प्रत्यगात्मा के कारण होने वाले ज्ञान का इन्द्रियव्यवधान के बिना ही विषय बन जाता है। इस अवस्था में साक्षी व अहंकारात्मिका वृत्ति—इन दोनों का अवभासक-

बोधरूपस्याव्यवधानतया[1] विषयभावं प्रतिपद्यत इति। तत्र तयोर्ज्ञात्रहन्तारूपयोरवभासकावभास्यत्वसंबन्धव्यतिरेकेण नान्यत् संबन्धान्तरमुपपद्यते। अहंतारूपं तु आत्मसात्कृत्वा अहं–कञ्चुकं परिधाय उपकार्यत्वापकार्यत्वक्षमः[2] सन् बाह्यविषयेण उपकारिणा अपकारिणा

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

बाह्याश्शब्दादयो **विषयास्तन्निमित्तरूपं तदाकारज्ञानपरिणामस्तेनावच्छेदाय जानामीति तद्विशेषितत्वायाहं** वृत्तिर्व्याप्रियते **अन्यथा स्वपरसम्वेद्ययोरविशेषप्रसङ्गात्। तथापि कथं तत्प्रतीतिरित्यत आह**–तयाऽवच्छिन्नमिति। **कूटस्थो यः प्रत्यगात्मा तदुपादानस्तज्जन्यो यो बोधरूपोऽहंवृत्त्यवच्छिन्नान्तःकरणप्रतिबिम्बितश्चिदाभासः तदधीनत्वात्तस्य तज्जन्यत्वं तस्येन्द्रियादिव्यवधानमन्तरेण विषयत्वमन्तःकरणं प्रतिपद्यते। तथापि कथं घटादिवदात्मीयतया[3] नावभासत इत्याशंक्य; उपकार्योपकारकलक्षणसम्बन्धान्तराऽभावादित्याह**–तत्र तयोरिति। **घटादीनामात्मीयतयावभासस्तर्हि कथमिति? सम्बन्धान्तरसामर्थ्यादित्याह**–अहन्तेति। **तात्त्विकात्मकत्वं मा भूदित्यत आह**–अहंकञ्चुकमिति। **अतएवोपकारादिविषयत्वयोग्यो भवतीत्याह**–उपकार्येति। **अतएव चात्मा सोपाधिको घटादिविषयैरात्मीयत्वेन सम्बन्धं प्रतिपद्यत इत्याह**–बाह्यविषयेणेति।

अवभास्यभाव से अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध संगत नहीं। किन्तु अहंकार से अन्योन्याध्यास होने के बाद आत्मा उपकार्य-उपकारकभाव (= शेष-शेषिभाव) सम्बन्ध के योग्य होकर उपकारक या अपकारक बाह्य विषय से स्व-स्वीयता सम्बन्ध वाला हो जाता है। श्लोक द्वारा यह बात स्पष्ट करते हैं—**अहमात्मिका वृत्ति से निरूपित अन्तःकरण में साक्षी को बिना किसी माध्यम के, 'यह'–यह ज्ञान होता है और वही जब अहंकार से तादात्म्यापन्न होता है तो उसे 'मेरा'–यह ज्ञान होता है। अज्ञान उपाधि वाले चिदाभास के कारण 'यह'–**

---

१. अव्यवधानतया विषयभावं प्रतिपद्यते—'वह्नेर्लोहमिवाव्यवधानतया विषयभावं व्याप्तिं दृश्यतां भास्यतां प्रतिपद्यते वृत्त्यवच्छिन्नः प्रमाता स्वावच्छिन्नस्य स्वतादात्म्यापन्नस्यापि चैतन्यस्य विषयो भवतीति'सारार्थः।

२. उपकार्यत्वोपकारकत्वक्षम इति प्रायो मुद्रितः पाठः। क्लेशापहारिणीकृतां पाठ इह मूले स्थापितः, 'उपकारिणाऽपकारिणा वे'ति उत्तरत्र दर्शनात्।

३. चन्द्रिकानुसारमिहेदंवाक्यं योजनीयम्।

वात्मात्मीयं संबन्धं प्रतिपद्यते। तदभिधीयते–

इदं ज्ञानं भवेज्ज्ञातुर्ममज्ञानं तथाऽहमः।
अज्ञानोपाधिनेदं स्याद्विक्रियातोऽहमो मम ॥६०॥

एकस्यैव ज्ञातुरन्तर्बाह्यनिमित्तभेदादभिन्नेऽपि विषये 'इदम्', 'मम'–इति ज्ञानद्वैरूप्यं जायत इत्युक्तम्। अत्र उपक्रियमाणापक्रियमाणस्यैवज्ञातुर्विषये ममप्रत्ययो भवति, विपर्यये च इदंप्रत्ययः–इति कथमव-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इदमिति ज्ञानं साक्षात्स्वावभास्येऽन्तःकरणे अहंवृत्त्यवच्छिन्ने स्यात्तस्यैवाहंकञ्चुकस्य ममेति ज्ञानं घटादिषूपकार्योपकारकभावलक्षणसम्बन्धात् भवति। कुतोऽयं विभाग इति? अत आह–अज्ञानेति। **अज्ञानमुपाधिरस्येत्यज्ञानोपाधिकश्चैतन्याभासस्तेनेदमिति प्रत्ययस्स्यात्। अतः परं बाह्योपकारकादिसम्बन्धवशादहमो ममेति विक्रियाऽज्ञानपरिणामस्स्यादित्यर्थः।।६०।।**

उक्तविभागे प्रमाणप्रदर्शनार्थमुत्तरश्लोक इति वृत्तं कीर्त्तयन्नाह–एकस्यैवेति। अन्तर्बाह्यनिमित्तभेदात् **अन्तर्निमित्तं, चैतन्याभासः बाह्यनिमित्तमुपकारक-**

यह ज्ञान होता है और तदनन्तर होने वाले बाह्य उपकारादि सम्बन्धों के कारण अहंकार-विशिष्ट को 'मेरा' यह ज्ञान होता है।।६०।। साक्षी का केवल आध्यासिक सम्बन्ध है अतः अवभास्य-अवभासक से अतिरिक्त सम्बन्ध का निषेध किया। इतरेतराध्यास के साथ ही लोक व्यवहार का पदार्पण होता है, अतः उपकार्यतादि सम्भव है। 'आत्मसात्कृत्वा' और 'कंचुकं परिधाय' से अन्योन्याध्यास बताया गया समझ लेना चाहिये। चन्द्रिका टीकाकार ने वैकल्पिक व्याख्या से विषय और स्पष्ट किया है। अहंकाररूपता को प्राप्त आत्मा को घटादि के विषय में 'यह' और 'मेरा' इस प्रकार दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं। उनमें से 'यह'—यह ज्ञान केवल अज्ञानोपाधि से है और 'मेरा'—यह ज्ञान अहङ्कारोपाधि से है। यहाँ यह समझा जा सकता है कि विवरणोक्त अज्ञाततया साक्षिविषयता को 'यह'—इस ज्ञान द्वारा कहा है जिसे 'प्रमित्सायाम्' (३-८) आदि द्वारा सूचित किया था। एवं च दोनों व्याख्याओं का समन्वय सम्भव है।

गम्यते? अवगम्यताम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। तत् कथमिति? आह–

अनुपक्रियमाणत्वान्न ज्ञातुः स्यादहं मम।
घटादिवदिदं तु स्यान्मोहमात्रव्यपाश्रयात् ॥६१॥
मोहतत्कार्याश्रयत्वात् ज्ञातृत्वविक्रिययोः पूर्वत्र इदंममज्ञानान्वयः

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

घटादिविषयज्ञानपरिणामः तद्भेदाद् अभिन्नेऽपि विषयेऽन्तःकरणे **घटादौ च। ज्ञातुस्साक्षिणस्सुषुप्तिदशायामुपकारकादिसम्बन्धाभावात्** घटादिवदहं ममेति **ज्ञानं न भवति, मोहमात्रमेव व्यपाश्रयो यस्य चिदाभासस्य तद्वशाद्** इदन्तु स्यादिदमित्यवभासमात्रमेवाज्ञाने स्यादित्यर्थः।।६१।।

'इदं तु स्यादि'त्युक्तं व्यतिरेकमाह–मोहेति। विक्रिया **शब्दाद्याकार-**

अन्तःकरण और घटादिरूप विभिन्न विषयों के चिदाभासरूप आन्तर कारण से व उपकार्यतादि बाह्य कारण से 'यह' और 'मेरा'–इस प्रकार दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, यह बताया। इस पर प्रश्न होता है कि जिसका उपकार या अपकार होता है उस अहंकार-विशिष्ट की ही विषयों में 'मेरा' ऐसी बुद्धि होती है, तथा इससे विपरीत जिसका उपकारादि नहीं हो सकता उसे केवल 'यह'—बुद्धि होती है यह कैसे पता चलता है? उत्तर है कि अन्वय-व्यतिरेक द्वारा पता चलता है। अन्वय-व्यतिरेक कैसे हो, इसे श्लोक द्वारा सूचित करते हैं—**क्योंकि साक्षी अहंकार द्वारा उपकृत नहीं होता इसलिये उसमें 'मेरा'–ऐसा निश्चय नहीं होता। अहंकार क्योंकि अज्ञान के ही सहारे अवस्थित है इसलिये उसके विषय में 'यह'–ऐसा निश्चय ही होता है। जैसे घड़ा आदि जिसका उपकारकादि नहीं होता, उसके द्वारा 'यह' बस इसी रूप में विषय किया जाता है और जिसका उपकारकादि होता है उसके द्वारा 'मेरा'–इस रूप में भी विषय किया जाता है, वैसे ही समझना चाहिये**।।६१।। उपकार्यादि ही 'मेरा'—ऐसा निश्चय कराता है यह अन्वय और जहाँ उपकार्यतादि नहीं वहाँ 'मेरा'—ऐसा निश्चय भी नहीं यह व्यतिरेक जानना चाहिये।

पूर्व प्रसंग में यह दिखाया कि क्योंकि साक्षिता अज्ञानोपाधिक है इसलिये उसका 'यह'—इतने ही ज्ञान से सम्बन्ध होता है और क्योंकि प्रमातृत्व अज्ञान के कार्य

प्रदर्शितः। अथाधुना तद्व्यतिरेकेण व्यतिरेकप्रदर्शनार्थमाह–

विक्रियाऽज्ञानशून्यत्वान्नेदं न च ममात्मनः।
उत्थितस्य सतो ज्ञानं नाहमज्ञासिषं यतः ॥६२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विज्ञानपरिणामः। ननु कथमज्ञानशून्यत्वं सुषुप्तेऽप्यज्ञानस्य साधितत्वादित्याशंक्य; तत्राहमज्ञ इति स्फुटतरव्यवहाराभावात्तथोच्यत इत्याह– उत्थितस्येति।।६२।।

अन्तःकरण की उपाधि से है इसलिये उसका 'मेरा' इस ज्ञान से भी सम्बन्ध होता है। अब स्फुट अज्ञान व उसके कार्य अंतःकरण के न होने पर 'यह' और 'मेरा'—ये दोनों ज्ञान भी नहीं होते, यह बताने के लिये कहते हैं—**सुषुप्ति में शब्दाद्याकार मनोवृत्ति और स्फुटतरव्यवहार्य अज्ञान न होने से आत्मा को न 'यह' इस प्रकार का ज्ञान होता है और न 'मेरा' इस प्रकार का। उठे व्यक्ति को ही 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह अनुभव होता है जिससे सौषुप्त अज्ञान मान्य होता है, उस अवस्था में 'यह अज्ञान है' या 'मैं अज्ञानी हूँ' (मैं नहीं जान रहा हूँ) इत्यादि अनुभव नहीं होता**।।६२।। इस प्रकार स्फुटाज्ञान व तत्कार्य और इदं-मम-व्यवहार के अभावों का साहचर्य दिखा दिया। मूल में प्रयुक्त अज्ञान पद को स्फुट अज्ञान परक समझना चाहिये क्योंकि सुषुप्ति में अज्ञान रहता है यह बताया जा चुका है (३.५८ सम्बन्धोक्ति)। अन्यत्र भी भगवान् वार्तिककार कह देते हैं 'अविद्यादेरभावोक्त्या' (बृ. ४.३.१५३०) इत्यादि, वहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिये। जो तो 'मैंने कुछ नहीं जाना' इसे स्मृति नहीं माना है (बृ.वा. १.४.३००), वह उस अवस्था में अन्तःकरण न होने के कारण है न कि अविद्या न होने के कारण। सिद्धि में भी (३.५ सम्ब) अभिव्यंजकरूप मन के न होने से ही सुषुप्ति में अज्ञाननुभव को उपपन्न बताया है।

कुछ आधुनिक व्याख्याता इस अभिसंधि को न समझकर सौषुप्ताज्ञान के सद्भाव और इदंज्ञान के असद्भाव का उपक्रम-विरुद्ध सम्बन्ध प्रतिपादित न हो, इसके लिये त्रस्त हो उठते हैं। किन्तु अज्ञान का तात्पर्य स्फुटतर व्यवहार्य अज्ञान समझ लेने पर कोई शंका नहीं रह जाती। जो तो वे 'ज्ञान'-छेद कर उसका अर्थ ज्ञातृत्व करते हैं, उसका अस्वारस्य स्वयं उनके 'अथवा' पूर्वक अर्थांतर प्रदर्शन से ही पता चल जाता है। 'अकर्तरि' (३.३.१९) स्मृत होने से यथासंभव कर्त्ता को ल्युट् प्रत्यय से कहना ठीक

आत्मानात्मविवेकस्येयत्ताप्रदर्शनार्थमाह–

वाक्यप्रत्यक्षमानाभ्यामियानर्थः प्रतीयते।
अनर्थकृत्तमोहानिर्वाक्यादेव सदात्मनः ॥६३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इयत्ता **सर्वाऽनात्मविविक्तसाक्षिरूपावगतिपर्यन्तता**। वाक्येति **वाक्यं त्वंपदार्थपरिशोधकम् अत्र 'कोऽयमात्मे'ति**। प्रत्यक्षमन्वयव्यतिरेकजन्यमात्मानात्मविवेकानुभवः **ताभ्यां प्रमाणाभ्याम्** इयानर्थ**स्सकलानात्मविविक्तः कूटस्थः प्रत्यगात्मानुभूयते। तर्हि तत्त्वमस्यादिवाक्यमनर्थकं प्राप्तमित्याशंक्य; मैवं, तस्यैव मूलाज्ञाननिवर्त्तकत्वमित्याह**–अनर्थकृदिति।।६३।।

नहीं, यह अस्वरसता का बीज समझना चाहिये। वैकल्पिक व्याख्या में वे 'अज्ञान'-छेद मानकर उसका अर्थ अज्ञानोत्थज्ञातृत्वोपाधि करते हैं। जब अज्ञानरूप उपाधि ही पर्याप्त व प्रसिद्ध है, तो उससे पृथक् ज्ञातृत्व को उपाधि मानना असंगत है। अज्ञान से साक्षी कल्पित है, पुनः उसमें साक्षिता मानने का क्या फल? जो तो वार्तिक प्रसंग (बृ. ३.४.८६) यह बताता है कि साक्षी सत्य किन्तु साक्षिता मिथ्या है, उसका इतना ही तात्पर्य है कि स्वरूप से वह सत्य है और साक्षीरूप से मिथ्या है, किसी मिथ्या साक्षिता के विधान में तात्पर्य नहीं, निष्प्रयोजन होने से। अतः इस प्रकार की काल्पनिक व्याख्या अश्रद्धेय ही सिद्ध होती है।

आत्मा और अनात्मा के विवेक के फल की सीमा दिखाने के लिये कहते हैं—**त्वम्पदार्थशोधक अवान्तर वाक्यों और अन्वय-व्यतिरेक द्वारा इतना ही फल प्राप्त होता है कि सब अनात्मरूप उपाधियों से भिन्न साक्षी रूप प्रत्यगात्मा का अनुभव हो। किन्तु संसाररूप अनर्थ के कारणभूत सद्रूप आत्मसम्बन्धी अज्ञान का नाश तो महावाक्य-श्रवण से ही होता है**।।६३।। पूर्वार्ध व उत्तरार्ध में स्थित 'वाक्य' पद विभिन्नार्थक है। यद्वा, पूर्वार्ध का यह अर्थ समझना चाहिये—महावाक्य-जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति साधनभूत अन्वय एवं व्यतिरेक—इन दोनों का प्रयोजन इतना ही है—इत्यादि। एवं च अन्वय-व्यतिरेक वाक्यार्थबोध के प्रति और स्वयं वाक्यार्थ-बोध अज्ञान-नाश के प्रति कारण बताया गया। पूर्व में भी (३.५४ सम्बन्ध.) ऐसा बताया है।

द्वितीयाध्यायादौ श्रोतृचतुष्टयमुपन्यस्तम्। तत्र कृत्स्नानात्मनिवृत्तौ सत्यां यः प्रत्यगात्मन्यवाक्यार्थतां प्रतिपद्यते स क्षपिताशेषान्तरायहेतुरिति न तं प्रति वक्तव्यं किञ्चिदपि अवशिष्यते। योऽपि वाक्यश्रवणमात्रादेव प्रतिपद्यते, तस्यापि अतीन्द्रियशक्तिमत्त्वात् न किञ्चिदप्यपेक्षितव्यमस्ति। यश्च श्राविततत्त्वमस्यादिवाक्यः स्वयमेवान्वयव्यतिरेकौ कृत्वा तदवसान एव वाक्यार्थं प्रतिपद्यते, असावपि यथार्थं प्रतिपन्न इति

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यदि तत्त्वमस्यादिवाक्यं तमो निवर्त्तकं तर्हि सकृत्प्रवृत्तमेव प्रत्यक्षवत् स्वकार्यं कुर्यात्। अन्यथा[1] व्यतिरेकाभावान्न करोति, तर्हि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन ताभ्यामेव तत्त्वादधिगमसिद्धेरनर्थकं वाक्यमित्याशंक्य; क्षपितप्रतिबन्धादिविशेषे सकृत्प्रवृत्तस्य वाक्यस्य समर्थत्वेऽपि प्रतिबन्धाधिकारिविशेषविषये प्रतिबन्धक्षयमपेक्ष्यान्वयव्यतिरेकसहकृतं पुनः पुनश्श्राव्यमाणं स्वकार्यं कुर्यादिति दृष्टान्तपूर्वकमाह–द्वितीयाध्यायेति। नवेति[2] स्वव्यतिरिक्तान्नव पुरुषानीक्षमाणोऽपि

दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में चार प्रकार के महावाक्यश्रवणकर्ता बताये थे (२.३)। उनमें जो सभी अनात्मोपाधियों के बाधित होने पर प्रत्यग्भूत आत्मविषयक अखण्डार्थता को समझ लेता है, उसके तो सभी प्रतिबन्धक हेतु नष्ट हो चुके हैं, अतः उसके लिये कुछ भी कहना शेष नहीं रहता। इसी तरह जो श्रोता केवल महावाक्य के श्रवण से ही अखण्ड आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, उसके विषय में भी कुछ नहीं कहना है क्योंकि वह साधक अलौकिक सामर्थ्यशाली है। प्रथम श्रोता वाक्यानुसन्धान से ही बोधलाभ कर लेता है, बोध से अव्यवहित पूर्व उसे श्रवण नहीं करना तथा श्रवणादि गुर्वादि साधन

---

१. अन्वयव्यतिरेकाभावाद्—इति पठनीयम्।

२. यथा कदाचित् दशसंख्याकाः मत्स्यजीविपुरुषाः मत्स्यार्थं नदीम्प्रति गत्वा स्वेष्टसाधनानन्तरं नदीतः प्रत्यावर्तनकाले सर्वे वयं समागता न वेति विमृश्य परिगणनाय प्रवृत्तः परिगणनीयपुरुषनिष्ठया नवसंख्यया अपहृतविवेकज्ञानो दशमस्तदा परिगणनीयान्नवसंख्याकान् सम्यक् पश्यन्नपि भ्रान्त्या गणनाकर्तारं स्वात्मानं 'दशमोऽहमस्मि' इति न वेत्ति। अपि च दशमः नद्यां ममार इति शोचन् रौति। 'त्वं दशमोऽसी'त्याप्तवाक्यश्रवणं विना स्वात्मानं दशमोऽस्मीति विभ्रमाद्यथा न वेत्तीति भावः। अत्र उपदेशसाहस्री १८.१७४ आदिश्लोका द्रष्टव्याः।

पूर्ववदेवोपेक्षितव्यः। यः पुनरन्वयव्यतिरेकौ कारयित्वापि पुनः पुनर्वाक्यं श्राव्यते यथाभूतार्थप्रतिपत्तये, तस्य कृतान्वयव्यतिरेकस्य सतः कथं वाक्यं श्राव्यत इति? उच्यते–

नवसङ्ख्याहृतज्ञानो[1] दशमो विभ्रमाद् यथा।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥६४॥

अथ दृष्टान्तगतमर्थं दार्ष्टान्तिकार्थे समर्पयिष्यन्नाह–

अपविद्धद्वयो[2]ऽप्येवं तत्त्वमस्यादिना विना।
वेत्ति नैकलमात्मानं नान्वेष्यं चात्र कारणम् ॥६५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तद्गतनवसंख्ययैवापहृतज्ञानो दशमोऽसीत्याप्तवाक्यश्रवणं विनाऽऽत्मानं दशमोऽस्मीति विभ्रमाद्यथा न वेत्तीत्यर्थः।।६४-६५।।

भी उसके पास नहीं होते, जबकि द्वितीय श्रोता श्रवण कर बोध पाता है। यह दोनों में भेद है। तथा जो श्रोता तत्त्वमस्यादि महावाक्य सुनकर स्वयं अन्वय-व्यतिरेक कर पदार्थशोधनपूर्वक महावाक्यार्थ को समझ लेता है, उसने भी सही बात समझ ली अतः उसके विषय में भी विचार करना व्यर्थ है। किन्तु जिस श्रोता को वास्तविकता के बोध के लिये अन्वय-व्यतिरेक करा कर बार-बार महावाक्य का श्रवण कराया जाता है, उसके बारे में प्रश्न उठता है कि अन्वय-व्यतिरेक किये हुए उस व्यक्ति को वाक्य श्रवण किस प्रयोजन से कराया जाता है? इसका उत्तर श्लोकों द्वारा देते हैं—**जिस प्रकार नौ की संख्या से जिसका ज्ञान अभिभूत है वह दसवाँ व्यक्ति भ्रम के कारण अपने से भिन्न नौ व्यक्तियों को देखते हुए भी 'दसवाँ मैं हूँ' यह नहीं जानता**।।६४।। अब दृष्टान्त की बात को दार्ष्टान्त में घटाते हैं—**इसी प्रकार स्वयं अद्वितीय ब्रह्म होते हुए भी तत्त्वमस्यादि वाक्यश्रवण किये बिना साधक निरस्त-**

---

१. नवसंख्याहृतज्ञानः—'भ्रान्त्या नवसंख्या, संख्यानकर्तृत्वप्रतिबद्धसंख्येयत्वज्ञानः' (सारार्थः)।

२. अपविद्धद्वयोऽपि-शोधितपदार्थोऽपि। 'अद्वयोऽपि' (सारार्थः)।

'नान्वेष्यं चात्र कारणम्' इत्युक्तम्। तत्कस्मादिति चोदिते, प्रत्याह–अन्वेषणासहिष्णुत्वात्। तत्कथमित्याह–

सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा[1] सर्वन्यायविरोधिनी।
सहते न विचारं[2] सा तमो यद्वद्दिवाकरम् ॥६६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

निरालम्बा **उचितालम्बनवर्जिता।।६६।।**

समस्तोपाधि अपने स्वरूप को नहीं समझता। इसमें किसी अन्य कारण को नहीं खोजना चाहिये॥६५॥ दृष्टांत में जैसे बता देने पर कि 'तू ही दसवाँ' है वह समझ लेता है कि वही दसवाँ है, वैसे दार्ष्टान्त में भी 'तू ही ब्रह्म है' कहने से ही बोध होता है। अत: जिसने अन्वय-व्यतिरेक कर लिया उसे भी जब तक ज्ञान न हो, श्रवण करना ही चाहिये। प्रथम श्रवण, चरमश्रवण आदि का विचार पूर्व में किया ही जा चुका है। अन्वय व्यतिरेकशब्दित मनन से प्रमेय-गत असंभावनादि निवृत्त हो चुकने के कारण प्रमाणगत उन्हें निवृत्त करने के लिये श्रवण का पौन: पुन्य स्वाभाविक है। इस विषय में 'आवृत्तिरसकृद् उपदेशात्' (ब्र.सू. ४.१.१) प्रमाण है। जैसे आँख आदि प्रमाण से भी सूक्ष्म वस्तु को देखने के लिये आँखादि को ही एकाग्र करना पड़ता है वैसे ही यहाँ समझ लेना चाहिये। अत्यन्तसूक्ष्म वस्तु का प्राथमिक करणव्यापार से बहुधा प्रत्यक्ष नहीं होता पर अनन्तर व्यापार से होता है, यह अनुभवसिद्ध होने से अपलाप के योग्य नहीं और एतावता प्रामाण्यहानि भी नहीं होती। कारण खोजने का निषेध, भ्रान्ति के प्रति जो कारण है उसके विषय में तथा उसकी निवृत्ति के प्रति कारणीभूत वाक्य के सामर्थ्य के विषय में भी समझना चाहिये।

'इसमें कारण नहीं ढूँढना चाहिये', यह कहा। क्यों नहीं खोजना चाहिये? यह पूछे जाने पर उत्तर है—क्योंकि आत्माऽज्ञान अपने विषय में विचार को सहन नहीं कर पाता, इसीलिये खोजना नहीं चाहिये। यह बात कैसे है, इसे श्लोक द्वारा कहते हैं—**यह जो आत्मस्वरूप को न जानकर उससे विपरीत कर्तृत्वादि को स्वस्वरूप माननारूप भ्रान्ति है, इसका कोई लोकसिद्ध कारण नहीं तथा यह सब प्रकार से**

१. निरालम्बा—'आश्रयविषयस्वभावापि वस्तुत: आश्रयविषयरहितेति भाव:'।

२. सहते न विचारं सा—'एवंभूता सा विचारं प्रमाणाद्यवधारणानुकूलव्यापारं न सहते। विचार्यमाणा सती स्वरूपशून्यैव भवती'ति सारार्थ:।

तस्या: खल्वस्या अविद्याया भ्रान्ते: सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण निवृत्ति:–

बुभुत्सोच्छेदिनी चास्य सदसीत्यादिना दृढम्।
प्रतीचि प्रतिपत्तिः स्यान्नासौ मानान्तराद् भवेत् ॥६७॥
कथं पुनर्वाक्यं प्रतिपादयत्येवेति चेद्? दृष्टान्तोक्ति:–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तर्हि सकार्याया अविद्याया: प्रमाणज्ञाननिवर्त्यत्वात् प्रत्यक्षादिमानान्तरादपि निवृत्ति: किं न स्यादिति? तत्राह–तस्या **इति। सर्वसंसारविभ्रमाधिष्ठानस्य प्रत्यगात्मनो मानान्तरायोग्यत्वात् तत्प्रतिपादकवाक्यजन्यमेव ज्ञानं तन्निवर्तक-मित्यर्थ:।।६७।।**

प्रमाणान्तरादशक्यामधिगतिं वाक्यं कथं कर्तुं शक्नुयादित्याक्षिप्य दृष्टान्तप्रदर्शनेन समाधत्ते–कथमित्यादिना। ताम्यतो **दृशमज्ञानाय क्लिश्यतः**

युक्तिविरुद्ध है। अत: यह वैसे ही विचार को सहन नहीं करती जैसे अन्धकार सूर्य को सहन नहीं करता॥६६॥

और इस अविद्यात्मक भ्रम की निवृत्ति आत्मयाथात्म्यावबोध द्वारा ही होती है—**'तुम सद्रूप ब्रह्म हो' आदि प्रमाण वाक्य से उत्पन्न प्रत्यगात्मविषयक दृढ यथार्थ निश्चय ही इस भ्रम का उच्छेद किया चाहता है। अन्य प्रमाणों से इसका नाश नहीं होता**॥६७॥ लौकिक दृष्टि से भी अज्ञान का कारण नहीं होता। जानने का कारण तो होता है पर न जानने का कोई कारण नहीं होता, वह स्वाभाविक है। एवं आत्माज्ञान भी नैसर्गिक है। इसका निवर्तक महावाक्य-जन्य अखण्डार्थबोध है पर उसमें भी वाक्य की अचिन्त्य शक्ति की ही शरण है। लौकिक दृष्टि से तो जिस आत्मा से शब्द का सम्बन्ध-ग्रह है नहीं—सम्बन्ध ही नहीं—उसका शब्द से बोध संभव नहीं। इसी प्रकार अविद्या व आत्मा का सम्बन्ध न्यायसिद्ध नहीं, आविद्यिक ही है। तथा अविद्यानिवृत्ति भी किंरूप है—इसे युक्ति से निरूपित करना असंभव है। अत: आचार्य ने सौ बात की एक बात बताई—अविद्या अपने विषय में विचार को सहन नहीं करती।

जब आत्माऽविद्या का नाश अन्य प्रमाण नहीं कर सकते तो महावाक्य ही कैसे आत्मप्रतिपादन द्वारा इसका नाशक होता है? श्लोक द्वारा दृष्टान्त बताते हुए इस प्रश्न

जिज्ञासोर्दशमं यद्वन्नवातिक्रम्य ताम्यतः ।
त्वमेव दशमोऽसीति कुर्यादेवं प्रमां वचः ॥६८॥

सा च तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणजा प्रमोत्पन्नत्वादेव। न च 'नैवम्' इति प्रत्ययान्तरं जायते। तदेतद् दृष्टान्तेन प्रतिपादयति–

दशमोऽसीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ।
आदिमध्यावसानेषु न नवत्वस्य संशयः ॥६९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दशमोसीतिवचो **यथा** प्रमां कुर्यात्। एवं **तत्त्वमस्यादिवचो विजिज्ञासोः प्रमां कुर्यादित्यर्थः।।६८।।**

भवतु प्रमाता तथापि सा बलवत्तरैः पूर्वोत्पन्नैरुत्तरकालीनैर्द्वैतविषयैः प्रत्ययान्तरैर्विरोधात् बाध्यते, संशयिता वा भवतीत्याशङ्क्य; दृष्टान्तेनैतदुभयमपि निराचष्टे–सा चेति। उत्पन्नत्वादेव **न विहन्यत इति शेषः।** आदिमध्यावसानेष्विति **ज्ञानोत्पत्तेः तत्समकालमुत्तरकालं वेत्यर्थः।।६९।।**

का उत्तर देते हैं—**जिस तरह नौ से भिन्न दसवें व्यक्ति को जानने की इच्छा वाले और उसे न जानकर दुःखित व्यक्ति को 'तुम ही दसवें हो' यह वाक्य प्रमा उत्पन्न करता है उसी तरह तत्त्वमस्यादि महावाक्य आत्मप्रमा उत्पन्न कर भ्रान्ति का समापन करते हैं।।६८।।**

तथा तत्त्वमस्यादि वाक्य से उत्पन्न आत्मबुद्धि उत्पन्न होने से ही प्रमा है। उस निश्चय से विपरीत—'ऐसा नहीं है'—इस तरह का प्रमाणिक निश्चय भी उत्पन्न नहीं होता जिससे भी सिद्ध होता है कि यह प्रमा है। वेदान्त में स्वीकृत है कि प्रामाण्य स्वतः होता है। अतः जब तक बाध न हो तब तक ज्ञानमात्र प्रमा माना जाता है। अतः कहा कि उत्पन्न होने से ही प्रमा है। यह भी अभिप्रेत है कि संभावित बाधक मात्र का बाध होने पर उत्पन्न होने से, बाध असम्भव होने के कारण प्रमा है। इसी प्रकार अप्रामाण्य परतः मान्य है। अतः कहा कि बाधक ज्ञानान्तर नहीं है। इसी विषय को उदाहरण द्वारा प्रतिपादित करते हैं—**जिज्ञासु का 'तुम दसवें हो' इस वाक्य से उत्पन्न निश्चय बदलता नहीं क्योंकि उस ज्ञान से पूर्व, उस ज्ञान के उत्पत्ति काल में व उसके अनन्तर भी नौ व्यक्तियों के विषय में उसे कोई संशय नहीं होता जिससे न वह**

एवं तत्त्वमसीत्यस्माद् द्वैतनुत्प्रत्यगात्मनि ।
सम्यग्ज्ञातत्वमर्थस्य जायेतैव प्रमा दृढा ॥७०॥

प्रत्यगात्मनि प्रमोपजायत इत्युक्तम्। तत्र चोद्यते। किं यथा घटादिप्रमेयविषया प्रमा कर्त्रादिकारकभेदानपह्नवेन जायते तथैव, उत अशेषकारकग्रामोपमर्देन कर्तुः प्रत्यगात्मनेति? उच्यते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

दार्ष्टान्तिकमाह–एवमिति। **सर्वस्व कस्मान्न जायत इत्याशङ्क्य; पदार्थपरिशोधनाभावादित्याह**–सम्यगिति। **सम्यग्ज्ञातस्त्वमर्थस्त्वंपदार्थो येन तस्यैव जायत इत्यर्थः।।७०।।**

स किं कर्त्रादिकारकग्रामोपमर्देन जायते उत न? आद्ये, स्वस्याप्यभावस्स्यात्। द्वितीये, नाद्वैतसिद्धिः, कर्त्रादिद्वैतावस्थानाद्; इत्येतच्छङ्कोत्तरत्वेन उत्तरश्लोकमवतारयति–प्रत्यगात्मनीत्यादिना। **क्रियाकारकशून्यं सर्वान्तरमद्वयमस्यात्मनस्स्वाभाविकं रूपमितरत्तु अविद्याध्यारोपितम्। तेन विद्योत्पत्तेः प्राक् प्रमात्रादिसम्भवेऽपि नोत्पन्नविद्यस्याविद्यानिवृत्तौ प्रमात्रादिसंभवाद्द्वैतविरोधः[1]। नाप्यद्वैतप्रमानुदयः, तदुत्पत्तेः प्रागारोपितरूपेण**

यह मानता है कि उनमें से कोई दसवाँ हो सकता है और न यह मानता है कि वही नौ के अन्तर्गत हो सकता है।।६९।। इसी प्रकार जिसने त्वम्पदार्थ का भली भाँति शोधन कर लिया है उसे तत्त्वमसि-वाक्य से द्वैतबाधिका प्रत्यगात्मबोधिका दृढ प्रमा अवश्य उत्पन्न होती है।।७०।। शोधन के कारण क्योंकि उसे उपाधिमात्र की अनात्मता के विषय में कोई सन्देह नहीं, अतः न तो वह उपाधियों को ब्रह्मरूप समझेगा और न अपने को उपाधिरूप समझेगा जिससे कि उसका अपनी ब्रह्मरूपताविषयक निश्चय बदले।

'प्रत्यगात्मा के विषय में प्रमा उत्पन्न होती है'—यह पूर्वश्लोक में कहा। इस पर यह प्रश्न उठता है कि क्या जैसे घड़े आदि प्रमेय को विषय करने वाली प्रमा कर्ता आदि कारकों के भेद का बाध किये बिना उत्पन्न होती है वैसे ही प्रत्यगात्मप्रमा होती है, या समस्त कारकों का बाध कर कर्ता के प्रत्यगात्मा के विषय में प्रमा उत्पन्न होती है? प्रश्न का तात्पर्य यह है कि यदि बाध किये बिना उत्पन्न होती है तब तो अद्वैत सिद्ध न होगा

---

१. प्रमात्राद्यसम्भवाद् इति पठनीयम्। नाऽद्वैतविरोध इति सम्बन्धः।

प्रत्यक्ताऽस्य स्वतोरूपं निष्क्रियाकारकाफलम्।
अद्वितीयं तदिद्धा धीः प्रत्यगात्मेव लक्ष्यते ॥७१॥
यस्मादेवम्–
विपश्चितोऽप्यतस्तस्यामात्मभावं वितन्वते।
दवीयस्स्विन्द्रियार्थेषु क्षीयते ह्युत्तरोत्तरम् ॥७२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमात्रादीनां सद्भावादिति भावः। ननु कथं प्रत्यगात्मनोऽद्वितीयत्वं, तस्य कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतीयमानत्वादित्याशङ्क्य; तत्प्रतीतेरन्तःकरणोपाधि-विशिष्टविषयत्वान्न विरोध इति परिहरति–तदिद्धा धीरिति। तदिद्धा **तच्चैतन्याभाससन्दीप्तेति यावत्।।७१।।**

व्यवहारगोचराणां विदुषां तस्यां बुद्धावात्मत्वविभ्रमोऽपि तस्याः प्रत्यगात्मचैतन्याभा(-सानुविद्धतां गमयतीत्याह–यस्मादेवमिति। **बुद्धिप्रति-बिम्बितचैतन्याभा-)[1] सव्यवधानादात्मत्वविभ्रमस्य विरलतादर्शनादप्येतदधि-गन्तव्यमित्याह–**दवीयस्स्विति। **बुद्धिरनन्तरबाह्यपदार्थेष्वात्मभावो[2] विवेकि-नामवचीयत इत्यर्थः।।७२।।**

और यदि बाध कर देती है तो साधनरूप कारक न होने से प्रमा उत्पन्न ही नहीं हो पायेगी। श्लोक द्वारा इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—**क्रिया-कारक-फलशून्य अद्वितीय प्रत्यक्ता आत्मा का स्वाभाविक रूप है। तादृश चैतन्य के आभास से प्रदीप्त बुद्धिवृत्ति प्रत्यगात्मा को मानो लखा देती है**॥७१॥ एवं च क्रियाद्यपेतता वास्तविक होने से व वास्तविक आत्मरूप नित्य होने से अनुत्पत्त्यापत्त्यात्मक दोष निवृत्त हो गया व अनुभूयमान प्रत्यगात्मरूप साभासबुद्धिविषयक होने से कर्तादि से सद्वयताप्रसंग भी अवास्तविक घोषित हो गया।

क्योंकि बुद्धि में आत्मप्रतिबिम्बग्रहसामर्थ्य है इसलिये—**विवेकशील व्यक्ति भी उसे अपना स्वरूप मानते हैं। उसकी अपेक्षा दूर (व्यवहित) इन्द्रियादि पदार्थों में क्रमशः अहम्बुद्धि विवेकिजनों की निवृत्त होती जाती है**॥७२॥ शोधन प्रारम्भ कर चुके व्यक्ति का यहाँ प्रसंग जानना चाहिये। 'अप्रत्यक्षाणि अन्तःस्थानि

१. कुण्डलितभागश्चन्द्रिकानुसरणेन योजयितव्यः।
२. बुद्धेरनन्तरमिति पठनीयम्।

आह–यदि वाक्यमेव यथाभूतार्थावबोधकमथ कस्य हेतोरविद्योत्थापितस्य कर्तृत्वादेरुपदेशः? इत्युक्ते प्रतिविधीयते–

भ्रान्तिसिद्धमनूद्यार्थं तत्तत्त्वं भ्रान्तिबाधया।
अयं नेत्युपदिश्येत तथैवं तत्त्वमित्यपि ॥७३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आहेति। **'येन वा पश्यति येन वा शृणोति', 'द्रष्टा श्रोता मन्ता कर्त्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः', 'पिप्पलं स्वाद्वत्ती'ति च त्वंपदाभिधेये जीवे संसारधर्मोपदेशो वाक्यार्थावगतिविरोधीति शङ्कार्थः। एतदुत्तरश्लोकेन समाधीयते** इत्याह–प्रतिविधीयते इति। **यथा स्थाणुः पुरुषो वेति सन्दिग्धविपर्यस्ते वा, पुरुष एवेति भ्रान्तस्य श्रोतुः, प्रसिद्धपुरुषानुवादेन 'योऽयं पुरुषः सोऽयं स्थाणुर्न पुरुष' इति पुरोवर्तिनस्तत्त्वमारोपितपुरुषाकारबाधेन यथोपदिश्यते तथाऽविद्याध्यारोपित-कर्तृत्वाद्यनुवादेन जीवस्यापि याथात्म्यं तद्ध्युदासेन बोध्यत इत्यर्थः।।७३।।**

चक्षुरादिज्योतींषि' (बृ.,भा.पृ. ३२० (MRI)) इस बृहद्भाष्यवाक्य से जान सकते हैं कि इन्द्रियाँ साक्षिभास्य हैं। सूत्रभाष्य में 'वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः' (२.४.७) कहकर यह बता ही चुके हैं कि व्यापारकाल से अतिरिक्त काल में उनकी सत्ता मानना निरर्थक है। एवं च ज्ञातैकसत् होने से साक्षिविषयत्व स्फुट है। ऐसा होने पर भी उन्हें बुद्धि की अपेक्षा व्यवहित इसलिये मानना पड़ता है, क्योंकि वे आत्मप्रकाशग्रह-समर्थ नहीं : इंद्रिय द्वारा बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होने पर ही ज्ञान हो पाता है, इसमें 'अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' आदि श्रुति प्रमाण है; अतः इन्द्रियों की दूरता संगत है।

शंका होती है कि यदि तत्त्वमस्यादि महावाक्य ही जैसी वास्तविकता है वैसा बोध कराते हैं तो आत्मा को न जानने से हुए कर्तृत्वादि का बोध श्रौतवाक्य क्यों कराते हैं? श्लोक द्वारा इसका निराकरण किया जाता है—**भ्रान्ति द्वारा वस्तु जैसी प्रसिद्ध है, वैसा ही उसका अनुवाद कर, 'यह ऐसा नहीं' ऐसा बता भ्रान्ति-बाध के द्वारा वस्तु की वास्तविकता का उपदेश दिया जाता है, यह लोकसिद्ध है। इसी प्रकार 'स्वाद्वत्ति' (श्वे. ४.६) आदि से भ्रान्ति का अनुवाद कर, 'नेति' (बृ. २३.६) आदि से भ्रान्ति का बाध कर 'तत्त्वम्' इत्यादि महावाक्य आत्मयाथात्म्य का बोध कराते हैं**॥७३॥ किसी को यदि भ्रम से सर्प दीखता हो तो उसे यही कहा जाता है 'वह जो सर्प दीख रहा है, वह सर्प नहीं, किन्तु रस्सी है।' इस वाक्य में 'जो सर्प

इममर्थं दृष्टान्तेन बुद्धौ आरोहयति–

स्थाणुः स्थाणुरितीवोक्तिर्न नृबुद्धिं निरस्यति।
व्यनुवादात् तथैवोक्तिर्भ्रान्तिं पुंसो न बाधते ॥७४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एतदेव व्यतिरेकमुखेन प्रदर्शयति–इममिति। व्यनुवादाद्विगतानुवादत्वाद् **आरोपितपुरुषाकारानुवादाभावादेकविषयत्वेन विरोधास्फुरणात् केवलमयं स्थाणुरिति बुद्धिः पुरुषबुद्धिं न निवर्त्तयति यथा, तथा तदसीत्येतावन्मात्रोक्तावपि स्फुटं न भवेदित्यर्थः।।७४।।**

दीख रहा है' इतना वाक्यखण्ड भ्रमानुवादमात्र है। ऐसे ही कर्तृतादिबोधक श्रुतिवाक्यों को जान लेना चाहिये, यह भाव है। 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' न्याय असकृत् बताया जा चुका है।

इस बात को दृष्टान्त द्वारा विनेय के दिमाग में बैठाते हैं—**'ठूँठ', 'ठूँठ'– बस इतना ही कहने से भ्रान्त व्यक्ति को डराने वाली ठूँठ में 'यह पुरुष है' ऐसी बुद्धि नष्ट नहीं होती, क्योंकि उस कहने में भ्रमसिद्ध वस्तु का अनुवाद नहीं है। इसी तरह अनुवाद और अनूदित के निषेध के बिना, केवल परमात्मविषयक उक्ति पुरुष की भ्रान्ति का बाध नहीं करती**॥७४॥ यदि कहीं ऐसा दीखता भी है कि केवल 'ठूँठ है' कहने से भ्रम निवृत्त होता है, तो वहाँ भी यही मानना पड़ेगा कि श्रोता ने भ्रमसिद्ध का अनुवाद अध्याहृत किया है। ठूँठ के होने मात्र से पुरुष का बाध माना नहीं जा सकता, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। अतः बाध्यबाधकभावसिद्धि के लिये स्वीकार्य है कि पुरुषाकार से प्रतीयमान को ठूँठ बताया जाये। केवल 'परमात्मा है' इत्यादि से तो अज्ञान निवृत्त नहीं ही होगा किन्तु 'तुम ब्रह्म हो' केवल इतना कहने से भी वह निवृत्त नहीं होगा, यह भाव है। तात्पर्य है कि 'तुम ब्रह्म हो' कहने पर श्रोता को जो वह अपने को मानता है उससे अधिक 'मैं ब्रह्म हूँ' इतना और मानना चाहिये—यह ज्ञान हो सकता है किन्तु जब साफ कह दिया जाये कि 'तुम कर्तादि नहीं हो, ब्रह्म हो' तब ऐसे भ्रम की संभावना नहीं रहती। कुछ आधुनिक व्याख्याता इस द्वितीय कोटि को सहन नहीं करते व यहाँ इतना ही अभिप्रेत मानते हैं कि 'सद्ब्रह्म'-मात्र का उपदेश भ्रान्तिनिवर्तन में अक्षम है। किन्तु यह असहिष्णुता यह मानकर है कि श्रोता ने पदार्थशोधन कर लिया है।

यस्मात् श्रोतृप्रसिद्धानुवाद्येव त्वमिति पदम्, तस्मादुद्दिश्यमानस्थत्वाद् दुःखित्वादेरविवक्षितत्वमेव। विधीयमानत्वे हि सति विरोधप्रसङ्गः, न तु विधीयमानानूद्यमानयोरिति। स्वप्रधानयोर्हि पदयोर्विरोधाशङ्का, सामान्यालिङ्गितत्वात् तयोः, न विपर्यये–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

संसारित्वेन प्रत्यक्षमनुभूयमानस्त्वंपदार्थः कथमसंसारिब्रह्मरूपेण प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य; ब्रह्मरूपविधानाय केवलमनूद्यमानस्य दुर्बलत्वात् बाध्यत्वमेव, न तु बाधकत्वशङ्कापीति परिहरति–यस्मादिति। दुःखित्वादेर्न **विरोधप्रसङ्ग इत्यनुषङ्गः। पदार्थस्वभावालोचनयाऽप्येवमित्याह–**स्वप्रधानयोरिति। सामान्यालिङ्गतत्वादिति। **गौरश्व इति स्ववाच्यसामान्ययोरपरित्यागात्तथाभूतयोः**

पर यदि यहाँ उसे श्रोता माना जाये जिसने अभी पूरा शोधन नहीं किया है—जिसका 'विपश्चित्' (श्लो. ७२) शब्द से परामर्श हुआ—तब दोनों व्याख्यायें संगत हो जायेंगी।

महावाक्यगत त्वम्पद उस अर्थ का केवल अनुवादक है जो उस शब्द के अर्थरूप में प्रसिद्ध है, इसलिये उद्देश्यभूत होने के कारण दुःखिता आदि—उस अर्थ की विशेषताओं—को बताना अभीष्ट नहीं है। 'जो साँप दीख रहा है' कहने वाला उस साँप के रंग, जाति आदि को बताने की कोई इच्छा नहीं रखता। वाक्यशास्त्र भी स्वीकारता है कि उद्देश्यांश में वाक्य का तात्पर्य नहीं होता। इसीलिये स्वर्गादि बताना श्रौताभिप्राय नहीं। 'हमें क्या चाहिये', यह लोगों को स्वयं ही पता रहता है, इसके लिये उपदेश की आवश्यकता नहीं, यह भट्ट जी बताते हैं—'साध्यांशे पुरुषाणां च प्रत्ययो न नियोजकः। स्वयमेव हि जानन्ति कर्तव्यं पुरुषाः सदा'॥ तन्त्र. पृ. ३७४॥

स्वरूप-प्रतिपादन प्रसंग में यदि दो बातों का विधान हो, तब उनका विरोध उपस्थित होता है; उक्त प्रसंग में उद्देश्य-विधेय का विरोध नहीं होता। स्वरूप एक ही हो सकता है, अतः स्वरूपतया नाना का विधान विरुद्ध होता है—आग का स्वरूप बताते हुए ठण्डा, गर्म, खट्टा आदि कहें तो विरोध है। यदि स्वरूप ही नानात्व-घटित हो, जैसे पृथ्वी का स्वरूप पंचगुणात्मक है, तब विशिष्ट की विधेयता होने से अविरोध होता है क्योंकि विशिष्ट एक होने से विधेय एक ही रहता है। विचारदृष्टि से तो यहाँ भी

अनालिङ्गितसामान्यौ न जिहासितवादिनौ।
व्युत्थितौ[1] तत्त्वमौ तस्मादन्योन्याभिसमीक्षणौ ॥७५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पदयोर्न विरोध इत्यर्थः। तदेतदाह–अनालिङ्गितेति। **अनालिङ्गिते परित्यक्ते अविवक्षिते सामान्ये स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूते शबले[2]। वाच्यार्थविरोधान्नैतौ जिहासितं पारोक्ष्यं सद्वितीयत्वं दुःखित्वं परिच्छिन्नत्वं चास्मिन् प्रयोगे प्रतिपादयतो यस्माद्गतेत्यर्थः[3]। तदपि कुत इत्याह**–व्युत्थिताविति। **वाच्यार्थं परित्यज्य लक्ष्यार्थे व्यवस्थितौ वाक्यतात्पर्यविषयैकत्वानुरोधेन परस्पर-विरुद्धांशपरित्यागेनाविरुद्धांशमात्रेऽन्योन्यम् एकत्वाभिमुख्येन व्यवस्थितौ यस्मात्तस्मादित्यर्थः।।७५।।**

विशिष्टविधि मानने का यही कारण है कि नाना का स्वरूपतया विधान असंगत है। यह ध्यान रखना चाहिये कि स्वरूपप्रतिपादन प्रसंग में ही ऐसा नियम माना जा सकता है। अन्यत्र तो उद्देश्य-विधेय का भी विरोध देखा जाता है—जैसे 'रावण को मारो', तथा नाना विधेयों का भी अविरोध देखा जाता है जैसे 'लाल रंग की, एक वर्ष की, पीली आँख वाली बछिया को मूल्यरूप में देकर सोमरस खरीदो' इत्यादि में।

प्रकृत स्थल में उद्देश्य विधेय के अविरोध को स्पष्ट करते हुए आचार्य बताते हैं कि उन्हीं शब्दों के विरोध की शंका की जा सकती है जो स्वयं प्रधान हों, विवक्षित अर्थ वाले हों, क्योंकि वे अपने वाच्यार्थरूप सामान्य (आकृति) को बलाद् उपस्थित करते हैं और इसीलिये विरोध सम्भव है। किन्तु जहाँ एक पद प्रधान व अन्य अप्रधान हैं, ऐसे शेषशेषिभावादि स्थलों में विरोध नहीं होता। इस विषय को श्लोक द्वारा कहते हैं— **तत् व त्वं पद अपने वाच्य अर्थों में आग्रह वाले नहीं क्योंकि जो उसका अविवक्षितांश है, उसमें इनका तात्पर्य नहीं। अतः एक-दूसरे को देखकर परस्पर विरुद्धांश को छोड़, ये केवल अपने लक्ष्यार्थ को बताते हैं।।७५।।** सम्बन्धोक्ति में जो परिहार था वह आचार्य की निजी विशेषता को अर्थात् महावाक्य में भी बाधसामानाधिकरण्य को मान कर था। अतः उद्देश्य-विधेयभाव होने से अविरोध स्थापित किया था। श्लोक में, प्रसिद्ध प्रक्रिया को मानकर परिहार है, यह वैलक्षण्य

१. व्युत्थितौ-लक्ष्यार्थमात्रोपस्थापकाविति सारार्थकारः।
२. याभ्यां ताविति शेषः। एतदनन्तरं 'वाच्यार्थे'त्यत्र वाक्यार्थेति पठनीयम्।
३. यस्माद् इत्यर्थ इति सुवचम्।

अपास्तसामान्यार्थत्वात्, अनुवादस्थत्वात्, विधीयमानेन च सह विरोधात्, दुःखित्वादेरस्तु कामं जिहासितार्थयोरसंसर्गः। यथोपन्यस्तदोषविरहात् तत्त्वमर्थयोः संसर्गोऽस्तु नीलोत्पलवदिति चेत्? नैवमप्युपपद्यते। यस्मात्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तरीत्या वाच्यार्थयोस्संसर्गाभावेऽपि लक्ष्यार्थयोरविरुद्धयोस्संसर्गः किं न स्यादित्याशङ्क्य, श्लोकेनोत्तरमाह–अपास्तेत्यादिना। **तयोस्तत्त्वं पादार्थयोरर्थौ[1] तदर्थौ तयोर्लक्षणभूतयोः निष्ठा पर्यवसानं लक्ष्यभूत आत्मा द्वित्वपारोक्ष्य-वर्जितोऽखण्डैकरसः केवलः; तत्कथं प्रकृत्यर्थयोर्नीलोत्पलवद्विभागेनाप्रतीतौ संसर्गस्स्यादिति भावः। विभागेनाप्रतीतिरपि कुत इत्याह**–न चाद्वितीय इति।

समझना चाहिये। तात्पर्य है कि महावाक्य से बोध होने में कोई कठिनाई नहीं, प्रक्रिया चाहे जो मानें।

पुनः कोई शंका करता है कि क्योंकि तत्त्वम्पद सामान्यरूप अपने वाच्यार्थ में तात्पर्य वाले नहीं और क्योंकि त्वम्पद अनुवादकांश में स्थित है जिससे दुःखितादि का विधेय ब्रह्मभाव से विरोध नहीं, इसलिये अविवक्षित वाच्यार्थ भले ही संसृष्ट वाक्यार्थ का बोध न करायें, किन्तु उपरोक्त प्रकार से कोई दोष न होने के कारण, विवक्षित अर्थों का सम्बन्ध 'नीलोत्पल' वाक्यस्थ पदों की तरह हो? इसका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि यह भी संगत नहीं कि विवक्षितार्थ नील व उत्पल अर्थों की तरह संसृष्ट (सम्बद्ध) हों। तात्पर्य है कि संसर्ग उन्हीं का हो सकता है जिनमें परस्पर कुछ भेद हो। तत्पद व त्वम्पद का जो विवक्षित अर्थ है उसमें किसी प्रकार का वैलक्षण्य नहीं, अतः संसर्ग असम्भव है। जिस पक्ष में तो त्वमर्थ अनूदितमात्र है, उसमें संसर्ग नतराम् संभव है। 'जो साँप दीख रहा है वह रस्सी है'—इससे साँप और रस्सी के सम्बन्ध का बोध नहीं होता। ऐसे ही महावाक्य स्थाल में जानना चाहिये। **अतः तत्त्वम्पदों का पर्यवसान द्वित्व व परोक्षता से रहित लक्ष्यभूत अखण्डात्मा में है। तत्पदलक्ष्य अद्वितीय ब्रह्म का स्वरूप प्रत्यगात्मा को छोड़कर स्थित नहीं रहता क्योंकि उसे छोड़ने पर अद्वैतहानि होती है। त्वम्पदलक्ष्य अपरोक्ष चैतन्य भी नित्य अलुप्त दृष्टिरूप ब्रह्म को छोड़ कर नहीं रहता क्योंकि उसे छोड़ने पर नित्यदृष्टि**

१. 'तयोः तत्त्वंपदयोः लक्षणभूतयोः निष्ठा' इति चन्द्रिकायां दर्शनात्, अत्र 'तत्त्वंपदयोरर्थौ' इति पठनीयम्।

तदर्थयोऽस्तु निष्ठात्मा द्वयपारोक्ष्यवर्जितः।
नाद्वितीयं विनात्मानं नात्मा नित्यदृशा विना ॥७६॥

अत्राऽऽह–किमिह जिहासितम्, किं वोपादित्सितमिति? उच्यते– प्रत्यगात्मार्थाभिधायिनस्त्वंपदादुभयं प्रतीयते 'अहं दुःखी', 'प्रत्यगात्मा' च। तत्र च प्रत्यगात्मनः 'अहं दुःखी'त्यनेन अभिसंबन्ध आत्मयाथात्म्याऽनवबोधहेतुक एव। अतोऽहमर्थः, अनर्थोपसृष्टत्वात्, अज्ञानोत्थत्वाच्च हेय इति प्रत्यक्षहेतोरवसीयते[1]।

तदर्थे किं हेयम्, किं वा उपादेयमित नावध्रियते। तत

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अद्वितीयं **तत्पदलक्ष्यं ब्रह्म न प्रत्यगात्मानं** विना **स्वरूपं** लभते, **तथा सत्यद्वितीयत्वायोगात्।** आत्मा **च त्वंपदलक्ष्यो नित्यसिद्धचैतन्यज्योतिषा तत्पदलक्ष्येण विना स्वरूपं** न **लभते। तथा सति नित्यापरोक्षचिद्रूपत्वायोगात्। तदेवं विभागेनाप्रतीतेरखण्डैकार्थनिष्ठत्वमेव तत्त्वंपदयोरित्यर्थः।।७६।।**

उक्तमेवार्थं प्रश्नपूर्वकं विशदयति–अत्राहेत्यादिना। **तदेव कुत इत्याकांक्षायाम्; अहङ्कारोपाधिकं यथा सद्वितीयत्वं तथाहङ्काराभावोपाधिकमेव**

की हानि होती है। अतः कभी एक दूसरे को छोड़ने वाले न होने से और समान चिद्रूप होने से अखण्डार्थ ही उचित है॥७६॥

यह सिद्ध हो जाने पर कि तत्त्वम्पद अपने अर्थ के एकांश का त्याग कर देते हैं, प्रश्न उठता है कि कौन-सा अंश छोड़ा जाये व कौन-सा लिया जाये? इसका उत्तर देने के लिये कहते हैं—प्रत्यगात्मा रूप अर्थ को बताने वाले त्वम्पद से दो की प्रतीति होती है—'मैं दुःखी' आदि रूप में विद्यमान अहङ्कार तथा उसके भी भासक रूप से नित्य सिद्ध प्रत्यगात्मा। इनमें जो प्रत्यगात्मा है, उसका 'मैं दुःखी' आदिरूप अहङ्कार से इसीलिये सम्बन्ध है कि उसे आत्मा की वास्तविकता का ज्ञान नहीं। इसलिये त्वम्पद का अहंकाररूप अर्थ दुःखादि अनर्थ से सम्बद्ध होने से तथा अज्ञान से उत्पन्न होने से छोड़ा जाने योग्य है, यह बात शास्त्रादि के बिना स्वयं ही सिद्ध है। तत्पदार्थ में क्या छोड़ने लायक और क्या रखने लायक है, यह विचार के बिना समझ में नहीं आता।

१. प्रत्यक्षतोऽवसीयत इति प्रायः पाठः। क्लेशापहारिणीकारः प्रत्यक्षहेतोरिति पपाठ।

इदमभिधीयते–

पारोक्ष्यं यत्तदर्थे स्यात्तद्धेयमहमर्थवत्।
प्रतीचेवाहमोऽभेदः पारोक्ष्येणाऽऽत्मनोऽपि मे ॥७७॥

कथं पुनस्तदर्थोऽद्वितीयलक्षणः प्रत्यगात्मोपाश्रयं सद्वितीयत्वं दुःखित्वं निरन्वयमपनुदतीति? उच्यते–न चैतयोर्निवर्तकनिवर्त्यभावं वयं ब्रूमः; कथं तर्हि? त्वमर्थे प्रत्यगात्मनि प्रागनवबुद्धाद्वितीयता, साऽनेनावबोध्यते। अतोऽनवबोधनिरासेन तदुत्थस्य सद्वितीयत्वस्य

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तदर्थे पारोक्ष्यं, तेनोपाधिकत्वादुभयमपि हेयमेवेत्यत आह–प्रतीचेवेति। अहमोऽहङ्कारस्य **यथा** प्रतीचा **प्रत्यगात्मना अज्ञाननिबन्धन एवाभेदस्तथा** पारोक्ष्येण **परमात्मनोऽप्यभेदस्तन्निबन्धन एवेत्यर्थः।।७७।।**

तत्पदार्थसामानाधिकरण्यात्त्वंपदार्थगतदुःखित्वादिकं हेयमित्युक्तं। तदयुक्तं, तत्पदस्य त्वंपदार्थाबोधकत्वेन तस्मिन्नारोपितसंसारित्व-निवर्त्तकत्वानुपपत्तेः। न हि शुक्तिविषयज्ञानाद्रज्जुसर्पभ्रमो निवर्तते। अथ तत्पदमपि त्वंपदार्थमवबोधयति; तर्हि पौनरुक्त्यबुद्धिसाङ्कर्य-पदान्तरवैयर्थ्यै-कपदवाक्यत्वादिदोषाः प्रादुष्युरित्याक्षिपति-कथं पुनरिति। **समाधत्ते**–उच्यत

अतः श्लोक द्वारा इसे बताते हैं—**तत्पदार्थ में जो परोक्षता है, वह त्वम्पदार्थगत अहंकार की तरह छोड़ने योग्य है। प्रत्यगात्मा से अहंकार का जैसे वस्तुतः भेद व अज्ञानकृत अभेद है वैसे ही मुझ परमात्मा का परोक्षता से वास्तव भेद और अज्ञानकृत अभेद है॥७७॥** एवं च अहंकार की समता से पारोक्ष्यांश ही हेय है, यह निश्चित हो जाता है।

प्रत्यगात्मा में प्रतीत होने वाली सद्वितीयता व दुःखिता का निरवशेष नाश अद्वितीयरूप तदर्थ कैसे करता है? तात्पर्य है कि जब प्रत्यगात्मा के यथार्थ-अनवबोध से सद्वितीयतादि है, तब उसी के याथार्थ्य-अवबोध से उसका बाध संभव है, तत्पदार्थ का अवबोध कैसे उपकारक होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—हम यह नहीं कहते कि तत्पदार्थ, सद्वितीयता आदि का निवर्तक है, जिससे कि उक्त असंगति हो। तब कैसे निवृत्ति होती है? प्रत्यगात्मरूप त्वमर्थ में महावाक्यज्ञान से पहले अद्वितीयता अज्ञात थी, उसका ज्ञान तदर्थ के सामानाधिकरण्य का उपदेश करा देता है। अतः अज्ञान को हटाकर

त्वमर्थस्थस्य, परोक्षत्वस्य च तदर्थस्थस्य निरसनात्, न वैयधिकरण्यादिचोद्यस्यावसरोऽस्तीति। तदिदमभिधीयते–

तत्त्वमर्थेन संपृक्तौ नानात्वं विनिवर्तयेत्।
नापरित्यक्तपारोक्ष्यं त्वं तदर्थं सिसृप्सति ॥७८॥

कस्मात् पुनः कारणात् तदर्थोऽद्वितीयलक्षणः त्वमर्थेन प्रत्यगात्मना

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

इति। अयमर्थः–त्वमर्थोपाधौ तच्छब्देनाद्वितीयब्रह्मत्वविधानात् तदनवबोध-निवृत्त्या तत्कार्यं संसारित्वमपि निवर्त्तत इत्येतावद्वयं ब्रूमः, न त्वनयोः पदयोस्तदर्थयोर्वा साक्षान्निवर्त्यनिवर्तकभावोऽस्तीति। तेन त्वदुक्तदोषाणां न प्रसक्तिरिति।

तत्त्वमर्थेनेति। **तच्छब्दार्थो विधीयमानस्त्वमर्थेनोद्देश्येन तदनवबोध-निवृत्त्या तद्गतं नानात्वं व्यावर्त्तयति। एवं त्वंपदार्थोऽपि अपरित्यक्त-पारोक्ष्यलक्षणं विरुद्धधर्मं तदर्थं ब्रह्म नैकत्वेन प्रतिपद्यते। तेन तद्गतमपि पारोक्ष्यं नान्तरीयकतया निवर्त्यत इत्यर्थः।।७८।।**

वाक्यस्यैकत्व एव तात्पर्यान्निवृत्तौ[1] तात्पर्याभावादुभयत्र तात्पर्ये वाक्यभेदप्रसङ्गान्निवर्त्तकत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्य; वाक्यतात्पर्यैकविषयत्व-विरोधात्[2] नान्तरीयकी दुःखित्वादिनिवृत्तिस्स्यादित्युत्तरश्लोकेन दर्शयति–

उससे उत्पन्न त्वमर्थ की सद्वितीयता और तदर्थ की परोक्षता को महावाक्यजन्यबोध निवृत्त कर देता है, जिससे कि जो यह दोष दिया था कि 'अन्य का ज्ञान अन्य के अज्ञान से उत्पन्न विशेषता को हटाये यह असंगत है', उसकी प्राप्ति नहीं। क्योंकि ऋजुमार्ग से ही व्यवस्था सम्पन्न हो गई इसलिये अन्य किसी कल्पना व तदुत्थ दोष की भी सम्भावना नहीं। यह विषय श्लोक द्वारा कहा जाता है—**त्वमर्थ से अन्वित हो तदर्थ नानात्व को निवृत्त करता है। त्वम्पदार्थ भी उस तत्पदार्थ से एकता प्राप्त करता है जिससे परोक्षता छूट गई है**॥७८॥

---

१. दुःखित्वादिविरुद्धांशस्य निवृत्ताविति्यर्थः।

२. एकविषयत्वं विषयैक्यम् अभेद इत्यर्थः। चंद्रिकायान्तु—'वाक्यतात्पर्यविषयैकत्व-विरोधादि'त्यादि पाठः। विषयेऽस्मिन् सारार्थकारेणोक्तम्—तात्पर्यविषयाद्वितीय-त्वादिविधाने सति तद्विरोधात्सद्वितीयत्वादिकमर्थादेव निवर्तते। न तु तद्विधाने विध्यपेक्षा येन वाक्यभेदः स्यात्। तदुक्तं—'यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः'।

अपृथगर्थः सन् अविद्योत्थं सद्वितीयत्वं निहन्तीति? उच्यते। विरोधात्, तदुच्यते–

संसारिताऽद्वितीयेन पारोक्ष्यं चाऽऽत्मना सह।
प्रासङ्गिकं विरुद्धत्वात् तत्त्वम्भ्यां बाधनं तयोः ॥७९॥
तत्त्वमर्थयोस्तु[1] बाधकत्वेऽन्यदपि कारणमुच्यते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कस्मादित्यादिना। **संसारितापारोक्ष्ययोः प्रतिपाद्यमानाद् द्वितीयेन प्रत्यक्त्वेन च विरुद्धत्वादेकत्वपराभ्यां तत्त्वंपदाभ्यां तयोर्बाधनं नान्तरीयकं स्यादित्यर्थः।।७९।।**

विरुद्धत्वाच्चेत् संसारित्वपारोक्ष्ययोस्तत्त्वमर्थाभ्यां बाधनं, तर्हि विरुद्धत्वा-विशेषात् तत्त्वमर्थयोरबाध्यत्वमितरयोर्बाधकत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य; तयोरेव बाधकारणत्वमुत्तरश्लोकेन उच्यत इत्याह–तत्त्वमिति। तत्त्वमर्थयोरन्योन्य-

---

क्या कारण है कि अद्वितीयरूप तदर्थ जो प्रत्यगात्मा से अपृथक्ताबोध के लिये प्रवृत्त है, आविद्यिक सद्वितीयता का विनाश करता है? कारण यह है कि तदर्थ व त्वमर्थ के विशेषांशों का विरोध है जिससे कि उनका सामानाधिकरण्य उपदेश सद्वितीयादि विरुद्धांशों का बाधक हो जाता है। इसे श्लोक द्वारा कहते हैं—**सांसारिकता का आद्वितीयता से विरोध है तथा परोक्षता का अपरोक्ष-आत्मरूपता से विरोध है। इसलिये एकत्व परक तत् और त्वम् पदों द्वारा उन विरुद्धांशों का बाध सहज ही है**॥७९॥ तत्पद संसारिता का और त्वंपद परोक्षता का निवर्तन करता है।

तत्पदार्थ व त्वम्पदार्थ बाधक ही क्यों हैं, बाध्य क्यों नहीं, इसे समझाने के लिये एक और कारण श्लोक द्वारा बताते हैं—**परस्पर विशेष्य-विशेषण बने हुए तदर्थ व त्वमर्थ शास्त्रश्रवण के बिना अज्ञात हैं तथा परस्पर विशेष्य-विशेषण बनकर ज्ञान होने पर परम पुरुषार्थ के हेतु बनते हैं। इस प्रकार इन्हें बताने पर शास्त्र अज्ञात-ज्ञापक एवं सप्रयोजन होता है जिससे कि पता लगता है कि शास्त्रतात्पर्य**

---

१. ननु विनिगमनाविरहात्सद्वयत्वपारोक्ष्याभ्यामेवापरोक्षत्वाद्वयत्वयोः बाधोऽस्त्वित्याशङ्क्या-पूर्वत्वादिना श्रुतितात्पर्यविषयत्वादद्वयापरोक्षत्वयोरेव बाधकत्वं नेतरयोरित्याशयेनाह तत्त्वमर्थयोरिति' (सारार्थः)।

अज्ञातपुरुषार्थत्वाच्छ्रौतत्वात् तत्त्वमर्थयोः ।
स्वमर्थमपरित्यज्य बाधकौ स्तां विरुद्धयोः ॥८०॥
एवं तावद् यथोपक्रान्तेन प्रक्रियावर्त्मना न प्रत्यक्षादि-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विशेषणविशेष्यस्याज्ञातत्वे सति पुरुषार्थत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वाद् इतरयोस्तु तद्विपरीतत्वात् तत्त्वमर्थयोः[१] तत्त्वमर्थमन्योन्यविशेषणविशेष्यभावलक्षणम-परित्यज्य तद्विरोधिनोः पारोक्ष्यदुःखित्वयोर्बाधकाविति युक्तमित्यर्थः।।८०।।

तत्त्वं पदार्थयोर्लक्षणावृत्त्या बोधकत्वे न प्रत्यक्षादिविरोध इत्युक्तम्। इदानीं प्रत्यक्षादिविरोध इत्युक्तम्। इदानीं प्रत्यक्षादिविरोधमभ्युपगम्य प्रसंख्यानपरतां ये मन्यन्ते तन्मतमुपन्यस्यति निराकरणाय–एवं तावदिति।।८१।।

भी इसी अर्थ में है। संसारित्व, पारोक्ष्य आदि न तो अज्ञात हैं व न उनके ज्ञान से पुरुषार्थ-लाभ है। किं च श्रुतिविचार करने पर उनका प्रतिपादन श्रुतितात्पर्य भी सिद्ध नहीं होता। अतः तत्त्वम्पद ही अपने अभिप्रेतार्थ को छोड़े बिना एकताविरोधी अंशों के बाधक हो जाते हैं।।८०।। शास्त्रप्रमाण का वर्णन करते हुए शबराचार्य ने कहा है 'शास्त्रं शब्दविज्ञानाद् असंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्'। यहाँ असंनिकृष्टार्थ कहकर ज्ञातवस्तु की व्यावृत्ति है जिसे बताने पर अनुवादकतापत्ति हो जाती है। भाट्टवार्तिक में यही स्पष्ट किया—'असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्। ताद्रूप्येण परिच्छित्तिः तद्विपर्ययतोऽपि वा।।' श्लो.वा अनु. ५५।। यद्यपि भाष्योक्त अनुमानलक्षण की व्याख्या में यह वार्तिक है तथापि असंनिकृष्टता दोनों में समान होने से शाब्दस्थल में भी इसे समझना उचित है। सर्वज्ञमुनि 'प्रमाणलक्षण' में इसी लक्षण पर विचार करते हुए कहते हैं—'असन्निकृष्टेऽर्थे प्रमाणान्तरेण अनधिगतेऽर्थे। असन्निकृष्टग्रहणं अनुवादविसंवादनिवृत्त्यर्थम्'। (पृ. ३२)। अतः स्पष्ट है कि अज्ञात अर्थ ही शास्त्रतात्पर्यविषय हो सकता है। एवं च तत्त्वम्पदार्थों की एकता में ही श्रुतितात्पर्य होने से वे ही बाधक होते हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जैसा प्रतिपादन किया वैसी प्रक्रिया में प्रत्यक्ष आदि शास्त्रव्यतिरिक्त प्रमाणों के विरोध की संभावना भी नहीं है। जो तो यह कहते

---

१. 'तत्त्वमर्थावेव स्वमर्थम्' इति चंद्रिकानुसारं 'तत्त्वमर्थौ तत्त्वमर्थम्' इतीह पठनीयम्।

प्रमाणान्तरैर्विरोधगन्धोऽपि संभाव्यते। यदा पुनः सर्वप्रकारेणापि यतमाना नैवेमं वाक्यार्थं संभावयामः[१], प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधत एव, तस्मिन्नपि पक्ष उच्यते–

प्रत्यक्षादिविरुद्धं चेद् वाक्यमर्थं वदेत् क्वचित् ।
स्यात्तु तद्दृष्टिविध्यर्थं योषाग्निवदसंशयम् ॥८१॥

यदा तु तत्त्वमस्यादिवाक्यं सर्वप्रकारेणापि विचार्यमाणं न क्रियां कटाक्षेणापि वीक्षते, तदा प्रसङ्ख्यानादिव्यापारो दुःसम्भाव्य इति।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अस्तु तर्हि तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापि प्रमाणान्तरविरुद्धार्थत्वात् प्रसंख्यानद्वारेण वस्तुनिष्ठत्वमिति? तत्राह–यदेति। **उपक्रमोपसं[२]-**

हैं कि 'सब प्रकार से प्रत्यत्न करने पर भी प्रत्यक्ष आदि अन्यान्य प्रमाणों के विरोध के कारण वाक्यार्थ का निश्चय नहीं हो पाता', उनकी बात में दोष दिखाने के लिये श्लोक द्वारा कहते हैं—**शास्त्रवाक्य यदि कहीं प्रत्यक्ष आदि से विरुद्ध अर्थ को बताता है, जैसे स्त्री को अग्नि कहता है, तब अवश्य वह स्त्री-आदि आलंबन में अग्नि आदि दृष्टि का विधान करने के लिये बताता है।।८१।।** बृहदारण्यक के षष्ठाध्याय में 'योषा वा अग्निर्गौतम' इत्यादि वचन मिलता है (६.२.१३)। इसमें कहा है कि स्त्री ही अग्नि है। प्रश्न होता है कि प्रत्यक्षविरुद्ध होने से यह वाक्य अन्यार्थक होना चाहिये। उत्तर वाक्य में क्योंकि 'य एवमेतद् विदुः' (६.२.१५) इस प्रकार उपासना के फल का श्रवण है, अतः यह निर्णय होता है कि यहाँ उपासना का प्रसंग है व स्त्री में अग्निदृष्टि का विधान है, जैसा कि भाष्यकार ने पूर्व में ही सूचित किया—'द्युलोकेऽग्निदृष्टिरनग्नौ विधीयते यथा योषित्पुरुषयोः' (पृ. ८०४ आ आ.)। ऐसे स्थलों पर तो प्रमाणान्तरविरुद्ध अर्थ में तात्पर्य नहीं मान सकते। किन्तु जहाँ मानान्तर-विरोध न हो तथा सप्रयोजनता हो, वहाँ वस्तुनिष्ठता छोड़ना असंगत है, यह तात्पर्य है।

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का उपक्रमादि लिङ्गों से विचार करने पर यह निश्चित होता है कि वे वाक्य कथमपि क्रियापरक नहीं हैं, अतः प्रसंख्यान

---

१. न सम्भवयामः—'इति ये वदन्तीति शेषः' (सारार्थः)

२. 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासापूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।' इति।

तदुच्यते–

वस्त्वेकनिष्ठं वाक्यं चेन्न तस्य स्यात् क्रियार्थता ।
वस्तुनो ह्येकरूपत्वाद् विकल्पस्याप्यसम्भवः ॥८२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

हारादिभिर्विचार्यमाणं केवलवस्तुनिष्ठत्वात्, तस्य च वस्तुनः कूटस्थत्वेन क्रियां प्रत्ययोग्यत्वात्, कूटस्थतया नित्यसिद्धम्[1] उपासनक्रियासाध्यं वा तदिति विकल्पस्याप्यसंभवान्न तत्त्वमस्यादिवाक्यं प्रसंख्यानादिविधिशेष इत्यर्थः।।८२।।

(पुनरावृत्ति, उपासना)—आदि में उन वाक्यों का तात्पर्य हो ही नहीं सकता। इसे श्लोक द्वारा कहा जाता है—**यदि महावाक्य केवल वस्तु-याथात्म्य-अवबोधपरक हैं, तो वे क्रिया बताने में तात्पर्य वाले नहीं हो सकते। वास्तविकता एकस्वरूप वाली होती है अतः यह विकल्प भी संभव नहीं कि तत्त्वम्पदार्थैक्य नित्यसिद्ध अर्थात् क्रिया से असम्बद्ध भी है और उपासनादि क्रिया से साध्य भी है। सिद्धरूपता व साध्यरूपता में विकल्प संभव नहीं। अतः प्रसंख्यानादि विधिपरता नहीं है।।८२।।** जो वादी यह मानते हैं कि ऐक्यभावना से ऐक्यसम्पत्ति होगी, उन्हें भी वाक्यार्थ तो विद्यमान एकता-विषयक ही मानना पड़ता है।

प्रश्न यह उठता है कि उक्त ऐक्य सुनकर मोक्ष होता नहीं अतः कुछ और कर्तव्य बाकी रह गया है यह मानना आवश्यक है। वादी का कहना है कि इस प्रकार के अन्य वाक्यों में दृष्टिविधि मानी गयी है जैसे 'योषा वा अग्निः' (बृ. ६.२.१३) इत्यादि में, अतः यहाँ भी वही स्वीकार्य है। किन्तु जैसे वहाँ वाक्यशेष में उपासना व उसका फल श्रुत है वैसे महावाक्यप्रसंग में श्रुत न होने से दृष्टिविधि-कल्पना का कोई हेतु नहीं।

तब वादी कहता है कि आवृत्ति का विधान मान लें; 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान को बार-बार उत्पन्न करो—यह नियम बताया जा रहा है। सिद्धान्ती का पक्ष है कि श्रुति ने स्पष्ट कहा है 'विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः' (श्वे. ३.८)

---

१. कूटस्थतया नित्यसिद्धम्—विषयेऽस्मिन् सारार्थकारः—'न ह्यखण्डैकरसे एकरूपे कूटस्थे निर्धर्मके वस्तुनि सिद्धसाध्याद्यनेकधर्मकल्पनावकाशः'।

'हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्' (कौ. ३.१) तथा स्मृति में भी 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।' (गी. ५.१६-१७) स्पष्ट ही ज्ञान से अज्ञाननाश व मोक्ष बताया है अतः आवृत्तिविधि मानना अनुचित है। श्रुति का अनुसरण करते हुए श्रवण, मनन व निदिध्यासन का ही विधान मानना चाहिये क्योंकि दर्शन के उद्देश्य से इन्हीं का विधान किया है—'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (बृ. २.४.५)। यहाँ बताये निदिध्यासन का स्वरूप पंचपादिका में बताया है—'निदिध्यासनं मननोपबृंहितवाक्यार्थविषये स्थिरीभावः, विधेयस्य उपासनापर्यायस्य निष्फलत्वात्' (पृ. ३५२ मद्र.)। विवरणकार ने भी कहा है—'प्रमाणयुक्तिसंभावनाभ्यां परिनिश्चितेऽपि विषये तदेकाकारं चित्तसमाधानं निदिध्यासनम्' (पृ. ४१० मद्र.)। एवं च वाक्यार्थ-विषयक बोध से विपरीत प्रकारके निश्चय को न बनने देकर उसी बोध को बनाये रखना अभिप्रेत है।

किन्तु है यह केवल अंग ही, अंगी तो श्रवण है। श्रीनृसिंहाश्रम अद्वैतदीपिका में कहते हैं—'निदिध्यासनस्य च स्वतः फलवत्त्वाभावेन तस्मिन् वेदान्तानां तात्पर्याभावात्' (तृतीय परि. पृ. २८०)। अतएव अद्वैतसिद्धि में भी निदिध्यासन का फल मोक्षोपयोगी ज्ञान नहीं माना है—'निदिध्यासनरूपभावनाप्रकर्षजन्यत्वे साक्षात्कारस्य कामिनीसाक्षात्कारवत् अप्रमात्वापातः' (पृ. ८६३)। एवं च निदिध्यासन को विधेय मानना यद्यपि है, तथापि महावाक्यश्रवण से जनित ज्ञान ही मोक्षोपयोगी है, निदिध्यासन तो तादृश निर्विचिकित्स ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक है। जैसा कि प्रकाशात्म श्रीचरण ने कहा है—'मनन-निदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणता संस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते। मननिदिध्यासने चित्तगतविक्षेपादिदोषप्रतिबन्धनिरासेन अपरोक्षफलप्रतिष्ठाहेतुतया प्रमाणस्य फलोपकार्यङ्गम्।' (पृ. ४११-४१२ मद्र.)। जब 'निदिध्यासितव्यः' यह पृथक् विधि श्रुत है, तब महावाक्य में तादृशविधि-कल्पना निरर्थक है।

इससे यह नहीं समझ सकते कि श्रवणादिविधिशेषतया महावाक्य में आत्मैकत्वोपदेश है। 'तत्त्वमसि' आदि में आत्मयाथात्म्य का उपदेश मात्र है। ज्ञान की विधि न हो सकने से 'द्रष्टव्यः' में विधि नहीं मानी है। अतः महावाक्य तो केवल वस्तुपरक है। वस्तु ज्ञानार्ह होने से उसके ज्ञान के लिये जो यत्न चाहिये उसे श्रवणादिविधि से बताया। जैसे—'पुत्रस्ते जातः' वाक्य 'इति जानीहि' ऐसी कल्प्य विधि का शेष नहीं माना जा सकता, वैसे ही 'तत्त्वमसि' वाक्य भी विधिशेष

भिन्नविषयत्वाच्च न प्रमाणान्तरविरोधः। कथम्? उच्यते–

अपूर्वाधिगमं कुर्वत् प्रमाणं स्यान्न चेन्न तत्।
न विरोधस्ततो युक्तो विभिन्नार्थावबोधिनोः ॥८३॥

य एवमपि भिन्नविषयाणां विरोधं वक्ति, सोऽत्रापि विरोधं

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणान्तरविरोधमभ्युपगम्यैतदुक्तं (प्रसंख्यानादिविधिशेष इत्यर्थः)[1], सोऽपि नास्तीत्याह–भिन्नेति। न चेन्न तदिति। **अयमर्थः, अपूर्वाधिगमं न करोति चेत् अनुवादस्मृत्यादिवत् प्रमाणमपि तन्न भवतीति।।८३।।**

भिन्नविषययोः प्रमाणयोः परस्परवार्तानभिज्ञयोर्विरोधो नास्तीत्युक्तम्। तदेतद्दृष्टान्तेन स्पष्टयितुमाह–य एवमपीति।।८४।।

नहीं माना जा सकता। यथाकथंचिद् आत्मदर्शन को श्रवणादिविधिशेषतया उपदिष्ट माना जा सकता है, किन्तु महावाक्यार्थ आत्मैक्य को कथमपि नहीं माना जा सकता।

पूर्वोक्त विचार यह मानकर था कि महावाक्य अन्य प्रमाणों से विरुद्ध अर्थ को बताता है, किन्तु वैसी बात है नहीं क्योंकि अन्य प्रमाणों के विषय से अद्वैत श्रुति का विषय भिन्न है। भिन्न है, यह कैसे? इसका उत्तर श्लोक द्वारा देते हैं—**अन्य प्रमाण से अनधिगत अर्थ का ज्ञान कराने पर ही प्रमाण होता है; यदि अनधिगत का अधिगम न कराये, तो वह प्रमाण ही नहीं होता। अतः प्रमाणों के विषय सर्वथा विभिन्न हैं, यह मानना होगा। एवञ्च विभिन्न विषयक होने से प्रमाणभूत प्रत्यक्षादि तथा प्रमाणभूत शास्त्र का विरोध संभव नहीं।।८३।।** जैसे आँख व कान रूप व शब्द—इन विलक्षण विषयों के प्रमापक हैं अतः इनका आपस में विरोध नहीं होता क्योंकि एक विषय में दो की प्राप्ति होने पर ही विरोध होता है, वैसे ही प्रत्यक्षादि तथा शास्त्र का परस्पर विरोध नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष व्यवहारक्षेत्र में गति रखता है जबकि शास्त्र पारमार्थिक अभेद का बोधक है। अतः दोनों में विरोध नहीं। किं च, प्रत्यक्ष तो चन्द्र की प्रादेशमात्रतादि स्थल में बाधित है, अतः वह शास्त्र के समान बल वाला भी नहीं जिससे कि कोई कारगर विरोध कर पाये।

जो वादी इस प्रकार विलक्षण-विषयक प्रमाणों का परस्पर विरोध बताता है

---

१. हस्तलेख एव कुण्डलनम्।

ब्रूयात्–

नायं शब्दः कुतो यस्माद्रूपं पश्यामि चक्षुषा।
इति यद्वत्तथैवायं विरोधोऽक्षजवाक्ययोः ॥८४॥

प्रमाणानां सतां न विरोधः श्रोत्रादीनामिव भिन्नविषयत्वात्। ययोश्चाभिन्नविषयत्वं तयोराखुनकुलयोरिव प्रतिनियत एव

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सैवेयं ज्वालेति प्रत्यक्षं प्रभावितातिलिङ्गानुमानाद्[1] बाध्यते, तथा पदार्थत्वेनाग्नेरनुष्णत्वानुमानं[2] प्रत्यक्षेणबाध्यते, तथा 'न हिंस्याद्-भूतानी'त्यागमो'ऽग्नीषोमीयं पशुमालभेते'त्यागमान्तरेण बाध्यते, तत्कथं प्रमाणानां विरोधाभाव इत्याशङ्क्य; द्वयोर्ज्ञानयोरेकपदार्थोपाधौ विभिन्नस्व-भावावलम्बनयोर्बाध्यबाधकभावेऽपि न द्वयोः प्रामाण्यं बाध्यस्याभासत्वात् बाधकस्यैव प्रमाणत्वादित्येतदाह प्रमाणानामित्यादिना।

वह तो यहाँ भी विरोध है—ऐसा बतायेगा—**यह शब्द नहीं है। क्यों? क्योंकि मैं आँख से रूप देख रहा हूँ! जैसे यहाँ विरोधोद्भावन असंगत है वैसे ही प्रत्यक्ष व वाक्यरूप प्रमाणों के विरोध के उद्भावन को असंगत समझना चाहिये।।८४।।**

जो प्रमाण होते हैं उनका आपस में विरोध नहीं होता क्योंकि उनके विषय विभिन्न होते हैं जैसे श्रोत्र, नेत्रादि का परस्पर विरोध नहीं होता। जिन प्रमाण-व्यक्तियों का विषय एक होता है, उनका भी निश्चित ही बाध्यबाधकभाव है जैसे चूहा और नेवला यदि एकत्र उपस्थित हो जायें तो एक ही बच सकता है। समान विषयक विरोधी ज्ञान उत्पन्न करने वालों में से एक ही प्रमाण हो सकता है, अन्य को प्रमाणाभास ही होना पड़ेगा। अतः यह कहा जाता है कि—**जो प्रत्यक्षसिद्ध है वह शब्द प्रमाण से न बोधित होता है, न बाधित होता है। इसी प्रकार शब्दप्रमाण से सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष से बोधित व बाधित नहीं होती। समान-विषयक विरोधी प्रत्यक्षों में से एक को प्रमाण स्वीकारने पर दूसरा प्रमाणाभास स्वतः सिद्ध है तथा समानविषयक विरोधी**

---

१. बहूनां क्रमशः सत्त्वं विततिः, सन्ततिप्रभृतिपदवाच्या। सा लिङ्गं ज्वालाभेदे, तेन ज्वालैक्याध्यक्षबाधः।

२. अग्निरनुष्णः पदार्थत्वात् जलवत् इति अनुमानमपि प्रत्यक्षेण बाध्यते इति भावः।

बाध्यबाधकभावः स्यात्। अतस्तदुच्यते–

प्रत्यक्षं चेन्न शाब्दं स्याच्छाब्दं चेदक्षजं कथम्।
प्रत्यक्षाभासः प्रत्यक्षे ह्यागमाभास आगमे ॥८५॥

न च प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तन्याय इह संभवति, शब्दादीनां प्रत्येकं प्रमाणत्वात्। अत आह–

स्वमहिम्ना प्रमाणानि कुर्वन्त्यर्थावबोधनम्।
इतरेतरसाचिव्ये प्रामाण्यं नेष्यते स्वतः ॥८६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रत्यक्षं चेदिति। अयमर्थः–यत्प्रत्यक्षमसिद्धं[1] न तच्छब्देन बोध्यते बाध्यते वा, तेन न प्रमाणानां विरोधः। ययोः पुनर्बाध्यबाधकभावः, तयोरन्यतरस्यैव प्रमाणत्वमितरस्याभासत्वात्; यथेयं शुक्तिरिति प्रत्यक्षेऽभ्युपगते सतीदं रजतमिति ज्ञानं प्रत्यक्षाभासस्तथैकस्मिन्नागमेऽभ्युपगम्येत तेनापहतविषयोऽपर आगमाभासः, एवमागमप्रत्यक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयोश्च बाध्यबाधकभावप्रसिद्धिर्नेतव्येति।।८५।।

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यं गौणार्थं प्रत्यक्षादिविरुद्धार्थत्वाद् 'आदित्योयूपो'[2] 'यजमानः प्रस्तर[3]' इत्यादिवाक्यवदित्यनुमीयत इत्याह–न चेति। 'आदित्यो यूप' इत्यादावादित्यादिपदार्थस्य पशुबन्धनायोग्यस्य 'यूपे पशुं बध्नाती'ति शेषिवाक्यविरोधादप्रामाण्यम्, न तु प्रमाणान्तरविरोधात्। प्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यात् प्रमाणान्तरसंवादानपेक्षत्वात्, स्वार्थावबोधनमात्रेणैव प्रामाण्योपपत्तेः। अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः।।८६।।

ज्ञानोत्पादक शब्दों में से एक को प्रमाण मान लेने पर अन्य प्रमाणाभास है इसमें संदेह नहीं॥८५॥

जैसे अनुमान के अवयव प्रतिज्ञा, हेतु व दृष्टान्त मिलकर अनुमान उत्पन्न करते हैं, वैसे भी प्रत्यक्ष, शब्दादि स्थल में मिलकर ज्ञानोत्पत्ति संभव नहीं क्योंकि शब्दादि प्रत्येक स्वयं पूर्ण प्रमाण है, अन्य प्रत्यक्षादि उसके अंग नहीं। अतः कहते हैं—**प्रमाण**

---

१. प्रत्यक्षसिद्धम् इति पठनीयम्।
२. यूपः—यज्ञे पशुबन्धनार्हः अष्टकोणसमन्वितः खदिरादिकाष्ठकृतस्तम्भविशेषः।
३. प्रस्तरः—दर्भमुष्टिविशेषः।

न च सुखदुःखादिसंबन्धोऽवगत्यात्मनः प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्गृह्यते येन विरोधः प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुद्घाट्यते। कथम्? शृणु–

दुःखिताऽवगतिश्चेत्[1] स्यान्न प्रमीयेत सात्मवत्।
कर्मण्येव प्रमा न्याय्या न तु कर्तर्यपि क्वचित् ॥८७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मनो दुःखित्वादेः प्रमाणान्तरग्राह्यतामङ्गीकृत्य न तद्विरोधात्तत्त्वमस्यादिवाक्याप्रामाण्यप्रसक्तिरित्यवोचाम। तदेव नास्तीत्याह–न च सुखेति। न तु कर्तर्यपीति। स्वगतधर्मग्राहकत्वे स्वस्य रूपस्यापि धर्मधर्मितया ग्राहकत्वं वक्तव्यम्। तथा सति कर्मकर्तृत्वविरोधः स्यादित्यर्थः।।८७।।

अपनी सामर्थ्य से ही अर्थबोध करा देते हैं। यदि माना जाये कि उन्हें अर्थबोध कराने के लिये एक-दूसरे की अपेक्षा है तो यह सिद्धान्त भग्न हो जायेगा कि प्रमाणों की प्रमाणता स्वतः है॥८६॥ एक प्रमाण को दूसरे की अपेक्षा होने पर सभी इतरेतराश्रित हो जायेंगे अतः एक भी प्रमाण कार्यकारी नहीं हो पायेगा। यह नहीं कहना चाहिये कि शब्द-प्रमाण प्रत्यक्ष पर आश्रित है क्योंकि पदों से पदार्थ-स्मरण होकर शाब्दबोध होता है और स्मरण के लिये पूर्वानुभव आवश्यक है। कारण यह है कि पदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थ प्रमाणान्तरबोधित नहीं, अतः उसके बोध के लिये शब्द स्वतन्त्र है। किं च 'अत्यन्तासति ह्यर्थे शब्दः ज्ञानं करोति हि' इस भाट्ट वचन से, तथा योगमत-स्वीकृत विकल्पवृत्ति से, इतरप्रमाणनिरपेक्षता शब्द प्रमाण की स्पष्ट है।

आत्मा दुःखी है ऐसा वेदान्तातिरिक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है, यह मानकर पूर्वविचार किया। किन्तु वास्तविकता यह है कि अवगति-स्वरूप आत्मा का सुख दुःख आदि से सम्बन्ध प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ग्रहीत ही नहीं होता जिससे कि उक्त विरोध का उद्भावन किया जाये। क्यों नहीं गृहीत होता? श्लोक द्वारा बताते हैं, सुनो—**अवगतिरूप आत्मा से तादात्म्यापन्न यदि दुःखिता होती तो वह उसी प्रकार प्रमाविषय न होती जैसे आत्मा। ज्ञान-विषय-विषयक ही प्रमा का होना सम्भव**

---

१. दुःखितावगतिश्चेत्—'दुःखिता यद्यवगतिधर्मत्वेन अवगतिरूपात्मतादात्म्यापन्ना स्यादि'तिसारार्थः। दुःखितावगतावित्यपि पाठः। क्लेशापहारिण्यान्तु 'दुःखिताऽवगतेश्चेद्' इति कल्पितः पाठः। 'दुःखिता यद्यवगतेर्धर्मः स्याद्' इति तद्व्याख्या।

अभ्युपगमेऽपि च प्रसंख्यानशतेनापि नैव त्वं सम्भावितदोषान्मुच्यसे। अत आह–

प्रमाणबद्धमूलत्वाद् दुःखित्वं केन वार्यते।
अग्न्युष्णावन्निवृत्तिश्चेन्नैरात्म्यं ह्येति सौगतम् ॥८८॥

अथ मतम्–

निराकुर्यात् प्रसंख्यानं दुःखित्वं चेत् स्वनुष्ठितम्।
प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वात् कथमुत्पादयेत् प्रमाम् ॥८९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणगम्यत्वाभ्युपगमे चानिर्मोक्षप्रसक्तिस्स्यादित्याह–अभ्युपगमेऽपीति। नैरात्म्यमिति। दुःखादिपरिणामस्य परिणामिनिवृत्तिव्यतिरेकेणात्यन्तिक-निवृत्त्ययोगात्, परिणाम्यात्मनिवृत्तौ शून्यवादः प्रसज्यत इत्यर्थः।।८८।।

अनिराकृत्यैवात्मनः स्वरूपं दुःखित्वादिविपरीतरूपप्रमामुत्पाद्य प्रसंख्यानमेव दुःखित्वादि निराकरिष्यतीति शङ्कां प्रदर्श्य; प्रसंख्यानस्य प्रमाणत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविरोधान्नैवमिति परिहरति–अथेत्यादिना।।८९।।

है न कि स्वयं ज्ञान के विषय में, क्योंकि वैसा मानने पर कर्तृकर्मविरोध होगा॥८७॥

यदि मान लिया जाये कि आत्मा की दुःखिता प्रमाणसिद्ध है, तब सैकड़ों बार महावाक्यार्थ की आवृत्ति करने पर भी अनिर्मोक्षतापत्ति दोष से बचा नहीं जा सकता। प्रमासिद्ध वस्तु सत्य अतः अबाध्य होती है जिससे कि आत्मदुःखिता प्रमासिद्ध होने पर निवर्त्य न होगी व मोक्ष संभव न होगा। इसीलिये कहते हैं—**आत्मदुःखिता प्रामाणिक होने से पारमार्थिक होगी व अग्नि की उष्णता की तरह किसी भी उपाय से निवृत्त न की जा सकेगी। और यदि साधनविशेष से उसकी निवृत्ति मानें तो वास्तव धर्म की धर्मिनिवृत्ति के विना आत्यन्तिक निवृत्ति अदृष्टचर होने से आत्मनिवृत्ति भी माननी होगी जिससे कि बौद्धाभिमत शून्यमतप्रवेश हो जायेगा॥८८॥**

यदि कहो कि—**भली प्रकार अभ्यस्त प्रसंख्यान आत्मस्वरूप को निवृत्त किये बिना ही दुःखिता को निवृत्त कर देगा; तो हम पूछते हैं कि प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों से विरुद्ध वस्तु के विषय में अप्रमाणरूप प्रसंख्यान प्रमा कैसे**

ननु प्रसंख्यानं नाम तत्त्वमस्यादिशब्दार्थान्वयव्यतिरेकयुक्ति-विषयबुद्ध्याग्रेडनमभिधीयते। तच्चानुष्ठीयमानं प्रमितिवर्धनया परिपूर्णां प्रमितिं जनयति, न पुनरैकाग्र्यवर्धनया; यथा अशेषाशुचिनीडे स्त्रीकुणपे कामिनीति निर्वस्तुकः पुरुषायासमात्रजनितः प्रत्यय इति। तन्न, यतः–

अभ्यासोपचयाद् बुद्धेर्यत् स्यादैकाग्र्यमेव तत्।
न हि प्रमाणान्यभ्यासात् कुर्वन्त्यर्थावबोधनम् ॥९०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रसंख्यानस्य प्रमोत्पादकत्वमनुपपन्नमिति कथमुच्यते, तस्य तत्त्वमस्यादि-वाक्यार्थज्ञानतदुपकरणयुक्त्यभ्यासरूपत्वेन प्रमितिवर्धकत्वोपपत्तेः। श्रुतौ च 'निदिध्यासितव्य' इत्यात्मदर्शनहेतुत्वेन तस्याङ्गीकारात्, भावनाप्रचयस्या-वस्तुन्यपि प्रत्ययदार्ढ्यहेतुत्वदर्शनादित्याशङ्क्य उत्तरं श्लोकेन दर्शयति–नन्वित्यादिना। मानाभ्यासस्य पदार्थनिश्चयद्वारेण वाक्यार्थविषयासंभावना-विपरीतभावनालक्षणप्रतिबन्धनिरासेनैवोपयोगाद् निदिध्यासनस्य च चित्तलिक्षेपप्रतिबन्धनिरासकत्वात्, समाहितचेतसश्च प्रमाणसामग्रीतस्स्वत एव प्रमोत्पत्तेः। प्रत्यक्षादेश्चाभ्यासानपेक्षस्य प्रमितिजनकत्वदर्शनान्न साक्षात् प्रसंख्यानस्य प्रमोत्पादकत्वमित्यर्थः।।९०।।

उत्पन्न करेगा?॥८९॥ यद्यपि प्रत्यक्षाद्यविरोध स्थापित किया जा चुका है तथापि तात्पर्य है कि प्रमाण न होने से प्रसंख्यान प्रमा का उत्पादक न होगा और इसीलिये अविद्यानिवर्तक न हो सकेगा। एवं च जो प्रत्यक्षादि अनुभवों से अभी आत्मा को दुःखी आदि माना जा रहा है वह यथावत् बना रहेगा।

वादी पूछता है कि तत्त्वमसि आदि महावाक्यगत शब्दों के अर्थों को अन्वय-व्यक्तिरेकरूप युक्ति का विषय बनाते हुए बार-बार विचार करने का ही नाम प्रसंख्यान है और वह अभ्यस्त होने पर प्रमिति को पुष्ट कर परिपूर्ण प्रमा को उत्पन्न करता है, केवल एकाग्रता बढ़ाने के द्वारा ही उपयोगी नहीं है। जैसे हर तरह से गन्दगी से भरे स्त्रीदेह में 'यह कामिनी है' इस प्रकार वस्तुतः कामना-योग्य विषय के बिना ही केवल पुरुष की बुद्धि से स्त्री में कामिनी का दृढ बोध हो जाता है, वैसे ही प्रकृत में भी समझा जा सकता है।

अभ्यासोपचिता कृत्स्नं भावना चेन्निवर्तयेत्।
नैकान्तिकी निवृत्तिः स्याद्भावनाजं हि तत्फलम् ॥९१॥
अपि चाह–
दुःख्यस्मीत्यपि चेद् ध्वस्ता कल्पकोट्युपबृंहिता।
स्वल्पीयोऽभ्यासजा स्थास्त्वी भावनेत्यत्र का प्रमा ॥९२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ननु 'स यथाक्रतुरस्मिँल्लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवती'ति भावनायास्समस्तसांसारिकरूपनिवर्तनेन ब्रह्मरूपताप्राप्तिहेतुत्वं श्रूयत इति? सत्यं, तथापि न तदात्यन्तिकं, ज्ञानव्यतिरेकेण तत्राप्यनावृत्तेरसम्भवादित्याह– अभ्यासेति।।९१।।

किमु वक्तव्यं न्यायान्तरं दर्शयति–अपि चाहेति।।९२।।

किन्तु यह प्रश्न उचित नहीं, क्योंकि, **अभ्यास के बढ़ने से जो बुद्धि की एकाग्रता होती है, वही निदिध्यासन का फल है। प्रमाणों के कार्य करने की यह शैली नहीं है कि वे बार-बार प्रयोग में लाये जाने पर ज्ञान करावें**।।९०।। यदि प्रमा नहीं होती तो प्रमाण-सामग्री में ही कमी समझनी चाहिये। सूक्ष्म वस्तु के प्रत्यक्षादि के लिये एकाग्रता अधिक अपेक्षित होती है। उचित एकाग्रता से सहकृत प्रमाण सकृदेव प्रमा उत्पन्न कर देता है। सविशेष वस्तुओं को बार-बार प्रमित करने पर उनके नाना विशेषों का बोध होता है तथा पुनः पुनः ज्ञान होने पर संस्कार दृढ होता है। प्रमा तो प्रथम बार में उत्पन्न हो ही जाती है। किं च प्रथम दर्शन पर कुछ संदेह हो तो उसकी निवृत्ति के लिये उत्तर दर्शन उपयुक्त हो सकता है, प्रमा तो प्रथमोत्पन्न ही स्थिर रहेगी। स्थाणु देखने पर शंका होती है कि वहाँ स्थाणु है कि पुरुष। तब पुनः देखते हैं और पुरुष न पाकर पूर्व प्रमा यथावत् बनी रहती है।

किंच—**यदि अभ्यास से दृढीकृत भावना सम्पूर्ण दुःख को निवृत्त करे, तो भी वह निवृत्ति भावनाजन्य फल होने के कारण नित्य नहीं होगी**।।९१।।

भावनाजन्य फल स्थायी नहीं हो सकता है, इसे श्लोक द्वारा बताते हैं— **करोड़ों कल्पों के अभ्यास से दृढीकृत 'मैं दुःखी हूँ' यह बुद्धि यदि कुछ ही काल अभ्यस्त 'मैं दुःखी नहीं' इस भावना से निवृत्त हो गयी, तो वह**

ननु शास्त्रात् स्थास्नुत्वं भविष्यति? नैवम्। यथावस्थितवस्तु-याथाम्यावबोधमात्रकारित्वात् शास्त्रस्य। न हि पदार्थशक्त्याधान-कृच्छास्त्रम्। प्रसिद्धं च लोके–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ननु कथं 'का प्रमे'त्यभिधीयते, सगुणोपासनाफलत्वेन 'न च पुनरावर्तते'[१] इत्यनावृत्तेश्श्रूयमाणत्वादित्याशङ्क्य-'नास्त्यकृतः कृतेने'त्यादिश्रुतिसहकृतस्य भावनाजन्यत्वेनानित्यत्वानुमानस्य बलवत्तरत्वादनावृत्तिश्रुतेश्च ज्ञानद्वारापेक्षयापि सम्भवान्नैवमिति परिहरति–नन्वित्यादिना।।९३।।

अल्पकाल के अभ्यास से जनित ब्रह्मभावना भी निवृत्त नहीं हो जायेगी यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है।।९२।।

'और वह पुनः संसारचक्र में नहीं आता' (छा. ८.१५.१) आदि शास्त्रवचन से भावनाजन्य दुःखनिवृत्ति को स्थायी मान लिया जाये? इस प्रकार भी नहीं माना जा सकता। शास्त्र इतना ही करता है कि वस्तु की वास्तविक स्थिति का बोध करा दे। वह पदार्थों में नवीन सामर्थ्य का आधान नहीं करता। और लोक में प्रसिद्ध है कि—**जो भावनाजन्य फल तथा कर्म से होने वाला फल होता है उसे उसी तरह स्थायी नहीं मानना चाहिये जिस तरह द्रविड-देश के व्यक्तियों की**

---

१. 'अनावृत्तिः शब्दात्' इति सूत्रव्याख्यानावसरे भगवता भाष्यकारेण 'न च पुनरावर्तते' इति श्रुतेः सगुणोपासनपरत्वमेव प्रतिपादितम्। अत्र अनावृत्तिशब्देन अस्मिन् कल्पे-मन्वन्तरे वा अनावृत्तिः ध्वन्यते। अर्थात् तत्तद्विषयप्रतिपादकेषु 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा. ४-१५-६) इत्यादिषु श्रुतिषु इह, इममिति विशेषणादस्मिन्कल्पे ब्रह्मलोकगतानां कल्पान्तरे आवृत्तिर्भवेत्। ईश्वरोपास्ति विना पञ्चाग्निविद्याश्व-मेधदृढब्रह्मचर्यादिसाधनैर्ये गतास्तेषां तत्त्वज्ञाननियमाभावादावृत्तिः स्यात्। ये खलु दहरादीश्वरोपास्त्या गतास्तेषां सगुणविद्याफलक्षयेऽपि निरवग्रहेश्वरानुग्रहलब्धात्म-ज्ञानान्मुक्तिरिति नियमः। मुख्यमोक्षस्तु 'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' (ब्र.सू. ४-४-१) इति सूत्रे 'केवलेनैवात्मनाविर्भवति न धर्मान्तरेणेति, कुतः—स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति 'स्व' शब्दात् प्रतिपादितम्। 'योऽत्राभिनिष्पद्यते इत्युक्तः स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते' इति 'मुक्तः प्रतिज्ञानात्' (ब्र.सू. ४-४-२) इति सूत्रे भगवता भाष्यकारेणैवोक्तत्वाच्च।

भावनाजं फलं यत् स्याद्यच्च स्यात्कर्मणः फलम्।
न तत् स्थास्त्रिति मन्तव्यं द्रविडेष्विव सङ्गतम् ॥९३॥

मित्रता को स्थायी नहीं मानना चाहिये॥९३॥ अतः जब भावना में यह सामर्थ्य है ही नहीं कि वह स्थायी फल का कारण बने, तो पूर्वोद्धृत शास्त्रवचन का तादृश तात्पर्य होना संभव नहीं। 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मुं. १.२.१२) आदि शास्त्र का विरोध भी है। अतः या उसे सापेक्ष अपुनरावृत्ति बताने वाला, और या ज्ञानद्वारा अपुनरावृत्ति बताने वाला समझा जा सकता है।

द्रविडदेशीय व्यक्तियों की अस्थिर मैत्री के विषय में कुछ लोग मानते हैं कि आचार्य के सतीर्थ्यों ने सूत्रवार्तिकरचना प्रसंग पर विरोध किया था जिससे उन्हें लगा कि अन्यथा मैत्री दर्शाने पर भी मौके पर ये लोग विरोध कर देते हैं अतः इनकी मैत्री अस्थायी है। अधिकतर सतीर्थ्य दाक्षिणात्य थे, यह प्रसिद्ध है। अथवा द्रविड एक जाति का नाम है जिसको नीच मानने से उसकी मैत्री को अस्थायी बताया है। द्रविड जाति का मनुस्मृति में उल्लेख है—'झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यात् निच्छिविरेव च। नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च'॥१०-२२॥ व्रात्य क्षत्रिय से सवर्ण स्त्री में उत्पन्न सन्तान तत्तदेश में इन इन नामों से कही जाती है। व्रात्य होने से नीचता स्फुट है। वार्तिक में (४.४.७७७) भी यह श्लोक है पर वहाँ अन्त्यचरण का पाठ है 'पण्यस्त्रीगमनं यथा'।

विवक्षित तो इतना ही है कि भावनाजन्य फल स्थायी नहीं होता यह लोक-प्रसिद्ध है अतः यदि दुःखनिवृत्ति भावना का फल होगा तो नित्य न हो सकेगा। कुछ सिद्धान्तैकदेशी यह युक्ति देते हैं कि भावनाजन्य होने पर भी वेदान्तवाक्यरूप प्रमाण पर आधृत होने से भावना सबल है अतः फल नित्य हो सकता है। अमलानन्दाचार्य ने कहा है 'वेदान्तवाक्यजज्ञानभावनाजापरोक्षधीः। मूलप्रमाणदार्ढ्येन न भ्रमत्वं प्रपद्यते'॥ पृ. ५६ कल्प॥ इस मत में शाब्दापरोक्ष को मान्यता नहीं, कारण कि ज्ञानापरोक्ष्य का लक्षण किया जाता है—स्वाविषयविषयकज्ञानत्वम्। तथा अर्थापरोक्ष्य कहते हैं—अपरोक्षज्ञानजन्यव्यवहारयोग्यत्व को। क्योंकि शब्द प्रमाण स्वाविषयविषयक ज्ञानजन्य परोक्ष ही प्रमा को उत्पन्न करता है[1] इसलिये शब्द से अपरोक्षज्ञान नहीं होता (द्र. परिमल पृ. ५६)। किन्तु वेदान्त के मुख्यपक्ष में शाब्दापरोक्ष्य स्वीकृत है। अर्थापरोक्ष्य का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—अभिव्यक्त चैतन्याभिन्नत्वम् तथा वह जीवचैतन्य से अभिन्न नित्याभिव्यक्त ब्रह्म में स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार ज्ञानापरोक्ष्य का अर्थ है—

१. स्व अर्थात् शाब्दी प्रमा। उसके अविषय हैं पद तथा उनके ज्ञान से जन्य ही है शाब्दी प्रमा। अतः अपरोक्ष नहीं हो सकती।

यद्यपि प्रत्यक्षादिप्रमाणोपात्तमात्मनो दुःखित्वम्, तथापि तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थप्रत्यय एव बलीयानिति निश्चयः, अव्यभिचारिप्रामाण्यवाक्योपात्तत्वात्। प्रमेयस्य च स्वत एव

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रमाणानां परस्परविरोधाभावाद् दुःखित्वस्य च मानान्तरायोग्यत्वात् तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य मानान्तराविरुद्धार्थतया प्रसंख्यानपरत्वं निराकृतम्। इदानीमभ्युपगम्यापि दुःखित्वस्य प्रत्यक्षादिविरुद्धतां[1] तत्त्वमस्याद्यागम एव मानान्तरबाधकोऽसंभाविताशेषपुरुषदोषत्वात्[2], अदुःखिताप्रत्यक्षादेश्च[3] बुद्ध्याद्युपाधिसम्बन्धात्[4]गोचरतया[5] निरुपाधिकात्मविषयत्वाभावात्[6] सौषुप्तिकात्मनि स्वयंप्रकाशमाने चाप्रतीतेः, [6]दुःख्यस्मीति च प्रतीतेर्भ्रान्तित्वोपपत्तेश्चेत्याह–यद्यपीत्यादिना। **तर्हि प्रत्यक्षादिसिद्धस्यैव प्राबल्यं किं न स्यादित्यत**

अपरोक्षार्थव्यवहारानुकूल ज्ञानत्वम्। अतः जीव से अभिन्न अपरोक्ष ब्रह्म का ज्ञान अपरोक्ष ही होता है, होता चाहे वह तत्त्वमसि आदि शब्द से जन्य है (द्र. परिमल पृ. ५५)। इस प्रकार शब्द से अपरोक्ष मान लेने पर निदिध्यासन का प्रमोत्पत्ति के प्रति कोई साक्षात् कृत्य नहीं रह जाता।

जो तो निदिध्यासन द्वारा प्रामाण्य-निश्चय और शास्त्रीय होने से सबलता मानी थी, वह गौरवग्रस्त है, क्योंकि शास्त्रीय होने से भावना में वैशिष्ट्य मानने की अपेक्षा सीधे ही शास्त्र से अपरोक्ष ज्ञान मानना संगततर है। जैसा कि विवरण में कहा है—'शब्दावगत-ब्रह्मात्मविषयत्वादपरोक्षस्य तद्द्वारेण प्रामाण्यनिश्चय इति चेत्? नैवम्; उत्पन्नस्य हि विज्ञानस्य प्रमाणान्तराधीनविषयसद्भावनिश्चयाधीनप्रामाण्यकल्पनाद् वरं स्वस्यैव क्लृप्तप्रमाणजन्यत्वकल्पनम्, अन्यथा परतः प्रामाण्यात्' (पृ. ४१३ मद्र.)।

यदि मान भी लिया जाये कि आत्मा की सदुःखता प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से गृहीत है, तब भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से

१. प्रत्यक्षाद्यविरुद्धतामिति पठनीयम्। 'प्रत्यक्षादिसिद्धताम्' इति चन्द्रिकायाम्। क्वचिच्छारीरकादौ प्रत्यक्षपदं श्रुतिपरं, ततः प्रत्यक्षादिविरुद्धतामित्येव पाठे श्रुतिस्मृतिविरुद्धतामिति कथंचिद्वा योजनीयम्।
२. भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादिदोषाः। ३. अदुःखितेत्यत्र दुःखितेति पठितव्यम्।
४. उपाधिसम्बन्धेति उपाधिसम्बद्धेत्यर्थः। ५. आगमएव बाधक इत्यत्र हेतूनामन्वयः।
६. दुःखितायास्तत्राऽप्रतीतेस्तस्या यतो व्यभिचारिताऽतः सा बाध्यैवेत्यागमो बाधक इति युज्यते।

निर्दुःखित्वसिद्धेः। प्रत्यक्षादेस्तु सव्यभिचारित्वात् सम्भावनायाश्च पुरुषपरिकल्पनामात्रावष्टम्भत्वाच्चेति।।

निर्दुःखित्वं स्वतः सिद्धं प्रत्यक्षादेश्च दुःखिता।
को ह्यात्मानमनादृत्य विश्वसेद् बाह्यमानतः॥९४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आह–को हीति।।९४।।

उत्पन्न ज्ञान अधिक बलवान् है क्योंकि जिसके प्रामाण्य का कभी अन्यथाभाव नहीं होता ऐसे शास्त्रवाक्य से जन्य है। इतना ही नहीं; वाक्य-प्रमेय आत्मा की दुःखरहितता सुषुप्ति आदि में स्वतः सिद्ध ही है, अतः उसे स्वीकारने में कोई विरोध नहीं। प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य सार्वत्रिक है नहीं कि उन्हें शास्त्रबाध्य न माना जाये। किंच आत्मा की दुःखिता सौषुप्तानुभव और शास्त्रवचन से बाधित होने के कारण केवल सम्भावना ही है और सम्भावना तो केवल पुरुष की कल्पना के सहारे टिकी होने से अत्यन्त बलवान् शब्द प्रमाण से बाध्य हो यह अत्यन्त संगत है।—**आत्मा की दुःखरहितता सुषुप्त्यादि में स्वतः सिद्ध है जबकि उसकी सदुःखता प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के माध्यम से सिद्ध है। ऐसा कौन होगा जो स्वतः सिद्ध निर्दुःख आत्मा का तिरस्कार कर बाह्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा सिद्ध सदुःखता को माने?**॥९४॥

आगमवाक्य जब आत्मोपदेश देता है तब अपरोक्ष आत्मवस्तु का अपरोक्ष ज्ञान स्वतः होता है, प्रत्यक्षादि द्वारा नहीं, क्योंकि आत्मा में इन्द्रियविषयता न होने से प्रत्यक्षयोग्यता नहीं। शब्द से अपरोक्ष मानना अत्यन्त आवश्यक है। घट की उपस्थिति दशा में, घट किसे कहते हैं यह जानने वाले व्यक्ति को कोई आप्त व्यक्ति अंगुल्या निर्देश कर बताता है—यह घट है; और उसके ठीक अगले क्षण घट से होने वाला चक्षुःसंयोग नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में जो ज्ञान हुआ उसे अपरोक्ष न मानें तो श्रोता को कालान्तर में यही स्मृति होगी कि मैंने 'घड़ा'—ऐसा सुना था, न कि 'घड़े को देखा था'। एक क्षण में देखना-सुनना दोनों हो नहीं सकते व सुनने के अगले क्षण ही चक्षुःसंयोग नष्ट हो जाने से देखना संभव था नहीं। अतः 'यह घट है' इस शब्द से घट का अपरोक्ष ही मानना होगा तभी 'मुझे घट का अपरोक्ष हुआ था' यह स्मरण उत्पन्न होगा। इस प्रकार शाब्दापरोक्ष का समर्थन सांप्रदायिकों ने

संबन्धार्थ एव–

अपि प्रत्यक्षबाधेन प्रवृत्तिः प्रत्यगात्मनि[1]।
'पराञ्चि खानी'त्येतस्माद् वचसो गम्यते श्रुतेः॥९५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सम्बन्धग्रन्थोक्तार्थे श्रुतिप्रदर्शनायोत्तरश्लोक इत्याह–सम्बन्धेति। प्रत्यक्षबाधेन प्रत्यगात्मनि श्रुतेः प्रवृत्तिः पराञ्चि खानीत्येतस्माद् वचसो गम्यते, **'तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्नि'ति प्रत्यगात्मनः प्रत्यक्षाद्ययोग्यत्व-कथनादित्यर्थः।।९५।।**

समझाया है। अतः आत्मा को जो स्वतः ज्ञान शब्द सुनने पर होता है, यद्वा सुषुप्ति-समाधि में होता है, उसे मानना ही होगा और अव्यभिचरित होने से व्यभिचारी प्रत्यक्षादि से वह बलवत्तर होगा ही, यह भाव है।।

पूर्वश्लोक के (श्लो. ९४) सम्बन्धग्रन्थ में जो विषय बताया था उसे श्रुति से उपोद्बलित करने के लिये कहते हैं—**प्रत्यक्ष का बाध कर प्रत्यगात्मा के विषय में श्रुति प्रमा उत्पन्न करती है यह इस कठश्रुति से समझ में आता है, 'इन्द्रियाँ बाह्य विषयों का ही ज्ञान कराने में समर्थ हैं'** (कठ. ४.१)॥९५॥ वस्तुतस्तु 'न च सुखदुःखादिसम्बन्धोऽवगत्यात्मनः प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्गृह्यते' (श्लो. ८७ सम्बन्धवाक्य) वाक्य में जो कहा था कि श्रुति व प्रत्यक्ष का कोई विरोध नहीं है, उसके अनुकूल उदाहृत वचन है। पूर्वश्लोक की सम्बन्धोक्ति में प्रत्यक्ष से प्राबल्य शास्त्र का बताया था, उसे भी यह श्रुति सिद्ध करती ही है क्योंकि इन्द्रियों की आत्मा में अविषयता कहकर उसमें विषयता वाली श्रुति से उन्हें दुर्बल बता दिया है। किं च शास्त्र तो प्रत्यक्षविषय में भी प्रवेश रखता है इस प्रकार व्यापक क्षेत्र वाला होने से भी प्रबल है, यह भी बता दिया। यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिये कि उक्त श्रुति में प्रत्यगात्मा को देखने वाला उसे ही कहा है जो 'आवृत्तचक्षु' हो—जिसने सब विषयों से इन्द्रियों को हटा लिया है, एवञ्च इन्द्रियों को ही आत्मदर्शन में हेतु बताया है; क्योंकि जब पहले ही कह दिया कि इन्द्रियाँ विषयग्रहमात्र में चतुर हैं, तब विषयों से व्यावृत्त हो जाने पर वे कुछ ग्रहण कर न पायेंगी,

---

१. 'प्रत्यक्षमुपमृद्यैव तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रत्यगात्मनि प्रवृत्तिरिति 'पराञ्चि खानि' इत्यादि श्रुतिवाक्यादवगम्यते। तस्मात्प्रत्यक्षादेरात्मनि प्रवृत्तिसम्भावनापि नास्तीत्याशयः' (सारार्थः)।

अभ्युपगम्यैवमुच्यते, न तु प्रमाणं सत् प्रमाणान्तरेण विरुध्यत इत्यसकृदवोचाम[1]। यत्रापि वाक्यप्रत्यक्षयोर्विरोधाशङ्का तत्रापि पुरुषमोहवशादेव सा जायते, न तु परमार्थत इति। अत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ननु 'आदित्यो यूप' इत्यादौ प्रत्यक्षादिविरोधे श्रुतेर्गौणार्थत्वमभ्युपगतमेवेति? तत्राह–अभ्युपगम्येति। **यूपशब्देन खदिरादिप्रकृतिः पशुबन्धनयोग्यः पदार्थोऽभिधीयते। तस्यादित्यत्वं योग्यतालक्षणसामग्र्यभावान्मुख्यया वृत्त्या वक्तुं न शक्यत इति तत्र गौणीवृत्तिराश्रिता वाक्यार्थप्रतिपत्तये, न तु**

अतः आत्मदर्शन में वे हेतु बनेंगी ही नहीं। किंच आगे स्वयं श्रुति ने कहा है—'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्' (कठ. ५.९)—आत्म-स्वरूप विषयतया ज्ञेय नहीं, वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं। निरोधप्रतियोगितया भी सहायक शमादि हेतुकोटि में ही इन्द्रियाँ आ सकती हैं, और एतादृश हेतुता लोक में अत्यन्त असंगत है। प्रागभाव को कारण मानने वाले मत में उक्त विधि से स्वयं घट ही अपना कारण भी होने लगेगा। अतः यह प्रश्न संगत नहीं।

यह मान कर इस विचार को चलाया (श्लो. ८८ से) कि दुःखित्वज्ञापक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अदुःखित्वबोधक शास्त्रवचन से विरोध है, किन्तु यह कई बार कहा जा चुका है कि कोई भी प्रमाण प्रमाण रहते हुए किसी अन्य प्रमाण से विरुद्ध नहीं पड़ सकता। जहाँ प्रत्यक्ष और शास्त्र में विरोध की शंका उठती है, वहाँ भी वह समझने वाले की भूल से उठती है, वस्तुतः विरोध नहीं होता। कुछ वादी प्रमाणसम्प्लव मानते हैं। 'समानविषयता हि प्रमाणानां सम्प्लवः' (प्रमाणलक्षण पृ. ४०)—अनेक प्रमाणों का विषय एक ही होना, यह प्रमाणसम्प्लव कहा जाता है। जैसे आप्तोपदेश से आत्मा को जान इच्छादि लिङ्ग से उसका अनुमान हो जाता है, समाधि में प्रत्यक्ष भी हो जाता है। मानमेयोदयकार ने अनधिगतविषयक प्रमा होती है यह सुरक्षित रखने के लिये अनुवादक ज्ञानों के प्रामाण्य को नहीं माना, क्योंकि वे फलार्थ ही प्रमाणों को स्वीकारते हैं व

---

१. 'न मानयोर्विरोधोऽस्ति' (न्या.कु. ३.१९)। 'यत्र हि ययोर्मानयोर्विषयत्वं प्रसक्तं तत्र तयोर्बाध्यबाधकत्वम्' (ल.चं.पृ. ३५५) इति तु प्रसक्तिमात्रमभिप्रेत्य, बाध्यस्य मानत्वानङ्गीकारात्।

प्रमां चेज्जनयेद् वाक्यं प्रत्यक्षादिविरोधिनीम्।
गौणीं प्रत्यक्षतां ब्रूयान्मुख्यार्थासंभवाद् बुधः ॥९६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

मानान्तरविरोधात्। मानान्तरविरोधाभावेऽपि 'मासमग्निहोत्रं जुहोती' त्यत्र वाक्यार्थप्रतिपत्तये गौण्यावृत्तेराश्रयणाद् एकश्चन्द्रो, नायं सर्प इति चागमविरोधाद् द्विचन्द्रादिविषयज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वदर्शनात्, तत्र प्रत्यक्षशब्दस्य गौणत्वादागमस्यैव तात्पर्यतः प्रवृत्तस्योत्तरकालीनत्वान्निर्दोषत्वाच्च प्रत्यक्षादिभ्यः प्राबल्यमित्यर्थः।।९६।।

अनुवादक का फल नही मानते 'अतः फलविशेषाभावात्, फलार्थं च प्रमाणानां स्वीकारात् स्मृत्यादिवद् अनुवादोपि बहिष्कार्य एव' (पृ. २)। मीमांसक वार्तिककार ने भी 'प्रमाणं निष्फलं परम्' कहकर (अनु.श्लो. ५७) इसे पोषित किया है। किन्तु भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में इस पर टिप्पणी की है—'एकेनोपलब्धेऽर्थे द्वितीयस्य व्यर्था प्रवृत्तिरिति चेत्? न; सुखदुःखविशेषजनकत्वात्, संस्कारातिशयजनकत्वाच्च। न च सर्वत्र पुरुषार्थायत्ता प्रमाणानां प्रवृत्तिः, निष्प्रयोजनेपि तृणादौ, अनिष्टेपि च बन्धनादौ प्रमाणप्रवृत्त्युपलम्भादिति' (पृ. ८३)। एवमपि मीमांसक धर्मस्थल से अतिरिक्त प्रमाणसम्प्लव स्वीकारते ही हैं। किन्तु प्रतिप्रमाण का यत्किंचिद् विशेष विषय मानने से कोई दोष भी नहीं; जैसा सर्वज्ञगुरु ने कहा है—'तत्रापि देशकालादिविशेषणविशिष्टः कृशानुः अनधिगतार्थसन्निकर्षप्रत्ययेनापि विषयी क्रियत' (पृ. ४०)। सम्प्लव को स्वीयसिद्धान्त में प्रमाणलक्षणकार ने अस्वीकृत किया है।—'न चैषां प्रमाणानां संप्लवः' (पृ. ३९)। किन्तु यहाँ भी तात्पर्य यही है कि वह पश्चात्प्रवृत्त प्रमाण जो पूर्व प्रमाणनिवेदित अर्थ से अतिरिक्त और कुछ न बताये, अनुवादक ही रह जाता है। सरस्वतीस्वामी तो यहाँ तक मानने को तैयार हैं कि केवल पश्चाद्बोधकता से ही अनुवादकता हो जाती है, पश्चात्ता चाहे प्रमाण से ही, चाहे अप्रमाण से;—'न हि प्रमितप्रमापकत्वमनुवादकत्वं, किन्तु पश्चाद्बोधकत्वमात्रम्; पश्चात्त्वं च प्रमाणावधिकमप्रमाणावधिकं चेति न कश्चिवद् विशेषः' (पृ. ४२७)। जो तो कुछ विशेष बोध दे, उसे प्रमाण मानना ही है। अत एव खण्डनकार की इस उक्ति से भी विरोध नहीं कि—'आगमेनानुमानेन ध्यानात् प्रत्यक्षणेन च। त्रेधाऽऽत्मनि प्रमाणानां संप्लवः

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आगमस्य मानान्तरविरोधात् किन्तु पदमात्र[1] तत्तत्प्रयोगेषु पदार्थग्राहकप्रमाणान्तरविरोधान्मुख्यार्थतां परित्यज्य पदार्थान्तरान्वययोग्यं

स्वार्थमिष्यते'॥१० अनु. ४३; पृ. ३६७॥ क्योंकि प्रमाणगत व प्रमेयगत असंभावना तथा विपरीतभावना निवृत्त कर तीनों प्रमाण अपना प्रामाण्य सुरक्षित रखते हैं। प्रकृत सिद्धि सन्दर्भ की सूचना संक्षेपशारीरक में भी मिलती है—'एवं प्रमाणमखिलं बहिरर्थनिष्ठं वेदान्तवाक्यमपहाय यथोक्तहेतोः। न प्रत्यगात्मविषयं श्रुतिरप्युवाच स्पष्टं पराञ्चिवचसाऽर्थमिमं यथोक्तम्'॥२.१२॥

शास्त्रवचन और प्रत्यक्षादि में विरोध 'ग्रावाणः प्लवन्ते' आदि स्थल में जो प्रतीत होता है, वह भी शास्त्र को न समझने से होने वाला भ्रम है क्योंकि वस्तुतः शास्त्र जो बता रहा है, उसका प्रत्यक्षादि से विरोध नहीं। इसीलिये मधुसूदनस्वामी ने स्पष्ट किया कि शास्त्र में लक्षणा प्रत्यक्षादि के अविरोध के लिये नहीं की जाती किन्तु तात्पर्यविषयीभूत अन्वय हो सके इसके लिये की जाती है—'तात्पर्यविषयीभूतान्वयनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणस्य सर्वत्र दर्शनात्' (अ.सि.पृ. ३७४)। एवं च तादृशशास्त्र का जो प्रतिपिपादयिषित अर्थ है उसका प्रत्यक्षादि से कोई विरोध नहीं है, अथापि तात्पर्यनिर्णय से पूर्व वैसी प्रतीति होती है। यह कैसे निश्चयें हो कि प्रमाण अविरोधि होते हैं? इसका उत्तर श्लोकद्वारा देते हैं—**शास्त्रवाक्य यदि प्रत्यक्षादि का विरोध करने वाली प्रमा को उत्पन्न करेगा तो कोई भी बुद्धिमान यह समझ सकता है कि प्रत्यक्ष गौण है क्योंकि उसकी मुख्यता सम्भव नहीं**॥९६॥ प्रमाणों के प्रतीयमान विरोध और वास्तविक अविरोध को समझाया जा रहा है। एक प्रमाण गौणार्थक व अन्य मुख्यार्थक हो तो विरोधाऽविरोध उपपन्न हो जाते हैं। प्रत्यक्ष की गौणार्थता का अर्थ है कि अन्तःकरणगत दुःखिता के प्रत्यक्ष का आत्मगतत्वेन उपचार मात्र है। मुख्यता संभव इसलिये नहीं कि आनन्दरूप आत्मा में दुःखिता हो नहीं सकती। यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिये कि विपरीत ही क्यों न हो जाये—शास्त्र गौणार्थक और प्रत्यक्ष मुख्यार्थक क्यों न माने जायें? क्योंकि शास्त्र के तात्पर्यविचार से उसकी गौणार्थता सिद्ध नहीं होती जबकि प्रत्यक्ष की गौणता सर्वथा उपपन्न है।

'मैं दुःखी'—यह प्रतीति गौणीवृत्ति से आत्मा का उल्लेख करती है, इस पूर्वोक्त

---

१. 'आगमस्य न मानान्तरविरोधः किन्तु पदमात्रेण अभिधीयते' इति पाठः कल्प्यते।

तस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थमुदाहरणम्–

अग्निः सम्यगधीतेऽसौ जहासोच्चैश्च मञ्चकः।
यथा तद्वदहंवृत्त्या लक्ष्यतेऽनर्हयापि सः॥९७॥

कस्मात् पुनः कारणात् साक्षादेव आत्मा नाभिधीयते, किमनया कल्पनयेति? तत्राऽऽह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पदार्थं वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थं गौण्यावृत्त्याऽभिधीयत इत्युक्तम्। तदेवोदाहरणप्रदर्शनेन दार्ष्टान्तिके दर्शयतीत्याह–तस्यार्थस्येति। अहं-वृत्त्येति **अहं-शब्दस्याप्युपलक्षणम्।।९७।।**

आत्मनो मुख्यवृत्त्याभिधायकं पदमस्ति न वा? नास्ति चेत्, न लक्ष्यत्वं स्वशब्दस्यान्यपदलक्ष्यत्वदर्शनात्[1]। अस्ति चेत्, किमनया लक्षणयेत्याशङ्क्य उत्तरेणोत्तरं दर्शयति–कस्मादित्यादिना। **मुख्यार्थसम्बन्धो विवक्षितवाक्यार्थ-**

विषय को भली भाँति समझाने के लिये दृष्टान्त देते हैं—**जिस प्रकार कहा जाता है 'यह अग्नि ठीक से अध्ययन करता है' या 'मंच ऊँचे स्वर में हँसा' जहाँ गौणी वृत्ति से अग्निपद विद्यार्थी को और मंचपद मंचस्थित लोगों को विषय करता है; उसी प्रकार उक्त प्रतीति की 'मैं' यह वृत्ति जड होने से चेतन न कही जा सकने के कारण गौणी वृत्ति से आत्मा को विषय करती है**॥९७॥ 'अग्नि पढ़ता है' सुनने पर समझ में आता है कि जड अग्नि पढ़ नहीं सकती अतः अग्नि शब्द से कोई चेतन कहा जा रहा है। उसी प्रकार अनात्मरूपवृत्ति से आत्मा लक्षित होता है क्योंकि जिन विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है वे वृत्ति में संभव नहीं।

क्या कारण है कि आत्मा शब्द से सीधे ही (लक्षणा के बिना ही) नहीं कहा जा सकता और ऐसा मानना पड़ता है कि उसे लक्षणा से कहा जा सकता है? प्रश्न का भाव है कि आत्मा यदि किसी शब्द द्वारा मुख्य (शक्ति) वृत्ति से कहा जा सकता है तब तो लक्षणा का श्रम व्यर्थ है और यदि नहीं कहा जा सकता तो उसकी लक्षणा भी न हो पायेगी क्योंकि जो वाच्य हो उसी की अन्यपदों से लक्षणा होती है जैसे तीर आदि पदों से किनारा वाच्य है, तभी गंगा-आदि पदों से वह लक्ष्य भी है। शक्तिवृत्ति से आत्मा

---

१. स्वशब्दः स्वस्य वाचकः शब्दो यस्य स स्वशब्दः, वाच्यइत्यर्थः। वाच्यस्यैव लक्ष्यत्वम् इति नियम इति भावः।

त्वमित्येतद्विहायान्यन्न वर्त्माऽऽत्मावबोधने।
समस्तीह त्वमर्थोऽपि गुणलेशेन[1] वर्तते ॥९८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रतिपत्त्युपयोगित्वं च लक्ष्यप्रयोजकं, न तु वाच्यत्वम्। उक्तप्रयोजकभावादेव वाच्यत्वाभावापराधेन लक्ष्यताभावादर्शनादात्मनश्च 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्यादिश्रुतेः जात्याद्यभावाच्च निरुपाधिकस्य वाच्यत्वानुपपत्तेस्त्वमहमादि-शब्दवाच्यप्रमातृसाक्षितया तत्सम्बन्धस्य भावादभीष्टसर्वप्रत्यक्तमत्वप्रतिपत्ति-प्रयोजनभावात् त्वमहमादिशब्दवाच्यान्तःकरणोपाधावेव स्फुटतरव्यवहार-योग्यत्वात् तद्वाचकशब्दैः प्रत्यक्षावद्योतकैरात्मा लक्ष्यत इत्यर्थः।।६८।।

को वाच्य सिद्धान्ती मानता नहीं—श्रुति का निर्देश है कि आत्मा को वाणी विषय नहीं करती (तै. २.४.१)। इतना ही नहीं, शब्द जिस अर्थ को विषय करता है उसमें क्रिया, गुण आदि होते हैं जबकि आत्मा निर्धर्मक है, अतः वाच्य नहीं हो सकता। वाच्य (अभिधेय) होने पर प्रमेय भी हो जायेगा, इसलिये भी वाच्य नहीं। इस उभयतः पाशा-शंका का निराकरण श्लोक द्वारा करते हैं—**चेतनतया स्पष्टतः आत्मा जहाँ उपलब्ध होता है उस अन्तःकरण के वाचक तुम, मैं आदि पदों को छोड़ कोई पद आत्मा का बोध कराने में समर्थ नहीं, और वे शब्द भी लक्षणा से ही आत्मा को बताते हैं।।९८।।** अतः उसे अवाच्य तथा लक्ष्य मानना ही होगा। जो तो कहा था कि अवाच्य होने पर लक्ष्य भी न हो पायेगा, वह असंगत है। लक्ष्य को वाच्य होना आवश्यक नहीं। केवल इसीलिये ऐसा मानने का आग्रह है कि लक्ष्य वस्तु की उपस्थिति—बुद्धिस्थता हो पाये। आत्मा स्वप्रकाश है अतः वाच्यसम्बन्धित्वेन उसके ज्ञान के बिना ही वह निर्विकल्पकस्मृति के विषय के रूप में उपस्थित है ही जिससे कि उसे वाच्य मानना व्यर्थ है। मीमांसकनय में 'गौः' पद गोत्व में ही शक्त है अतः गोव्यक्ति वाच्य नहीं, लक्ष्य होता ही है। सुषुप्ति में स्पष्ट ही निर्विकल्पक-साक्षिचैतन्य का अनुभव है जो तादृशस्मृति के लिये पर्याप्त है।

वस्तुतः तो आत्मा को अलक्ष्य कहना हमारे अत्यन्त अनुकूल है क्योंकि अत्यन्त निर्धर्मक आत्मा में लक्ष्यत्व को हम सहन नहीं करते। जो तो उसे लक्ष्य कह देते हैं, वह केवल बताने के लिये है कि वह वाच्य नहीं—'लक्ष्यव्यवहारस्य

---

१. लक्षणयेत्यर्थः।

कस्मात् पुनर्हेतोर्ह्यहमित्येतदपि गुणलेशेन वर्तते, न पुनः साक्षादेवेति? विधूतसर्वकल्पनाकारणस्वाभाव्यादात्मनः। अत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

त्वमहमादिपदानां प्रत्यङ्मात्रवाचित्वात् साक्षादेवात्माभिधीयताम्। किं तत्रापि लक्षणा कल्प्यत इत्याशङ्क्य; वाच्यवाचकभावादिकल्पनानां कारणभूतषष्ठीजातिगुणक्रियादीनां तत्र वस्तुतोऽभावादित्याह– कस्मात्पुनरित्यादिना।।९९।।

वाच्यत्वाभावनिबन्धनत्वात्' (अ.सि.पृ. ७८४)। अत एव गौडस्वामी ने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि शास्त्र में लक्षणा शब्द का इतना ही अर्थ है कि वाच्यत्व का जो सामान्य नियम है कि विशिष्टार्थ में शक्त पद विशिष्टार्थ का अनुभावक हो, उसे छोड़कर आत्मस्थल में विशिष्टार्थ में शक्तपद केवल विशेष्य का अनुभावक होता है। (न्या. रत्न.पृ. १८६ प्र.द्धा.)। इसे ध्वनित करने के लिये आचार्य ने प्रकृत श्लोक में लक्षणा-पद न देकर गुणलेश-पद रखा है। वाच्यत्वरूप गुण का लेश आत्मा में है क्योंकि आत्मा विशिष्ट होकर वाच्य है। यद्वा आत्मा के गुण का लेश वृत्ति में होता है अतः वृत्तिशक्तपद गौणी वृत्ति से आत्मबोधक हो जाता है, यह सरलार्थ है। घटादि पदों को न लेकर मैं आदि पदों को लेने का यही प्रयोजन है। मूलस्थ 'त्वमर्थ' पद त्वंशब्द का बोधक है—त्वं=प्रमाता है अर्थ जिसका वह शब्द त्वमर्थ कहा गया है यह टीका में स्पष्ट है। अतः त्वमर्थ का तात्पर्य त्वंपदार्थभूत अहंवृत्ति से लेना आधुनिकों का व्यर्थ प्रयास है।

स्पष्ट रूप से वह कौन-सा हेतु है जिससे 'मैं' यह पद जो प्रत्यगात्मवाचकतया प्रसिद्ध है, आत्मा को गुणलेश से ही कहता है, शक्तिवृत्ति से नहीं? वह हेतु यह है कि नामात्मक सभी कल्पना के कारणभूत जाति आदि प्रवृत्तिनिमित्त आत्मा में स्वभावतः नहीं हैं। कल्पना शब्द का अर्थ धर्मकीर्ति ने किया है—'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः' (न्या.बि.)। अभिलाप अर्थात् वाचकशब्द। एक ज्ञान में वाचक और वाच्य सम्बद्ध होकर गृहीत हों, तब उनका सम्बन्ध ज्ञात होता है। वाचकशब्द के संसर्ग के योग्य प्रतिभान की प्रतीति—यह कल्पना का तात्पर्य है। अतः कल्पना पद प्रकृत में शब्दविषयत्वपरक है। जिसे कारण मान कर शब्द अर्थ को विषय करता है उसे शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त कहते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि जो धर्म केवल वाच्यवस्तु में रहे, वह वाचक का प्रवृत्तिनिमित्त होता है, जैसे घटपद का प्रवृत्ति निमित्त है घटत्व। यह एक तरह का

व्योम्नि धूमतुषाराभ्रमलिनानीव दुर्धियः ।
कल्पयेयुस्तथा मूढाः संसारं प्रत्यगात्मनि ॥९९॥

ननु सर्वकल्पनानामप्यात्मन्यत्यन्तासम्भवे समाने, अहं-वृत्तौ कः पक्षपाते हेतुः येन वृत्त्यन्तराणि विधूयाहंवृत्त्यैवात्मोपलक्ष्यत इति? उच्यते–

चिन्निभेयमहंवृत्तिः प्रतीचीवाऽऽत्मनोऽन्यतः ।
पूर्वोक्तेभ्यश्च हेतुभ्यस्तस्मादात्माऽनयोच्यते ॥१००॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अहङ्कारस्येव देहघटादेरपि आत्माधिष्ठाने कल्पितत्वाविशेषात् तद्वाचकैरपि शब्दैरात्मा कस्मान्न लक्ष्यत इत्याशङ्क्योत्तरमाह–नन्वित्यादिना। **अहङ्कारस्यात्मविवर्त्ततया तप्तायःपिण्डवच्चिन्मयतया, देहघटादिभ्यः प्रयक्तया प्रतीतेरात्मानुकारित्वात् आत्मनस्समनन्तरं तस्यैव प्रत्यक्त्वेन प्रतीतेः 'आत्मना वाऽविनाभावमि'त्यादिपूर्वोक्तहेतुभ्यश्च तच्छब्दैरेवात्मा लक्ष्यत इत्यर्थः।।१००।।**

विशेषण है जो इसका नियमन करता है कि वाचक केवल वाच्य को ही विषय करे। कल्पनाकारणों का संग्रह श्लोक १०३ में बताया जायेगा। कल्पनाकारण आत्मा में नहीं हैं इसलिये वह वाच्य नहीं, यह बताने के लिये श्लोक द्वारा कहते हैं—**जिस प्रकार लोग आकाश में धुएँ, तुषार, बादल आदि प्रयुक्त मलिनताओं की कल्पना करते हैं, वैसे ही अविवेकी जन प्रत्यगात्मा में संसार-शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त सम्बन्धादि की कल्पना करते हैं।।९९।।** मलिनपद भावप्रधाननिर्देश समझना चाहिये। इस प्रकार क्योंकि आत्मा में वास्तविक कोई कल्पना-हेतु नहीं, इसलिये वह पदाभिधेय नहीं।

प्रश्न होता है कि शरीर, घट आदि सभी कल्पनाओं का आत्मा में सर्वथा न होना एक जैसा है, तब अन्य वृत्तियों को छोड़कर अहंवृत्ति के द्वारा ही अहमादि शब्द आत्मा को लक्षित करते हैं, इस प्रकार के पक्षपात का क्या कारण है? उत्तर श्लोक द्वारा देते हैं—**अहंवृत्ति चैतन्य के सदृश तथा अपने से भिन्न सभी की अपेक्षा प्रत्यक्तर है। इन कारणों से तथा पूर्वोक्त (२.५६) कारणों से आत्मा का बोध इस वृत्ति के द्वारा ही कराया जाता है।।१००।।** अहमादिपद शक्त्या वृत्ति को विषय कर लक्षणया आत्मा के बोधक होते हैं।

वृत्तिभिर्युष्मदर्थाभिर्लक्ष्यते चेद् दृशिः परः ।
अनात्मत्वं भवेत्तस्य वितथं च वचः श्रुतेः ॥१०१॥
यथोक्तेन–
अनेन गुणलेशेन ह्यत्यहंकर्तृकर्मया ।
लक्ष्यतेऽसावहंवृत्त्या नाञ्जसाऽत्राभिधीयते ॥१०२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विपक्षे दोषमाह–वृत्तिभिरिति। **घटादीनामनात्मत्वप्रसिद्धेस्तद्-वृत्तिभिस्तदभिधानैश्चात्मनो लक्ष्यत्वे तद्वदनात्मत्वस्यैव प्रतीतिप्रसङ्गात्। ब्रह्मणः आत्मत्वप्रतीत्यभावादेकत्वप्रतिपादकानां तत्त्वमस्यादिवाक्यानां वैयर्थ्यम्-पुरुषार्थपर्यवसायित्वम् स्यादित्यर्थः।।१०१।।**

उक्तार्थनिगमनपरं श्लोकमाकाङ्क्षितपदं पूरयन्नवतारयति–यथोक्तेनेति। **अहङ्कर्तारं प्रमातारं तत्कर्म च देहघटादिकमतीत्य या वर्तते कूटस्थचिन्निभा याहंवृत्तिस्तयाऽसौ प्रत्यगात्मा लक्ष्यते। साक्षात्तस्य वाच्यत्वा-भावादित्यर्थः।।१०२।।**

इसके विपरीत, यदि इदन्तया ज्ञेय घटादि वृत्तियों द्वारा दृग्रूप आत्मा को लक्षित किया जाये तो निश्चितप्राय है कि उसे हम अपने से भिन्न कोई वस्तु समझेंगे तथा आत्माऽभेद-प्रतिपादिका श्रुति व्यर्थ हो जायेगी।।१०१।। 'गंगा में घर है' कहने पर पुनीतता का जैसे बोध होता है वैसे ही 'मैं' से लक्ष्यार्थ बोध में आत्मरूपता का बोध होता है जो घट आदि शब्दों से लक्ष्यग्रह करने में न हो पाये, यही अधिक संभव है। कदाचित् सूक्ष्मविवेचक को घटादि पद से भी लक्ष्य का स्वरूप आत्मा होने से तादृश बोध संभव तो है ही। अतः 'आत्मत्वेन प्रतीति कराना' रूप हेतु बताकर श्रुति-अनुकूलतारूप हेत्वंतर भी बता दिया। श्रुतियों में अहमादि पदों से ही आत्मबोध कराया है, घटादि से नहीं।

इस प्रकार प्रमाता व देहादि से अतीत चित्सदृश अहंवृत्ति द्वारा पूर्वोक्त 'गुणलेश' से यह आत्मा लक्षित होता है, शब्द-शक्ति से साक्षात् प्रतिपादित नहीं होता।।१०२।।

शब्दशक्ति से साक्षात् प्रतिपादित नहीं होता, इसमें क्या कारण है? इसका उत्तर श्लोक द्वारा देते हैं—**शब्दशक्ति से साक्षात् प्रतिपादित होने के लिये सम्बन्ध,**

---

१. अस्त्वनात्मत्वप्रतीतिरिति चेन्नेत्याह—ब्रह्मण इति। ब्रह्मणोऽनात्मत्वे महावाक्याऽ-प्रामाण्यप्रसंगान्नैवमित्यर्थः।

नाञ्जसाऽत्राभिधीयत इति को हेतुरिति चेत्–
षष्ठीगुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः ।
नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनाऽऽत्मा नाभिधीयते ॥१०३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वाच्यत्वाभावे हेतुं दर्शयितुमाह–नाञ्जसेति। **षष्ठी**[1] **नृपहय इत्यादिः क्रिया वाचक इत्यादिः जातिः गौरित्यादिः। रूढिराकाशश्चन्द्र इत्यादिः। एतेषां शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानामन्यतमस्याप्यात्मनि**[2] **असङ्गत्वादक्रियत्वादसामान्यत्वात् प्रमाणान्तरायोग्यतया अगृहीतसम्बन्धत्वाच्चाभावान्नाभिधेय आत्मेत्यर्थः।।१०३।।**

गुण, क्रिया, जाति और रूढि (प्रसिद्धि), इनमें से एक का होना आवश्यक है। आत्मा में इनमें से एक भी नहीं, अतः आत्मा का अभिधान–शब्द द्वारा शक्तिवृत्ति से बोधन–नहीं होता।।१०३।। शब्द कहीं सम्बन्ध के कारण बोधक होता है, जैसे 'राजपुरुष', यहाँ राजा व पुरुष के सम्बन्ध के कारण इस शब्द से राजकर्मचारी का बोध होता है। मूलस्थ षष्ठी-पद सम्बन्धपरक है। कहीं गुण से शब्द बोधक होता है, जैसे जब सफेद-पद किसी सफेद वस्तु का बोध कराता है तब उसमें होने वाली सफेदी रूप गुण के कारण ही। इसी प्रकार क्रिया के कारण पाचक आदि पद की बोधकता है। घट आदि का बोध उनमें होने वाली घटत्वादि जाति के कारण होता है। कहीं रूढि या प्रसिद्धि से बोध होता है जैसे आकाश आदि का। अतः जिस वस्तु का शक्ति से बोध होता है उसमें सम्बन्ध आदि देखे जाते हैं, यह नियम है। आत्मा में ये संभव नहीं अतः उसका उस प्रकार बोध भी नहीं।

अद्वैतसिद्धि में रूढि को छोड़ बाकी हेतुओं को प्रायः इन्हीं शब्दों में उद्धृत किया है—'दृष्टा गुणक्रियाजातिसम्बन्धाः शब्दहेतवः। नात्म....' (पृ. ७८६)। प्रश्न उठता है कि सम्बन्धादि असंभव होने पर भी रूढि क्यों असंभव है? इसका इतना ही उत्तर है कि प्रमाणान्तर-विषय ही रूढ देखा जाता है, आत्मा प्रमाणान्तर का विषय नहीं, अतः

---

१. षष्ठीति। तद्वाच्यः सम्बन्ध इत्यर्थः। क्वचित्षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं यथा राजपुरुष इत्यादिः। क्वचिद्गुणयोगो यथा शुक्लः पट इत्यादिः। क्वचित्क्रियायोगो यथा पाचक इत्यादिः। क्वचिज्जातियोगो यथा गौरश्वः पुरुष इत्यादिः। (इति चन्द्रिकायाम्)

२. अभावादित्यग्रेतनेन सम्बन्धः।

यदि शब्दोऽभिधानाभिधेयत्वसंबन्धाङ्गीकारेण नात्मनि वर्तते, कथं शब्दात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति सम्यग्बोधोत्पत्तिः? उच्यते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मनः पदवाच्यत्वाभावे पदविषयत्वाभावात् वाक्यविषयत्वमपि न स्यादित्याशङ्क्य, परिहरति–यदीत्यादिना। असत्ये **आरोपितरूपे** वर्त्मन्युपाये स्थित्वा **निष्ठाय** निरुपायं **साक्षात्सम्बन्धोपायरहितमुपेयते प्राप्यते। यथा शाखाग्रे**

रूढ भी नहीं। किन्तु यदि यह नियम न माना जाये तथा यूप आदि पदों की तरह आत्मादि पदों को 'स आत्मा' आदि श्रुतियों के बल से आत्मवस्तु में ही रूढ माना जाये, तब कोई दोष नहीं। संभवतः इसीलिये रूढि को सिद्धिकार मधुसूदनस्वामी ने छोड़ा होगा। अतएव 'प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके' (कठ. २.१) आदि भाष्यवाक्य संगत होंगे। गौडस्वामी ने भी शक्योपस्थिति की सूचना दी है (लघुचन्द्रिका पृ. ३७४; न्या. रत्न.पृ. १८६ प्र.छा.)। निर्धर्मकतावच्छेदक बोध आकाश-आदि पदों से होता है यह नैयायिकों को भी इष्ट है ऐसा बिन्दुग्रन्थ में प्रतिपादन है।

एवमपि वाच्यत्वनिबन्धन प्रमेयत्व की आपत्ति नहीं क्योंकि वह व्याप्ति ही हमें स्वीकृत नहीं। हम योगमतप्रसिद्ध विकल्पवृत्ति स्वीकारते हैं और वैकल्पिक (विकल्प सम्बद्ध) अर्थ में तद्बोधक शब्द को रूढ भी मानते हैं पर उसे प्रमेय नहीं मानते, अतः व्याप्ति स्वीकार्य नहीं। श्रुति में जो अवाच्य कहा है उसका अर्थ यही है कि सामान्यतः जैसी वाच्यता होती है—सधर्मक व प्रमाणान्तर विषय में—वैसी आत्मा की नहीं (द्र.श्लो. ९८)। एवं च श्रोतव्य आदि श्रुतियाँ भी संगत हो जाती हैं। इतना अवश्य है कि शब्दार्थ का सम्बन्ध व्यावहारिक ही है अतः आत्मादि शब्दों का आत्मा से जो सम्बन्ध है वह भी व्यावहारिक ही है। अतः 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कमभिवदेत्केन कं शृणुयात्' (बृ. ४.५.१५) आदि श्रुतियाँ भी विरुद्ध नहीं। इसी रीति से वाणी की अविषयता भी समझी जा सकती है। उत्तर श्लोक (१०४) से भी कोई विरोध नहीं। अस्तु। प्रकृत प्रसंग में तो आचार्य हर तरह से अवाच्य ही सिद्ध कर रहे हैं।

यदि वाच्य-वाचक सम्बन्ध को मानकर शब्द आत्मा के विषय में बोध नहीं कराता तो उपनिषद्वाक्य से 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा सम्यक् ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है? श्लोक द्वारा उत्तर देते हैं—**जिसे साक्षात् समझने का कोई वास्तविक उपाय नहीं उसे आरोपित उपाय के सहारे से ही समझ लिया जाता है। आत्मरूप**

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा निरुपायमुपेयते।
आत्मत्वकारणाद् विघ्नो गुणवृत्त्या विबोधिताः ॥१०४॥

कथं पुनरभिधानमभिधेयेनानभिसंबद्धं सदनभिधेयेऽर्थे प्रमां जनयतीति? शृणु, यथानभिसंबद्धमप्यनभिधेयेऽर्थे अविद्यानिराकरण-मुखेन बोधयतीत्याह–

शयानाः प्रायशो लोके बोध्यमानाः स्वनामभिः।
सहसैव प्रबुद्ध्यन्ते यथैवं प्रत्यगात्मनि ॥१०५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

चन्द्रः यथा वा रेखाभिः सत्या वर्णाः तथा। विज्ञेयत्वाभावे कथं तदवगतिरित्याशङ्क्य, अव्यवहितस्वयंप्रकाशात्मस्वभावत्वादारोपितोपायैरपि तत्प्रतिपत्तिस्सम्भवतीत्याह–आत्मत्वेति।।१०४।।

उपायमात्रस्योपेयेन सत्यसम्बन्धरहितस्य बोधकत्वेऽप्यभिधान-स्यागृहीतसम्बन्धस्य बोधकत्वं क्वापि न दृश्यत इति विशेषमाशङ्क्य, परिहरति– कथं पुनरित्यादिना।।१०५।।

होने के कारण स्वप्रकाशतया स्वतःसिद्ध वस्तु को लक्षणा द्वारा बोधित होने पर हम समझ लेते हैं॥१०४॥ वर्णदैर्घ्य असत्य होने पर भी सत्यार्थप्रकाशक होता है, नग और नाग का वास्तविक अर्थभेद समझ में आ जाता है। अतः उपाय की वास्तविकता की अपेक्षा नहीं। वैयाकरण भर्तृहरि की उक्ति प्रसिद्ध ही है—'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' (वाक्य २.२४०)। वाच्यत्त्व या प्रमाणान्तरविषयत्व की भी अपेक्षा नहीं, क्योंकि स्वप्रकाश होने से नित्योपस्थित है। 'गुणवृत्त्या' का अर्थ है लक्षणया जिसे पूर्व में (श्लो. ९८) 'गुणलेश' कहा था।

शब्द अपने प्रतिपाद्य से सम्बद्ध हुए बिना ही प्रतिपाद्य अर्थ के विषय में कैसे प्रमा उत्पन्न करता है? सम्बद्ध हुए बिना भी अपने अवाच्य अर्थ-विषयक अज्ञान का निराकरण करते हुए प्रतिपाद्यार्थ का बोध जैसे करा देता है वैसा बताते हैं, सुनो—**सोये हुए लोग अपने नामों द्वारा सम्बोधित होने पर प्रायः तुरन्त जग जाते हैं, ऐसा लोक में देखा गया है। जैसे यह होता है, वैसे ही महावाक्य सुनने पर सम्बन्धग्रह के बिना ही जीव अपने प्रत्यगात्मस्वरूप**

न हि नाम्नास्ति संबन्धो व्युत्थितस्य शरीरतः।
तथापि बुद्ध्यते तेन यथैवं तत्त्वमित्यतः ॥१०६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

ननु नाम्नां पूर्वं[1] सम्बन्धस्मरणयोरभावात्, तद्भावे च प्रबोधे इति श्रवणाच्च प्रबोध परस्पराश्रयत्वप्रसङ्गाद्[2] अस्मर्यमाणसम्बन्धस्यापि बोधकत्वं सुषुप्तावङ्गीकर्तव्यम्। तस्माद्वाचकशब्दस्य वाच्य एव सम्बन्धज्ञानापेक्षा, न लक्ष्ये। अन्यत्र गृहीतसम्बन्धस्यापि गङ्गादिशब्दस्य सम्बन्धग्रहं विना तीरादौ बुद्धिजनकत्वदर्शनात्। शबले गृहीतसम्बन्धानामपि तत्त्वमस्यादिशब्दानां लक्षणयाऽखण्डैकरसपर्यवसायित्वं नानुपपन्नमिति भावः।।१०६।।

में प्रबुद्ध हो जाता है॥१०५॥ **सुषुप्ति अवस्था में व्यक्ति का शरीरादि में अभिमान नहीं रहता अतः उसने अपना नाम सुना, सुनकर उसे अर्थस्मरण हुआ आदि कुछ माना नहीं जा सकता। फिर भी नाम से उठता है यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। जैसे इस स्थल में होता है वैसे तत्त्वमस्यादि वाक्य से बोध हो जाता है**॥१०६॥ इस विषय को आचार्य ने वार्तिकों में (तै.वा.ब्र. ९; बृ.वा. १.४.८५७-६५) विस्तार से बताया है[2]। शब्द का यह माहात्म्य है कि यह अविद्या का निरास कर देता है। अतः शब्द में एक अचिन्त्य सामर्थ्य माननी पड़ती है—'दुर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वाद् बोधरूपिणः। शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद् विघ्नस्तं मोहहानतः' (दोनों वार्तिकों में)। अचिन्त्य इसलिये कि आत्मा को विषय बिना किये तदाकार ज्ञान उत्पन्न कर देती है। वहाँ भी सोये व्यक्ति के जगने का ही दृष्टान्त दिया है। इसी आधार पर गीतागूढार्थदीपिका में (२.२९) आचार्य ने घोषणा की है—'विना शक्तिं, विना लक्षणां, विना सम्बन्धान्तरं, सुषुप्तोत्थापकवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्येन यदात्मतत्त्व-प्रतिपादनं तदाश्चर्यवत्, शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्'। अधिकारियोग्यता जैसी लक्षणापक्ष में जरूरी है वैसी इस

---

१. अत्र त्रुटिः। चन्द्रिकायामेवम्—'ननु नामभिः पूर्वसम्बन्धग्रहणमस्त्येव, तस्माद् गृहीतसम्बन्धानामेव तेषां तत्रापि बोधकत्वम्? इत्यत आह—**न हीति**। शरीराद् व्युत्थितस्य देहेन्द्रियाभिमानरहितस्य सुषुप्तस्य स्ववाचकशब्दश्रवण-सम्बन्धस्मरणयोरभावात् तद्भावे च सति शरीरसम्बन्धे प्रतिबोधः, प्रतिबोधे सति शरीरसम्बन्धः, अथवा प्रतिबोधे सति श्रवणं, श्रवणाच्च प्रतिबोध इति परस्परा...'।

२. सदाचारानुसन्धान प्रकरण में (श्लो. १९) भी कहा है—'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दा-देवापरोक्षधीः। प्रसुप्तः पुरुषो यद्वत् शब्देनैवावबुद्ध्यते'।

यथा च–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भवत्वेवं शब्दादात्मनि ज्ञानोत्पत्तिः, तथापि निवर्त्यनिवर्तकज्ञानाश्रयत्वादात्मनस्सविकारित्वं प्राप्तमित्याशङ्क्य; दृष्टान्तेनैतन्निराचष्टे–यथेति। **अमूर्तत्वात् नीरूपमाकाशमिति बोधो, नीलोत्पलदलवन्नीलमित्यबोधः, तौ** यथा नभः अस्पृष्ट्वा **अविकृत्यैव**[1] **नभो, बाध्यबाधकौ स्याताम्। कथं तर्हि**

पक्ष में भी है। उक्त दीपिका पर विचार करते हुए गूढार्थतत्त्वालोककार कहते हैं—'शब्दो हि सर्वप्रमाणमर्यादातिशायिमर्यादः' (पृ. ६०)। अत एव अत्यन्त बाधित विषय में भी शब्द से ज्ञान होता है। यदि न हो तो 'वह्निना सिंचति' सुनकर वक्ता का उपहास न हो सकेगा क्योंकि वह असंगत बोल रहा है यह जानकर ही उपहास होता है और असंगत बोल रहा है यह तभी समझ में आयेगा जब 'वह्निकरणक सेचन कह रहा है'—ऐसा बोध हो। अतः बोध मानना ही होगा। इसी प्रकार 'जाओ' शब्द से प्रसंगानुसार 'मत जाओ' अर्थ प्रतीत होता है जो शब्द की असाधारण सामर्थ्य का द्योतक है। अद्वैतसिद्धि में भी इस पक्ष का उल्लेख है (निर्गुणत्वे प्रमाणोक्तौ पृ. ७३९)। अचिन्त्य शक्ति मानना अनिर्वचनीयवादी के लिये सुतरां सम्भव है। एवमपि यह मत अत्यन्त प्रचलित नहीं जिसका कारण यही प्रतीत होता है कि इसे तर्क से सिद्ध करना कठिन है। वेदान्त प्रक्रिया में तो किसी आग्रह के विना जैसी अनुभूति प्रामाणिक हो वैसी व्यवस्था स्वीकार्य होने से यह पक्ष सम्भव है, किन्तु अन्य वादी इसे स्वीकारने से कतराते हैं अतः इसके विषय में अधिक ऊहापोह मिलना दुर्लभ है। वैसे, आत्मबोध स्थल के शाब्दबोध के स्वरूप का ही विचार कम मिलता है। जो तो कुछ आधुनिक विचारक आत्माभेदवृत्ति को शाब्दबोध मानने से डरते हैं, उन्हें 'विशेषणयुतिः शाब्दी' (पृ. ४६८), 'वाक्यार्थप्रतिपत्तिस्तु' (पृ. ६९४) आदि वार्तिक का अनुशीलन करना चाहिये। किं च जब शब्दजन्य बोध (अनुभव) ही शाब्दबोधपदार्थ है, तब वाक्योत्थ ज्ञान को शाब्दबोध मानना ही होगा। बृहद्वार्तिक में 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्यार्थ का विवरण १.४.१४१७-१४३१; पृ. ४६७-९ में द्रष्टव्य है।।

---

१. विकारमकृत्वैव इति चन्द्रिकाकारः।

बोधाबोधौ नभोऽस्पृष्ट्वा कृष्णधीनीडगौ यथा।
बाध्येतरात्मकौ स्यातां तथेहाऽऽत्मनि गम्यताम् ॥१०७॥

'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा' इत्युपश्रुत्यातिविस्मितो महता सम्भ्रमेण कश्चिच्चोदयति–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तयोरप्यन्तरेण विषयगतमतिशयं निवर्त्यनिवर्त्तकभावः? इत्याशङ्क्याह–कृष्णधीनीडगाविति। **कृष्णाकाराधीः कृष्णधीः तस्या नीडमालम्बनं विषय इति यावत्। तद्गतौ तद्विषयौ रूपवदरूपवच्चेति विरुद्धाकाराकारितौ तावन्मात्रेणैव निवर्त्यनिवर्तकौ यथा,** तथा **दार्ष्टान्तिकेऽपि द्रष्टव्यमित्यर्थः।।१०७।।**

यस्य यद्रूपं मिथ्या तस्य तत्प्रयुक्तकार्यकत्वं नास्ति यथा बाष्पधूमस्य धूमत्वाभावान्न तत्प्रयुक्ताग्निगमकत्वम्। एवं श्रुत्याचार्यादिः स्वरूपेण मिथ्यात्वान्न

यद्यपि आत्मा शब्दलभ्य है तथापि उसके बारे में विद्यमान कर्तृत्वादि ज्ञान निवर्त्य है व अकर्तृत्वादि ज्ञान निवर्तक है, अतः विरुद्ध ज्ञानों के सम्बन्ध से उसमें भी विकारिता होनी चाहिये? इस शंका को दृष्टान्तद्वारा हटाते हैं—**जैसे 'आकाश नीला है'–इस ज्ञान के विषयीभूत आकाश को विषय करने वाले परस्पर बाध्य-बाधक 'नील' और 'अनील' ये ज्ञान अकाश में कोई परिवर्तन नहीं लाते, उसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में वर्तमान बाध्य कर्तृत्वादिज्ञान और बाधक अकर्तृत्वादि ज्ञान आत्मा में विकारिता के हेतु नहीं।।१०७।।** आकाश के विषय में 'यह नीला है' ऐसा और 'यह नीला नहीं है' ऐसा भ्रम व प्रमा ज्ञान होता है जिसका विषय आकाश ही है। मूलस्थ 'नीड' शब्द का अर्थ विषय है। जो आकाश कृष्णधीविषय—'यह कृष्ण (नीला) है' ऐसे ज्ञान का विषय—है वही अकृष्णधी का भी विषय है। अतः 'अकृष्णधीनीडगौ' ऐसा पदच्छेद भी समझना चाहिये। आकाश का उदाहरण स्पष्टता के लिये है। रज्जु भी सर्पादिधी से विकार्य नहीं होती।

'असत्य उपाय के सहारे से सत्य का बोध होता है' (श्लो. १०४) इसे सुनकर अत्यन्त आश्चर्य से चकित हो कहता है—**लोक में यही देखा जाता है कि वास्तविक**

नासन्नुपायो लोकेऽस्ति परमार्थविनिश्चये।
नासल्लिङ्गाब्धि बाष्पादेः कश्चिदग्निं प्रपद्यते ॥१०८॥
[१]इत्येवं चोदयेद् योऽपि जोषयेत्तं घटादिना।
सदसद्भ्यां विभक्तोऽसौ पर्यायश्च न चानयोः ॥१०९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तत्प्रयुक्तबोधहेतुत्वसम्भव इत्याह–नासन्निति।।१०८।।

परिहरति–इत्येवमिति। **ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य घटपटादेः प्रपञ्चस्य मायामयत्वाङ्गीकारात् तस्य चार्थक्रियाकारित्वे तवाप्यविवादात्तुच्छतायाश्च त्वयेव मयाप्यनङ्गीकारात्। घटादिनैव दृष्टान्तेन प्रीणातु भवानित्यर्थः[२]। दृष्टान्तोऽप्यसम्प्रतिपन्न इति मन्वानः प्रत्याह**–सदसद्भ्यामिति। **न हि घटादिस्सन्नास्तीत्यपि दर्शनान्नाप्यसन्नभावप्रतियोगित्वात्। अस्तु तर्हि क्रमेण सत्त्वमसत्त्वं चेति? तत्राह**–पर्यायश्च न चानयोरिति। **यस्मिन्धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोः**

अर्थ के निश्चय के लिये जिसका सहारा लिया जाये वह अवास्तविक नहीं होता; उदाहरणार्थ, जो बाष्प आदि वस्तुतः अग्नि का व्याप्य नहीं, उससे कोई व्यक्ति अग्नि की प्रमाभूत अनुमिति नहीं करता॥१०८॥

इस प्रकार जो शंका से आकुल हो उसे घड़ा आदि अवास्तविक प्रपंच की व्यावहारिकता समझाकर शांत कर देना चाहिये। घड़ा आदि सत् तथा असत् से भिन्न है तथा सत्त्व और असत्त्व क्रम से किसी एक वस्तु में रह नहीं सकते अतः अवास्तविक ही होते हुए घड़ा आदि व्यवहार का साधक

---

१. एवं प्रमातृशास्त्रादीनामज्ञानकल्पितत्वेन मिथ्यात्वेऽपि अर्थक्रियाकारित्वरूपसत्यत्वाङ्गीकारादुपेयप्रतिपत्तिहेतुत्वं नानुपपन्नमित्याशयेन परिहरति।

२. गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणन्त्वाऽऽत्मनिश्चयात्॥ (ब्र.सू.शां.भा. १.१.४)
इत्युक्तरीत्योपायमिथ्यात्वं नासमंजसम्।

एवं कुचोद्यमुन्मूल्य अथेदानीं प्रकृतमभिधीयते। प्रकृतं च अनभिधेये

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

क्रमसमावेश इष्यते तस्य सत्त्वेऽसत्त्वे च न तयोस्समावेशसम्भवः वैयर्थ्याद् विरुद्धत्वाच्च। उभयविलक्षणत्वे चानिर्वचनीयता बलादापतति। बाध्यधूमादेस्त्वव्याप्तत्वादेवागमकत्वं, प्रमेयत्वादिवद् नत्वसत्यत्वादिति भावः।।१०९।।

होता है॥१०९॥ तात्पर्य है कि उपाय की व्यावहारिकता ही अभीष्ट है, जो हमें स्वीकार्य है। घड़ा आदि दृष्टांत अवास्तविक उपाय में दिया, जिस पर यदि उसकी अवास्तविकता में शंका हो तो उसका निराकरण करने के लिये उसे सत् तथा असत् से विलक्षण बताया। इसमें युक्ति यही अभिप्रेत है कि घड़ा आदि यदि सत् हो तो बाधित न हो व असत् हो तो बोधित न हो, अतः मिथ्या है। इस पर शंका हुई कि उसे कभी सत् और कभी असत् मान लिया जाये तो दोनों प्रतीतियाँ संगत हो जायें? इस शंका के निराकरण के लिये कहा कि एक वस्तु क्रमशः सत् व असत् नहीं हो सकती। कारण यही है कि जिस वस्तु में क्रमशः सत्त्व-असत्त्व मान रहे हैं वह क्या सत् है या असत्? दोनों ही हालतों में वह क्रमशः उनका आश्रय न बन सकेगी। सदसद् रूप तो मान नहीं सकते क्योंकि सत्त्व और असत्व का विरोध है। अतः उस वस्तु को सत् तथा असत् से विलक्षण अर्थात् मिथ्या ही मानना होगा। जो तो यह कहा था कि बाष्प से अनुमिति नहीं होती, वह प्रकृतानुपयोगी है। अव्याप्त होने से अगमकता है, 'वस्तुतः'—इतना अंश निरर्थक है। वास्तविक होने मात्र से गमकता किसी को भी इष्ट नहीं। अतएव कारणताविचार में खण्डनकार ने कहा है—'पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ। हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा'॥१.४॥ अर्थात् कार्य से पूर्व कारण को उपस्थित रहना चाहिये, इतने नियम से ही कारणता का निर्वाह हो जाता है। कारणता वास्तविक है या नहीं, यह विचार कारणता के लिये अत्यन्त अनुपयुक्त है। किं च असत्य जो प्रतिबिम्बादि उससे सत्य बिम्बादि का अनुमान होता भी है, अतः उपाय-उपेय की समसत्ताकता का भी नियम नहीं है।

इस प्रकार (श्लो. १०७ से प्रवृत्त) अनतिगम्भीर शंकाओं का निरास कर जिसका

कथमभिधाश्रुतिरविद्याध्वंस्यात्मनि ज्ञानं जनयतीति। तत्रैव कारणान्तरमुच्यते–

अतिदुःस्थोऽप्रबोधोऽत्र ह्यात्मैवास्य प्रबुद्धता।
निमित्तमात्राद् व्येत्येषा नासाग्रे बदरं यथा ॥११०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कारणान्तरमिति। **अविद्यानिरासिज्ञानोत्पादकशब्दशक्त्यालोचनया अगृहीतसम्बन्धस्यापि निवर्तकं पूर्वमुदितम्, इदानीं निवर्त्याविद्या-स्वभावालोचनयापि तदुपपन्नमित्युच्यत इत्यर्थः। अथ[1] तामेवोपपादयति–** आत्मैवेति। **अनुदितानस्तमितप्रकाशैकस्वभाव आत्मन्यबोधोऽप्रकाश-स्वभावस्सवितरीव तमः प्रतिभासव्यतिरेकेण वस्तुतोऽनुपपन्नः। तेन यत्किञ्चिन्निमित्तमासाद्य नासाग्रस्थबदरमिवापगच्छतीत्यर्थः।।११०।।**

प्रकरण चल रहा है उस पर लौटते हैं। प्रसंग यह चल रहा है कि जिसके विषय में शब्दशक्ति से प्रतिपादन नहीं किया जा सकता उस आत्मा के विषय में, कुछ भी करने को न बताने वाली महावाक्यादि श्रुति अविद्यानाशक ज्ञान कैसे उत्पन्न करेगी? इस विषय में लक्षणा तथा शब्द की अचिन्त्या सामर्थ्य से यह हो जाता है, यह बताया। अब एक अन्य कारण बताते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि आत्मा का अज्ञान श्रुतिवाक्य-बोध से निवृत्त हो जाता है—**आत्मा में होने वाला अज्ञान अत्यन्त दुर्बल है, यह केवल प्रतीति मात्र शरीर है। अतः यत्किंचित् सामर्थ्य वाले निमित्त से भी यह निवृत्त हो जाता है जैसे नाक पर टिका बेर हलके से इशारे से ही गिर जाता है।।११०।।** प्रष्टा ने 'अभिधाश्रुति' कहकर पूर्व में (३.४७) में भी अद्वैतागम को दुर्बल बताने का प्रयास किया था। किन्तु श्रुतिप्रामाण्य के शरीर में कार्यपरकता का निवेश है नहीं, यह निषेध वाक्यों के सहारे आसानी से सिद्ध होता है। यह दौर्बल्याक्षेप वस्तुतः अपने मत की दुर्बलता जानकर ही कर दिया जाता है। 'आत्मैवास्य प्रबुद्धता' का अन्वय है 'प्रबुद्धतैवास्य आत्मा'। प्रबुद्धता का अर्थ है प्रतीति। अतः तात्पर्य है कि जैसे रज्जुसर्प प्रतीतिमात्ररूप है वैसे अविद्या भी। इस प्रकार स्वरूप से ही दुर्बल होने से सुनिरस्य है। वार्तिक में भी 'दुर्बलत्वादविद्यायाः' (तै.ब्र. ९) कहा है।

---

१. 'अतिदुस्स्थतामेव' इति चन्द्रिकायाम्।

अनुदितानस्तमितकूटस्थबोधमात्रस्वाभाव्यादात्मनो दुस्संभाव्योऽ-विद्यासद्भाव इति चेत्? न; अविद्याप्रसिद्ध्यैव तत्सद्भावसिद्धेरुलूक-निशावदित्यत इदमुच्यते–

अहो धार्ष्ट्यमविद्याया न कश्चिदतिवर्तते।
प्रमाणं वस्त्वनादृत्य परमात्मेव तिष्ठति ॥१११॥

यस्मादविद्याप्रसिद्ध्यैवाविद्यासद्भावसिद्धिः, अत आत्मवस्तु-वृत्तानुरोधेन न कथञ्चनापि तत्सम्भावनाप्यस्ति, अत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तयुक्तिबलान्माभूदात्मन्यविद्येत्याशङ्क्य; प्रसिद्धत्वात् तस्याः स्वभावापह्नवायोगाद् नित्यपरतन्त्रतया प्रतीतेः स्वातन्त्र्यायोगात् जडाश्रयत्वस्य च निरस्तत्वाद् अहमज्ञो मामन्यं न जानामीति भासानुसारेणात्माश्रयत्वमेष्टव्यमिति परिहरति–अनुदितेत्यादिना। **धार्ष्ट्यमेवोपपादयति–**प्रमाणमिति। प्रमाणं **वस्तुवृत्तं चानपेक्ष्य स्वयमेव परमार्थवदवभासत इत्यर्थः।।१११।।**

प्रसिद्धबलाच्चेदात्मन्यविद्याभ्युपेयते, तर्हि प्रसिद्धेस्सार्थकत्वाय वास्तव एव तत्सद्भावः किं न स्यादित्याशङ्क्य; यौक्तिकबलान्नैवमित्याह–यस्मादित्यादिना। **ननु ज्ञानस्य जन्यत्वात् परिणामादिविक्रियावत्त्वाच्च कथमात्मरूपत्वमित्यत**

प्रश्न होता है कि उत्पत्ति व नाश से हीन स्थिर ज्ञानैकरूप आत्मा का अज्ञान हो, यह असम्भव है। किन्तु यह प्रश्न अनुचित है क्योंकि अविद्या अनुभवसिद्ध है जिससे कि उसका होना वैसे ही संगत हो जाता है जैसे उल्लू के लिये दिन ही में रात का होना सम्भव हो जाता है। इसीलिये यह कहते हैं—**विचित्र है अविद्या की धृष्टता, जिससे अधिक किसी की भी धृष्टता नहीं, जो यह परमार्थसद् वस्तु को अविद्यमानसम कर स्वयं ही अत्यन्त अबाध्यवस्तु की तरह प्रतीत होती है।।१११।।** वेदांत-रहस्य है कि अधिष्ठान नहीं, अधिष्ठान-ज्ञान अध्यास का विरोधी होता है। इस तथ्य की इस प्रसंग में सूचना है।

क्योंकि अविद्या की विद्यमानता आपात-प्रतीतिमात्र से है इसलिये उसकी वास्तविकता के विचार से अर्थात् उसका स्वरूप कैसा है इसके निर्धारण से किसी भी तरह उसकी, अर्थात् वह सत्य है इसकी सम्भावना भी नहीं है। इसलिये कहते हैं—**क्रिया, कारक आदि से असम्बद्ध ज्ञान जिसका स्वरूप है उस आत्मा में किस**

ज्ञानं यस्य निजं रूपं क्रियाकारकवर्जितम्।
सम्भावनाप्यविद्यायास्तत्र स्यात् केन हेतुना ॥११२॥

सोऽयमेवमनुदितानस्तमितावगतिमात्रशरीर आत्मापि सन्, अविचारितप्रसिद्धाविद्यामात्रव्यवहित एवातथैवेक्ष्यते यतः, अतः–

अनुमानादयं भावाद् व्यावृत्तोऽभावमाश्रितः।
ततोऽप्यस्य निवृत्तिः स्याद् वाक्यादेव बुभुत्सतः ॥११३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आह–क्रियेति।।११२।।

भवत्वेवमविद्यासद्भावः प्रसिद्धबलादात्मनि, तथापि कथं तन्निवृत्तिरित्याकाङ्क्षायां; पूर्वोक्तान्वयव्यतिरेकलक्षणानुमानाद्व्यावृत्ते[1] विविक्तत्वेनाधिगतः परमात्मस्वभावप्रतिपादकमहावाक्यश्रवणात् प्राक्तद्भाव प्रच्युतविशेषस्वरूपनिर्धारणाभावदभावरूपतामिवापन्नो भवति। कथं तर्हि अभावाद्व्यावृत्तिरित्यत आह–ततोऽपीति। वाक्यात् ब्रह्मात्मताप्रतिपत्तौ विशेषस्वरूपनिर्धारणादभावादप्यस्य व्यावृत्तिस्स्यादित्यर्थः।।११३।।

कारण से अज्ञान की सम्भावना भी हो सकती है?॥११२॥ अर्थात् असम्भव है। एवमपि अनुभवसिद्ध है और यही इसकी धृष्टता है।

जिसके अज्ञान की सम्भावना भी नहीं वह उत्पन्न और नष्ट न होने वाले ज्ञानमात्रस्वरूप वाला यह अपरोक्ष आत्मा होते हुए भी विचार के बिना ही सिद्ध होने वाली अविद्या से ही तिरोहित है और इतने तिरोधान से ही वह ऐसा प्रतीत होता है जैसा वह है नहीं। क्योंकि ऐसा है, इसलिये—**अनुवृत्ति-व्यावृत्ति के विचाररूप अनुमान से जिस आत्मा के विषय में इतना पता चल गया कि वह भावरूप देहादि से भिन्न है, उसके स्वरूप को जानने की इच्छा वाले को देहादिभिन्नता से अतिरिक्त उसके स्वरूप का ज्ञान शास्त्र-वाक्य से ही होता है॥१३॥** अज्ञान-निवृत्ति प्रमाण

१. आत्मनीति शेषः। असौ देहादिभ्यो विविक्तत्वेनाधिगतो भवति किन्तु महावाक्यश्रवणात्प्राक् तद्भावप्रच्युतस्तिष्ठति, तद्भावः तेषां देहादीनां भावः, ततः प्रच्युतः तद्भिन्नतयाऽनुमितः तद्भावान्यभावस्याऽज्ञातत्वाद् अभाव एवेति बुद्ध्यते। देहादिर्नात्मेत्युक्ते नास्त्येव तर्हि स इति प्रतीयत इति भावः। ननु देहादिभिन्नघटादेर्भावरूपत्वे कथमात्मनएवाऽभावरूपतेति शंकायामाह—विशेषस्वरूपनिर्धारणाऽभावद् इति। घटादेस्तु विशेषस्वरूपं प्रत्यक्षादिना निर्धारितमिति विशेष इत्यर्थः। अत्रापि टीकायां काचित् त्रुटिरेव, चन्द्रिकानुसारं योजनीयम्। पाठे 'तद्भावप्रच्युतः' इति पवितर्तनीयम्।

भाववदभावादपि निवृत्तिरनुमानादेव किमिति न भवति? इति चेत्, शृणु–

न व्यावृत्तिर्यथा भावाद् भावेनैवाविशेषतः।
अभावादप्यभावत्वाद्व्यावृत्तिर्न तथेष्यते ॥११४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तमेवार्थं प्रश्नपूर्वकं स्पष्टयति–भाववदित्यादिना। **भावाद्देहेन्द्रियाद्यात्मत्वलक्षणाद्यथात्मनो भावत्वाकारेणैव न व्यावृतिरुभयोर्भावस्वभावत्वाविशेषात्। किन्तु द्रष्टृदृश्यादिचतुर्विधान्वयव्यतिरेकलक्षणानुमानबलादेव निश्चीयते। एवमभावाद्देहाद्यात्मत्ववैधुर्याद्यनुमानविषयीकृतव्यावृत्तिरनुमानेन प्रतीयते[1], अनुमाननिश्चिताभावत्वादेव। अतो भावाभावविलक्षणब्रह्मरूपत्वप्रतिपादकवाक्यादेवाभावव्यावृत्तिप्रतीतिरिति भावः।।११४।।**

से ही सम्भव है, तर्कमात्र से नहीं; यह बताने के लिये 'इसलिये' कहा। प्रत्यक्स्वरूपाचार्य ने स्पष्ट कहा है 'तर्कस्य प्रमाणानुज्ञाव्यापारमन्तरेण उपयोगाभावात्' (नयनप्र. पृ. ११)। अवस्थादि के विचार से इतना चाहे पता चल जाये कि शरीर आदि मुझ आत्मा का स्वरूप नहीं, पर स्वरूप क्या है, इसका पता तो शास्त्र से चलता है। तर्क से यह पता चलता है कि आत्मा क्या नहीं है, इसे ही कहा जाता है कि तर्क से वह अभावरूपता का अश्रयण करता है। उस अभावरूपता से हटाकर उसे स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित करना शास्त्र के ही अधीन है।

जैसे अनुमानादि तर्क से यह पता चल जाता है कि आत्मा क्या नहीं है, वैसे ही वह क्या है यह भी तर्क से ही क्यों नहीं पता चल जाता? यदि यह शंका हो तो श्लोक द्वारा दिया जाने वाला इसका उत्तर सुनो—**जिस प्रकार देहादि भावपदार्थों से जब अनुमान द्वारा आत्मा की भिन्नता का पता चलता है तब उसकी भावरूपता निवृत्त नहीं होती क्योंकि देहादि व उनसे भिन्न वस्तु की भावरूपता समान है, उसी प्रकार यदि अनुमान से आत्मा की अभाव से भिन्नरूपता का ज्ञान होगा तो आत्मा की अभावरूपता निवृत्त नहीं होगी॥११४॥** भावपदार्थ से भिन्नता होने से जैसे भावरूपता की निवृत्ति नहीं होती वैसे यत्किंचिद् अभाव से भिन्नता होने पर अभावरूपता की निवृत्ति नहीं होती। आत्मा देहादि नहीं, यह तर्कगम्य है। देहादि का न

१. अयं चन्द्रिकापाठः 'एवम् अभावाद् देहाद्यात्मवैधुर्याद् अनुमानविषयीकृताद् व्यावृत्तिः अनुमानेनैव न प्रतीयते'।

यतो नानुमानेन व्याविद्धाशेषक्रियाकारकफलात्मनि स्वाराज्येऽभिषेक्तुं शक्यते, तस्मात्–

अविद्यानिद्रया सोऽयं प्रसुप्तो दुर्विवेकया।
भावाभावव्युदासिन्या श्रुत्यैव प्रतिबोध्यते ॥११५॥

अत्राह–अनुदितानस्तमितविज्ञानात्ममात्रस्वरूपत्वात्, दुःसंभाव्या अविद्येति? नैतदेवम्। कुतः? यत आह–

कुतोऽविद्येति चोद्यं स्यान्नैव प्राग्धेत्वसंभवात्।
कालत्रयापरिच्छित्तेर्न चोर्ध्वं चोद्यसंभवः ॥११६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रतीतमर्थमुपसंहरति–यत इत्यादिना।।११५।।

पूर्वोक्तमेव चोद्यमुद्भाव्य प्रकारान्तरेण परिहरति–अत्राहेत्यादिना। किमनुदितायां विद्यायामविद्या न सम्भवतीति चोद्यम्, उतोदितायाम्? नाद्यः, तदाऽनुदितानस्तमितविज्ञानस्वभावताया आत्मनोनावगमाद् 'एवंभूते कथमविद्ये'ति चोद्यानवतारात् अविद्यानुभवविरोधाच्च। नापि द्वितीयः, आत्मन्यविद्या नासीदस्ति भविष्यतीत्यवगते तथा चोद्यानवभासादुदस्थत्वादित्यर्थः[1]।।११६।।

होना ही आत्मा नहीं—यह भी तर्कगम्य है। पर इन दोनों तर्कों से यह नहीं पता चल सकता कि वह है क्या। वह क्या नहीं है—देहादि नहीं व देहादि का न होना भी नहीं—इतना ही तर्क से पता चल सकता है, यह तात्पर्य है।

क्योंकि अनुमान समस्त क्रिया-कारक-फलों से अस्पृष्टस्वरूप परमस्वातन्त्र्यात्मक मोक्ष नहीं दे सकता, इसलिये—**अन्य प्रमाणों से निवृत्त न होने वाली अविद्यारूप निद्रा से सोया हुआ ब्रह्मरूप यह जीव उस श्रुति द्वारा ही जगाया जाता है जो इसे समझाती है कि न यह देहादिरूप है और न देहादि का न होना रूप है, किन्तु नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्मस्वरूप है**॥११५॥

अविद्या के विषय में जो यह कहा जाता है कि क्योंकि आत्मा उत्पन्न व नष्ट न होने वाला ज्ञानैकरूप है इसलिये अविद्या सम्भव नहीं, वह इस प्रकार का वचन असंगत है। क्यों? क्यों असंगत है इसे श्लोक द्वारा बताते हैं—**'अविद्या का होना कैसे सम्भव है'? यह प्रश्न ज्ञान के पूर्व नहीं पूछा जा सकता क्योंकि तब यह**

१. उदस्तत्वादिति शक्यते भवितुम्, निरस्तत्वाद् इत्यर्थः।

यस्मात् तत्त्वमस्यादिवाक्यमेव आत्मनोऽशेषामविद्यां निरन्वयामपनुदति; तस्मात्–

अद्धातममनादृत्य प्रमाणं सदसीति ये।
बुभुत्सन्तेऽन्यतः कुर्युस्तेऽक्ष्णापि रसवेदनम् ॥११७॥

एवमप्रतिहताम् 'अहं ब्रह्म' इति प्रमां तत्त्वमस्यादिवाक्यं कुर्वदपि न प्रतिपादयतीति चेदभिमतम्, न कुतश्चनापि प्रतिपत्तिः स्यात्। अत आह–

इदं चेदनृतं ब्रूयात् सत्यामवगतावपि।
न चान्यत्रापि विश्वासो ह्यवगत्यविशेषतः ॥११८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तन्यायेन प्रसंख्यानादीनां नाविद्यानिवर्तकत्वमित्युपसंहरति–यस्मादित्यादिना।।११७।।

उक्तन्यायेन वेदान्तानां प्रामाण्योपपत्तावपि वैयर्थ्याद् अप्रामाण्यं स्यादित्यतिप्रसङ्गमाह–एवमिति।।११८।।

अनुभवसिद्ध है और आत्मा का स्वरूप इससे विरुद्ध है यह तब अनुभूत नहीं जिससे प्रश्न उठने का कोई कारण नहीं। तथा ज्ञान होने के बाद भी यह प्रश्न नहीं पूछा जा सकता क्योंकि तब तो यही निश्चय होता है कि अज्ञान न था, न है, न होगा। अतः वह कैसे हो सकता है?–यह प्रश्न ही नहीं बनता॥११६॥

क्योंकि तत्त्वमसि आदि महावाक्य ही आत्मा की सम्पूर्ण अविद्या का निरवशेष नाश करते हैं इसलिये—**साक्षात् आत्मतत्त्व की प्रमिति उत्पन्न कराने में निश्चित सामर्थ्य वाले तत्त्वमस्यादि वाक्यों को छोड़ जो प्रसंख्यानादि अन्य साधनों से आत्मज्ञान पाना चाहते हैं वे आँख से स्वाद भी लेना चाहेंगे**॥११७॥ 'अद्धा प्रत्यक्ष-सत्ययोः' इस वैजयन्ती कोष के (८.७.१२) अनुसार अद्धापद का साक्षाद् अर्थ है।

इस प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्य 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी निःशङ्क प्रमा करते हुए भी यदि आत्मतत्त्व का प्रतिपादन नहीं करते, ऐसा माना जाये, तब तो वेद के किसी भी वाक्य से बोध नहीं हो पायेगा, क्योंकि जिस कारण से इस वाक्य को प्रमा का उत्पादक नहीं माना जायेगा उसी कारण से अन्य वाक्यों को भी प्रमा का अनुत्पादक माना जा सकेगा व समग्र वेद अप्रमाण हो जायेगा। अतः कहते हैं—**तत्त्वमस्यादिवाक्यों से प्रमा उत्पन्न होने पर भी यदि इन्हें सत्यार्थप्रतिपादक न माना जाये तब तो प्रमाणत्वेन स्वीकृत अन्य वाक्यों में भी विश्वास नहीं रह जायेगा क्योंकि उनसे ज्ञान होना**

न च उपादित्सितात् वाक्यार्थात् वाक्यार्थान्तरं कल्पयितुं युक्तम्– यस्मात्–

न चेदनुभवोऽतः स्यात् पदार्थावगतावपि।
कल्प्यं विध्यन्तरं तत्र न ह्यन्योऽर्थोऽवगम्यते ॥११९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

न वयमप्रामाण्यं वेदान्तानां ब्रूमः। किन्तु 'अहं ब्रह्मास्मीत्युपासीत' इत्युपासनाविधिपरत्वेन प्रामाण्यमिति। तत्राह–न चेति। **अवगतत्वंपदार्थस्य यदि वाक्याद्वाक्यार्थज्ञानं न जायेत[1] तदा परं विधिपरत्वं कल्प्यम्। न चैतदस्ति, विज्ञातपदार्थस्याधिकारिणो वाक्यात्प्रतीत्युत्पत्तेः। तत्त्वमस्यादिप्रकरणे विधिपदाश्रवणादुक्तन्यायेन मुख्यार्थसम्भवे विधेः कल्पयितुमशक्यत्वाच्चेति भावः।।११९।।**

और उनका वाक्यरूप होना समान है॥११८॥ यह भी नहीं कह सकते कि अतीन्द्रिय होने से आत्म विषयक वाक्यों में ही यह स्थिति है क्योंकि धर्म भी अतीन्द्रिय है, अतः वह भी प्रतिपादित न हो पायेगा।

यह संगत नहीं कि तत्त्वमादि वाक्यों का जैसा प्रतिपाद्य अर्थ साम्प्रदायिक लेना चाहते हैं उससे भिन्न प्रकार के विधि-घटित अर्थ की कल्पना की जाये क्योंकि—**पदार्थों का बोध हो चुकने पर यदि वाक्य से बोध न होता तब अन्य प्रकार की कल्पना की जा सकती थी। किंच प्रकरणादि से यही निश्चित होता है कि महावाक्यों का विधि आदि घटित कोई अन्य अर्थ नहीं है**॥११९॥ शबरस्वामी ने सूत्रों का अर्थ करने मे जिस बात का ध्यान रखने को कहा है, श्रुत्यर्थ विचार में भी उसका उपयोग है—'लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्, नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा' (शाबरभाष्य प्रारम्भ)। अध्याहारादि से अश्रुताक्षेप, व्यत्यास, पदव्यवधान, विपरिणाम, व्यवधारणकल्पना आदि सबका ग्रह है। अतः जहाँ तक सम्भव हो विधि-पद की कल्पना के बिना ही श्रुति के वाक्य का अर्थ करना चाहिये। सिद्धान्ती जिस प्रकार बता रहा है वैसे जब अर्थ ठीक लग रहा है, तब आग्रहवशात् विधि की कल्पना मूढता ही है। तथा यदि प्रकरणादि से प्रतीत होता कि शास्त्र कुछ करने को कह रहा है, तब भी विधि की

१. पदार्थज्ञपुरुषस्य महावाक्येन अवश्यमेव सम्यक् ज्ञानं भवति। एवं मुख्यार्थे सति विधिकल्पनायां युक्त्यभावः। 'अवगतत्वंपदार्थस्य' इत्यत्र चन्द्रिकायाम् 'अवगत-तत्त्वम्पदार्थस्य' इत्युक्तम्।

न च यथाभिमतोऽर्थो यथोक्तेन न्यायेन नावसीयते। कोऽसौ न्याय इति? आह–

नामादिभ्यो निराकृत्य त्वमर्थं निष्परिग्रहः।
निस्स्पृहो युष्मदर्थेभ्यः शमादिविधिचोदितः ॥१२०॥
भङ्क्त्वा चान्नमयादींस्तान् पञ्चानात्मतयार्गलान्[1]।
अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं वेत्ति चेन्नार्थ ईहया[2] ॥१२१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कस्तर्हि पदार्थावगतिहेतुतया वाक्यार्थप्रतिपत्युपयोगिन्यायः? इति दर्शयितुमाह–न चेत्यादिना। नामादिभ्य **आशान्तेभ्यः[3] छान्दोग्योपनिषत्प्रदर्शितेभ्य आत्मानं विविक्ततयाधिगम्यते। अहमभिमानं वर्जयित्वा ममत्ववर्जनाच्च** निष्परिग्रहः, **पुनस्तदुपभोगतृष्णावर्जितः, शमदमाद्यधिकारविशेषणसम्पन्नः तैत्तिरीयकोपनिषत्प्रतिपादकान्नमयादिपञ्चकोशेषु[4] अहं–ममाभिमानहीनः, क्षपित-समस्तप्रतिबन्धतया ब्रह्मात्मतां प्रतिपद्यते चेत्, किं तत्रोपासनादिव्यापारेण कृत्यमित्यर्थः।।१२०-१२१।।**

कल्पना में कोई आधार होता। किन्तु वैसी स्थिति भी नहीं है। 'तरति शोकमात्मवित्' आदि श्रुतियाँ वेदन को ही शोकतरण का प्रयोजक बताती हैं। अतः कुछ और कल्पना करने की आवश्यकता नहीं।

बताये गये तरीके से महावाक्यों का वस्तुनिष्ठ अर्थ न समझ में आता हो ऐसी बात भी नहीं। तरीका क्या है, यह दो श्लोकों से बताते हैं—**अहं-ममाभिमान न रखने वाला, इदन्तया प्रतीयमान सब विषयों का अनिच्छुक तथा शम-दम-आदि ब्रह्मविद्या के लिये आवश्यक विशेषताओं वाला साधक मैं-पद के अर्थ प्रत्यगात्मा को नाम प्रभृति उपाधियों से पृथक् कर तथा अनात्मभूत व आत्मा के आवरक अन्नमयादि पाँच कोशों का बाध कर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्यार्थ को यदि समझ लेता है, तो उसे उपासनादि व्यापार की क्या आवश्यकता है? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं**॥१२०-१२१॥ नाम आदि उपाधियाँ

१. अर्गलान्—'अध्यस्तत्वेऽपि आवरकतया स्वरूपप्राप्तिप्रतिबन्धकान्'।
२. ईहया—'उपासनादिरूपेण गुरुतरेणायासाद्यविनाभूतेन व्यापारेण'।
३. 'नामादिभ्यः प्राणान्तेभ्यश्छान्दोग्योपनिषत्प्रदर्शितेभ्यः' इति चन्द्रिकायाम्।
४. प्रतिपादकेत्यत्र प्रतिपादितेति पठनीयम्।

न चेदेवमुपगम्यते, वाक्यस्य प्रमाणस्य सतः अप्रामाण्यं प्राप्नोति, तदाह–

यदर्थं न प्रवृत्तं यद् वाक्यं तत्र न चेच्छुतम्।
प्रमामुत्पादयेत्[1] तस्य प्रामाण्यं केन हेतुना ॥१२२॥

अथ मन्यसे–

जानीयाच्चेत् प्रसङ्ख्यानाच्छब्दस्सत्यवचाः कथम्।
पारोक्ष्यं शब्दो नः प्राह प्रसङ्ख्यानात्त्वसंशयम् ॥१२३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवमुक्ताधिकारिणो वेदान्ताः प्रमितिमुत्पादयन्तीत्युक्तम्। इदानीं तदनङ्गीकारे दोषमाह–न चेदेवमित्यादिना।।१२२।।

भवतु प्रामाण्यं, तथापि तत् प्रसंख्यानपरत्वेनैवेति शङ्कां दर्शयति–जानीयादिति। **उत्तरमाह–**शब्द इति। **अन्यपरस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षादि-विरोधादद्वितीये ब्रह्मणि प्रामाण्यं न स्यादित्यर्थः। पुनः पूर्ववाद्याह–**पारोक्ष्यमिति। **शब्दः संसृष्टपरोक्षार्थविषयत्वान्नापरोक्ष्यहेतुः शब्दयुक्त्याभ्यासरूपं तु प्रसंख्यानं निर्विचिकित्सं ब्रह्मात्मत्वं साक्षादनुभावयिष्यतीति भावः।।१२३।।**

छान्दोग्योपनिषत् के सप्तमाध्याय में व पाँच कोश तैत्तिरीयोपनिषत् की द्वितीय वल्ली में बताये गये हैं। शमादि बृहदारण्यक में (४.४.२३) बताये गये हैं।

यदि इस प्रकार योग्याधिकारी को ज्ञान होता है यह नहीं माना जायेगा तो वस्तुतः प्रमाणभूत वाक्य भी अप्रमाण ही हो जायेगा। इस बात को श्लोक द्वारा कहते हैं—**जिस अर्थ के प्रतिपादन के लिये वाक्य प्रवृत्त हुआ, यदि सुने जाने पर भी वह उस विषय में प्रमा को उत्पन्न नहीं करता, तब वह प्रमाण क्यों कर होगा?॥१२२॥** प्रमा की उत्पत्ति के असाधारण कारण को प्रमाण कहते हैं। जो प्रमा का उत्पादक ही नहीं, वह प्रमाण नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है।

यदि मानो कि **वाक्य के प्रसंख्यान से–आवृत्ति से–ज्ञान होता है, तब शब्द मुख्यार्थ-परक न होगा, प्रसंख्यान-विधिशेष रह जायेगा। और यदि कहो कि शब्द परोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करेगा और प्रसङ्ख्यान से निःशंक अपरोक्ष ज्ञान होगा॥१२३॥** तो यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि युक्ति व शब्द की आवृत्ति-स्वरूप

---

१. 'ब्रह्मात्मैक्यं साक्षात्कुर्यादि'तिसारार्थः।

न च युक्तिशब्दावृत्तिलक्षणात् प्रसङ्ख्यानात् यथावत्प्रतिपत्ति-र्भविष्यतीति सम्भावयामः। यस्मात्–

युक्तिशब्दौ पुराप्यस्य न चेदकुरुतां प्रमाम्।
साक्षादावर्तनात्ताभ्यां किमपूर्वं फलिष्यति ॥१२४॥

अथैवमपि प्रसङ्ख्यानमन्तरेण प्राणान् धारयितुं न शक्नोषीति चेत्, श्रवणादावेव सम्पादयिष्यामः। कथम्?

प्रसंख्याने श्रुतावस्य न्यायोऽस्त्वाम्रेडनात्मकः।
ईषच्छ्रुतं सामिश्रुतं सम्यक् श्रुत्वाऽवगच्छति ॥१२५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अत्रोत्तरत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति–न च युक्तीति। **परोक्षतयानुमानादि-गतवह्न्यादावभ्यासादापरोक्ष्यादर्शनात्। अभ्यासस्य च प्रमाणज्ञानं प्रति क्लृप्तकारणत्वान्न परोक्षप्रमितिहेतुत्वमित्यर्थः[1]।।१२४।।**

ननु 'आवृत्तिरसकृदुपदेशादि'ति सूत्रकारेण शब्दयुक्त्यभ्यास-रूपप्रसङ्ख्यानस्य स्वीकृतत्वान्न तदन्तरेण वाक्यं बोधकमित्याशङ्क्य; ज्ञानसाधनश्रवणमननादावेवावृत्तिस्तत्राभ्युपगता। तत्रापाततोऽधिगतशब्द-युक्तीनाम् आवृत्तिव्यतिरेकेण सम्यक् स्वरूपावधारणाभावादावृत्तेरुपयोगान्नतु श्रवणादिसाध्यविज्ञान इति परिहरति–अथ एवमित्यादिना।।१२५।।

प्रसंख्यान से यथार्थ ज्ञान हो सकता है क्योंकि—**युक्ति और शब्द ने पहले जब साक्षात्काररूप प्रमा को उत्पन्न नहीं किया तो इनकी आवृत्ति से कौन-सा नया फल हो जायेगा॥१२४॥** यह विषय पूर्व में विस्तार से आ चुका है, यहाँ अध्याय के उपसंहार रूप से पुनः संक्षेप में कहा गया है।

इस प्रकार शास्त्रार्थ निर्धारित हो चुकने पर भी यदि प्रसंख्यान के बिना तुम्हारे प्राण घुटते हों तो हम श्रवणादि के ही प्रसंख्यान में लगाकर तुम्हारी रक्षा कर लेंगे। तात्पर्य है कि वेदान्तशास्त्र में जहाँ आवृत्ति का उपदेश है वहाँ ज्ञान की आवृत्ति नहीं, उसके साधन श्रवणादि की आवृत्ति है। **आवृत्ति की प्रक्रिया जो प्रसंख्यान में मानी जाती है वह आत्मविषयक श्रवण में ही मान लेनी**

---

१. अभ्यासः स्वयन्तु परोक्षप्रमितेरपि न हेतुरित्यर्थः। यद्वा 'नाऽपरोक्षप्रमितिहेतुत्वमित्यर्थः' इति पठनीयम्।

ननु प्रसङ्ख्यानविधिमनभ्युपगच्छतः पारमहंसी चर्या बौद्धादि-चर्यावदशास्त्रपूर्विका प्राप्नोति; ततश्च आरूढपतितत्वं न स्यात्। अशेषकर्मणां च निवृत्तिर्न प्राप्नोतीति। उच्यते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

मुमुक्षोर्नित्यनैमित्तिकविधिप्रापितकर्मवृत्तीनामभ्युपगमात्[1] प्रसंख्यान-विध्यनभ्युपगमाच्च वैधर्म्यस्य[2] प्रवृत्त्यन्तरस्याप्यभावात्तदर्थतया नित्यनैमित्तिक-कर्मपरित्यागस्य वक्तुमशक्यत्वात् पाषण्डचर्यावन्निर्मूलैव परमहंसानाञ्च[3]

चाहिये। जो कुछ साफ न सुना गया होगा और आधा ही सुना गया होगा, वह आवृत्ति से भली भाँति सुन लिया जायेगा।।१२५।। वस्तुतः श्रवण का अर्थ है वेदांत वाक्यों का विचार। 'श्रवणं नाम आत्मावगतये वेदान्तवाक्यविचारः' (पंचपादिका पृ. ६५२ म. अनु.)। विचार में यह स्पष्ट है कि पुनः-पुनः करने पर स्पष्टता बढ़ती है।

प्रश्न होता है कि यदि प्रसंख्यान में वैध प्रवृत्ति नहीं मानेंगे तो परमहंस संन्यासियों का आचार भी वैसा ही अशास्त्रीय हो जायेगा जैसे बौद्ध भिक्षुओं का होता है। और जब वह शास्त्रीय नहीं रहेगा तो श्रुति स्मृति आदि में प्रसिद्ध है कि आत्मलाभ किये बिना जो संन्यासी अपने धर्म को छोड़ देता है वह आरूढपतित—मोक्ष की योग्यता वाली स्थिति तक पहुँच कर गिरा हुआ—होता है, वह असंगत हो जायेगा, क्योंकि उसका कोई विहित धर्म ही नहीं जिससे वह च्युत है। किंच, प्रसंख्यानविधि मानने पर ही सर्वकर्मत्यागरूप संन्यास मानना पड़ता है क्योंकि निरन्तर प्रसंख्यान करने में कर्मों से विघ्न होता है अतः विघ्न न हो इसके लिये कर्मत्याग आवश्यक होता है। जब प्रसंख्यान करना ही नहीं तब कर्मों का त्याग किसलिये? उत्तररूप में श्लोक कहते हैं—**क्योंकि त्वंपदार्थ के शोधन का विधान भी माना गया है इसलिये विधि न मानने से जो दोष दिये**

---

१. अनभ्युपगमाद् इति भवेत्पाठः।

२. वैधस्य इति पठनीयम्।

३. चर्या इति पाठेन भाव्यम्।

त्वमर्थस्यावबोधाय विधिरप्याश्रितो यतः।
तमन्तरेण ये दोषास्तेऽपि नायान्त्यहेतवः[1] ॥१२६॥

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादशिष्यश्रीसुरेश्वराचार्यविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धौ ससंबंधोक्तौ तृतीयोऽध्यायः ।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्यादित्याशङ्क्य; तदुत्तरश्लोकमवतारयति–नन्वित्यादिना। **त्वंपदार्थविवेकाय श्रवणादिविधेरभ्युपगमात्तदङ्गत्वेन च सर्वकर्मसंन्यासस्य श्रुतिस्मृत्योर्विहित-त्वान्नोक्तदोषप्रसक्तिरित्यर्थः।।१२६।।**

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य-श्रीचित्सुखमुनिविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धिभावतत्त्वप्रकाशिकायां तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।।

हैं वे प्राप्त नहीं होते क्योंकि उनकी प्राप्ति का कोई कारण नहीं।।१२६।। विधि न मानना ही कारण था जो विधि मानने से निवृत्त हो गया। 'विधान भी' कहकर सूचित किया कि विधि न मानने से भी कोई दोष नहीं। विवेक-वैराग्यादि वाले संन्यासी से अवैध—विधिविरुद्ध—अनैतिकादि आचरण की आशा ही नहीं। जिसे तीनों लोक वान्तवद् हेय लगें, वह ज्ञान प्राप्त किये बिना साधन नहीं ही छोड़ेगा। कर्मत्याग तो कर्मफल की अनिछा से ही हो सकता है, उसके लिये प्रसंख्यानादि विधि निरर्थक है। फिर भी सम्प्रदायरक्षा के लिये विधान माना ही गया है अतः शंका का कोई स्थान नहीं।

।। इति तृतीयोऽध्यायः ।।

यदीयवाचा सम्बन्धात् सुधा हन्त्री प्रजायते।
तमोरये नमस्तस्मै गुरवे करुणाब्धये ।।

●

---

१. तं विधिमन्तरेण ये दोषाः ते नायान्ति यतस्ते अहेतव अविद्यमानकारणा इति भावः।

ॐ

चतुर्थोऽध्यायः

पूर्वाध्यायेषु यद् वस्तु विस्तरेणोदितं स्फुटम्।
सङ्क्षेपतोऽधुना वक्ष्ये तदेव सुखवित्तये ॥१॥
सङ्क्षेपविस्ताराभ्यां हि मन्दोत्तमधियां नृणाम्।
वस्तूच्यमानमेत्यन्तःकरणं तेन भण्यते ॥२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं प्रथमद्वितीयतृतीयैरध्यायैः क्रमेण समन्वयाविरोधवाक्यार्थ-ज्ञानसाधनानि विचार्य चतुर्थाध्यायेन फलविचारं प्राधान्येनारभमाण 'एष सङ्क्षेपतः पूर्वाध्यायत्रयस्यार्थ उक्तः' पृ. ३७९ प्राक्तनस्य ग्रन्थस्यातीताध्याय-त्रयेण पौनरुक्त्यं परिहरति–पूर्वाध्यायेष्विति। **विस्तरेणोक्तमपि प्रतिपद्यते चेत्, कथं संक्षिप्योक्तम्? सुखं प्रतिपद्यत इति[1]।।१।।**

अत आह–संक्षेपेति।।२।।

हिन्दी व्याख्या

नमस्तुरीयाय शिवाय कुर्मोऽज्ञात्वा यमेवं पुरुषार्थहानिः।
यद्दर्शनान्मोक्ष इति ब्रुवन्त्यः प्रमाणभावं श्रुतयो लभन्ते ॥

ॐ। **पूर्व के तीन अध्यायों में विस्तार पूर्वक स्पष्टतया जिस विषय का प्रतिपादन किया उसे ही इस अध्याय के आरम्भ में संक्षेप से पुनः बता देते हैं जिससे समझ में आराम से आ जाये**॥१॥ अठारहवे श्लोक तक पूर्वप्रपञ्च का संक्षेप है।

यदि विस्तार से बताने पर बात समझ में नहीं आयी तो उसे संक्षेप में बताने का क्या लाभ? इस प्रश्न का उत्तर श्लोक द्वारा देते हैं—**विषय को संक्षेप और विस्तार दोनों प्रकार से कहने पर वह मन्द और उत्तम बुद्धि वालों के मन में बैठ जाता**

१. सुखवित्तये—इत्यस्यार्थः सुखं प्रतिपद्यतइति यतोऽतोत्राध्याये संक्षिप्योक्तमिति। चन्द्रिकायान्तु 'ननु विस्तरेणोक्तमपि न प्रतिपद्यन्ते चेत् कथं संक्षिप्योक्तं सुखं प्रतिपद्येरन्नित्यत आ—**संक्षेपविस्तरेति**'।

आत्माऽनात्मा च लोकेऽस्मिन् प्रत्यक्षादिप्रमाणतः।
सिद्धस्तयोरनात्मा तु सर्वत्रैवात्मपूर्वकः ॥३॥
अनात्मत्वं स्वतः सिद्धं देहाद्भिन्नस्य वस्तुनः।
ज्ञातुरप्यात्मता तद्वन्मध्ये संशयदर्शनम् ॥४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्तत इति सन्दिग्धस्यैव विचार्यत्वात्तं परिशेषयितुमपि प्रतिपन्नमर्थं तावद्दर्शयति–आत्मेति। **प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनात्मैव सिद्धो नात्मेति? मैवं, द्रष्टृसिद्धिव्यतिरेकेण दृश्यस्याप्यसिद्धेरित्याह**–तयोरिति।।३।।

किंलक्षणौ तर्ह्यात्मानात्मानौ प्रसिद्धावित्यत्राह–अनात्मत्वमिति। **दृश्या घटादयो नात्मानः, द्रष्टैवात्मेति प्रसिद्धम्। कुत्र तर्हि संशय इति? अत आह**–मध्य इति। **घटादेः प्रत्यगात्मनश्चान्तराले शरीरेन्द्रियादौ कतमो द्रष्टेति वादिविप्रतिपत्तेः संशय इत्यर्थः।।४।।**

है, अतः आचार्यों द्वारा संक्षेप-विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया जाता है॥२॥ मन्द बुद्धि वालों के लिये संक्षेप स्मारक का कार्य करता है तथा उसके सहारे वे सभी युक्ति आदि के अनुचिन्तन का लाभ उठा लेते हैं।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से संसार में आत्मा और अनात्मा दोनों ही ज्ञात हैं। उनमें से अनात्मा का ज्ञान तभी होता है जब उसे जाननेवाला कोई आत्मा हो॥३॥

शरीर से भिन्न घटादि वस्तु की अनात्मरूपता प्रसिद्ध है तथा जानने वाला आत्मा है, यह भी प्रसिद्ध है। प्रत्यगात्मा और घटादि के मध्य में होने वाले देहादि के विषय में संशय होता है कि ये आत्मा हैं या अनात्मा॥४॥ सन्दिग्ध विषय में ही विचार का अवतरण होता है यह नियम है जैसा कि वाचस्पति मिश्र कहते हैं—'यदसन्दिग्धं, अप्रयोजनं च, न तत् प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरो यथा समनस्केन्द्रियसन्निकृष्टः स्फीतालोकमध्यवर्ती घटः, करटदन्ता वा' (भामती का प्रथम वाक्य)। अतः यहाँ सूचित किया कि किस विषय में सन्देह है। सन्देह का विषय आत्मा ही है। जो जानने वाला वह आत्मा—इस रूप से आत्मा को प्रायः सब पहचानते हैं पर वह जानने वाला है कौन, यह नहीं जानते। इतना अवश्य अनुभव रहता है कि जानने

असाधारणांस्तयोर्धर्मान् ज्ञात्वा धूमाग्निवद् बुधः।
अनात्मनोऽथ बुद्ध्यन्तान् जानीयादनुमानतः ॥५॥
इदमित्येव बाह्येऽर्थे ह्यहमित्येव बोद्धरि।
द्वयं दृष्टं यतो देहे तेनायं मुह्यते जनः ॥६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कथं तर्हि निर्णय इत्यत्राह–असाधारणानिति। **द्रष्टृत्वाजडत्वादयोऽसाधारणधर्मा आत्मनः, अनात्मनश्च दृश्यत्वजडत्वादयः तान् ज्ञात्वा धूमेनाग्निमिव देहादीन् बुद्ध्यन्तान् दृश्यत्वादिलिङ्गकानुमानैरनात्मनो जानीयादित्यर्थः।।५।।**

'मध्ये संशयदर्शनमि'त्युक्तम्। किं तत्र संशयकारणमिति? अत्राह–इदमिति। द्वयं दृष्टमिति **ममेदं शरीरमहं मनुष्य इति च देहेऽनुभवो दृश्यते तेन**

वाला मैं अपने निकटतम हूँ—स्वयं से अभिन्न हूँ। अतः प्रत्यगात्मा के रूप में आत्मा की प्रसिद्धि बतायी और उसकी अपेक्षा दूर प्रतीत होने वाले मन, शरीरादि को संशय का स्थल बताया। तात्पर्य है कि आत्मा क्या है की अपेक्षा आत्मा कौन है यह विचार अभिप्रेत है।

आत्मा व अनात्मा के असाधारण धर्मों को जानकर अनुमान द्वारा देह से बुद्धि तक सभी उपाधियों को वैसे ही निश्चित रूप से अनात्मा समझ लेना चाहिये जैसे धूम से वह्नि का निश्चय होता है।।५।। 'असामान्यांस्तयोर्धर्मान्' यदि पाठ हो तो साधारण अनुष्टुप् हो जायेगा। असाधारण वे धर्म कहे जाते हैं जो केवल उन्हीं में—प्रातिस्विकरूप से आत्मा व अनात्मा में—रहें। ऐसे धर्मों को हेतु बनाकर सदनुमान संभव है। यद्यपि आत्मा के धर्म संभव नहीं, 'अन्यत्र धर्मात्' (कठ. २.१४) इत्यादि श्रुत होने से, तथापि 'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः' इत्यादि पंचपादिकोक्तन्याय से तथा 'सर्वस्य वशी' (बृ. ४.४.२२) आदि श्रुति से आत्मधर्मों को समझना चाहिये। जैसे धूमरूप धर्म से वह्निरूप धर्मी का अनुमान होता है वैसे आत्मधर्मों से आत्मा का अनुमान हो जाता है।

घटादि बाह्य विषय 'यह' इस प्रकार से ही ज्ञात होते हैं तथा जानने वाले आत्मा का ज्ञान 'मैं' इसी तरह होता है, किन्तु शरीरादि में दोनों प्रकार की–

केन पुनर्न्यायेनात्मानात्मनोरश्वमहिषयोरिव विभागः क्रियत इति? उच्यते–

न्यायः पुरोदितोऽस्माभिरात्मानात्मविभागकृत्।
तेनेदमर्थमुत्सार्य ह्यहमित्यत्र यो भवेत् ॥७॥
विद्यात् तत्त्वमसीत्यस्माद् भावाभावदृशं सदा।
अनन्तरम्[1] अबाह्यार्थं प्रत्यक्स्थं[2] मुनिरञ्जसा[3] ॥८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

संशयो जायत इत्यर्थः।।६।।

किं पुनर्निर्णयकारणमित्याकांक्षायां, द्रष्टृदृश्यादिचतुर्विधान्वयव्यतिरेकलक्षणो न्यायः पूर्वाध्यायेषु[4] प्रतिपादित इत्याह–केनेत्यादिना। **अहङ्कारस्य इदमनिदंसम्भिन्नरूपत्वादिदमंशं दृश्यत्वादिलिङ्गैरनात्मतयोत्सार्य परिशिष्टमनिदमंशमात्मानमुक्तलक्षणं वाक्यात् जानीयादित्यर्थः।।७-८।।**

'यह मेरा शरीर फूल गया' व 'मैं मोटा हूँ'–बुद्धि होती है, अतः व्यक्ति को संशय हो जाता है कि शरीरादि आत्मा हैं या नहीं।।६।।

ऐसा संशय होने पर वह कौन-सी रीति है जिससे आत्मा व अनात्मा को भैंस व घोड़े की तरह पृथक् कर जाना जा सके? श्लोकों द्वारा रीति को बताते हैं—**आत्मा और अनात्मा को पृथक् समझने की रीति हम पहले (अ.२ श्लो. ११-९५; अ. ३ श्लो. १०-४३) बता चुके हैं। साधक संन्यासी को चाहिये कि उसी अन्वय-व्यतिरेक के विचार से 'मैं' इस अनुभव में जो कुछ भी 'यह' इस प्रकार अनुभूत होने के कारण अनात्मांश है, उसे छोड़ कर, 'तत्त्वमसि'-वाक्य से सभी के होने न होने को जानने वाले, अन्दर-बाहरादि सब भेदों से रहित, प्रत्यगभिन्न आत्मतत्त्व को जाने**।।७-८।। द्रष्टा-दृश्य,

---

१. अनन्तरम्—'भेदकधर्मरहितम् अखण्डैकरसमि'तिसारार्थः।
२. प्रत्यक्स्थम्—'प्रत्यगभिन्नमि'ति सारार्थकारः।
३. अञ्जसा—'सम्यक्त्वेन संशयविपर्ययादिराहित्येने'ति सारार्थः।
४. द्वितीयाध्यायस्यैकादशश्लोकादारभ्य कतिपयेषु श्लोकेषु तत्तत्स्थलेषु च आत्माऽनात्मनोः विभागात्मिका अन्वयव्यतिरेकयोर्युक्तिः प्रदर्शिता।

उच्यतां तर्हि कया तु परिपाट्या वाक्यार्थं वेत्तीति? उच्यते। अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्–

त्यक्तकृत्स्नेदमर्थत्वात् त्यक्तोऽहमिति मन्यते।
नावगच्छाम्यहं यस्मान्निजात्मानमनात्मनः ॥९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कस्तर्हि वाक्यार्थप्रतिपत्तौ क्रम इत्याकांक्षायां, प्रथममन्वयव्यतिरेकाभ्यां बुद्ध्यादीननात्मत्वेनोत्सार्य, ततो विविक्तं प्रत्यगात्मानं तत्साक्षिणमधिगम्य वाक्यात् पश्चात् ब्रह्मात्मतां प्रतिपद्यत इति क्रममभिप्रेत्याह–उच्यतामित्यादिना। **वाक्यापेक्षायां कारणं दर्शयितुमाह**–त्यक्तोऽहमिति। **पूर्वं देहादेर्बुद्ध्यन्तस्य अहमित्यात्मत्वेन परिगृहीतस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अनात्मतया परित्यक्तत्वाद् अन्यस्य चात्मनो वाक्यं विनाऽनात्मभ्यः सकाशाद्विशेषतोऽनिर्धारणादात्मापि निराकृत इति मन्यत इत्यर्थः।।९।।**

आगमापायि-नित्य, आदि अन्वयव्यतिरेक पूर्व में बताये जा चुके हैं। अन्यत्र विचार पाँच प्रकार का बताया गया है—१. अर्थ-अनर्थ का; २. सार-असार का; ३. हेय उपादेय का; ४. प्रमाण के तात्पर्य का और ५. आत्मतत्त्व का। प्रथम व द्वितीय वैराग्य व मुमुक्षा के हेतु होते हैं। मोक्षसाधनों के बलाबल का विचार तीसरे में अभिप्रेत है। चौथा विचार श्रवणपद से प्रसिद्ध है। अन्तिम में मनन का संग्रह है। इस प्रकार प्रथम तीन विचार साधन सम्पत्ति के समर्पक और अन्त्य दो असंभावनानिवृत्ति में उपयोगी हैं। अन्त्य विचारों की शास्त्राधारितता स्पष्ट है। पूर्व तीनों में शास्त्र के विना भी कुछ सफलता मिल सकती है। यह प्रसङ्ग योगवासिष्ठ की (२-१४) टीका में श्रीआनन्दबोधेन्द्र सरस्वती जी महाराज ने प्रकाशित किया है।

औपनिषद वाक्य के अर्थ को समझने का क्रम बताइये। बताते हैं—**मुमुक्षु जब अन्वय-व्यतिरेक द्वारा 'मैं'–इस प्रतीति में विद्यमान समस्त अनात्म-अंश को छोड़ देता है तब अनात्मा से अतिरिक्त किसी आत्मा को न समझ पाने के कारण उसे लगता है कि मैं ही नहीं रहा।।९।।** हम उसे ही पहचानते हैं जिसे 'यह' इस प्रकार जानें, आत्मा तो इस तरह जाना नहीं जाता, अतः उसका अस्तित्व स्वभावतः हम नहीं समझ पाते।

अथ शरीरादिबुद्धिपर्यन्तः स सर्वोऽनात्मैवेति प्रमाणाद् विनिश्चित्य किमिति बुभुत्सातो नोपरमते? शृणु–

अनुच्छिन्नबुभुत्सश्च प्रत्यग्घेतोरनात्मनः।
दोलायमानचित्तोऽयं मुह्यते भौतवन्नरः ॥१०॥

अविलुप्तविज्ञानात्मन आत्मत्वादेव नित्यसान्निध्यात् बुभुत्सुः किमिति न प्रतिपद्यत इति? यस्मात्–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

उक्तमेवार्थं प्रश्नपूर्वकं विशदयति–अथेति। **अनुच्छिन्ना बुभुत्सा बोद्धुमिच्छा यस्य स तथोक्तः। तत्र हेतुः** प्रत्यग्घेतोरिति। अनात्मनस्सकाशात् [1]**प्रत्यगात्मनः प्रतिपत्तिहेतोस्तत्प्रतिपत्त्यर्थमिति यावत्।** भौतो **भूतपरिगृहीतो भ्रान्तस्तद्वत्।।१०।।**

आत्मनः स्वसत्ताप्रयुक्तप्रकाशत्वाद्देशादिव्यवधानाभावाच्चाप्रकाशो न युक्तः, तत्कथं बुभुत्सानुपरमः इत्याशङ्कां प्रदर्श्य, परिहरति–अविलुप्तेत्यादिना।

ऐसा क्यों नहीं होता कि प्रमाण (अनुमान) से यह निश्चय कर कि शरीर से लेकर बुद्धि तक सभी उपाधियाँ अनात्मा हैं, पुरुष की जिज्ञासा शान्त हो जाये? श्लोक द्वारा कारण बताते हैं, सुनो—**अनात्मा से अलग कर प्रत्यगात्मा को जानने की इच्छा निवृत्त न होने से व्यक्ति का चित्त वैसे ही आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में चंचल रहता है जैसे भूतावेश वाला व्यक्ति।।१०।।** केवल निषेधरूपेण जानने से जिज्ञासा शान्त नहीं होती। विधिमुखेन जब तक न जान लिया जाये तब तक शान्ति नहीं होती। अतः केवल देहादि अनात्मा हैं इतना जानकर व्यक्ति तृप्त नहीं होता, फिर आत्मा क्या है, कैसा है—इसे जानने के लिये परेशान होता है; नाना वस्तुओं को आत्मा मानने का प्रयास करता है और विचारने पर उसमें विषयत्वादि देख उन्हें भी अनात्मा जान कर पुनः आत्मान्वेषण में दत्तचित्त होता है।

प्रश्न होता है कि जिसकी ज्ञानरूपता कभी भी नष्ट नहीं होती ऐसा आत्मा हमारा अपना स्वरूप होने से अत्यन्त संनिकट है, तब जिज्ञासु उसे जान क्यों नहीं पाता? इसलिये नहीं जान पाता क्योंकि **वह चाहता है कि जिन इन्द्रियों से अविवेकावस्था में आत्मत्वेन अभिमत शरीर को देखता था, जिनसे ही फिर शरीर को अनात्मा**

---

१. प्रत्यग्घेतोरिति पदं व्याचष्टे—प्रत्यगित्यादिना।

यैरद्राक्षीत् पुराऽऽत्मानं यमनात्मेति वीक्षते।
दृष्टेर्द्रष्टारमात्मानं तैः प्रसिद्धैः प्रमित्सति ॥११॥

कस्मात् पुनर्हेतोः पराचीनाभिः शब्दाद्यवलेहिनीभिर्बुद्धिभिः, आत्मानमनात्मवन्न वीक्षत इति? उच्यते–

चक्षुर्न वीक्षते शब्दमतदात्मत्वकारणात्।
यथैवं भौतिकी दृष्टिर्नात्मानं परिपश्यति ॥१२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यैश्चक्षुरादिकरणैर्विवेकोदयात् पुरा देहादिलक्षणमात्मानमद्राक्षीत्, यदिदानीं[1] विवेकोदये सत्यनात्मेति मन्यते, तैः प्रसिद्धैः करणैः प्रमातुरपि साक्षित्वात्तद्-गोचरं[2] प्रमातुमिच्छति यस्मात्तस्मात्र प्रतिपद्यत इति सम्बन्धः।।११।।

इन्द्रियाणामात्माऽविषयत्वे कारणं प्रश्नपूर्वकं दर्शयति–कस्मादित्यादिना। **यथा** चक्षुश्शब्दान्न **पश्यति** अतदात्मकत्वाच्छब्दगुणद्रव्याप्रकृतिकत्वाद्, **एवं भौतिककरणजनितं[3] विज्ञानं करणानामप्रकृतिरूपमात्मानं न पश्यतीत्यर्थः।।१२।।**

देखता है, उन्हीं प्रसिद्ध ज्ञानसाधनों से प्रमाता के भी साक्षीरूप आत्मा को जाने॥११॥ और यह संभव नहीं।

क्या कारण है कि शब्दादि को विषय करने वाली इन्द्रियाँ—जो आत्मापेक्षया बाह्य हैं—आत्मा को वैसे नहीं जान सकती जैसे अनात्म वस्तुओं को जान लेती हैं? यहाँ इन्द्रियों से मन का भी ग्रहण है। मन का इंद्रियत्व साम्प्रदायिकों को इष्ट है, जैसा कि प्रकटार्थविवरण में कहा है—'यद्यपि आपाततो मनसोऽनिन्द्रियत्वं प्राप्नोति, तथापि सकलश्रुतिस्मृतिपर्यालोचनया मनसोपीन्द्रियत्वमेव' (२.४.१७)। इन्द्रियाँ अनात्मा की तरह आत्मा को नहीं जान पातीं इसमें कारण श्लोक द्वारा बताते हैं—**जैसे चक्षु शब्द को विषय नहीं करती क्योंकि चक्षु का उपादान शब्दगुणक नहीं, ऐसे ही अन्तःकरण-जनित ज्ञान उस आत्मा को नहीं जान सकता जिससे अत्यन्त विलक्षण महाभूतों से अंतःकरण बना है**॥१२॥ द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ में ही यह बताया जा चुका है कि इन्द्रियाँ आत्मा को विषय नहीं कर सकती। मन भी भौतिक है

१. यम् इदानीम् इति चन्द्रिकायाम्। २. साक्षिणम् इति भावः।
३. करणेष्वन्तःकरणमपि ज्ञेयम्।

प्रत्यक्षादिप्रमाणस्वाभाव्यानुरोधेन तावत्तददर्शनकारणमुक्तम्। अथ प्रमेयस्वाभाव्यानुरोधेन प्रतिषेध उच्यते–

धीविक्रियासहस्राणां हानोपादानधर्मिणाम्।
सदा साक्षिणमात्मानं प्रत्यक्त्वान्नाहमीक्षते ॥१३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

प्रत्यक्त्वान्नाहमीक्षत **इति। आत्मनस्समस्तबुद्धिवृत्तिभावाभावसाक्षित्वेन विषयितया प्रत्यक्त्वात्** अहमा **अन्तःकरणेन विषयिणं न पश्यतीत्यर्थः।।१३।।**

एवं द्रष्टृदृश्यादिभावेनात्मानात्मविवेको दर्शितः। सेयं विवेकबुद्धिः

अतः भौतिक वस्तुओं को ही विषय करे यह संगत है। आत्मा तो भौतिक वस्तु है नहीं। अतएव यह माना गया है कि मन ईषद्विकृत आत्मा को ही विषय कर पाता है, उपाधिपरामर्श से रहित आत्मा को नहीं। एवमपि 'तमेव विदित्वा' आदि के एवकार का व्याकोप नहीं क्योंकि उपाधि की सत्तामात्र ही अपेक्षित है—(मनोविषयत्वसम्पादन में समर्थ है), उसका ज्ञान नहीं, अमलानंद स्वामी ने कहा है 'वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तयोपयुज्यते न तु भास्यतया विषयकोटिप्रवेशेन' (कल्प.पृ. ५७)।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों की असामर्थ्य को ध्यान में रख आत्मदर्शन इन्द्रियों से क्यों नहीं हो सकता, यह बताया। यद्यपि केवल प्रत्यक्ष की असामर्थ्य बतायी है तथापि तन्मूलक प्रमाणान्तरों की असामर्थ्य अर्थसिद्ध है इसलिये 'प्रत्यक्षादि' कह दिया। अब आत्मरूप प्रमेय की विशेषता को दृष्टि में रख बताते हैं कि क्यों आत्मा इंन्द्रियादि से विषय नहीं हो सकता—**उत्पत्ति नाश वाली हजारों बुद्धिवृत्तियों के सदा साक्षी रहने वाले आत्मा को अंतःकरण इसलिये नहीं विषय कर सकता कि वह अंतःकरण की अपेक्षा भी प्रत्यक् है**॥१३॥ अपने से पराक् वस्तु को ही विषय किया जाता है यह चक्षु व मन के स्थल में स्पष्ट है, अतः प्रत्यग्भूत आत्मा को मन वैसे ही विषय नहीं कर सकता जैसे चक्षु मन को। 'यं मनो न वेद' (बृ. ३.७.२०) आदि शतपथ इसमें प्रमाण है। 'सदा साक्षी' कहकर यह भी बताया कि वह साक्षी ही है साक्ष्य नहीं, और यह भी कि वही साक्षी है अतः उसका कोई अन्य साक्षी संभव नहीं।

यह विवेकज्ञान क्या आत्मा में होता है या अनात्मा में? दोनों में से कहीं हो, अन्तर क्या पड़ता है? अन्तर यह है कि दोनों ही हालतें प्रतिकूल होंगी—अगर विवेकज्ञान आत्मा में हो, तब जो आप आत्मा को निर्विकार मानते हैं उस मान्यता से

क्व पुनरियं विवेकबुद्धिः? किमात्मनि, उतानात्मनीति? किञ्चातः? यद्यात्मनि, कूटस्थत्वव्याघातः, अनात्मदर्शित्वात्; अथानात्मनि, तस्याप्यचैतन्यान्न विवेकसंभव इति। उच्यते–'दाह्यदाहकतैकत्र' इत्युक्तपरिहारात्–

बुद्धावेव विवेकोऽयं यदनात्मतया भिदा।
बुद्धिमेवोपमृद्नाति कदलीं तत्फलं यथा ॥१४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

किमाश्रयेत्याक्षिप्य समाधत्ते–क्व पुनरित्यादिना। अनात्मदर्शित्वाद् **अनात्मकारण-ज्ञानपरिणामाश्रयत्वाङ्गीकारादित्यर्थः**[1]। दाह्यदाहकतेति **'दाह्यदाहकतैकत्र यथा स्याद्वह्निदारुणोरि'** त्यत्रहंकारात्मनोराध्यासिकतादात्म्याद् अहंकारस्या-चेतनस्यापि ज्ञातृत्वमुपपादितम्। तेनाहङ्कारपरिणामलक्षणं विवेकज्ञानमात्म-न्यध्यारोप्यते। तेनानात्मनः[2] कूटस्थत्वव्याघातः, नापि केवलाचेतनस्य ज्ञानाश्रयत्वमित्यर्थः। विशिष्टाश्रयो[3] विवेकज्ञानपरिणामो बुद्ध्युपादानत्वात् बुद्धिगत एवात्मन्यारोप्यते परमित्याह–बुद्धावेवेति। यस्या अनात्मतया आत्मनस्सकाशात् भेदोऽवगम्यते तस्यामेव बुद्धौ विवेक इत्यर्थः। कथं तर्हि तत्परिणामस्य तन्निवर्तकत्वमिति? तत्राह–बुद्धिमेवेति।।१४।।

विरोध होगा क्योंकि उसे अनात्मविषयक अनित्य ज्ञान का आश्रय मान लिया जायेगा। और यदि विवेक ज्ञान अनात्मा में हो तब तो असम्भव दोष है क्योंकि अचेतन अनात्मा से विवेकरूप ज्ञान का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। इस शंका का समाधान 'दाह्यदाहकतैकत्र' आदि श्लोक में (३.५९) किया जा चुका है। वहाँ यह स्पष्ट है कि अनात्मभूत अहंकार और आत्मा के आध्यासिक तादात्म्य से प्रमातृता संगत हो जाती है, अतः न तो आत्मा की विकारिता का प्रश्न उठता है और न ही अनात्मा की ज्ञातृता का। अतः **जिस बुद्धि की अनात्मता के कारण आत्मा को उससे भिन्न समझना है, उस बुद्धि में ही–अंतःकरण में ही–यह विवेक ज्ञान होता है और यही बुद्धि का भी नाशक हो जाता है जैसे कदली का फल कदली को नष्ट करता हुआ**

---

१. अनात्माकारज्ञानेति चन्द्रिकायाम्। अतोऽत्रापि स्वाकारसमर्पकत्वेनाऽनात्मा कारणमिति बोध्यम्।

२. 'तेन नात्मनः' इति पठनीयम्। ३. विशिष्टाश्रयः—चिदचिद्रूपग्रन्थ्याश्रय इति भावः।

सोऽयमतत्त्वे तत्त्वदृक्–

अनुमानप्रदीपेन हित्वा सर्वाननात्मनः।
संसारैकावलम्बिन्या तदभावं धियेप्सति ॥१५॥

योऽयमन्वयव्यतिरेकजो विवेकः, आत्मानात्मविभागलक्षणः,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवन्तर्हि यथोक्तविवेकेनैव बुद्ध्यादिद्वैतप्रपञ्चस्य निवर्तितत्वात् किं वाक्येनेति? अत आह–सोऽयमित्यादिना। **आत्मानात्मनोर्यौ भेदेतरेतराभावौ तावप्यद्वैतस्वरूपविपरीतत्वादतत्त्वम् अतस्तथाभूतविवेकधीरपि भ्रान्तिरेव द्वैतलक्षणसंसारैकविषयत्वात्तेन वाक्यार्थज्ञानं विना तयैव[1] संसारनिवृत्तिरिति भावः।।१५।।**

ननु वाक्येनाप्यनात्माकारपरिहारेणात्मनोऽसाधारणाकारसमर्पणमेव क्रियते, नाधिकम्, एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामप्यनात्मपरिहारेणात्माऽसाधारण-स्वरूपग्रहणात्तत एव मुक्तिः किं न स्यात्, किं वाक्येनेत्याशङ्क्याह–योऽयमिति।

पैदा होता है।।१४।। न्यायोक्तिकोश में 'कदलीफल न्याय' का यह अर्थ बताया है—'कदली फलं यथा स्वजननीं कदलीं नाशयति, तथा ज्ञानमज्ञानं नाशयति' (पृ. ३०)। कल्पतरुकार ने अतएव बताया 'शुद्धं ब्रह्म विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अपि उपाधित्वाऽविशेषात्' (पृ. ५७)। आचार्यपाद ने स्वयं आत्मबोध में कहा है—'अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम्। कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत्'।।१५।। अतः विवेकज्ञान केवल बुद्धि को ही नष्ट नहीं करता, स्वयं भी नष्ट हो जाता है यह समझना चाहिये।

अनुमानरूप दीपक के सहारे सभी अनात्मपदार्थों को आत्मभिन्नतया समझ कर जो केवल संसार से ही सम्बन्ध रखने वाली उस विवेकबुद्धि से ही अनात्मा का अत्यन्त उच्छेद चाहता है, वह भ्रान्त ही है।।१५।। विवेक अनेकों में ही किया जा सकता है, अतः वह भेद पर ही आधारित है और भेद स्वयं हेय है। विवेक से अन्तर तो मालूम पड़ता है पर एकतर का बाध नहीं होता, वह तो प्रमा से ही संभव है।

जो यह अंतःकरण में होने वाला आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञानरूप अन्वयव्यतिरेकजन्य विवेक है उसे वैसा ही संशयरूप समझना चाहिये जैसे ठूँठ के विषय

---

१. अत्र नञध्याहर्तव्यम्।

अनात्मस्थः, स्थाणौ संशयावबोधवत् प्रतिपत्तव्यः, अयथावस्तुस्वाभाव्यात्, मृगतृष्णिकोदकप्रबोधवदिति। अत आह–

संसारबीजसंस्थोऽयं तद्धिया मुक्तिमिच्छति।
शशो निमीलननेनेव[1] मृत्युं परिजिहीर्षति ॥१६॥

अस्यार्थस्य द्रढिम्ने श्रुत्युदाहरणम्–

इममर्थं पुरस्कृत श्रुत्या सम्यगुदाहृतम्।
यच्चक्षुषेति विस्रब्धं न दृष्टेरिति च स्फुटम् ॥१७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यद्यपि देहाद्यनात्माकारपरिहारेणान्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मा समर्प्यते तथाप्यनात्मभ्यो भेदेन समर्पणात् भेदस्य चाखण्डैकरसप्रत्यगात्मस्वभावत्वाभावात्तद्विषयं ज्ञानं संशयविपर्यासज्ञानवदात्माऽसाधारणस्वभावालम्बनं न भवति। तेन वाक्यजमद्वैतज्ञानमेव मुक्तिहेतुर्न विवेकज्ञानमित्यर्थः।

संसारबीजेति। संसारबीजमज्ञानं तत्संस्थ एव विवेकदर्शी भेदज्ञानस्याप्यज्ञानप्रभवत्वात् तद्धिया संसारगोचरया विवेकदृष्ट्या मुक्तिमिच्छति, अतद्धेतुमेव तद्धेतुं मन्यते, यथा शिंशुमारनिकटात् पलायने मरणपरिहारहेतौ सति निमीलनमेव भ्रान्त्या तद्धेतुं मन्यते तद्वदित्यर्थः।।१६।।

एवं द्वैतग्राहकप्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वमात्मनस्तर्केणोपपाद्य तस्य प्रशिथिलमूलस्य[2] त्वपरिहाराय प्रमाणमुदाहर्तुमाह–अस्येति। 'यच्चक्षुषा न

में 'क्या यह आदमी है या ठूँठ' ऐसा संशय होता है, क्योंकि यह वैसे ही अवास्तविक है जैसे मृगमरीचिका के जल का ज्ञान। अतः कहते हैं—**जो संसार के बीजभूत अज्ञान में ही स्थित साधक संसारविषयिणी विवेकबुद्धि से मोक्ष चाहता है, वह वैसा ही है जैसा वह खरगोश जो झपटते हुए बाज को देख आँख बन्द कर लेने से समझ ले कि मृत्यु टल गयी**॥१६॥ तात्पर्य है कि विवेकज्ञान भेदज्ञान है, वह साधनमात्र है, मोक्ष के लिये कथमपि पर्याप्त नहीं।

इस बात को दृढ करने के लिये श्रुतियों के उद्धरण देते हैं—**इसी अर्थ को**

१. शशो निमीलननेनेवेति मूलपाठः मुद्रितपुस्तकेषु लभ्यते, तदनुसारेण यथा शशो नेत्रमिलीलनेन मृत्युभयं परिजिहीर्षति एवं ज्ञाननेत्रनिमीलनेनाज्ञानेनैव संसारमृत्युं परिजिहीर्षति भ्रान्तित्वादसम्भव एवेति भावः।

२. '''मूलत्वपरि''' इति चंद्रिकानुसारम्।

बुद्ध्यन्तमपविद्ध्यैवं कोऽन्वहं स्यामितीक्षितुः।
श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह सर्वमानातिगामिनी[1] ॥१८॥

एष संक्षेपतः पूर्वाध्यायत्रयस्यार्थ उक्तः। सोऽयं न्याय्योऽपि[2] वेदान्तार्थः शास्त्राचार्यप्रसादलभ्योऽपि अनपेक्षितशास्त्राचार्यप्रसादः,

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पश्यति' 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येदि' त्यादिश्रुत्या सर्वप्रमाणागम्यत्वमात्मनो दर्शितमित्यर्थः।।१७।।

तर्हि प्रत्यक्षाद्यगम्यः केन प्रमाणेनावसीयत इत्यत आह–बुद्ध्यन्तमिति। एवं पूर्वोक्तान्वयव्यतिरेकाभ्यामनात्मनो निराकृत्य कोन्वहमित्यात्मस्वरूपविशेषबुभुत्सोः श्रुतिः सर्वमानान्यतीत्य तदगोचरं वस्त्वधिगन्तुं शीलमस्या इति सर्वमानातिगामिनी तद् ब्रह्म त्वमसीति विशेषस्वरूपमवगमयतीत्यर्थः।।१८।।

वृत्तानुद्रवणपूर्वकं वर्तिष्यमाणस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यमाह–एष इत्यादिना। अनपेक्षितशास्त्राचार्यप्रसाद इति अविद्यादशायां शास्त्राद्यधीनोपि विद्योत्तरकालं

सामने कर वेद ने ठीक ही कहा है–'जो चक्षु से नहीं दीखता' (केन. १६), 'दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते' (बृ. ३.४.२); इन वाक्यों में स्पष्ट व बिना किसी हिचक के श्रुति ने इसे कह दिया है॥१७॥

पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक द्वारा बुद्धि-पर्यन्त उपाधियों को आत्मकोटि से प्रच्युत कर जो यह जानना चाहता है कि मैं कौन हूँ, उसके लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविषय में गति रखने वाली श्रुति कहती है–तू ब्रह्म है॥१८॥ इस तरह, विवेकपूर्णस्थिति में वाक्य उचित अर्थ का स्फुरण करा पाता है। इस प्रकार संक्षेप में पहले के तीन अध्यायों में बताये विषय का उपन्यास किया।

यह पूर्वोक्त वेदान्तों का तात्पर्यार्थ यद्यपि युक्तिसंगत भी है तथा अपनी सिद्धि के लिये किसी अन्य की अपेक्षा किये बिना स्वप्रकाशत्वेन विद्यमानता स्वभाव वाला होने से इसे शास्त्र व आचार्य की कृपा की कोई आवश्यकता नहीं, तथापि यह समझ में शास्त्र

१. सर्वमानातिगामिनी—'मानानां चक्षुरादीनां सर्वेषां भ्रमप्रमासाधारण्येन श्रुतेश्चाप्रामाण्यशङ्काकलङ्करहित्येन प्रमामात्रहेतुत्वात्स्वतः प्रामाण्याच्च सर्वमानातिगामित्वमित्यर्थः।।' (सारार्थः)

२. न्याय्योऽपि—उपक्रमोपसंहारादिना श्रुतितात्पर्यसिद्धोऽपीऽति भावः।

अनन्यापेक्षसिद्धस्वभावत्वात् कैश्चित् श्रद्दधानैर्न प्रतीयते[1]। तेषां संग्रहार्थमभिमतप्रामाण्योदाहरणम्–

भगवत्पूज्यपादैश्चाप्युदाहार्येवमेव तु।
सुविस्पष्टोऽस्मदुक्तोऽर्थः सर्वभूतहितैषिभिः ॥१९॥

किं परमात्मन उपदेशः, उत अपरमात्मन इति? किञ्ज्ञातः? यदि परमात्मनः, तस्योपदेशमन्तरेणैव मुक्तत्वात् निरर्थक उपदेशः। अथापरमात्मनः, तस्यापि स्वत एव संसारस्वभावत्वान्निष्फल उपदेशः। एवमुभयत्रापि दोषवत्त्वादत आह–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

स्वानुभवसिद्धत्वाच्छास्त्रादीनां तदनुवादकतामात्रेणावस्थानात्तथापि गुरुसम्प्रदायपरम्परागतवेदान्तार्थश्रद्धालुभिर्गुरुसंप्रदर्शनं[2] विना न निश्चीयते। अतस्तेषां बुद्धिसंग्रहायाभिमतप्रमाणस्याचार्यस्य वाक्यं मयोदाह्रियत इत्यर्थः।।१९।।

इदानीमुपदेशसाहस्र्यां भगवत्पादाचार्यैरुदाहृतं वचनमुदाहरति–किं परमात्मन इति। एतदुत्तरत्वेन भाष्यकारीयवचनमेव दर्शयति–

व आचार्य की कृपा से ही आता है, अत: श्रद्धालु साधक किसी विषय में तब तक निश्चय नहीं करते जब तक उन्हें उस विषय में साम्प्रदायिक आचार्यों का वचन न मिले। ऐसे लोगों को भी यहाँ बतायी बातों का नि:सन्दिग्ध निश्चय हो जाये इसके लिये ऐसा उद्धरण देते हैं, जिसकी प्रामाणिकता सबको स्वीकृत है। **सभी प्राणियों के हितचिन्तक परमपूज्य आचार्य भगवत्पाद द्वारा भी स्पष्टत: वह कहा गया है जिसको हमने यहाँ प्रतिपादन किया**॥१९॥

उपदेशसाहस्री में (१८ प्रकरण) जो आचार्य शंकर ने उपस्थापित किया है उसे सावतरण बताते हैं। अभेद का उपदेश क्या परमात्मा के लिये है या जो परमात्मा नहीं उसके लिये? दोनों में से किसी के लिये हो, क्या अन्तर पड़ता है? दोनों ही हालतों में उपदेश व्यर्थ हो जाता है क्योंकि यदि परमात्मा के लिये उपदेश है

---

१. न प्रतीयते—'नाद्रियते न स्वीक्रियते' (सारार्थः)

२. गुरुसम्प्रदायदर्शनम् इति चन्द्रिकानुरोधी पाठः।

'अविविच्योभयं वक्ति श्रुतिश्चेत् स्याद् ग्रहस्तथा'।
इति पक्षमुपादाय पूर्वपक्षं निशात्य च ॥२०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

अविविच्येति। उभयमिदमनिदं रूपमात्मानात्मलक्षणकञ्चुकं परिधायाहमिति व्यवस्थितम्। प्रत्यगात्मानमुद्दिश्य यदि तत्त्वमसीत्युपदिशेत् शास्त्रं तदैव परमुपदेशस्सम्भवतीति स्वीकारः स्यात्। केवलानात्मनः केवलपरमात्मनश्च उपदेशासम्भवस्य दर्शितत्वात्तत्पक्षौ पूर्वपक्षत्वेन निराकृत्येमं च पक्षं सिद्धान्तत्वेन स्वीकृत्य भगवत्पूज्यपादैरुदाहृतमिति सम्बन्धः। तदित्थं 'क्व पुनरियं विवेकबुद्धिरि'ति पूर्वपक्षीकृत्य, 'दाह्यदाहकतैकत्रे'ति न्यायेन 'बुद्धावेव विवेकोऽयमि'ति यदस्माभिरुक्तं, तदेतद् भाष्यकारैरपि दर्शितमिति भावः।।२०।।

तब भी व्यर्थ है, कारण कि वह उपदेश के बिना ही सदा मुक्त है; और यदि जो परमात्मा नहीं उसके लिये उपदेश है तब भी निष्फल है क्योंकि वह तो स्वयं स्वभाव से ही संसारी है, अत: उसकी सांसारिकता निवृत्त नहीं हो सकती। इस प्रकार दोनों ही विकल्पों में दोष आता है। यह शंका होने पर शंकराचार्य ने कहा है—**'यदि श्रुति आत्मा और अनात्मा का अन्तर किये बिना अनुभवसिद्ध मुमुक्षु को उपदेश दे, तब उसे 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सफल ज्ञान हो सकता है। (उपदेशसाहस्री १८.७८)। अत: उन्होंने इसी पक्ष का अवलम्बन लिया है कि चिदचिद् ग्रन्थिरूप अहंकार के लिये ही उपदेश है और पूर्वोक्त दोनों पक्षों का निराकरण कर इसे ही स्थिर किया है**॥२०॥ इस प्रकार पूर्व में (३.५९) हमने जो बताया था, वह आचार्यपाद के इस वचन के अनुसार ही था, यह तात्पर्य है। ब्रह्म का ही संसरण व मोक्ष है यही वेदान्त की मान्यतर प्रक्रिया है। उसके उपपादन में वार्तिककार ने भी कहा है—'अक्षमा भवत: केयं साधकत्वप्रकल्पने। किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्'॥ बृ.वा. १.४.१२७९॥ यहाँ भी स्पष्ट है कि अज्ञान से जीवतया अवस्थित ब्रह्म को ही अधिकारी माना है। सर्वज्ञपाद ने प्रश्न उठाया कि 'अद्वयानन्द ब्रह्म को अज्ञान है' ऐसा जब अनुभव नहीं तो ब्रह्म को अज्ञान है यह कैसे माना जाये? तथा इसका उत्तर दिया है कि जीवरूप से स्थित ब्रह्म को अज्ञान है, यह तात्पर्य है—'न च ब्रह्मण: साधकत्वे अद्वयानन्दब्रह्म मूढमित्याद्यनुभवाभावो

तच्चेदमविवेकात्[1] स्वतो विविक्तात्मने 'तत्त्वमसि' इत्युपदिष्टम्।
युष्मदस्मद्विभागज्ञे स्यादर्थवदिदं वचः।
यतोऽनभिज्ञे वाक्यं स्याद् बधिरेष्विव गायनम् ॥२१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदि'त्यादि वाक्यपर्यालोचनया परमात्मन एवान्तःकरणकञ्चुकस्य तदविविक्तस्य उपदेश इति दर्शितम्। तर्ह्यात्मानात्मविवेकायान्वयव्यतिरेकौ व्यर्थावित्याशङ्क्याह–तच्चेदमिति। स्वतो **वाक्यप्रवृत्तेः प्रागेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणसङ्घाताद्विमुक्तो विवेचित आत्मा यस्य तस्मै** तदिदं **ब्रह्मत्वं** तत्त्वमसीत्युपदिष्टम्, **अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तर्हि विमुक्तत्वात् किमर्थमुपदेश इति? अत आह**–अविवेकादिति। **अविवेकस्यानवबोधस्याज्ञानस्योपदेशमन्तरेण निराकरणादित्यर्थः[2]। विपक्षे दोषमाह**–यत इति। **पदार्थानभिज्ञस्य वाक्यं वाक्यार्थस्य न बोधकमित्यर्थः।।२१।।**

अन्वयव्यतिरेकौ पदार्थविवेककारणमिति यदस्माभिरुक्तन्तदपि

दूषणं, प्रत्यग्रूपेण ब्रह्मणः मूढत्वसाधकत्वाऽभ्युपगमाद्' .(पंचप्रक्रिया, बन्धमोक्षविचार)। गीताभाष्य में भी (१३.२) इसी प्रकार का विचार है। बृहदारण्यक के महावाक्य का प्रसंग भी इसी के अत्यधिक अनुकूल है।

श्रुत्युक्त 'तत्त्वमसि'—यह उपदेश उसके लिये है जिसने अपने अविविक्त जीवरूप से आत्मा को अलग कर समझ लिया है। यह भी उपदेशसाहस्री में कहा है—**'तत्त्वमस्यादि' वचन उसी के लिये सार्थक हैं जो विषय और विषयी का विवेक कर चुका है। (उप.सा. १८.९०) क्योंकि जो इस अन्तर को नहीं जानता उसके लिये वाक्य वैसा ही रहेगा जैसे बहरे के लिये गीत**।।२१।।

विषय-विषयी को अलग-अलग समझने के लिये कौन-सी युक्ति उपाय बनती है?

---

१. इदमाऽविवेको यस्य प्रमातुः स इदेमविवेकस्तस्माद्विविक्त आत्मा येन सस्तस्मै—इति समासौ। विवेकवत इति फलितोऽर्थः। क्लेशापहारिण्यम्—'इदमविवेकाद् इदमः सकाशाद् अविवेकापन्नाद् अयमहमस्मि इत्येवं रूपात् स्वतः स्वस्माद् आत्मनः; चिदाभासयुक्ताद् अहंप्रत्ययिनः सकाशादिति यावत्।'

२. अनिराकरणाद्—इति पठनीयम्।

तस्य च युष्मदस्मद्विभागविज्ञानस्य का युक्तिरुपायभावं प्रतिपद्यते? शृणु–

अन्वयव्यतिरेकौ हि पदार्थस्य पदस्य च।
स्यादेतदहमित्यत्र युक्तिरेवावधारणे ॥२२॥

कथं तौ युक्तिरिति? अत्राह–

नाद्राक्षमहमित्यस्मिन् सुषुप्तेऽन्यन्मनागपि।
न वारयति दृष्टिं स्वां प्रत्ययं[1] तु निषेधति ॥२३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भगवत्पादाचार्यैर्दर्शितमित्याह–तस्य चेति। **पदपदार्थयोः** अन्वयव्यतिरेकावेव एतदहमेच्चानात्मेत्यवधारणे युक्तिरुपायः **स्यादित्यर्थः**।।२२।।

आगमापायितदवध्यन्वयव्यतिरेकादपि पदार्थविवेकोपायत्वेनास्मदुक्ता-वाचार्यैरपि दर्शितावित्ति दर्शयति–कथमिति। अहमिदानीमस्मिन् **सुषुप्ते** नात्मनोऽन्यदीषदप्यद्राक्षमिति **सुषुप्तादुत्थितः** परामृशन्स्वात्मभूतां दृष्टिं न

उपदेशसाहस्री के श्लोक से ही उत्तर देते हैं, सुनो—**इदन्तया प्रतीयमान विषय और अहन्तया प्रतीयमान विषयी को पृथक्-पृथक् निश्चित करने की युक्ति आत्मादि पदों व पदार्थों का अन्वय व्यतिरेक ही है**।।२२।। (उप.सा. १८.९६) आत्मपदार्थ द्रष्टा साक्षी है, वह कभी दृश्य नहीं होता; अहंकार समेत सारा ही साक्ष्य जगत् आत्मार्थ ही है, तदर्थ आत्मा हो यह सम्भव नहीं अर्थात् आत्मा शेषी ही है, जगत् शेष ही है; इत्यादि पदार्थों का अन्वय व्यतिरेक है। ऐसे ही आत्मा आदि शब्द सदा द्रष्टृकोटि के ही बोधक हैं इत्यादि पदों का अन्वयव्यतिरेक है। यही उपाय है अनात्मा से पृथक् कर आत्मा को समझने का।

साधकबाधक प्रमाण के उपन्यास को युक्ति कहा जाता है, अन्वय व्यतिरेक युक्ति किस प्रकार है? साहस्री वचनों से ही बताते हैं—**सुषुप्ति से उठा व्यक्ति 'इस सुषुप्ति अवस्था में मैंने अपने से भिन्न किसी का भी अनुभव नहीं किया' इस प्रकार परामर्श करते हुए स्वरूपभूत ज्ञान का निषेध नहीं करता, केवल**

---

१. प्रत्ययः—'प्रतीयत इति प्रत्ययः इति व्युत्पत्त्या प्रत्ययशब्देन प्रमातृप्रमाणप्रमेयलक्षणः सर्वो विशेषो गृह्यते' इति रामतीर्थः।

एवं विज्ञातवाच्यार्थे[1] श्रुतिलोकप्रसिद्धितः।
श्रुतिस्तत्त्वमसीत्याह श्रोतुर्मोहापनुत्तये ॥२४॥

तत्र त्वमितिपदं यत्र लक्षणया वर्तते सोऽर्थ उच्यते–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

निवारयति[2]। किन्तु घटपदादिविषयप्रत्ययमेव[3] निषेधति। तेनात्मैवाव्यभिचारी, अनात्मा तु व्यभिचारीत्युक्तलक्षणान्वयव्यतिरेकौ दर्शितावित्यर्थः।।२३।।

इत्थं कृतान्वयव्यतिरेकस्य वाक्यमेवैकत्वप्रतिपादकं नान्यदिति यदुक्तं तदाचार्यैरप्युक्तमित्याह–एवमिति। विज्ञातवाक्यार्थे **विज्ञातपदार्थ इति यावत्[4]। पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वात्।।२४।।**

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि का निषेध करता है।।२३।। (उप.सा. १८.९७)। इस प्रकार आत्मा अव्यभिचारी व अनात्मा व्यभिचारी है यह अन्वयव्यतिरेक दिखा दिया। अर्थात् जो अव्यभिचारी होता है वह आत्मा होता है इस प्रकार अहमर्थ के आत्मत्व में प्रमाण बता दिया। इसी तरह प्रमातृ आदि का अनात्मत्व प्रमाणसिद्ध कर दिया।

जो हमने यह कहा था कि (श्लो. ८) वाक्य ही जीवब्रह्मैक्य का बोधक है, वह बात भी आचार्यचरण ने साहस्री में बताई है—**इस प्रकार श्रुति और लोक-प्रसिद्धि के सहारे पदों के अभिप्रेत वाच्यार्थ को समझ लेने पर जब श्रुति महावाक्य से 'तत्त्वमसि' उपदेश देती है तब वह उपदेश श्रोता के अज्ञान का नाशक होता है**।।२४।। (उप.सा. १८.९९) पहले बताया जा चुका है कि शुद्ध अर्थात् महावाक्य में अन्वय-योग्य भी वाच्य ही है क्योंकि जब विशिष्ट वाच्य है तब विशेष्य भी वाच्य है ही। अतएव वाच्यैकदेश का ही परित्याग स्वीकार्य है। उसी दृष्टि से कहा कि जिसने उस विशेष्यभूतार्थ को वाच्यत्वेन समझ लिया, उसे जब महावाक्य सुनाया जायेगा तब उसे वे ही पदार्थ उपस्थित होंगे जो वाक्यतात्पर्यानुकूल होंगे अतः

---

१. लोकप्रसिद्धितः—'लोकप्रसिद्ध्या सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमित्यादिरूपया'। विज्ञातवाच्यार्थे विविक्तज्ञातवाच्यार्थे—शोधिततत्त्वार्थे।

२. परामर्शापेक्षितपूर्वानुभवरूपत्वेन तत्र स्थितत्वात्।

३. प्रतीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या प्रमाणस्य ग्रहणं भवति, तच्च प्रमेयप्रमात्रोरप्युपलक्षणम्।

४. विज्ञातवाक्यार्थे—इति मूले पाठान्तरं चन्द्रिकोक्तं, तदाश्रित्येयं व्याख्या। साहस्र्यामानन्दगिरिः 'अवान्तरवाक्यार्थो वाक्यार्थशब्देनोच्यते'—इति व्याचष्टे।

उसे उचित ज्ञान उत्पन्न होगा और उससे अज्ञान का नाश होगा। लोकप्रसिद्धि का तात्पर्य समझना चाहिये पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक से। वेद अधिकारी के लिये प्रमिति-जनक है, इस सामान्य नियम का ही यहाँ निर्वाह बताया है।

साहस्रीग्रन्थ में 'विज्ञातवाक्यार्थे' पाठ मिलता है, जिसका भी अर्थ है अवान्तर वाक्यार्थों को समझ लेने पर। तत् व त्वं पदार्थों के शोधक 'सत्यं ज्ञानम्' (तै. २-१), 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ. ४-३-७) आदि अवान्तर वाक्य हैं। अतः चन्द्रिका में जो 'विज्ञातावाक्यार्थे' पाठ का 'विज्ञातपदार्थे' अर्थ किया है, उसका तात्पर्य है—तत् व त्वं पदार्थों को समझ लेने पर। तथा जो कहा है 'पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वात्' उसका अर्थ है कि तदादि पदार्थ ही अवान्तर वाक्यों का अर्थ है।

कुछ आधुनिक व्याख्याता 'विज्ञातवाक्यार्थे' पाठ को अनादरणीय बताते हैं। श्रुति व लोकप्रसिद्धि से वाक्यार्थविज्ञान कैसे?—यह उन्हें समझ में नहीं आया। श्रुति से वाक्यार्थ-विज्ञान तो स्पष्ट ही है। प्रश्न लोकप्रसिद्धि से वाक्यार्थविज्ञान का है। यह कहा जा चुका है कि 'य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः' यह औत्सर्गिक नियम है। अतः वैदिक वाक्यार्थज्ञान में लोकप्रसिद्धि का अत्यन्त उपयोग है। यह विषय मीमांसा दर्शन के प्रथमाध्याय के तृतीयपाद में विवेचित है। वहाँ यह माना है कि यव पिकादि शब्दों के अर्थनिर्णय के लिये पहले आर्यप्रसिद्धि को वरीयता देनी चाहिये और यदि आर्यप्रसिद्धि न मिले तो म्लेच्छप्रसिद्धि का भी संग्रह कर लेना चाहिये। अतः 'लोकप्रसिद्धितः' में दोष नहीं। किं च आत्मादिपद यूपादि की तरह श्रुत्येकप्रसिद्ध नहीं, इसलिये भी लोकप्रसिद्धि की आवश्यकता है। इसी प्रकार वे वाक्यार्थ पद से अवान्तरवाक्यार्थ को नहीं समझना चाहते। इसमें हेतु बताते हैं प्रकृतहानि व अप्रकृत-कल्पना को। किन्तु साहस्री में इस श्लोक के अव्यवहित पूर्व श्लोक में 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृ. ४-३-९) 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेः' (बृ. ४-३-२३) इत्यादि श्रुतियाँ कण्ठतः उद्धृत हैं जिससे अन्वयव्यतिरेक को शास्त्रीय सिद्ध किया है। अतः अवान्तरवाक्य अप्रकृत नहीं प्रकृत ही हैं। और 'अत्रायम्' आदि को अवान्तरवाक्य मानना ही होगा क्योंकि त्वंपदार्थशोधकतया इसी का उपन्यास संक्षेपशारीरक में (३.१४१) किया है 'ज्योतिर्ब्राह्मणवाक्यमानबलतः' इत्यादि से। अतः 'विज्ञातवाक्यार्थे' पाठ भी निर्दुष्ट है।

वाक्य में त्वम्पद लक्षणा से जिसका बोधक है उस पदार्थ को साहस्रीवाक्य से ही बताते हैं—**आत्मवाचक अहं (मैं) शब्द का पर्यवसितार्थ जो ज्ञानरूप प्रत्यगात्मा**

अहंशब्दस्य या निष्ठा ज्योतिषि प्रत्यगात्मनि।
सैवोक्ता सदसीत्येवं फलं तत्र विमुक्तता ॥२५॥
अन्यच्चान्वयव्यतिरेकोदाहरणम्। यथा[1]–
छित्वा त्यक्तेन हस्तेन स्वयं नात्मा विशेष्यते।
तथा शिष्टेन सर्वेण येन येन विशेष्यते ॥२६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

त्वंपदलक्षणमपि यथोक्तमाचार्यैरपि दर्शितमित्याह–तत्रेति। अहं शब्दस्यात्मवाचकस्य **प्रत्यगात्मज्योतिषि लक्षणया** या निष्ठा **पर्यवसानं** सैव **निष्ठा** सदसीत्यपि **वाक्ये विवक्षिता लक्षिता। त्वंपदार्थात्तत्पदलक्ष्यस्य न भेदोऽस्तीत्यर्थः। फलवत्त्वादप्येकत्व एव श्रुतेस्तात्पर्यमित्याह**–तत्रेति।।२५।।

आत्मानात्मविवेकान्वयव्यतिरेकौ प्रकारान्तरेणापि दर्शिता-वाचार्येणेत्युत्तरश्लोकपञ्चकस्य तात्पर्यमाह–अन्यच्चेति।।२६-२९।।

है वही 'तत्त्वमसि' वाक्य में त्वम्पद का लक्ष्य है। वाक्यार्थज्ञान होने पर मोक्ष फल है।।२५।। (उप.सा. १८.१०१)

अन्वयव्यतिरेक के अन्य भी उदाहरण आचार्यवचनों में मिलते हैं। जिस प्रकार वे मिलते हैं उस प्रकार से[2] उन्हें उद्धृत करते हैं—**काट कर दूर कर दिया गया हाथ शरीर का विशेषण नहीं होता; ऐसे ही जिस किसी भी स्थूलत्व, दुःखित्व आदि विशिष्ट धर्मों से आत्मा को विशेषित किया जाता है, वे भी स्वरूपभूत आत्मा के वास्तविक विशेषण नहीं हैं**।।२६।। (उप.सा. ६.१)। जब तक हाथ शरीर में जुड़ा रहता है तभी तक वह उसका विशेषण हो सकता है, कट कर हट जाने पर नहीं। स्थूलत्वादि भी अविवेकदशा में ही विशेषण हैं, विवेकदशा में नहीं क्योंकि तब उन्हें अनात्मधर्म जाना जा चुका है। स्वरूपान्तर्निविष्ट व्यावर्तक को विशेषण कहते हैं। यहाँ यह युक्ति अभिप्रेत है—स्थूलत्वादि आत्मा के विशेषण नहीं, विशेषण होने से, कटे हाथ की तरह (उप.सा. ६.१ पर आ.गि. टीका)। सत्यत्वादि में व्यभिचार नहीं क्योंकि

---

१. हिरियण्णापाठेऽत्र 'तथा'। चंद्रिकाकृतां 'यथा' इति प्रतीयते। क्लेशापहारिणीकृतां संस्करणे मूले 'दाहरणम्—छित्वा' इति, किन्तु व्याख्यायां 'यथा छित्वा' इत्युक्तम्।

२. 'तथा' यह उपलब्ध पाठ है जिसका यह अर्थ है। ज्ञानोत्तमीय पाठ 'यथा' प्रतीत होता है जिसका श्लोकस्थ 'तथा' से अन्वय स्पष्ट है।

विशेषणमिदं सर्वं साध्वलङ्करणं यथा।
अविद्याध्यस्तमतः सर्वं ज्ञात आत्मन्यसद् भवेत् ॥२७॥
तस्मात्त्यक्तेन हस्तेन तुल्यं सर्वं विशेषणम्।
अनात्मत्वेन तस्माज्ज्ञो मुक्तः सर्वविशेषणैः ॥२८॥
ज्ञातैवात्मा सदा ग्राह्यो ज्ञेयमुत्सृज्य केवलः।
अहमित्यपि यद् ग्राह्यं व्यपेताङ्गसमं हि तत् ॥२९॥

विशेष्यवृत्ति धर्म को विशेषण कहते हैं व सत्यत्वादि आत्मवृत्ति धर्म नहीं। साधनवैकल्य भी नहीं क्योंकि विशेषणत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व विवक्षित हेतु है, कटा हाथ कटी अवस्था में चाहे विशेषण न हो पर पूर्व में तो विशेषण ही था अतः दृष्टान्त में हेतु है। श्लोकस्थ 'शिष्ट' पद का ज्ञानोत्तमीयार्थ है 'विशिष्ट'। अथवा 'आत्मकोटि से बचा हुआ'—यह अर्थ है। यद्वा 'शिष्ट' का सीधा अर्थ है 'हाथ से अतिरिक्त' मुँह, पैर आदि जो पहले (अविवेककाल में) विशेषण थे वे विवेक के बाद वैसे ही विशेषण नहीं जैसे कटा हुआ हाथ।

क्योंकि हमारा शरीर से तादात्म्याध्यास है इसलिये अच्छे गहने हमारे विशेषण बनते हैं; उसी प्रकार अध्यास के कारण ही आत्मा में सब विशेषण हैं। अतः आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर वे सभी विशेषण बाधित हो जाते हैं।।२७।। (उप.सा. ६.३)। यहाँ यह युक्ति समझनी चाहिये—स्थूलत्वादि आत्मा के विशेषण नहीं, अध्यास के कारण उसके विशेषण प्रतीत होने के कारण, गहनों की तरह। तृतीयपाद में एक अक्षर अधिक देख कुछ लोग 'अविद्याध्यासतः'—ऐसे पाठ की कल्पना करते हैं। वह अनुचित है। द्वितीयपाद के 'यथा' से 'अविद्याध्यस्तं' की सन्धि कर लेने पर कोई दोष नहीं रह जाता।

अतः अनात्मा होने के कारण सभी विशेषण कटे हाथ की तरह ही हैं। इसलिये आत्मा सब विशेषणों से रहित है।।२८।। (उप.सा. ६.२)। इस युक्ति का अनुसन्धान करना चाहिये—स्थूलत्वादि आत्मविशेषण नहीं, अनात्मा होने से, कटे हाथ की तरह। यद्यपि बिना कटा हाथ भी आत्मविशेषण नहीं तथापि स्पष्टता के लिये कटा हाथ समझना चाहिये।

जो अनवच्छिन्न प्रत्यग्वस्तु हमेशा ज्ञातृरूप में ही रहती है उसे ही आत्मा जानना चाहिये। जो कुछ भी ज्ञेय है उसे आत्मकक्षा से बहिर्भूत समझना

दृश्यत्वादहमित्येष नात्मधर्मो घटादिवत्।
तथान्ये प्रत्यया ज्ञेया दोषाश्चात्माऽमलो ह्यतः ॥३०॥

सर्वन्यायोपसंग्रहः–

नित्यमुक्तत्वविज्ञानं वाक्याद् भवति नान्यतः।
वाक्यार्थस्यापि विज्ञानं पदार्थस्मृतिपूर्वकम् ॥३१॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थः स्मर्यते ध्रुवम्।
एवं निर्दुःखमात्मानमक्रियं प्रतिपद्यते ॥३२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं व्यभिचारित्वेनाहंकारादीनां छिन्नहस्तवदनात्मत्वमत-द्विशेषणत्वञ्चावधार्य दृश्यत्वादप्यनात्मत्वमनात्मधर्मत्वं च तेषामाचार्यैर्दर्शित-मित्याह–दृश्यत्वादिति। प्रत्ययास्सुखदुःखादयः, दोषा रागादयः।।३०।।

पुनरपि तत्त्वमसिप्रकरणे भगवत्पादाचार्यैरस्मदुक्तो न्यायः प्रकरणोप-दर्शितन्यायोपसंहारपञ्चभिश्श्लोकैः प्रदर्शित इत्याह–सर्वेति।।३१-३३।।

चाहिये। जिस अहङ्कार का भी अनुभव होता है उसे भी कटे अंग की तरह ही मानना उचित है क्योंकि सुषुप्ति में वह नहीं रहता॥२९॥ (उप.सा. ६.४)। अहंकार का स्वरूप पहले (३.१६) भी बताया गया है। सरस्वतीस्वामी ने भी इसे कहा है—'अहंकारो हि अनुभवामीत्यात्मानुबन्ध्यनुभवस्याहं कर्तेत्यचिदनुबन्धिकर्तृत्वादेश्चा-श्रयश्चिदचित्संवलनात्मकत्वादध्यस्तः' (पृ. ५९७ अ.सि.)। पद्मपादाचार्य ने भी उसे 'इद-मनिदं-वस्तुगर्भ' (पृ. ८६ मद्र.) कहा है।

अहंकार दृश्य होने से वैसे ही आत्मा का गुण नहीं जैसे घड़ा आदि। इसी तरह सुखादि अन्य वृत्तियाँ और रागादि दोष आत्मगुण नहीं यह जानना चाहिये क्योंकि आत्मा निर्गुण है॥३०॥ (उप.सा. १५.१६)। पूर्व में (२.२२-४४) यह प्रसंग आ चुका है। यहाँ तो प्रमाणभूत आचार्यवचन बताया जा रहा है।

उपदेशसाहस्री के तत्त्वमसि प्रकरण में इस प्रसंग के उपयोगी सभी न्यायों का संग्रह कर दिया है—**'मैं सदा मुक्त ब्रह्म हूँ' यह अनुभव तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के श्रवण से ही होता है, प्रसंख्यान आदि से नहीं। वाक्यार्थ बोध भी तब होता है जब पहले तत् व त्वं पदार्थों की स्मृति हो॥३१॥** (उप.सा. १८-१९०)। **अन्वयव्यतिरेक के कारण ही पदार्थ का स्मरण होता है। इस प्रकार**

सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः प्रमा स्फुटतरा भवेत्।
दशमस्त्वमसीत्यस्माद् यथैवं प्रत्यगात्मनि ॥३३॥

वीक्षापन्नस्योदाहरणम्–

नवबुद्ध्यपहाराद्धि स्वात्मानं दशपूरणम्।
अपश्यन् ज्ञातुमेवेच्छेत् स्वमात्मानं जनस्तथा ॥३४॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यदस्माभिस्तृतीयेऽध्याये 'वीक्षापन्नस्ये'ति[1], 'दशैव सयमि'ति सङ्ख्याभिनिवेशापहृतज्ञानः स्वव्यतिरिक्तान्नवपुरुषान् वीक्षमाणोऽपि यथा विभ्रमादात्मानं नवसंख्यापूरकं न वेत्ति तथा अविद्याप्रतिबन्धसम्यग्दर्शनो विषयाभिषङ्गलक्षणकामेन च विषयाभिमुखमपहृतचित्तस्समस्तद्वैतविनिर्मुक्तं स[2] सर्वसाक्षिणमपरोक्षमात्मानं दशममिव न पश्यतीत्यर्थः।।३४-३५।।

दुःख व क्रिया से रहित आत्मा का बोध होता है॥३२॥ (उप.सा. १८.१९१)।

'तुम ही सद्ब्रह्म हो' आदि वाक्यों से अत्यन्त स्पष्ट प्रमा होती है। जैसे 'तू दसवाँ है'—**इस वाक्य से 'मैं दसवाँ हूँ' यह अपरोक्ष प्रमा उपजती है वैसे ही 'तत्त्वमसि' से 'अहं ब्रह्मास्मि' यह प्रत्यगात्म विषयक अपरोक्ष प्रमा होती है॥३३॥** (उप.सा. १८.१९२)। 'सदेव' का तात्पर्य है 'सदेवासि' आदि प्रयोग से। पूर्व में (३.६७) 'सदसि'—ऐसा कह भी चुके हैं। तथा इसी दृष्टान्त से महावाक्यस्थल का बोध भी समझा चुके हैं (३.७०)। ज्ञानोत्तमीय व्याख्या में 'सदेव' से 'सदेव सोम्येदमग्र' आदि छान्दोग्यषष्ठ के वाक्य का परामर्श माना है व श्लोकार्थ इस प्रकार किया है—'सदेव' आदि वाक्यों से जाने गये ब्रह्म को जब आचार्य 'तत्त्वमसि' वाक्य सें अपने से अभिन्न बताते हैं तब जिसने पदार्थविवेक कर लिया है उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' यह प्रमा हो जाती है।

जो तृतीयाध्याय में (३.५) कहा था 'जब यह सब दृश्य मैं नहीं तो मैं कौन हूँ'—इस प्रकार विचार में पड़े जिज्ञासु के लिये श्रुति का उपदेश है, इत्यादि, वह भी आचार्यचरण के इन श्लोकों के आधार पर ही था—**'हम नौ जने ही हैं' इस निश्चय**

---

१. उक्तं, तदप्याचार्यैर्दर्शितमिति शेषः। 'दशैव' इत्यत्र 'नवैव' इति चन्द्रिकानुसारी। एवं 'अपहृतज्ञान' इत्यत्र 'अपहृतदशमज्ञान' इति तत्पाठः।

२. स इति चन्द्रिकायां नास्ति।

अविद्याबद्धचक्षुष्ट्वात् कामापहृतधीः सदा।
विविक्तं दृशिमात्मानं नेक्षते दशमं यथा ॥३५॥
सोऽयमेवमविद्यापटलावगुण्ठितदृष्टिः सन् कथमुत्थाप्यत इत्याह–
यथा स्वापनिमित्तेन स्वप्नदृक् प्रतिबोधितः।
करणं कर्म कर्तारं स्वाप्नं नैवेक्षते स्वतः ॥३६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नन्वेवमविद्याप्रतिबन्धसम्यग्दर्शनस्य श्रुत्याचार्यादीनि दर्शनकारणानि किं सत्यान्यथाऽसत्यानि? सत्यत्वे, सदद्वैतव्याघातः। असत्यत्वे, न सम्यग्दर्शनकारणत्वमित्याशङ्क्य; उत्तरश्लोकाभ्यां दृष्टान्तप्रदर्शनपुरस्सरं परिहारमाह–सोऽयमित्यादिना। यथा स्वप्नदृक् **स्वाविद्यापरिकल्पितचोर-व्याघ्रादिदर्शननिमित्तभयवशात् सहसा प्रबुद्धस्स्वप्नदशायां स्वाज्ञानपरिकल्पितं कारणादिकं स्वतो व्यतिरिक्तं न क्षमते[1]। तथाऽनाद्यविद्यानिद्रापर-वशस्स्वाविद्यापरिकल्पितश्रुत्याचार्यवशादहमस्मि परं ब्रह्मेति प्रतिबुद्धः स्व-व्यतिरिक्तं श्रुत्याचार्यादिकं न पश्यति। तेन श्रुत्याचार्यादेरविद्याविषयत्वान्ना-द्वैतव्याघातः, नापि विद्यानुदयः, तथाभूतेभ्योऽपि विद्योदयस्य दर्शितत्वादिति भावः।।३६-३७।।**

के कारण दसवें का ज्ञान नहीं होता। दस की संख्या पूरी करने वाले स्वयं को न देखते हुए वह यही चाहता है कि उस दसवें को जान ले, कुछ और उपासनादि नहीं करना चाहता। वैसे ही लोग 'मैं कौन हूँ' ऐसा विचार उठने पर केवल जानना चाहते हैं कि उनका स्वरूप क्या है॥३४॥ (उप.सा. १८.१७४)। **अज्ञान-द्वारा ज्ञान ढका होने के कारण और कामनावशात् बुद्धि सदा बहिर्मुखी होने के कारण अनात्मा से अत्यन्त भिन्न दृग्रूप आत्मा को व्यक्ति वैसे ही नहीं जानता जैसे अपने से पृथक् दशम को ढूंढने में व्यग्र व्यक्ति स्वयं को–जो वह दशम है उसे–नहीं देखता॥३५॥** (उप.सा. १८.१७५)। अज्ञान से ज्ञान का आवरण भगवान् ने भी बताया है (गी. ०५-१५)।

इस प्रकार जिस व्यक्ति की ज्ञानदृष्टि पर अज्ञान का पर्दा पड़ा है, वह अवबोधित किस तरह कराया जाता है, यह श्लोकों द्वारा बताते हैं—**जिस तरह स्वप्न देखने वाला व्यक्ति स्वप्न में ही होने वाले किसी व्याघ्राक्रमणादि निमित्त से उठ जाने**

१. नैवेक्षत इत्यस्य व्याख्या।

अनात्मज्ञस्तथैवायं सम्यक् श्रुत्याऽवबोधितः।
गुरुं शास्त्रं तथा मूढं स्वात्मनोऽन्यं न पश्यति ॥३७॥
स किं सकलसंसारप्रविविक्तमात्मानं वाक्यात् प्रतिपद्यत उत नेतीति? अत्र ब्रूमः। कूटस्थावगतिमात्रशेषत्वं प्रतिपत्तेः, अत आह–
दण्डावसाननिष्ठः स्याद्दण्डसर्पो यथा तथा।
नित्यावगतिनिष्ठं स्याद्वाक्याज्जगदसंशयम् ॥३८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भवत्येवं प्रबोधोत्पत्तिस्तथापि किं प्रपञ्चाद् भेदेन ब्रह्मावबोध्यते उताभेदेन? आद्ये, अद्वैतव्याघातः। द्वितीये तु, सप्रपञ्चत्वमित्याशङ्क्य; प्रपञ्चस्यात्मन्य-विद्याध्यारोपितत्वान्न ततो भेदेनाप्यभेदेनासौ बोध्यते। किन्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां भावपरिहारेण तावन्मात्रतयेति दृष्टान्तेन दर्शयति–स किमित्यादिना। **कूटस्थावगतिरेव तथावशिष्यते तावन्मात्रैव प्रतिपत्तिर्न पुनः प्रपञ्चभावाभावाव-लम्बिनी प्रतिपत्तिरित्यर्थः।** दण्डावसाननिष्ठस्यादिति **दण्डरूपेणावसानं पर्यवसानं तदेव निष्ठा काष्ठा यस्य दण्डे परिकल्पितसर्पस्य स तथोक्तः। न हि तत्र सर्पस्य दण्डे भावरूपता बाध्यत्वात् नापि तत्राभावः, कल्पितसर्पस्य प्रतियोगित्वेन क्वाप्यभावात्। तदेवमन्वयव्यतिरेक[1] भावपरिहारेण तावन्मात्रत्वं यथा सर्पस्य**

पर स्वप्नावस्था के कर्ता, कर्म, करण आदि को अपने से पृथक् नहीं देखता॥३६॥ इसी तरह अनात्मज्ञ व्यक्ति भी श्रुति द्वारा भली प्रकार बोधित हो जाने पर अपने से भिन्न अज्ञानावस्था वाले गुरु या शास्त्र को नहीं देखता॥३७॥ तात्पर्य है कि गुरुशास्त्रादि कल्पित भेद ही ज्ञान के साधन हैं व ज्ञान से भेदमात्र की निवृत्ति हो जाने से इन भेदों की भी निवृत्ति हो जाती है जिससे द्वैतापत्ति नहीं। कल्पित हेतु के अकल्पित फल को बताने के लिये स्वाप्ननिमित्तक प्रबोध का दृष्टान्त दिया।

प्रश्न होता है कि वाक्यज्ञान होने पर साधक अपने को क्या समस्त संसार से भिन्न समझता है या नहीं? भाव यह है कि यदि भिन्न समझता है तब द्वैतापत्ति और यदि भिन्न नहीं समझता तब अध्यास की अनिवृत्ति का प्रसंग है। इस प्रश्न पर हमें यह कहना है कि वाक्य से ज्ञान होने पर केवल अपरिवर्तनीय ज्ञानरूपता ही बचती है, संसार से भेद-अभेद का प्रश्न ही नहीं। यह बात स्पष्ट हो इसलिये दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—**जैसे**

१. 'तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां भावाभावपरिहारेण यथा सर्पस्य दण्डतावन्मात्रत्वम्' इति चन्द्रिकानुसारमत्र योजनीयम्।

कुत एतत्? यस्मात्–

पश्यन्निति यदा होच्चैः प्रत्यक्त्वमजमद्वयम्।
अपूर्वानिपरानन्तं त्वमा तदुपलक्ष्यते ॥३९॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

तथा जगतोऽप्यवगतिरूपब्रह्ममात्रत्वमेवेत्यर्थः॥३८॥

उक्तार्थहेतुकथनपरत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति–कुत एतदिति। **'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति', 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं पश्येत्' इति यन्निरस्तसमस्तद्वैतं कूटस्थदृष्टिमात्मानं सुषुप्त्यवस्थायां दर्शयति। तदेवापूर्वादिलक्षणं[1] वस्तु त्वंपदेन लक्ष्यते यस्मात्तस्मात्तद्विपरीतं द्वैतजातमविद्याध्यारोपितं विद्ययानिवर्त्यमानमात्ममात्रावशेषमेव निवर्तत इति भावः॥३९॥**

ननु निरस्तसमस्तद्वैतं वस्तु सुषुप्त्यवस्थायां स्वत एव सिद्धञ्चेत्

अधिष्ठानज्ञान होने पर दण्ड में कल्पित सर्प केवल दण्डरूप ही बचता है वैसे ही यह निश्चित है कि वाक्य से आत्मबोध होने पर जगत् ब्रह्ममात्ररूप ही रह जाता है॥३८॥ दण्ड सर्प से अभिन्नतया तो नहीं ही ज्ञात होता, भिन्नतया भी ज्ञात होता है—यह नहीं कह सकते क्योंकि 'यह दण्ड सर्प से भिन्न है'—ऐसा बोध नहीं होता। सर्प नहीं है, दण्ड है, यही ज्ञान होता है। ऐसे ही प्रपंचका बाध हो जाने से समस्त प्रपंच से अपने को भिन्न या अभिन्न समझने का कोई अवसर ही नहीं।

यह कैसे कि केवल आत्ममात्र ही अवशिष्ट रहता है? उत्तर है कि **क्योंकि 'पश्यन्वै तन्न पश्यति' (बृ. ४.३.२३) इत्यादि श्रुति ने स्पष्ट रूप से जिसे प्रत्यक्तारूप, जन्म-नाश से रहित, पूर्व और पर सीमाओं से रहित अनन्त आत्मतत्त्व बताया है, वही महावाक्यगत त्वम्पदका लक्ष्य है इसलिये उससे विपरीत द्वैतप्रपञ्च केवल आत्ममात्ररूप बचता है॥३९॥** त्वम्पदलक्ष्य तो बचता है यह सर्वविदित है, उसका स्वरूप यदि ऐसा हो जो किसी अन्य को सहन न करे तब स्पष्ट ही प्रपंच को तन्मात्ररूपेण ही रहना होगा, अतः उसका स्वरूप बता दिया।

---

१. अपूर्वं कारणशून्यम्, अनपरं कार्यशून्यमिति। जगतः ब्रह्मकार्यत्वेऽपि प्रतीतिमात्रसत्तात्वात् ब्रह्मणोऽनपरत्वमव्याहतं भवतीति भावः।

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थविज्ञानेनैव बाध्यते। यस्मात्–

अस्माद्यदपरं रूपं नास्तीत्येव निरूप्यते।
अन्यथाग्रहणाभावाद् बीजं तत्स्वप्नबोधयोः ॥४०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

किन्तत्त्वमस्यादिवाक्येन? अथाविद्यानिवृत्तिस्तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थविज्ञानेनैव, कथन्तर्हि निर्विशेषं वस्तु सुषुप्त्यवस्थायां सिद्धमित्युच्यत इति शङ्कात्रयं सम्बन्धोक्त्या श्लोकेन निराचष्टे–तत्त्वमस्यादीत्यादिना। **यस्मात्पूर्वोक्तन्यायेनाविद्या तत्त्वमस्यादिवाक्योक्तविज्ञानेनैव बाध्यते तस्माद्वाक्यमपेक्षणीयमेव, यस्माच्च द्वैततद्दर्शनयोरभावात् प्रकृतादात्मनोऽन्यन्नास्ति इति श्रुत्या निरुच्यते 'न तु तद् द्वितीयमस्ती'ति, न तु तत्कारणस्याप्यभावात्[1], तच्चाग्रहणं स्वप्नप्रबोधयोर्बीजं तत्रास्त्येव, तेन तन्निवर्तकं वाक्यमपि सार्थकमित्यर्थः॥४०॥**

यद्यपि समस्त विक्षेपों से रहित आत्मा की सिद्धि सुषुप्ति में है तथापि **क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न अनुभव से ही द्वैत का बाध होता है अतः वाक्यश्रवण की अपेक्षा रहती है। श्रुति में इतना ही निरूपण किया है कि सुषुप्तिदशा में आत्मा से भिन्न कोई विक्षेपात्मक वस्तु नहीं, क्योंकि तब जाग्रत्स्वप्न के विषयों का ग्रहण नहीं होता। वह प्रसिद्ध अज्ञान जो स्वप्न और जाग्रत् का बीज है, वह तो उस अवस्था में है ही जिसकी निवृत्ति वाक्य से ही संभव है॥४०॥** शंका का आशय था कि स्वप्न में जो आत्मानुभव हुआ वह भी निष्प्रपंचात्मा की अनुभूति है अतः उतने से ही मोक्ष हो जाना चाहिये। समाधान का भाव है कि सुषुप्ति में विक्षेपप्रपंच न होने पर भी आवरण प्रपंच तो है ही अतः अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष क्योंकर संभव होगा। केवल अन्यथाग्रहणाभाव ही स्वप्न-बोध का बीज बता दिया है जिससे भावरूप मूलाविद्या का निराकरण हो गया—यह भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति का प्रतिपादन आचार्य को अभिप्रेत नहीं। बीजपद परिणामी उपादानपरक होता है अतः ग्रहणाभावोपलक्षित आत्मा की बीजरूपता का प्रसङ्ग अकल्पनीय है। अतः यहाँ स्पष्ट ही सौषुप्तानुभवसिद्ध मूलाविद्या का वार्तिक-समर्थन दर्शनीय है। एवं च सुषुप्ति शुद्ध चैतन्य का अनुभव नहीं, यह यहाँ स्थित होता है। अतः सिद्धान्तबिन्दु में पहले सुषुप्ति में निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य का अनुभव मानकर व्यवस्था देने के बाद उसे न मानकर भी व्यवस्था

---

१. कारणस्य अज्ञानस्य। यस्मात्, यस्माच्च-इत्यनयोः 'तेन तन्निवर्तकम्' इत्यग्रेतनेनान्वयः।

अस्यार्थस्य द्रढिम्न उदाहरणम्–

'कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः' ।।४१।।
'अन्यथागृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते' ।।४२।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वाक्यश्रवणे सत्येवाग्रहणं निवर्तते। ततः प्राक् सुषुप्तेति[1] यदस्तीति यदुक्तम्, तत्र प्रमाणत्वेन गौडपादीयं वाक्यमुदाहरति–अस्येत्यादिना। कार्यमन्यथाग्रहणं कारणं **तत्त्वाग्रहणं, ताभ्यां** बद्धौ **सङ्गृहीतौ जाग्रत्स्वप्नाभिमानिनौ** विश्वतैजसौ। प्राज्ञस्सुषुप्त्यभिमानी **कारणेनैव तत्त्वाग्रहणेन बद्धः**। द्वावप्येतौ **कार्यकारणपदार्थौ तुरीयावस्थायां** न सिध्यतो **न सम्भवत इत्यर्थः**।।४१।।

स्वप्नजागरितयोस्तत्त्वम् अन्यथाग्रहणस्वप्नो[2] विपरीतग्रहणं, तत्त्वमजानतस्तिसृषु **अवस्थासु** निद्रा **तुल्या। तत्र जाग्रत्स्वप्नावन्यथाग्रहण-प्रधानत्वात् कार्यस्थानं, [3]तयोश्च कार्यकारणस्थानयोर्विपर्यासे विपरीतग्रहण-**

दी है जिसमें उपाधिविशिष्ट में शक्त सत्यादि पदों की भी चैतन्यमात्रांश में संस्कारोद्बाधकता मानी है। (सि.बि.पृ. १८५ प्र. का)।

इस विषय में कि वाक्य ज्ञान के लिये आवश्यक है, आचार्य गौडपाद की कारिका को प्रमाणतया उपस्थित करते हैं—**जाग्रत् और स्वप्न के अभिमानी विश्व और तैजस को तत्त्व का अग्रहण तथा अतत्त्वका ग्रहण दोनों होते हैं, सुषुप्ति-अभिमानी प्राज्ञ को केवल तत्त्व का अग्रहण होता है; जिसकी ये तीन अवस्थायें हैं उस चौथे आत्मा को न तत्त्व का अग्रहण है और न अतत्त्वका ग्रहण ही है।।४१।। (गौ.का. १.११)। जब तक व्यक्ति तत्त्व को वैसा समझता है जैसा वह नहीं है तब तक स्वप्न और तत्तुल्य जाग्रदवस्था है; जब तत्त्व का केवल अज्ञान है, जब सुषुप्ति अवस्था है। स्वप्न व, तत्तुल्य जाग्रत् तथा सुषुप्ति का अनुभव करने वाले व्यक्ति के जब अतत्त्वग्रह और तत्त्वअग्रहरूप विपरीत ज्ञान प्रामाणिक ज्ञान से निवृत्त हो जाते हैं, तब वह अपने अवस्था वाले स्वरूपों**

---

१. सुषुप्तेऽपि तदस्तीति—इति स्यात्पाठः। २. अन्यथा गृहतः इति पठनीयम्।
३. अत्र चन्द्रिकायामेतदधिकं 'सुषुप्तिः केवलाऽग्रहणप्रधानत्वात् कारणस्थानम्' इति।

तथा भगवत्पादीयमुदाहरणम्–

सुषुप्ताख्यं तमोऽज्ञानं बीजं स्वप्नप्रबोधयोः ।
आत्मबोधप्रदग्धं स्याद् बीजं दग्धं यथाभवम् ।।४३।।
एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरयमर्थः प्रभाषितः ।
अज्ञानमात्रोपाधिः सन्नहमादिद्गीश्वरः ।।४४।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

लक्षणे[1] च तत्त्वप्रबोधितः[2] क्षीणे तुरीयं[3] पदं प्राप्नोतीत्यर्थः।।४२।।

उपदेशसाहस्र्यामप्येतदुक्तमित्याह–तथेति। सुषुप्तं तमो अज्ञानमिति **पर्यायस्तदेवंशब्दवाच्यमज्ञानं** स्वप्नप्रबोधयोर्बीजं **स्वात्मबोधेन प्रकर्षेण दग्धं सदभावान्न[4] पुनः कामकर्मादिप्ररोहसमर्थं स्याद्दग्धबीजमिवेति वदन् सुषुप्ते अज्ञानसद्भावं, तस्यात्मज्ञाननिवर्त्यत्वञ्च दर्शयतीत्यर्थः**।।४३।।

उपसंहरति–एवमिति। गौडैः **गौडपादाचार्यैः[5] द्राविडैर्भगवत्पादाचार्यैः।**

की अपेक्षा चौथे शान्त शिवस्वरूप में स्थित होता है।।४२।। (गौ.का. १.१५)। 'तयोः विपर्यासे क्षीणे' का अर्थ है उन दोनों अवस्थाओं में जो अग्रह-अन्यथाग्रहरूप विपर्यास होता है उसके निवृत्त हो जाने पर। जागरित को स्वप्न से गतार्थ समझना चाहिये क्योंकि अग्रहणपूर्वक अन्यथा ग्रहण दोनों में समान है। यद्वा 'तयोः' का अर्थ है तैजस और प्राज्ञ को होने वाला। यहाँ भी तैजस से विश्व गतार्थ है। किन्तु द्विवचन से उनका भेद विवक्षित नहीं।

इसी प्रकार का विचार आचार्य भगवत्पाद ने साहस्री में प्रकट किया है—**सुषुप्त, तम आदि नामों वाला अज्ञान स्वप्न और जाग्रत् का बीज है। वह आत्मज्ञान से सर्वथा जल जाता है और वैसे ही काम, कर्म आदि को उत्पन्न नहीं करता जैसे जला बीज वृक्ष को उत्पन्न नहीं करता**।।४३।। (उप.सा. १७.२३)

इस प्रकार हमारे पूज्य गौडपादाचार्य तथा द्रविडकुलावतंस भगवान्

---

१. अत्रापि चंद्रिकायाम् 'केवलाग्रहणलक्षणे' इत्यधिकम्।
२. तत्त्वप्रतिबोधत इति चन्द्रिकायाम्।
३. चतुर्थम्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपः अवस्थात्रयविरहित आत्मेत्यभिप्रायः।
४. 'सद् अभवं न पुनः' इत्यादि स्यात्, मूलस्थस्य अभवमिति पदस्य प्रतीकत्वात्।
५. 'सारस्वताः कान्यकुब्जा गौडा उत्कलमैथिलाः। गौडाः पंच समाख्याता विन्ध्यस्योत्तरवासिनः।।' इति स्कन्दपुराणे पंच गौडाः। शक्तिसंगमतन्त्रे 'बंगदेशं समारभ्य

तत्रान्यथाग्रहणवदन्यथाग्रहणबीजमग्रहणमनात्मधर्म एवेत्याह–

इदं ज्ञानमहं ज्ञाता ज्ञेयमेतदिति त्रयम्।
योऽविकारो विजानाति परागेवास्य तत्तमः ॥४५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

पञ्चद्रविडा[1] इति केरलानामपि द्रविडत्वप्रसिद्धेः। कोऽसावर्थो भाषित इति आह–अज्ञानेति। ईश्वरः परमात्मैव अज्ञानमात्रोपाधिरहङ्कारादीनां साक्षितया जीवत्वेनावस्थित इत्यस्मदुक्तं तेषामप्यभिमतम् इत्यर्थः।।४४।।

ननु 'तम आसीत्' 'आसीदासीदिदन्तमो भूतमि'ति[2] श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धस्य जगद्बीजस्याज्ञानस्य परमेश्वरशक्तितया तदभेदात्, कथम् तस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वम्? इत्यत आह–तत्रेति। परागिति[3] आत्मस्वरूपं धर्मश्च न भवति, जडत्वाद् दृश्यत्वाच्च। आत्मशक्तित्वव्यपदेशश्चास्य सत्ताप्रतीत्योस्तत्परतन्त्रत्वादेवेति[4] भावः।।४५।।

भाष्यकार ने यही स्पष्ट किया है कि परमात्मा ही केवल अज्ञानोपाधि के कारण अहंकारादि के साक्षी रूप से अवस्थित है।।४४।।

यह निश्चित हो जाने पर कि विक्षेपग्रहण आत्मधर्म नहीं है, अब यह कहते हैं कि विक्षेपग्रहण की तरह विक्षेपग्रहण का कारणीभूत अग्रहण भी अनात्मा का ही धर्म है—**जो बिना विकृत हुए ही यह जानता है कि यह ज्ञान है, मैं ज्ञाता हूँ, यह ज्ञेय है, उस आत्मा के स्वरूप से बहिर्भूत ही अज्ञान है।**।४५।। 'मैं ज्ञाता हूँ' का तात्पर्य समझना चाहिये प्रमाता से। इस प्रकार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय व प्रमा के अवभासक साक्षीरूप आत्मा के स्वरूप से अज्ञान को बहिर्भूत बताया है। सत्यादि

भुवनेशान्तगं शिवे। गौडदेशः समाख्यातः सर्वविद्याविशारदः।।' इत्युक्तत्वाद् गौडपादाचार्या बंगीया इति केषां चिन्मतम्।

१. कर्णाटाश्चैव तैलंगा गुर्जरा राष्ट्रवासिनः। आन्ध्राश्च द्राविडाः पञ्च विन्ध्यदक्षिणवासिनः।।' इति स्कन्दपुराणे। चन्द्रिकायां 'केवलानामपि' इति लेखकप्रमादाद् लिखितम् इति भाति, केरलानामपीति तत्राऽपि स्यात्।

२. एकमासीत् पदं माभूदत्र। ३. अत्र 'तमः' इत्याधिकं भवेत्।

४. ईश्वरपरतन्त्रत्वात्। जगद्बीजमज्ञानं परमेश्वरस्याभिन्नशक्तिरूपेण श्रुतावभिहितत्वात् अज्ञानस्यापि नित्यत्वापत्तिः इति चेन्न, सत्ताविषये प्रतीतिविषये च परमेश्वराधीनत्वात् एतावन्मात्रादेव 'परमेश्वरस्य शक्तिः' इति निर्दिष्टं भवति।

यत एतदेवमतस्तस्यैव बीजात्मनस्तमसश्चित्तधर्मविशिष्टस्य[1] स्वकार्यद्वितीयाभिसंबन्धो, न त्वविकारिण आत्मन इत्याह दृष्टान्तेन–

रूपप्रकाशयोर्यद्वत् सङ्गतिर्विक्रियावतः[2]।
सुखदुःखादिसंबन्धश्चित्तस्यैवं विकारिणः ॥४६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सुखदुःखादिसम्बन्धवदज्ञानसम्बन्धोऽप्यात्मनः किं न स्यादित्याशङ्क्य; सुखादिसम्बन्धस्यापि अज्ञानजनितचित्ताख्यधर्मोपाधिद्वारत्वात्, स्वभावतोऽभावान्नैवमिति दृष्टान्तेन दर्शयति–यत एतदेवमित्यादिना।।४६।।

की तरह अविद्या स्वरूप नहीं, आविद्यिक ही है, स्वाभाविक तो उसे कारणरहित होने से कहते हैं यह भाव है। अग्रहण को अनात्मधर्म बताने का प्रयोजन यह स्पष्ट करना है कि यद्यपि प्रसिद्ध है कि अविद्या पारमेश्वरी शक्ति है तथापि वह परमेश्वर-स्वरूप नहीं अतएव निवर्त्य है। शक्ति वह परमेश्वर की इसलिये कही जाती है क्योंकि वह अपनी सत्ता व प्रतीति में परमेश्वर के परतन्त्र है। कल्पित होने से उसकी सत्ता परमात्मसत्तातिरिक्त नहीं और जड होने से वह स्वप्रकाश नहीं अतः परप्रतीतिसापेक्ष है। एवं च अज्ञान की आज्ञानिकता बताना आवश्यक है, केवल अनात्मधर्मता बताना पर्याप्त नहीं अतएव नवीनों के आक्षेप निरस्त हो जाते हैं। स्मरण रखना चाहिये कि अज्ञान का आश्रयविषय आत्मा ही है इसमें सन्देह नहीं। यहाँ इतना ही विवक्षित है कि अज्ञान की अश्रयविषयता भी अज्ञानभूमि में है।

क्योंकि आत्मा किसी भी परिवर्तन को प्राप्त हुए विना ही जानता है इसलिये चित्तनामक स्वपरिणामविशिष्ट जगद्बीजभूत अज्ञान का ही स्वकार्यभूत द्वैतप्रपञ्च से सम्बन्ध है, अविकारी आत्मा का नहीं। तात्पर्य इतना ही है कि हमें अपने में ही द्वितीयादि-सम्बन्ध का अनुभव है अतः जो हमारा चिदचिद्ग्रन्थिरूप है उसी को द्वैतसम्बन्धी मानना चाहिये; उसमें भी प्राप्ताप्राप्तविवेक से अचिदज्ञानकृत ही सर्वसम्बन्ध जानने चाहिये। इस विषय को दृष्टान्त द्वारा श्लोक से समझाते हैं—**जिस प्रकार**

---

१. चित्तधर्मविशिष्टस्य—'अहमादिरूपान्तःकरणवृत्तिपरिणामविशिष्टस्य चिदाभासविशिष्टाहंकारात्मकपरिणामिन इति यावत्' (सारार्थः)।

२. विक्रियावतोः इति मातृकापंचकपाठः।

तदेतदन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयिष्यन्नाह–

सम्प्रसादेऽविकारित्वादस्तं याते विकारिणि।
पश्यतो नात्मनः किञ्चिद् द्वितीयं स्पृशतेऽण्वपि[1] ॥४७॥
सोऽयं कूटस्थज्ञानमूर्तिरात्मा–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सति चित्ते सुखादिसम्बन्धो नाऽसति इत्युक्तमर्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयितुमुत्तरश्लोक इत्याह–तदेतदिति। सम्प्रसादे **सुषुप्तिसमये** विकारिणि **चित्तेऽस्तं** याते **सति कूटस्थदृष्टित्वा**दात्मनः पश्यतो**ऽपि** नाण्वपि द्वितीयं स्पृश्यते **नात्मना सम्बध्यत इत्यर्थः।।४७।।**

सम्प्रसाद इति विशेषणादितरावस्थयोर्द्वितीयसंस्पर्शोऽभिमतइत्याशङ्क्य; तयोरप्यवस्थयोः परमार्थतो द्वितीयसंस्पर्शाभावं दर्शयति–

विक्रिया वाले रूप और प्रकाश का सम्बन्ध होता है उसी प्रकार सुख दुःखादि का सम्बन्ध भी विक्रिया वाले चित्त से ही होता है।।४६।। अर्थात् सभी सम्बन्ध सविकार वस्तुओं में ही संभव हैं, उदाहरणार्थ रूप और प्रकाश के सम्बन्ध को जानना चाहिये। प्रकाश उत्पत्ति, बुद्धि आदि विकारों वाला है ही। 'विक्रियावतोः' पाठ उचित प्रतीत होता है। 'विक्रियावतः' ही यदि पाठ हो तो अर्थ है कि जैसे रूप और प्रकाश का सम्बन्ध विकारी आँख से होता है वैसे विकारी चित्त से ही सुखादि-सम्बन्ध है। चित्तादि पद इस प्रसंग में केवल जड चित्तपरक न होकर चेतनाधिष्ठित चित्तपरक हैं।

इस बात को अन्वयव्यतिरेक द्वारा दिखाते हुए कहते हैं—**सुषुप्ति अवस्था में विकारी चित्त के लीन हो जाने पर अविकार दृग्रूप होने के कारण आत्मा विद्यमान रहने पर भी किसी द्वितीय वस्तु का उससे थोड़ा भी संबंध नहीं रहता।**।४७।। जब तक चित्त है तब तक द्वितीय सम्बन्ध है, जब चित्त नहीं तब द्वैतसम्बन्ध भी नहीं, यह अन्वयव्यतिरेक है। जो तो सुषुप्ति में अविद्यासम्बन्ध रहता है वह भी इसलिये कि लीनरूप से तब चित्त भी रहता है। अतएव चित्त की आत्यन्तिक निवृत्ति को भी मोक्ष कह देना उचित है। 'स्पृशते' का तात्पर्य 'स्पृशति' से समझना चाहिये।

---

१. स्पृश्यतेऽण्वपि—इति टीकाकृतां पाठः।

यथा प्राज्ञे तथैवायं स्वप्नजागरितान्तयोः।
पश्यन्नप्यविकारित्वाद् द्वितीयं नैव पश्यति ॥४८॥
एवं ज्ञानवतो नास्ति ममाहंमतिसंश्रयः।
भास्वत्प्रदीपहस्तस्य ह्यन्धकार इवाग्रतः ॥४९॥
तत्र दृष्टान्तः–
आ प्रबोधाद्यथाऽसिद्धिर्द्वैतादन्यस्य वस्तुनः।
बोधादेवमसिद्धत्वं बुद्ध्यादेः प्रत्यगात्मनः ॥५०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सोऽयमित्यादिना।।४८।।

अवस्थात्रयेऽपि कूटस्थ आत्मेति विदुषां फलमाह–एवमिति। ममाहमिति **यदिदं ज्ञानद्वयमन्तःकरणाश्रयं तदेवंविदो नास्तीत्यर्थः।।४९।।**

बाधकाद्वैतबोधोदयपर्यन्तं यथा द्वैतस्य सिद्धिरेवं बाधकबोधोदयादूर्ध्वं तस्यासिद्धिर्युक्तैवेत्यर्थः।।५०।।

पूर्वोक्त निर्लेप आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है। **जिस प्रकार सुषुप्तिकाल में ज्ञानरूप में विद्यमान होते हुए भी निर्विकार होने से यह द्वैतप्रपंच का दर्शन नहीं करता उसी प्रकार स्वप्न और जागरित रूपों में भी यह द्वैतसम्बन्ध वाला नहीं होता।**।४८।। द्वैतसम्बन्ध तो द्वैतान्तःपाती चित्त का ही है। 'स्वप्नजागरितान्तयोः' में अन्त-शब्द का स्वरूप अर्थ है—'अन्तोऽस्त्र्यवसिते मृत्यौ स्वरूपे निश्चयेऽन्तिके' (वैजयन्ती ६.५.५)।

इस प्रकार जो जान लेता है कि आत्मा सब सम्बन्धों से वर्जित है उसे 'मैं' और 'मेरा' ये मिथ्या निश्चय वैसे ही नहीं होते जैसे जिसके हाथ में जलता हुआ दीपक है उसके सामने अँधेरा नहीं रहता।।४९।। 'मैं'—'मेरा' से ही समस्त कष्ट हैं अतः इनकी निवृत्ति महत्फल है।

इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—**द्वैत से भिन्न अद्वैत वस्तु जैसे बोधोत्पत्ति के पूर्व तक असिद्ध है, वैसे बोधोद्भव के बाद प्रत्यगात्मा से बुद्धि आदि का सम्बन्ध असिद्ध हो जाता है।**।५०।। 'यथा असिद्धिः' छेद जानना चाहिये। 'यथा सिद्धि', छेद मानने पर अर्थ है—द्वैत से अन्य वस्तुओं के विषय में जब तक बोध रहता है तब तक द्वैत की सिद्धि रहती है वैसे द्वैत की वास्तविकता—मिथ्याता—का बोध हो जाने पर

स एष विद्वान् हानोपादानशून्यम् आत्मानम् आत्मनि[1] पश्यन्-
सर्वमेवानुजानाति सर्वमेव निषेधति।
भेदात्मलाभोऽनुज्ञा स्यान्निषेधोऽतत्स्वभावतः ॥५१॥
सर्वस्योक्तत्वादुपसंहारः-
परमार्थात्मनिष्ठं यत् सर्ववेदान्तनिश्चितम्।
तमोऽपनुद्धियां[2] ज्ञानं तदेतत् कथितं मया ॥५२॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विदुषोऽनुभवप्रकारमिदानीं दर्शयति–स एष इति। **कथमेतद्विरुद्धमभिधीयत इति? आह**–भेदेति। **व्यवहारदृष्ट्या द्वैतप्रपञ्चस्य स्वरूपलाभोऽनुज्ञा, तत्त्वदृष्ट्या तदभावो** निषेध **इत्यर्थः।।५१।।**

इदानीं प्रकरणमुपसंहरति–सर्वस्येति। सर्ववेदान्तनिश्चितं **ध्वान्तान्धकारनिवर्तकं** यज्ज्ञानं **परमार्थवस्तुविषयं तदेवं[3] निरवशेषेणास्मिन्प्रकरणे[4]** मया कथितं, **नातः परं ज्ञातव्यमवशिष्यत इत्यर्थः।।५२।।**

उसकी असिद्धि हो जाती है। अर्थात् व्यतिरेकी दृष्टान्त है। तात्पर्य है कि जैसे द्वैतनिश्चय दृढ है वैसे द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय का दार्ढ्य होता है[5]।

पूर्वोक्त निश्चय वाला आत्मज्ञ ग्रहण, त्याग आदि व्यवहारों से रहित अपने स्वरूप को जानते हुए—**सभी का अनुमोदन कर देता है और सभी का निषेध कर देता है। व्यावहारिक दृष्टि से भेदात्मक प्रपञ्च की उपलब्धि ही अनुमोदन और वास्तविक दृष्टि से भेदाभाव का निश्चय निषेध है। अतः दोनों अविरुद्ध हैं**॥५१॥ 'अतत्स्वभावतः' में तत्पद भेदपरामर्शक है। एवञ्च अभेदस्वभाव से अर्थात् वास्तविक स्वभाव से-पारमार्थिकत्वेन-निषेध है।

इस प्रकार सभी विषय बता दिया गया अतः प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं—**सब वेदान्तों में प्रसिद्ध और परमार्थवस्तुविषयक जो बुद्धिप्रधान जीवों के**

---

१. आत्मनि—शुद्धान्तःकरणे।
२. 'तमोऽपनुद्धि यज्ज्ञानम्' इति पाठान्तरं टीकानुसारि च।
३. तदेतद् इत्यत्र तदेवम् इत्येषां पाठः। ४. प्रकरणग्रन्थे।
५. शास्त्राद् ब्रह्मास्मि नान्योहं इति बुद्धिर्दृढा भवेत्। यदा मुक्ता तदैवं धीर्यथा देहात्मधीरिति'॥ उप.सा. १८-२२७।

एतावदिहोक्तम्-
नेहात्मविन्मदन्योऽस्ति न मत्तोऽज्ञोऽस्ति कश्चन।
इत्यजानन्विजानाति यस्स ब्रह्मविदुत्तमः ॥५३॥
एवमात्मानं ज्ञात्वा किं प्रवर्तितव्यमुत निवर्तितव्यमाहोस्विन्मुक्तप्रग्रहतेति? उच्यते-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सांख्यादिवद् नानात्मवादशङ्कानिरासार्थं पुनरपि सङ्गृह्योक्तमर्थं दर्शयति–एतावदिति। **'विजानाती'त्युक्ते ज्ञानपरिणामित्वं प्राप्तमिति, अत आह**–अजानन्निति। **अपरिणामिना कूटस्थचैतन्येनेत्यमनुभवतीत्यर्थः। अयम्भावः-सोपाधिकचैतन्यानाम् उपाधिप्रधानत्वाद् उपाधिभेदवदेव परिकल्पिततया ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वायोगादपास्तसमस्तोपाधेरद्वैतचैतन्यस्यैव मम तदाश्रयत्वमिति।।५३।।**

एवन्तत्त्वविचारं परिसमाप्य तत्त्वविदश्चर्यामिदानीं निरूपयति–एवमित्यादिना। **किं ब्रह्मविदा वर्णाश्रमधर्मेषु प्रवर्तितव्यमुत तेभ्यो निवर्तितव्यमथवा स्वच्छन्दं वर्तितव्यमिति शङ्कायां, ज्ञानस्य ज्ञेयानुसारित्वात्, ज्ञेयस्य च प्रवृत्तिनिवृत्तिशून्यस्वभावत्वात् तद्रूपेण तद्विदोऽवस्थानं, न तु प्रवृत्तिनिवृत्यादिसम्बन्ध इति परिहारमाह**–उच्यत **इति।।५४।।**

अज्ञान का नाशक[1] ज्ञान है, वही यह बहुमूल्य ज्ञान मेरे द्वारा बताया गया॥५२॥

यहाँ इतना कहा गया–'मुझसे भिन्न न कोई आत्मवेत्ता है और न ही मुझसे भिन्न अज्ञानी है'–यह जो न जानते हुए जानता है वह उत्तम ब्रह्मज्ञानी है॥५३॥ 'न जानते हुए' का तात्पर्य है कि वह क्योंकि अपने अद्वितीय स्वरूपज्ञान में स्थित रहता है अतः एतादृश वृत्ति बनाकर इस बात को जानता हो, यह बात नहीं; स्वरूपतः ही उसे अपनी अद्वितीयताका भान रहता है।

इस प्रकार आत्मा को जानकर क्या प्रवृत्ति करनी चाहिये, या निवृत्ति करनी चाहिये, या सर्वथा स्वतंत्र हो जाना चाहिये? श्लोक द्वारा उत्तर देते हैं—**यह ज्ञान ज्ञेय अद्वैत चैतन्य से अभिन्न होने के कारण उसके अनुरूप है अतः क्योंकि ज्ञेय**

---

१. 'बुद्धिप्रधानानां जीवानामन्तःकरणाद्यवच्छेदेन यत्तमस्तदपनुदि'ति सारार्थाभिधटीकायाम्।

[1]ज्ञेयाभिन्नमिदं यस्माज्ज्ञेयवस्त्वनुसार्यतः ।
न प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कटाक्षेणापि वीक्षते ॥५४॥

कुत एतज्ज्ञेयाभिन्नमिति? यतः–

प्रागात्मबोधाद्[2] बोधोऽयं बाह्यवस्तूपसर्जनः ।
प्रध्वस्ताखिलसंसार आत्मैकालम्बनः श्रुतेः ॥५५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

श्रुतेरपि; 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येद्यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येदि'त्यविद्यावस्थायां भेदविषयत्वं विज्ञानस्य विद्योदये त्वात्मैकत्वमात्रपर्यवसानमिति श्रूयत इत्यर्थः ।।५५।।

ननु विदुषः प्रवृत्तिधर्माणामभावेऽप्यमानित्वादयो[3] निवृत्तिधर्मा

आत्मा प्रवृत्ति-निवृत्ति-शून्य-स्वभाव है इसलिये इस ज्ञान वाला भी प्रवृत्ति निवृत्ति की ओर कोई दृष्टि नहीं डालता॥५४॥

यह ज्ञान ज्ञेय से अभिन्न कैसे? उत्तर है कि—**यद्यपि आत्मबोध के पूर्व यही ज्ञान बाह्य वस्तुओं से विशेषित प्रतीत होता है तथापि अखिल संसार का बाध हो जाने पर यह केवळ आत्मरूप रह जाता है, क्योंकि श्रुति से यह निश्चित है, अतः यह ज्ञान ज्ञेय से अभिन्न है**॥५५॥ बृहदारण्यक ४.५.१५ के संदर्भ का उल्लेख है। अलातशांतिप्रकरण के प्रारम्भ में गौडपादाचार्य ने भी ज्ञान को ज्ञेयाभिन्न बताया है।

इस तरह जिसने पारमार्थिक आत्मतत्त्व को जान लिया वह न स्वयं किसी अन्य

---

१. ज्ञेयाभिन्नमित्यादिना श्लोकचतुष्टयेन सद्योमुक्तिपक्षं निरूपयति।

२. आत्मबोधात्प्रागयं बोधश्चक्षुरादिसंनिकर्षप्रयुक्तत्वात् तत एव सविकल्पकत्वाद् बाह्यवस्तूपसर्जन एव विशिष्टावगाह्येव।...संसारस्य सकार्याज्ञानस्य विद्योदयेन ध्वंसे सति...आत्मैकालम्बन-मात्मव्यक्तिमात्रावगाहं निर्विकल्पकम्'। (सारार्थः)

अमानित्वादि—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥ इत्यादि।
(श्रीमद्भगवद्गीता अ. १३)

एवमवगतपरमार्थतत्त्वस्य न शेषशेषिभावस्तत्कारणस्योत्सारित-त्वादित्याह–

वास्तवेनैव वृत्तेन निरुणद्धि यतो भवम् ।
निवृत्तिमपि मृद्नाति सम्यग्बोधः प्रवृत्तिवत् ॥५६॥
सकृदात्मप्रसूत्यैव निरुणद्ध्यखिलं भवम् ।
ध्वान्तमात्रनिरासेन न ततोऽन्यान्यथामतिः ॥५७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विद्यन्तेऽतस्तद्विधिशेष एवायं विद्वानपीत्याशङ्क्याह–एवमित्यादिना। यतस्सम्यग्बोधः प्रवृत्तिनिवृत्तिशून्यात्मवस्तुवृत्तानुरोधेन संसारं निवर्तयति अतो वैधप्रवृत्तिवद्वैधनिवृत्तिमपि निवर्तयतीत्यर्थः ।।५६।।

यदि सम्यग्बोधस्स्वोत्पत्तिमात्रेणैव संसारनिवर्त्तकस्स्यात्, स्यात्तदेवं, न त्वेतदस्ति, तस्यानादिकालप्रवृत्तमिथ्याज्ञानतत्संस्कारनिवारणायाभ्यासापेक्षत्वात्तदवसरे च निवृत्तिविधीनामपि सावकाशत्वादित्यत आह–सकृदिति। सम्यग्बोधस्य स्वोदयमात्रेणाविद्यानिवर्त्तकताया अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्तस्याश्च निवृत्तायास्तदुपादानमिथ्याज्ञानतत्संस्काराणां कारणनिवृत्यैव निवृत्तेर्नाभ्यासादि-सम्भव इत्यर्थः ।।५७।।

ननु कथं सकृदेव सकलाज्ञाननिवर्तकं ज्ञानमुदीयाद्यावता लोके प्रमाणज्ञानानां स्वदेशकालोपाधावेव स्वविषयाज्ञाननिवर्तकत्वं, न तु

के लिये अपने को मानता है और न ही किसी अन्य को अपने लिये समझता है क्योंकि समझने का कारण जो अज्ञान वह निवृत्त हो चुकता है। इसे कहते हैं—**सम्यग्बोध वास्तविकता के अनुरोध से क्योंकि सारे संसार का निवर्तक होता है अतः प्रवृत्ति के समान निवृत्ति का भी उपमर्दन कर देता है**॥५६॥ अपने लिये न कुछ विहित और न कुछ निषिद्ध समझने के कारण विद्वान् की प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होती।

एक ही बार स्वयं उत्पन्न होने से ब्रह्मज्ञान अज्ञानमात्र का निरास करने के कारण समस्त संसार की निवृत्ति कर देता है। अज्ञान से स्वतन्त्र कोई मिथ्याज्ञानादि नहीं जो बचे रह जायें, अतः वे भी अज्ञाननाश से ही नष्ट हो जाते हैं॥५७॥

देशकालाद्यसंबन्धाद्देशादेर्मोहकार्यतः ।
नानुत्पन्नमदग्धं वा ज्ञानमज्ञानमस्त्यतः ॥५८॥
सम्यग्ज्ञानशिखिप्लुष्टमोहतत्कार्यरूपिणः ।
सकृन्निवृत्तेर्बाध्यस्य किं कार्यमवशिष्यते ॥५९॥

वास्तवेनैव वृत्तेनाविद्यायाः प्रध्वस्तत्वात् न किञ्चिदवशिष्यत इत्युक्तः परिहारः। अथापरस्साम्प्रदायिकः–

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

सकलाज्ञाननिरासकत्वं दृश्यत इत्याशङ्क्याह–देशकालेति। **घटादीनां देशकालावस्थादिपरिच्छिन्नत्वाज्जडत्वाच्च तद्विषयज्ञानानां देशकालाद्यपेक्षया तत्तदज्ञाननिवर्तकत्वेऽप्यात्मनोऽविद्याकार्यदेशकालादिभिरस्पृष्टत्वात् स्वयं-प्रभत्वाच्च न तत्रानिवर्त्याज्ञानान्तरम्[1] अस्तीति तन्निवर्तकं ज्ञानान्तरमपि नापेक्षत इत्यर्थः।।५८।।**

तस्मात् सम्यक् ज्ञानोत्पत्तौ सकृदेव सकलाज्ञाननिवृत्तेर्न शेषशेषिभाव इति युक्तमेवोक्तमित्युपसंहरति–सम्यगिति।।५९।।

एवं सद्योमुक्तिपक्षमङ्गीकृत्य शेषशेषिभावः परिहृतः। अधुना जीवन्मुक्तिपक्षेऽपि न शेषशेषिभाव इत्युत्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमाह–वास्तवेनै-वेत्यादि**ना। सम्यग्बोधात् बोधितसर्पभ्रमस्य**[2] **पुंसो भयकम्पादिकं यथा**

यद्यपि घटादिज्ञान स्थल में एक देश-काल में ही अज्ञान नष्ट होता है, समस्त अज्ञान नहीं तथापि—**क्योंकि देशकालादि मोह के कार्य हैं इसलिए आत्मा का उनसे सम्बन्ध नहीं, अत एव आत्मज्ञान होने पर कोई अनष्ट अज्ञान तथा उसके नाश के लिये आवश्यक किन्तु अनुत्पन्न ज्ञान बचता ही नहीं जिससे कि सकल अज्ञान की निवृत्ति सकृत् ज्ञान से ही हो जाती है।।५८।।**

आत्मा के सम्यक् ज्ञानरूप अग्नि से मोह और उसका कार्य जल जाता है, इस प्रकार सविलास अविद्या-निवृत्ति से उपलक्षित मुक्त आत्मा का स्वरूप है। तादृश मुक्त के लिये कोई कार्य बच नहीं जाता क्योंकि जो कुछ भी बाधयोग्य था वह एक बार के सम्यग्ज्ञान से ही बाधित हो चुकता है।।५९।।

यह बताया कि वास्तविकता के अनुरोध से अविद्या कार्यसहित नष्ट हो जाती है

१. निवर्त्याज्ञानान्तरमिति पठनीयम्। २. बाधितसर्पभ्रमस्येति पठितुमुचितम्।

निवृत्तसर्पःसर्पोत्थं यथा कम्पं न मुञ्चति।
विध्वस्ताखिलमोहोऽपि मोहकार्यं तथात्मवित्[1] **॥६०॥**
यतः प्रवृत्तिबीजमुच्छिन्नं, तस्मात्–
तरोरुत्खातमूलस्य शोषेणैव यथा क्षयः।
तथा बुद्धात्मतत्त्वस्य निवृत्त्यैव तनुक्षयः ॥६१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

कञ्चित्कालमनुवर्तते, तथा विदुषो बाधितोऽपि संसारः प्रारब्धकर्म-फलोपभोगपर्यन्तमनुवर्तत इत्यर्थः।।६०।।

भवत्वेवं, तथापि कथं शेषशेषिभावासम्भव इति? अत आह–यत **इति।** प्रवृत्तिबीजं **विविधवैधप्रवृत्तीनां बीजमविद्याकामादि यतः सम्यग्दर्शनादुच्छिन्नमिति यतस्ततो न शेषशेषिभावः। तेन** निवृत्त्या **प्रारब्धकर्मणो भोगेन निवृत्त्या प्रातिभासिकस्यापि शरीरादेर्निवृत्तिरिति भावः।।६१।।**

जिससे आत्मातिरिक्त कुछ भी अवशिष्ट न रह जाने के कारण मुक्त की प्रवृत्ति या निवृत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है। अब सम्प्रदायसिद्ध दूसरा मत बताते हैं—**जैसे जिसने साँप का बाध कर भी लिया वह कम्पन आदि तुरन्त नहीं छोड़ पाता वैसे ही जिस आत्मज्ञानी ने समस्त अज्ञान का बाध कर भी लिया वह प्रारब्धशेष पर्यन्त विक्षेप का अनुभव कर लेता है।।६०।।** सोपाधिक भ्रमस्थल में आवरणनाश हो चुकने पर भी विक्षेप की अनुवृत्ति अनुभवसिद्ध है। प्रकृत में भी प्रारब्ध उपाधि है जिससे कि आवरणनाश हो चुकने पर भी विक्षेप का रह जाना हानिकारक नहीं।

क्योंकि ज्ञानी के प्रवृत्तिबीज अविद्या, काम आदि नष्ट हो चुके हैं इसलिये **जिस प्रकार जिस वृक्ष की जड़ खोखली हो चुकी हो वह सूख कर ही नष्ट हो जाता है, उसे पुष्ट करने के लिये किसी अन्य व्यापार की अपेक्षा नहीं; उसी प्रकार जिसने आत्मा की वास्तविकता को जान लिया उसका शरीरनाश प्रारब्धभोग की निवृत्ति से ही हो जाता है।।६१।।** अन्यत्र भी कहा है—'शास्त्रेण नश्येत् परमार्थरूपं कार्यक्षमं नश्यति चापरोक्षात्। प्रारब्धनाशात् प्रतिभासनाशः एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया'।। आचार्य ने स्वयं पंचीकरण वार्तिक में बताया है—'किन्तु पश्यति मिथ्यैव दिङ्मोहेन्दुविभागवत्। प्रतिभासः शरीरस्य तदाऽऽप्रारब्धसंक्षयात्'। (५८)। 'तस्य

१. निवृत्तसर्प इति श्लोकद्वयेन जीवन्मुक्तिपक्षं प्रस्तौति।

अथालेपकपक्षनिरासार्थमाह–

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ।।६२।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विदुषः परिदृश्यमानानां प्रवृत्तीनां विधिनिबन्धनत्वाभावे रागद्वेषादि-निबन्धनत्वं प्राप्तमित्याशङ्क्याह–अथेत्यादिना। तत्त्वदृशां संस्कारवशान्मनुष्य-त्वादिजात्युचितैव प्रवृत्तिः, न तिर्यग्जात्युचितेति यथा त्वयेष्यते, एवं प्रातिभासिकवर्णाश्रमोचितैव प्रवृत्तिस्तत्संस्कारवशात् भवति, नेतरेत्यभ्युपेय-मित्यर्थः।।६२।।

तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' (छा. ६.१४.२) आदि श्रुति, स्थितप्रज्ञादि स्मृति तथा 'भोगेनत्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते' (ब्र.सू. ४.१.१९) आदि सूत्र इस विषय में प्रमाण हैं। अतः सर्वज्ञगुरु ने भी कहा है—'जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीतेः, द्वैतच्छाया तत्र चास्ति प्रतीतेः। द्वैतच्छायारक्षणायास्ति लेशः तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम्'।।४.४३।। जो तो कुछ आधुनिक यहाँ पूर्वश्लोकों में (५४ से ५९ तक) सद्योमुक्ति तथा प्रकृत श्लोकों में (६० से) जीवन्मुक्ति का वर्णन करना गलत बताते हैं, वह ठीक नहीं। सद्योमुक्ति का केवल यही अर्थ नहीं कि ज्ञान होने पर मृत्यु हो जाये। यहाँ जो भेद किया है उसका तात्पर्य है कि मुक्त की दृष्टि से सद्योमुक्ति है वह अस्मदादि भ्रान्तों की दृष्टि से उसमें कल्पित जीवन्मुक्ति है। अतः अविरोध है।

मुक्त व्यक्ति से पुण्य-पाप का कोई सम्बन्ध नहीं रहता अतः वह अमर्यादित व्यवहार कर सकता है—इस 'अलेपक' पक्ष का निरास करने के लिये कहते हैं—**जिसने अद्वैत की वास्तविकता समझ ली वह यदि अमर्यादित व्यवहार ही करने लगे तब वह कुत्ते की तरह ही हो जायेगा क्योंकि अशुद्ध वस्तुओं को खाने लगे तो तत्त्ववेत्ता और कुत्तों में क्या अन्तर रहेगा।।६२।।** तात्पर्य है कि वादी भी मनुष्योचित व्यवहार मानना चाहता है, उसी में सभ्य मर्यादा का उल्लंघन उसे इष्ट है। अतः सिद्धांती कहता है कि जब प्रातिभासिक मनुष्यत्व निमित्तक व्यवहार मानना है तो प्रातिभासिक वर्णाश्रमोचित व्यवहार ने क्या दोष किया है जो उसे छोड़ा जाये। किं च मोह न रह जाने से यही उचित है कि वह यथाधर्म ही आचरण करे क्योंकि धर्म का अतिलंघन मोहवश ही होता है।

कस्मान्न भवति? यस्मात्–

अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः ।
धर्मकार्ये कथं तत् स्याद्यत्र धर्मोऽपि नेष्यते ।।६३।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वर्णाश्रमाभिमानस्यागन्तुकत्वात् स्वभावसिद्धत्वाच्च जात्यभिमानस्य मनुष्यत्वजातिमात्रोचितैव प्रवृत्तिस्तत्संस्कारवशात् किं न स्यादिति विशेषे हेतुर्वाच्य इत्याशङ्क्योत्तरश्लोकेन परिहरति–कस्मादित्यादिना[1]। जन्मान्तरा-नुष्ठिताधर्मवशादभक्ष्यभक्षणादावकर्तव्ये कर्तव्यताबुद्धिः ततश्च यथेष्टाचरणं, ज्ञानं पुनरत्यन्तोत्कृष्टस्य पुण्यस्य कार्यं, 'धर्मात्सत्त्वं[2] च ज्ञानं चे'त्यादिवचनात्; यस्मिंश्च ज्ञाने सति प्रवर्तककामादिदोषाणामत्यन्तमुच्छिन्नत्वाद्धर्मेऽपि प्रवृत्तिर्न भवति, सति तथाभूते ज्ञाने कथं यथेष्टाचरणम्! 'भावितैः करणैरेभिः बहुसंसारयोनिषु। आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे'। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति पराङ्गतिमि'ति च स्मरणाद् अतीतानेकजन्मस्वपि यथेष्टाचरणाभावेन तत्संस्कारस्याप्यभावान्न तद्वशादपि विदुषो यथेष्टाचरणमित्यर्थः।।६३।।

मुक्त पर जब कोई नियन्त्रण नहीं तब वह यथेष्ट आचरण क्यों नहीं करता? उत्तर है कि **क्योंकि पूर्वकृत अधर्म के कारण अज्ञान उपजता है और उससे गलत आचरण की प्रवृत्ति होती है। इसलिये धर्म के फलस्वरूप प्राप्त ज्ञान के होने पर प्रतिषिद्ध आचरण क्योंकर होगा जब विहित आचरण भी अनिष्ट होता है।।६३।।** जो करने को कहा जा रहा है वही जब मुक्त व्यक्ति करना नहीं चाहता, तब जो नहीं करने को कहा जा रहा उसे करेगा इसकी शंका तो निरी मूर्खता है। यहाँ अज्ञान पद का प्रयोग योगदर्शन में प्रसिद्ध अर्थ को लेकर समझना उपयोगी है। पतञ्जलि के अनुसार 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (साधन. ५)। अर्थात् अनित्य को नित्य समझ लेना, अशुद्ध को शुद्ध समझना, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा मान लेना अविद्या नामक क्लेश है। मोह अर्थात् अविवेक अज्ञानकार्य होने से अज्ञान कहा ही जा सकता है। जब पापप्रारब्ध उदित होता है तब

---

१. कस्मादिति पाठः मुद्रितपुस्तके दृश्यते। तस्मादिति तु पाठः हस्तलिखितपुस्तके दृश्यते।
२. सत्त्वमित्यत्र सुखमिति चन्द्रिकायाम्।

प्रत्याचक्षाण आहातो यथेष्टाचरणं हरिः।
'यस्य सर्वे समारम्भा' 'प्रकाशं चे'ति सर्वदृक् ॥६४॥
तिष्ठतु तावत् सर्वप्रवृत्तिबीजघस्मरं ज्ञानं, मुमुक्षवस्थायामपि न

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

विदुषो यथेष्टाचरणाभावे भगवद्वचनमपि प्रमाणमित्याह–प्रत्याचक्षाण **इति।।६४।।**

इदानीं किं पुनर्न्यायादपि विदुषो यथेष्टाचरणाभावमाह–तिष्ठत्वित्यादिना। **मुमुक्षुरपि यत्र न चेष्टते तत्र मुक्तो न चेष्टत इति किमु**

ऐसी विपरीत बुद्धि होती है, इस दृष्टि से कह दिया कि अधर्म से अज्ञान उपजता है। धर्म करने से मन:शुद्धि के अनन्तर ज्ञानोदय होता है, अत: कहा कि धर्म के फलस्वरूप ज्ञान प्राप्त होता है। धर्माधर्म का अतितरण उत्तरगीता में भी बताया है—'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज'।

सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यथेष्टचेष्टा का निषेध करते हुए कहा है–'जिसके सभी कर्म फलतृष्णा और कर्तृत्वाभिमान से रहित होते हैं, उसके सभी कर्म ज्ञानाग्नि से जल चुके होते हैं क्योंकि वह कर्मादि में अकर्मादि ही देखता है, और उसे ही जानकार लोग पण्डित कहते हैं' (४.१९); एवं 'जो सत्यादि गुणों के कार्यों के प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष या उनकी इच्छा नहीं करता वही गुणातीत है' (१४-२२)॥६४॥ इस प्रकार भगवान् ने जीवन्मुक्त के आचार को कहीं भी उच्छृङ्खल नहीं बताया, बल्कि यही कहा कि वह अपनी ओर से प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं करता। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा है कि ज्ञानी को भी वैसे ही कर्म करने चाहिये जैसे अज्ञानी करते हैं, केवल उन्हें आसक्तिशून्य होकर करना चाहिये—'कुर्याद्विद्वान्स्तथाऽसक्त:'। अज्ञानी आसक्ति और मोह से रहित होकर जब कुछ करता है तब पाप या अमर्यादित कर्म नहीं करता अत: ज्ञानी भी वैसा क्यों करेगा! पूर्वोक्त दोनों भगवद्वाक्यों से स्पष्ट किया कि ज्ञानी के यथेष्टाचरण का कोई प्रयोजक नहीं।

सभी प्रवृत्तियों के बीज अज्ञान के नाशक ज्ञान की बात छोड़ें, मुमुक्षु अवस्था में भी यथेष्ट चेष्टा सम्भव नहीं है अर्थात् जब ज्ञान की इच्छा होने पर ही

संभवति यथेष्टाचरणम्। तदाह–

यो हि यत्र विरक्तः स्यान्नासौ तस्मै प्रवर्तते।
लोकत्रयविरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते ॥६५॥

तत्र दृष्टान्तः–

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥६६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

वक्तव्यमित्यर्थः।।६५।।

किमु वक्तव्यं न्यायमेव दृष्टान्तेन स्फुटयति–तत्र दृष्टान्त **इत्यादिना। यथा लोके क्षुत्क्षामस्तन्निवृत्तिसाधने प्रयतमानोऽप्यतत्साधने, प्रत्युत प्रतिकूले विषदूषितान्ने न प्रवर्तते। तत्र मृष्टान्नेन ध्वस्ततृष्णस्तस्य विषदूषिततां जानन् विवेकी न तदत्तुमिच्छतीति किमु वक्तव्यं, तथा मुमुक्षुरप्राप्तपरमपुरुषार्थ-स्तत्साधने प्रयतमानोऽप्यनित्यत्वादिदोषदूषितैहिकामुष्मिकसुखेभ्यो विरक्त-स्तत्साधनेषु न प्रवर्तते। तत्र किमु वक्तव्यम् परब्रह्मानन्दानुभवपरितृप्तो विद्वान् बहुलायासपरिक्लिष्टेषु वैषयिकसुखलवेषु न प्रवर्तत इति भावः।।६६।।**

यथेष्टाचरण छूट जाता है तब ज्ञानप्राप्ति पर तो उसकी अवस्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसे भी भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—**जिस व्यक्ति का जिस विषय में वैराग्य होता है वह उसके लिये प्रवृत्त नहीं होता। मुमुक्षु का तीनों लोकों में वैराग्य है, वह क्योंकर कुछ चाहेगा, (और चाहकर कुछ करेगा)**॥६५॥ (उप.सा. १८.२३१)

इस विषय में उन्हीं ने उदाहरण भी दिया है—**भूख से तड़पता व्यक्ति भी जहर नहीं खाना चाहता तो जिसकी भूख मिठाई खाकर मिट गयी है वह यदि पागल नहीं है तो जहर खाना नहीं चाह सकता**॥६६॥ (उप.सा. १८.२३२)। अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति भी समझ लेता है कि यथेष्ट चेष्टा मन की गुलामी है और उससे बचता है तब जिसने परम स्वातन्त्र्य प्राप्त कर लिया वह यथेष्ट चेष्टा कैसे कर सकता है! यह शंका नहीं करनी चाहिये कि जब ज्ञानी विधि को लाँघ चुका तो निषेध को भी लाँघ ही चुका अत: उस पर यह बन्धन कैसे

यतोऽवगतपरमार्थतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं न मनागपि घटते, मुमुक्षुत्वेऽपि च, तस्मात्–

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाड्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः ॥६७॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यस्मात्सिद्धस्य साधकस्य च रागद्वेषनिबन्धने प्रवृत्तिनिवृत्ती सम्भवतस्तस्मात् प्रवृत्त्यादिना अनुमितो रागोऽविद्वत्ताया एव लिङ्गमित्युपसंहरति–यत **इत्यादिना**। चित्तव्यायामभूमिषु **चित्तस्य स्वारसिक-प्रवृत्त्यालम्बनेषु यो रागस्सोऽयमबोधस्य लिङ्गं। तत्र दृष्टांतः**–कुत **इति। यथा** यत्राग्निस्तत्र न शाड्वलता **तथा यत्र रागस्तत्र न बोध इत्यर्थः।।६७।।**

कि वह मर्यादित प्रवृत्ति ही करेगा; क्योंकि यहाँ यह विधान नहीं किया जा रहा कि वह मर्यादित ही रहे, प्रत्युत वास्तविकता का कथन मात्र है। जैसे अत्यन्त प्रौढ भाषाविद् जो प्रयोग कर देता है उसे शिष्ट प्रयोग मानकर साधुत्वेन स्वीकार कर लिया जाता है लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि वह विद्वान् धड़ाधड़ गलत प्रयोगों की लड़ी बाँध दे; वैसे ही आत्मज्ञानी विधि-निषेध से परे है यह बिलकुल सत्य है, पर इसका कदापि यह तात्पर्य नहीं कि वह अमर्यादित आचरण करे। और वह यदि अमर्यादित हो भी जाता है तब भी उसे कोई अन्तर नहीं पड़ता, यह 'लोम च नामीयते' (कौ. ३.१) आदि श्रुति से स्पष्ट है। अतः यहाँ यह आग्रह नहीं कि वह मर्यादित हो रहे किन्तु प्रष्टा जो उससे अमर्यादितता की ही आशा कर रहा है उसे यह समझाने में तात्पर्य है कि यदि आशा करनी ही है तो मर्यादा की आशा करनी चाहिये।

क्योंकि जिसमें मुमुक्षुता है और जिसने पारमार्थिक आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया, दोनों ही का यथेष्ट आचरण किंचित् भी युक्तिसंगत नहीं इसलिये समझ में आता है कि—**मन के व्यवहार करने पर उसमें होने वाला राग इस बात का सूचक है कि अभी अज्ञान है। जिस पेड़ के कोटर में आग धधकती हो उसमें हरियाली कहाँ! ऐसे ही जहाँ राग हो वहाँ ज्ञान कहाँ!**॥६७॥ 'शाड्वलता' की अपेक्षा 'शाद्वलता' पाठ हो जो अच्छा है। यह प्रश्न निरर्थक है कि राग मन में रहेगा और बोध

सकलपुरुषार्थसमाप्तिकारिणोऽस्यात्मावबोधस्य कुतः प्रसूतिरिति? उच्यते–

अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाद्वेष्ट्रादिसाधनः।
ज्ञानमुत्पद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः ॥६८॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं प्रसङ्गागतमनेकपक्षनिरासं परिसमाप्य सम्यग्दर्शनसाधनानि संकलय्य दर्शयति, पूर्वोदिततत्त्वंपदार्थविवेकमात्रस्यैव ज्ञानसाधनत्वमितिशङ्कां व्यावर्तयितुं सकलेत्यादिना। **'अमानित्वमदम्भित्वम्'**[1] **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'**[2] **इत्यादिना**

आत्मा को हुआ अतः दोनों में विरोध क्यों; कारण कि बोध होगा तो मन के द्वारा ही और नीराग मन ही बोध में उपयोगी है, अतः मन में राग रह जाये और वह बोध भी करा दे यह सम्भव नहीं जिससे कि विरोध सुस्थित है। जो तो ज्ञानियों में रागाद्याभास दीखता है वह अगत्या स्वीकार्य है। जब अविद्याभास (अविद्यालेश) स्वीकार लिया तब रागादि का आभास कौन बोझ है! पंचदशी में (७.१९१) भी यही व्यवस्था मानी है। कहीं ऐसा वर्णन मिलता है कि तात्कालिक रागाद्यभाव होने पर इतर सामग्री ज्ञान को उत्पन्न कर देती है, किन्तु वह अदृढ ज्ञान की उत्पत्ति के विषय में समझना चाहिये। दृढ ज्ञान तो तभी सम्भव है जब राग की पुष्कल निवृत्ति हो जाये। इस प्रकार प्रासंगिक अलेपकपक्ष का (श्लो. ६२ से) निरास किया।

समस्त पुमर्थों की प्राप्ति कराने वाला यह आत्मावबोध किन साधनों से होता है? बताते हैं—**जो साधक अमानित्वादि में स्थित होता है और अद्वेष्टृत्वादि साधनों से सम्पन्न होता है, उसे ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे नहीं**

---

१. अमानित्वादयः ग्रन्थेऽस्मिन् ४-५६ श्लोकव्याख्याटिप्पण्यां द्रष्टव्याः।

२. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥ इत्यादयः।
(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशाध्याये कथिताः)

जिसका चित्त बहिर्मुख है॥६८॥ अमानित्वादि का तात्पर्य गीता के प्रकृतिपुरुषविवेक अध्याय में बताये गुणों से है। वहाँ (१३.७-११) भगवान् ने ये ज्ञान-साधन गिनाये हैं—**अमानित्व**—विद्यमान या अविद्यमान गुणों से अपनी प्रशंसा न करना; **अदम्भित्व**—लाभ, पूजा आदि के लिये अपनी धार्मिकता को प्रकट न करना; **अहिंसा**—मन, वाणी व शरीर से प्राणियों को पीडित न करना; **क्षान्ति**—अपने प्रति किये अन्य के अपराध को सहन करना; **आर्जव**—कुटिल न होना, **आचार्योपासना**। ब्रह्मविद्याचार्य की शुश्रूषादि करना; **शौच**—मन व शरीर के रागादि व गन्दगी आदि दोषों को यथोचित उपायों से निवृत्त करना; **स्थैर्य**—विघ्नों का सामना करते हुए मोक्षमार्ग में बढ़ना; **आत्मविनिग्रह**—देहेन्द्रियादि को सन्मार्ग में प्रतिरुद्ध रखना; **इन्द्रियविषयों से वैराग्य**; मैं उत्कृष्ट हूँ ऐसा **अहंकार न रखना, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग व दुःखों की दोषरूपता का अनुशीलन करना, असक्ति**—'यह मेरा है' इतने मात्र से प्रेम न रखना, **अनभिष्वंग**—अपने प्रेमपात्र में 'यह मैं ही हूँ', उसके सुखी-दुःखी होने पर 'मैं ही सुखी-दुःखी हो गया' ऐसा भाव न रखना; इष्ट व अनिष्ट की प्राप्ति-निवृत्ति से **हर्ष-विषाद से रहित रहना, भगवान् में एकनिष्ठ भक्ति रखना, शुद्ध स्थान में रहना, विषयलम्पटता के उपदेष्टाओं के संग की अनिच्छा रखना, नित्यानित्यादि विवेक करते रहना और मोक्ष की सर्वोत्कृष्टता का निश्चय रखना।**

इसी तरह अद्वेष्टृत्वादि का तात्पर्य भक्तियोगाध्याय में बताये प्रिय भक्त के गुणों से है। वहाँ भगवान् ने अपने प्रिय भक्त के ये गुण बताये हैं (१२.१३-२०) किसी से भी द्वेष न करना; सभी से मित्रता रखना; अपनी ओर से किसी में भय उत्पन्न न होने देना; किसी को भी 'यह मेरा ही है' ऐसा न मानना; 'मैं उदार हूँ, तेजस्वी हूँ विद्वान् हूँ' आदि अहंकार न रखना; सुख-दुःख के प्रति राग-द्वेष वाला न होना; हारने पर भी व्याकुल न होना; सदा ही यदृच्छालाभ से सन्तोष करना; श्रवणादि में पूरा ध्यान देना; शरीर व इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में रखना; कुतार्किकों की बातों से अपनी अकर्ता आदि रूपता में संशय वाला न हो जाना; भगवान् के लिये ही मन बुद्धि को समर्पित कर देना—उन्हीं का विचार व निश्चय करना; परमेश्वर से अत्यन्त प्रेम करना; अपनी ओर से—अपने किसी व्यवहारादि से—किसी को कष्ट न होने देना; अन्यों के व्यवहारों से स्वयं विक्षिप्त न होना; हर्ष, असहिष्णुता, भय और व्याकुलता से दूर रहना; निःस्पृह होना; शरीर-मन की सफाई रखना; भगवद्भजन में आलसी न होना; पक्षपातरहित

उत्पन्ने आत्मविज्ञाने किमविद्याकार्यत्वात्प्रवृत्तिवत् निवृत्त्यात्म-

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

भगवद्गीतोक्तगुणगणवत एव ज्ञानोत्पत्तिर्न विषयाभिमुखचेतस इत्यर्थः॥६८॥

साधकस्यामानित्वादिकं ज्ञानसाधकमित्युक्तं तर्हि सिद्धस्य 'साध्याभावे महाबाहो साधनैः किं प्रयोजनमिति' न्यायेन तेषामविद्याकार्याणां विद्याविरोधाच्चासम्भवमाशङ्क्य; विधितस्तेषामनुष्ठेयत्वेनाप्राप्तावपि विद्याविषयपरमार्थात्मस्वभावाविरोधादयत्नसाध्याऽमानित्वादयो विदुषो लक्षणत्वेनानुवर्तन्ते इति–उत्पन्नेति॥६९॥

होना; अवश्यंभावी दुःखादि से विचलित न हो जाना; सर्वकर्मों का परित्याग कर देना; इष्ट प्राप्ति होने पर 'मैं धन्य हूँ' व अनिष्टप्राप्ति होने पर 'मैं नष्ट हो गया'—ऐसा न मानना; इष्टवियोग होने पर शोक न करना; आ पड़ा अनिष्ट छूट ही जाये ऐसी आकांक्षा न करना; अमुक वस्तु कालादि शुभ है, अमुक अशुभ है ऐसी भेदबुद्धि का परित्याग कर देना; शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में 'यह बना रहे, यह निवृत्त हो जाये' ऐसा आग्रह न रखना; जागतिक वस्तुओं को अच्छा न समझना—शोभनाध्यासरहित होना; लोग मेरी निन्दा न करें, या लोग मेरी प्रशंसा करें यह भाव न रखना; व्यर्थ बातों को बोलते न रहना; जिस किसी भी परिस्थिति, व्यक्ति आदि से संतोष कर लेना, उसे बदलने के लिए प्रयत्न न करने लग पड़ना; 'मुझे यहीं रहना है' ऐसा आग्रह न रखना; स्थितप्रज्ञ होना (२.५५ से ७२ तक बताये गुणों वाला होना); इन समग्र गुणों को अपने में लाने के लिये प्रयासशील रहना, एकाध से ही कृतकार्य न समझ लेना; श्रद्धालु होना और भगवान् की परमता में दृढ रहना। ये अद्वेष्टृत्वादि हैं। ये सब गुण साधनावस्था में प्रयत्नतः करने चाहिये, सिद्धावस्था में ये स्वाभाविक होते हैं। ज्ञान के साथ इनकी घनिष्ठता के कारण ही आचार्य बादरायण ने सूचित किया कि शमादि अवश्यानुष्ठेय हैं, अन्तरंग हैं।

अमानित्वादि भी प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वरूप होने से अविद्या-क्षेत्र के ही हैं, अतः आत्मानुभूति हो जाने पर उनकी निवृत्ति हो जाती है या नहीं? इस पर हम यही कहते हैं कि उनकी निवृत्ति नहीं होती। क्या कारण है कि उनकी निवृत्ति नहीं होती? परमात्मा

कामानित्वादयो निवर्तन्त उत नेति? नेति ब्रूमः। किं कारणम्? निवृत्तिशास्त्राविरुद्धस्वाभाव्यात् परमात्मनो, न तु नियोगवशात्। कथं तर्हि? शृणु–

उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥६९॥

यत[1] एतदेवमतः–

इमं ग्रन्थमुपादित्सुरमानित्वादिसाधनः।
यत्नतः स्यान्न दुर्वृत्तः प्रत्यग्धर्मानुगो ह्ययम् ॥७०॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

यस्मादेवं साधकस्य साधनत्वेन, सिद्धस्य लक्षणत्वेनामानित्वादयस्सर्वथाप्यङ्गीकरणीयस्सयात्[2] परमरहस्यभूतनैष्कर्म्यसिद्धिप्रकरणश्रवणाभिमुखोऽप्यमानित्वादिनिष्ठो भवेदित्याह–यत इत्यादिना। प्रत्यक्धर्म

का—और तद्रूपतापन्न मुक्तका—स्वभाव निवृत्तिशास्त्र से विरुद्ध नहीं इसलिये अमानित्वादि निवृत्त नहीं होते, ऐसा नहीं कि इन्हें निवृत्त न होने देने के लिये कोई विधान हो। विधान के अभाव में ये किस प्रकार बने रहते हैं? बताते हैं, सुनो—**जिसे आत्मप्रबोध हो गया उसके तो अद्वेष्टृत्वादि सभी गुण बिना प्रयत्न से ही हो जाते हैं, साधनरूप से इन्हें सप्रयत्न नहीं रखना पड़ता**॥६९॥ किसी की अपनी ओर रुचि उत्पन्न करनी हो तो उसकी प्रसन्नता के लिये नाना व्यापार करने पड़ते हैं पर जब उसका अपने से प्रेम हो गया तो उसके अनुकूल व्यापार करना स्वाभाविक हो जाता है, यत्नसाध्य नहीं रहता। इसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के लिये ये गुण सोद्यम प्रतिष्ठित करने पड़ते हैं, पर ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर ये स्वाभाविक हो जाते हैं। अत एव इनकी निवृत्ति नहीं होती।

क्योंकि इन धर्मों की अत्यन्त उपयोगिता है इसलिये—**जो साधक इस ग्रन्थ को ठीक से समझना चाहे, उसे चाहिये कि वह यत्नपूर्वक अमानित्वादि गुणों को अपने में लाये और मोक्षमार्ग के प्रतिकूल आचरण न करें। इन साधनों से युक्त**

---

१. 'एवं ससाधनब्रह्मविद्याप्रकरणं समाप्य तदधिकारिनियमान्दर्शयितुं पूर्वोत्तरश्लोकसंगतिमाह यत इति' (सारार्थः)।
२. ...णीयास्तस्मात् इति पठितव्यम्।

न दातव्याश्चायं ग्रन्थः–

नाविरक्ताय[1] संसारान्नानिरस्तैषणाय[2] च।
न चाऽयमवते[3] देयं वेदान्तार्थप्रवेशनम् ॥७१॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

आत्मा प्रत्यक्चासौ धर्मश्चेति, तमनुगच्छति तद्याथात्म्यप्रतिपादकत्वेनायं ग्रन्थ इति–प्रत्यग्धर्मानुग इत्युक्तम्॥७०॥

एवं शिष्यस्य नियममभिधायाचार्यस्य नियममाह–न दातव्य इति। यत्र[4] अहिंसा सत्यास्तेयादयो यस्य विद्यन्ते स यमवान्। न यमवान् अयमवान् तस्मै अयमवते कुतो न देयमित्यत आह–वेदान्तेति। वेदान्तानामर्थे प्रवेशोऽधिगमोऽनेन भवतीदं प्रकरणं वेदान्तार्थप्रवेशनं तेन य एव वेदान्त-श्रवणादिषु अधिकृतो मुमुक्षुस्स एवात्राधिकारी नान्यः। तस्मात् कुतूहलात् बहुश्रुत्यादिबुद्ध्या वा प्रवर्तमानाय इदं न देयमित्यर्थः॥७१॥

व्यक्ति के लिये यह ग्रन्थ आत्मयाथात्म्य का स्फुट प्रतिपादन कर देगा॥७०॥ यह ग्रन्थ आत्मप्रतिपादक है अतः इससे आत्मबोध होगा और वह तभी होगा जब अध्येता अमानितादिवान् होगा, अतः इसके अध्ययन में उसी का अधिकार है जो इन गुणों से अपने को सम्पन्न करने के प्रति जागरूक हो।

इस प्रकार शिष्य के लिये नियम बताये जिनसे इस ग्रन्थ का अध्ययन करे। अब इसके अध्यापक के लिये नियम बताते हैं कि **यह ग्रन्थ उसे नहीं पढ़ाना चाहिये जो संसार से विरक्त न हो, जिसने अपनी विविध एषणाओं को त्याग न दिया हो और जो अहिंसा आदि यमों से उपेत न हो, कारण है कि यह ग्रन्थ वेदान्तों के प्रतिपाद्य अर्थ में प्रवेश दिलाता है, अतः जो वेदान्त में अधिकारी हो वही इसमें अधिकारी हो सकता है**॥७१॥ पुत्र, वित्त और लोक की एषणायें त्रिविध एषणाओं के रूप में उपनिषदों में प्रसिद्ध हैं। वेदान्त में अधिकार का निरूपण बृहद्वार्तिक के प्रारम्भ

---

१. इहामुत्रफलभोगविरक्ताय।
२. पुत्रैषणा-वित्तैषणा-लोकैषणेत्येषणात्रयम्।
३. यम-नियमाऽसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधायोऽष्टावङ्गानि (यो.सू. २.२९)।
४. यत्रेति पदमिह मास्तु।

ज्ञात्वा यथोदितं सम्यग्ज्ञातव्यं नावशिष्यते।
न चानिरस्तकर्मेदं जानीयादञ्जसा ततः ॥७२॥
निरस्तसर्वकर्माणः प्रत्यक्प्रवणबुद्धयः।
निष्कामा यतयः शान्ताः जानन्तीदं यथोदितम् ॥७३॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

किमेतत्प्रकरणपरिज्ञानात्, येनात्राधिकारिणां प्रवेशो न सिध्यतीत्यर्थः–ज्ञात्वेति। **तेन कुतूहलादिवशात् प्रवृत्तौ नानुभवफलपर्यन्तं विज्ञानमधिगच्छतीत्याह**–न चेति।।७२।।

केन तर्हि प्रकरणार्थः सम्यक् प्रतिपद्यते इत्यत आह–निरस्तेति।।७३।।

इदानीमस्य प्रकरणस्य विशिष्टगुरुसम्प्रदायपूर्वकत्वान्नात्र दोषदृष्टिः

में भी किया है—'त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः। जिज्ञसोरेव चैकात्म्यं त्रय्यन्तेष्वधिकारिता'॥११.१२॥ कुतूहलादिमात्र से इस ग्रन्थ को पढ़ना इसके फल मोक्ष को उत्पन्न नहीं करेगा।

जैसा यहाँ आत्मा बता दिया है वैसा उसे जानकर फिर कुछ भी जानने योग्य बच नहीं जाता। क्योंकि यह उत्कृष्टतम दुर्लभ वस्तु है अतः जिसने सब कर्मों का त्याग नहीं कर दिया, उसे यह ठीक से उपलब्ध नहीं हो सकती॥७२॥ कर्मों का ज्ञान से विरोध है यह प्रथमाध्याय में बताया था, उसी का परामर्श समझना चाहिये।

जिन्होंने सर्वकर्मसंन्यास कर दिया है, जिनके मन में तीव्र आत्मजिज्ञासा है, जिन्हें किसी प्रकार की कामना नहीं है, ऐसे शमादियुक्त संन्यासी ही पूर्वोक्त आत्मतत्त्व को समझते हैं॥७३॥ सर्वकर्मसंन्यास करने का हेतु बताने के लिये कहा—जिन्हें तीव्र आत्मजिज्ञासा है, क्योंकि कर्मों का यही उपयोग है कि वे आत्मजिज्ञासा उत्पन्न करें। संक्षेपशारीरककार कहते हैं—'तस्मात्कर्मसमस्तमेव तु भवेदिच्छाजनेः साधनम्' (३.३३९) क्योंकि 'प्रत्ययार्थविषयं हि कर्मणामुच्यते विविदिषेयुरित्यतः' (३.३३२) (प्रत्यय = सन्प्रत्यय; विविदिषेयुः = विविदिषन्ति को विधि मानने से लिङ्घटितरूप है)।

आत्मा के अज्ञान का निवर्तक, परमहंसों को शोभित करने वाला यह शुद्ध ज्ञान मैंने श्री शङ्कराचार्य के चरणकमलद्वन्द्व की सेवापूर्वक प्राप्त कर इस

श्रीमच्छङ्करपादपद्मयुगलं संसेव्य लब्ध्वोचिवान्
ज्ञानं पारमहंस्यमेतदमलं स्वान्तान्धकारापनुत्।
मा भूदत्र विरोधिनी मतिरतः सद्भिः परीक्ष्यं बुधैः
सर्वत्रैव विशुद्धये मतमिदं सन्तः परं कारणम् ॥७४॥
सुभाषितं चार्वपि नाऽमहात्मनां
दिवाकरो नक्तदृशामिवामलः।
प्रभाति भात्येव विशुद्धचेतसां
निधिर्यथापास्ततृषां महाधनः ॥७५॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

करणीया किन्तु सतामेव गुणदोषावधारणकारणत्वात् परीक्षाणीयमिदं प्रकरणमिति विद्वज्जनेष्वात्मनोऽनौद्धत्यं दर्शयति–श्रीमदिति।।७४-७५।।

ग्रन्थ में बताया है, अतः 'इसमें असाम्प्रदायिक वर्णन है' ऐसा न समझकर विद्वानों द्वारा इसका विचार किया जाना चाहिये। मैं यह मानता हूँ कि गुण-दोष-निर्धारण में सत्पुरुष ही सर्वथा समर्थ हैं॥७४॥

जिन व्यक्तियों में महत्ता नहीं, उन्हें अच्छी तरह बताई हुई बढ़िया बात भी वैसे ही समझ में नहीं आती जैसे चमकता हुआ सूर्य उल्लुओं को नहीं दीखता। जिनका मन असूया आदि दोषों से रहित है उन्हें वह बात उसी तरह अनायास समझ में आ जाती है जिस तरह सर्वथा निःस्पृह योगी को प्रभूत धन से पूर्ण खजानों का पता चल जाता है॥७५॥ पतञ्जलि ने बताया है 'अस्तेयप्रतिष्ठायाम् सर्वरत्नोपस्थानम्' अर्थात् जो योगी अस्तेय—निःस्पृहता—में प्रतिष्ठित होता है उसे सभी रत्न प्राप्त होते हैं (यो.सू. २.३७)। इसी आधार पर ग्रन्थकार ने कहा है कि शुद्धचित्त अर्थात् निःस्पृह व्यक्ति को खजाने का पता चल जाता है। निःस्पृह होने से वह भोग तो करेगा नहीं अतः उसे प्राप्त होने का इतना ही फल है कि उसे ज्ञात हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये। भट्ट जी ने भी गैर समझ लोगों पर कटाक्ष किया है—'न चात्रातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः। दोषो ह्यविद्यमानोपि तच्चित्तानां प्रकाशते॥'श्लो. १.४॥

जिस प्रकार विष्णु के चरण के कारण अवतरित, पाप नष्ट करने वाली,

विष्णोः पादानुगां यां निखिलभवनुदं शङ्करोऽवाप योगात्
सर्वज्ञं ब्रह्मसंस्थं मुनिगणसहितं सम्यगभ्यर्च्य भक्त्या।
विद्यां गङ्गामिवाहं प्रवरगुणनिधेः प्राप्य वेदान्तदीप्तां[1]
कारुण्यात्तामवोचं जनिसृतिनिवहध्वस्तये दुःखितेभ्यः ॥७६॥

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

एवं गुरुसम्प्रदायप्राप्तप्रकरणस्य परानुग्रह एव[2] गुरुभक्तेर्विद्यां प्रत्यन्तरङ्गसाधनत्वं दर्शयितुं प्रकरणारम्भ इव प्रकरणसमाप्तावपि गुरुनमस्कारं करोति–वेदान्तेति। तस्मै पूज्याय नम इति सम्बन्धः।।७६-७७।।

वेदों में अत्यन्त प्रशंसित गंगा को भगवान् शंकर ने एकान्त धैर्य से अपनी जटा में अश्रय दिया, उसी प्रकार भगवान् शङ्कराचार्य ने व्यापक जगत्कारण के अधिष्ठान सच्चिदानन्दतत्त्व को बताने वाली, समस्त संसार को निवृत्त करने वाली, उपनिषत्प्रसिद्ध विद्या को श्रवणादि कौशल से[3] प्राप्त किया। संन्यासिसमुदाय से घिरे उन सर्वज्ञ ब्रह्मनिष्ठ आचार्य की श्रद्धा से सेवा कर, श्रेष्ठ गुणों के आकर उन भाष्यकारों से मैंने विद्या प्राप्त की और उसे कृपा कर व्यक्त भी किया ताकि दुःखी जनता का जन्ममृत्युप्रवाहरूप[4] दुःख अत्यन्त निवृत्त हो जाये।।७६।। वात्स्यायनमुनि ने मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृत्ति,जन्म और दुःख, इनका अनवरत चलते रहना ही संसार बताया है 'मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्तमानाः संसारः' (न्या.भा. १.१.२)। उस संसार की निवृत्ति मूलभूत मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति पर निर्भर करती है और मिथ्याऽज्ञान की निवृत्ति औपनिषद महावाक्यार्थ ज्ञान से ही सम्भव है। इन श्लोकों में आचार्य ने विनय के सिवाय यह भी दिखाया कि वेदान्त का ज्ञान गुरुकृपा से ही प्राप्य है। साथ ही, गुरुपरम्परा से प्राप्त ज्ञान ही उपादेय है।

विद्वानों के भी गुरु जिन आचार्य शंकर ने अन्वय-व्यतिरेक रूप सलाई से ही संसारबीजभूत हमारा समस्त अज्ञान निवृत्त कर वेदान्तप्रमाणजन्य,

---

१. वेदान्तदीप्तां—'गङ्गापक्षे वेदप्रतिपाद्यामिति। विद्यापक्षे तत्त्वमस्यादिमहावाक्यैरुद्भाविताम्'ति सारार्थकारः।
२. अत्र त्रुटिः।इह 'प्रयोजनमिति दर्शयति—विष्णोरिति इति संयोजनीयम्।
३. 'योगः कर्मसु कौशलं', श्रवणादि च कर्मैव।
४. निवहः समूहः, प्रवाहपारम्पर्यनिमित्तमेव बहुत्वं जन्मनो मृतेश्च। यद्वा दुःखितानां बहुत्वाज्जन्मादिबहुत्वम्।

वेदान्तोदरवर्ति भास्वदमलं ध्वान्तच्छिदस्मद्धियो
दिव्यं ज्ञानमतीन्द्रियेऽपि विषये व्याहन्यते न क्वचित्।
यो नो न्यायशलाकयैव निखिलं संसारबीजं तमः
प्रोत्सार्याविरकार्षीद् गुरुगुरुः पूज्याय तस्मै नमः ॥७७॥
संबन्धोक्तिरियं साध्वी प्रतिश्लोकमुदाहृता।
नैष्कर्म्यसिद्धेर्ज्ञात्वेमां व्याख्यातासौ भवेद् ध्रुवम् ॥७८॥

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादशिष्यश्रीसुरेश्वराचार्यविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धौ ससंबंधोक्तो चतुर्थोऽध्यायः ।।

।। नैष्कर्म्यसिद्धिप्रकरणं सम्पूर्णम् ।।

श्रीभावतत्त्वप्रकाशिका

नैष्कर्म्यसिद्धेर्व्याख्यानक्षमतापर्यन्तपरिज्ञाने किं कारणमित्याकांक्षायां, सम्बन्धोक्तिरेवेत्याह–सम्बन्धोक्तिरिति।।७८।।

।। श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमज्ज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुखमुनिविरचितायां नैष्कर्म्यसिद्धिटीकायां चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।।

।। इति नैष्कर्म्यसिद्धिप्रकरणव्याख्या समाप्ता ।।

शुद्धसत्त्वात्मक, रागादिदोषशून्य, हमारी बुद्धि की अविद्या को नष्ट करने वाला, स्वयम्प्रकाश, अतीन्द्रियविषयक होने पर भी अनुभव से विरुद्ध न पड़ने वाला ज्ञान प्रकाशित कर दिया, उन पूज्य गुरुदेव को नमस्कार है[1]।।७७।। 'सलाई से ही' कह कर ध्वनित किया कि यदि अन्वयव्यतिरेक भली भाँति किया जाये तो अपने माने हुए जो गलत स्वरूप हैं, वे अखण्डधीरूप ज्वाला के पूर्व ही बाधित हो जाते हैं। ज्ञान सत्त्वोद्रेक में ही सम्भव होने से सत्त्वात्मक कहा गया है। 'बुद्धि की अविद्या' का तात्पर्य है कि अविद्या बुद्ध्युपाधि निरूपित मुझमें है, स्वरूपतः मुझमें नहीं।

नैष्कर्म्यसिद्धि के सभी श्लोकों की उचित सम्बन्धोक्ति भी मैंने बना दी है। जो इस सम्बन्धोक्ति को समझ लेगा वह इस ग्रन्थ का व्याख्यान निश्चय ही कर लेगा।।७८।। आचार्य ने पहले श्लोकमात्र 'नैष्कर्म्यसिद्धि' के रूप में लिखे थे व बाद में ग्रन्थ के हृदय को स्पष्ट करने के लिये श्लोकों के परस्पर सम्बन्ध को गद्यवाक्यों में

---

१. 'न्यूनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ' (छं.सू. ३.५९) इत्यतो निचृच्छार्दूलविक्रीडितमेतच्छन्दः।

जोड़ दिया, ऐसा प्रसिद्ध है। कालांतर में न मानकर प्रथम ही बार सम्बन्धोक्ति घटित श्लोकमय प्रबंध लिखा, ऐसा भी माना जा सकता है।

॥ इस प्रकार श्रीमान् परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री शंकरपूज्यपाद के शिष्य श्री सुरेश्वराचार्य द्वारा विरचित नैष्कर्म्यसिद्धि का तथा सम्बन्धोक्ति का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥

॥ नैष्कर्म्यसिद्धि नामक प्रकरणग्रन्थ संपूर्ण हुआ ॥

दृष्ट्वा स्वं निजमाययाऽऽप्तसरणं लोके भ्रमन्तं भृशम्
बुद्ध्वा विस्मृतलीलतां निजपदं स्मृत्वा श्रुतेर्वाक्यतः।
स्थित्वाऽऽनन्दवटाश्रये स्मितमुखोऽपश्यन् विभेदं मनाक्
धृत्वा मौनमियाय देष्टृपदवीं तस्मै नमः शम्भवे ॥
यो भाष्यनौकां ददौ संसृतेस्तं परं पारमाप्तुं विनापि प्रयत्नम्।
तस्मै नमो व्युप्तकेशाय कुर्मो यमाहागमो नः पिता बोधदाता ॥
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमामवोचन्नो कर्मणस्तां सुपरिश्चकार।
कृष्णोऽत आहात्र समस्तकर्मत्यागात्मिकां वां भगवान् सुरेशः[1] ॥
यश्चक्रे राजमार्गं[2] परपुरुषपुरीं प्राप्तुमेवाश्रमेण।
मध्ये दिग्भ्रान्तिशङ्का क्वचिदपि न भवेच्चिह्नमेवं[3] ददौ नः ॥
पाथेयार्थं[4] दृढात्मा महदयतत यो विश्वरूपः सुरेशः।
तस्मै सम्भावयित्रे त्रिविधमपि नमो भक्तिमात्राद् विदध्मः ॥
यमाश्रयं प्राप्य मनोद्विजो मे न वष्टि लोलः श्रयितुं सुलभ्यम्।
अपि, प्रणौमि प्रभुमात्मनस्तं यदीयकारुण्यसुधार्थमस्मि ॥
प्रार्थये दक्षिणामूर्तिं शंकरं च सुरेश्वरम्।
सिद्धेः 'प्रपञ्चो' भाषायां गुरोर्मोदाय जायताम् ॥

॥ इति ॥

●

१. ४.५४,५९,७४ (परमहंसस्य ज्ञानम्)।
२. सिद्धिग्रन्थम्। ३. सम्बन्धोक्तिम्।
४. वार्तिकार्थम्।

कारिकाणां वर्णानुक्रमणिका

अत्र दत्ताः सङ्ख्याः प्रकृतग्रन्थगतानामध्यायश्लोकानां परामर्शिकाः। '(वा)' इत्येतत् तत्तच्छ्लोको बृहदारण्यकवार्तिकेऽपि वर्तते इति सूचयति। '(उ)' इति च उपदेशसाहस्री-ग्रन्थेऽपि श्लोकोऽस्तीति सूचयति; '(गौ)' इति तु श्रीगौडपादीयमाण्डूक्यकारिकासङ्ख्यां सूचयति।

प्रतीकम्	अ.श्लो.	प्रतीकम्	अ.श्लो.
अकुर्वतः क्रियाः काम्याः	१-१०	अनुच्छिन्नबुभुत्सश्च	४-१०
अग्निः सम्यगधीतेऽसौ	३-९७	अनुत्सारितनानात्वं	१-६८
अज्ञात एव सर्वोऽर्थः	३-७	अनुपक्रियमाणत्वात्	३-६१
अज्ञातपुरुषार्थत्वात्	३-८०	अनुमानप्रदीपेन	४-१५
अज्ञानमनिराकुर्वद् (वा)	१-६५	अनुमानादयं भावात्	३-११३
अज्ञानहानमात्रत्वात्	१-२४	अनेन गुणलेशेन	३-१०२
अतः सर्वाश्रमाणां तु	१-९९	अन्तरेण विधिं मोहात्	१-१६
अतः सर्वाश्रमाणां हि	१-२१	अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो (गौ)	४-४२
अतिदुःस्थोऽप्रबोधोऽत्र	३-११०	अन्यस्यान्यात्मताप्राप्तौ	१-७१
अतीतानागतेहत्यान्	२-७०	अन्वयव्यतिरेकाभ्यां	२-९
अत्राभिदध्महे दोषान्	१-२३	अन्वयव्यतिरेकाभ्यां (उ)	४-३२
अथाध्यात्मं पुनर्यायात्	१-७६	अन्वयव्यतिरेकौ हि (उ)	४-२२
अद्धातममनादृत्य	३-११७	अपविद्धद्वयोऽप्येवं	३-६५
अधर्माज्जायतेऽज्ञानं	४-६३	अपश्यन् पश्यतीं बुद्धिम्	२-७१
अधिचोदनमाम्नायः	१-९१	अपहारो यथा भानोः	२-४९
अनात्मज्ञस्तथैवायं	४-३७	अपि प्रत्यक्षबाधेन	३-९५
अनात्मत्वं स्वतःसिद्धं	४-४	अपूर्वाधिगमं कुर्वत्	३-८३
अनादृत्य श्रुतिं मोहात्	३-३४	अप्रमोत्थं प्रमोत्थेन	२-१०४
अनालिङ्गितसामान्यौ	३-७५	अभूताभिनिवेशेन	२-५१

प्रतीकम्	अ.श्लो.	प्रतीकम्	अ.श्लो.
अभ्यासोपचयात् बुद्धेः	३-९०	आत्मनश्चेन्निवार्यन्ते	२-११४
अभ्यासोपचिता कृत्स्नं	३-९१	आत्मना चाविनाभावं	२-५६
अग्रयानं यथा मोहात् (वा)	२-१०१	आत्मनैवेत्युपश्रुत्य	३-४२
अमानित्वादिनिष्ठो यः	४-६८	आत्मानात्मा च लोकेऽस्मिन्	४-३
अमुह्यमानो मुह्यन्तीं	२-७३	आप्रबोधाद् यथाऽसिद्धः	४-५०
अयथावस्त्वविद्या स्यात् (वा)	१-५६	आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्	१-१७
अलब्ध्वातिशयं यस्मात्	१-२	आम्रादेः परिणामित्वात्	२-३४
अवगत्यात्मनो यस्मात्	२-९५	आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं	१-५१
अवस्थादेशकालादिः	२-८९	आर्तमन्यद् दृशेः सर्वं	१-४२
अविक्रियस्य भोक्तृत्वं	२-६३	इति हृष्टधियां वाचः	१-२२
अविद्यानाशमात्रं तु	२-१०५	इत्येवं चोदयेद्योऽपि	३-१०९
अविद्यानिद्रया सोऽयं	३-११५	इत्योमित्यवबुद्धात्मा	२-११९
अविद्याबद्धचक्षुष्ट्वात् (उ)	४-३५	इदं चेदनृतं ब्रूयात्	३-११८
अविविच्योभयं वक्ति (उ)	४-२०	इदं ज्ञानमहं ज्ञाता	४-४५
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा	३-१०४	इदं ज्ञानं भवेज्ज्ञातुः	३-६०
असाधारणांस्तयोर्धर्मान्	४-५	इदमित्येव बाह्योऽर्थे	४-६
अस्तु वा परिणामोऽस्य	२-८४	इमं ग्रन्थमुपादित्सुः	४-७०
अस्माद्यदपरं रूपं	४-४०	इमं प्राश्निकमुद्दिश्य	२-५९
अहंवृत्त्यैव तद्ब्रह्म	३-४३	इममर्थं पुरस्कृत्य	४-१७
अहंशब्दस्य या निष्ठा (उ)	४-२५	उत्पत्तिस्थितिनाशेषु	२-१११
अहं दुःखी सुखी चेति	३-४६	उत्पत्तिस्थितिभङ्गेषु	२-७९
अहं धर्मस्त्वभिन्नश्चेत्	२-२८	उत्पन्नात्मप्रबोधस्य	४-६९
अहमः प्रत्यगात्मार्थः	३-४०	उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं(वा)	१-५३
अहंममत्वयत्नेच्छाः	२-२२	उद्दिश्यमानं वाक्यस्थं	३-२५
अहंमिथ्याभिशापेन	२-११६	ऊर्ध्वं गच्छति धूमे खं	२-६२
अहो धाष्टर्यमविद्यायाः	३-१११	ऋते ज्ञानं न सन्त्यर्थाः	२-९७
आगमापायिनिष्ठत्वात्	२-३५	एकेन वा भवेन्मुक्तिः	१-२५
आगमापायहेतुभ्यां	३-२२	एवं विज्ञातवाच्यार्थे (उ)	४-२४
आत्मनश्चेदहं धर्मः	२-३२	एवं गौडैर्द्राविडैर्नः	४-४४

प्रतीकम्	अ.श्लो.	प्रतीकम्	अ.श्लो.
एवं चंक्रम्यमाणोऽयं	१-४२	चतुर्भिरुह्यते यत्तत्	२-२०
एवं ज्ञानवतो नास्ति	४-४९	चिन्निभेयमहंवृत्तिः	३-१००
एवं तत्त्वमसीत्यस्मात्	३-७०	छित्त्वा त्यक्तेन हस्तेन (उ)	४-२६
एवमेतद्धिरुग्ज्ञेयं	२-४४	जानीयाच्चेत् प्रसङ्ख्यानात्	३-१२३
एष आत्मा स्वयंज्योतिः (वा)	३-४१	जिघ्राणीममहं गन्धं (वा)	३-३९
एष सर्वधियां नृत्तं	२-५८	जिज्ञासोर्दृशमं यद्वत्	३-६८
ऐकात्म्याप्रतिपत्तिर्या	१-७	ज्ञातैवाऽऽत्मा सदा ग्राह्यो (उ)	४-२९
कर्मणोऽङ्गाङ्गिभावेन	१-२०	ज्ञात्वा यथोदितं सम्यक्	४-७२
कर्मप्रकरणाकाङ्क्षि (वा)	१-६३	ज्ञानं यस्य निजं रूपं	३-११२
कर्माज्ञानसमुत्थत्वात्	१-३५	ज्ञानात् फले ह्यवाप्तेऽस्मिन्	१-९०
कल्पितानामवस्तुत्वात्	२-५०	ज्ञेयाभिन्नमिदं यस्मात्	४-५४
काम्यकर्मफलं तस्मात्	१-११	तत्त्वमर्थेन सम्पृक्तो	३-७८
कार्यकारणबद्धौ तौ (गौ)	४-४१	तत्त्वमस्यादिवाक्यानां	१-९८
कुतोऽविद्येति चोद्यं स्यात्	३-११६	तत्पदं प्रकृतार्थं स्यात्	३-२
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	१-१८	तथा पदपदार्थौ च	१-८
कूटस्थबोधतोऽद्वैतं	३-१५	तदर्थयोऽस्तु निष्ठात्मा	३-७६
कूटस्थबोधप्रत्यक्त्वं	३-११	तदित्येतत् पदं लोके	३-२३
कृत्स्नानात्मनिवृत्तौ च	२-२	तदेतदद्वयं ब्रह्म	२-९३
क्षयो नित्येन तेषां चेत्	१-८२	तदो विशेषणार्थत्वं	३-२६
क्षुधया पीड्यमानोऽपि (उ)	४-६६	तद्वत् सूक्ष्मे तथा स्थूले	२-१७
खानिलाग्न्यब्धरित्र्यन्तं	१-१	तमोऽङ्गत्वं यथा भानोः	१-७९
गुरूक्तोवेदराद्धान्तः	१-५	तमोऽभिभूतचित्तो हि	२-३१
गृहीताहंपदार्थश्चेत्	३-४४	तरोरुत्खातमूलस्य	४-६१
ग्राहकग्रहणग्राह्य	२-१०८	तस्मात् त्यक्तेन हस्तेन (उ)	४-२८
घटबुद्धेर्घटाच्चार्थात्	२-१००	तस्माद्दुःखोदधेर्हेतोः	१-३७
घटादयो यथालिङ्गं	३-५६	तस्मान्मुमुक्षुभिः कार्यं	१-५०
घटादिवच्च दृश्यत्वात्	२-१९	तस्यैवं दुःखतप्तस्य	१-४५
चक्षुर्न वीक्षतेशब्दम्	४-१२	तृष्णानिष्ठीवनैर्नात्मा	३-४८
चण्डालबुद्धेर्यद्द्रष्टृ	२-८८	त्यक्तकृत्स्नेदमर्थत्वात्	४-९

प्रतीकम्	अ.श्लो.	प्रतीकम्	अ.श्लो.
त्वमर्थस्यावबोधाय	३-१२६	धीवन्नापेक्षते सिद्धिं	२-११०
त्वमित्यपि पदं तद्वत्	३-२४	धीविक्रियासहस्राणां	४-१३
त्वमित्येतद्विहायान्यत्	३-९८	न कस्याञ्चिदवस्थायां	३-१४
दग्धाखिलाधिकारश्चेत्	१-४०	न कृत्स्नकाम्यसंत्यागो	१-८१
दग्धृत्वं च यथा वह्नेः	२-१०२	न ख्यातिलाभपूजार्थं	१-६
दण्डावसाननिष्ठः स्यात्	४-३८	न चाध्यात्माभिमानोऽपि	१-७५
दशमोऽस्मीति वाक्योत्था	३-६९	न चामुमुक्षोरस्तीह	२-७
दाह्यदाहकतैकत्र	३-५९	न चेदनुभवोऽतः स्यात्	३-११९
दिदृक्षितपरिच्छिन्न-	३-४९	न तावद्योग एवास्ति	१-९५
दुःखराशेर्विचित्रस्य	२-१०३	न परीप्सां जिहासां वा	१-३०
दुःखितावगतेश्चेत् स्यात्	३-८७	न पृथङ् नात्मना सिद्धिः	२-४५
दुःखी यदि भवेदात्मा (वा)	२-७६	न प्रकाशक्रिया काचित् (वा)	२-६७
दुःख्यस्मीत्यपिचेद् (वा)	३-९२	नरकाद्धीर्यथास्याभूत्	१-४६
दुरितक्षपणार्थत्वात्	१-२६	नराभिमानिनं तस्मात्	१-९६
दृगेका सर्वभूतेषु	२-४७	नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी (वा)	२-७७
दृश्यत्वादहमित्येषः (उ)	४-३०	नवबुद्ध्यपहाराद्धि (उ)	४-३४
दृश्यत्वाद्घटवदेहो	३-५४	नवसङ्ख्याहतज्ञानो (वा)	३-६४
दृश्याः शब्दादयः क्लृप्ताः	२-४६	न विदन्त्यात्मनः सत्तां	२-१०६
दृश्यानुरक्तं तद्द्रष्टृ	२-५३	न व्यावृत्तिर्यथा भावात्	३-११४
दृष्टेर्द्रष्टारमात्मानं	२-९२	न स्वयं स्वस्य नानात्वं	२-११२
देशकालाद्यसंबन्धात् (वा)	४-५८	न हानं हानमात्रेण	३-२१
देहादिव्यवधानत्वात्	३-२९	न हि नाम्नास्ति संबन्धो	३-१०६
द्रष्टापि यदि दृश्यायाः	२-४०	नाज्ञासिषमिति प्राह	२-५४
द्रष्टृत्वं दृश्यता चैव	२-३९	नात्मना न तदंशेन	२-२६
द्रष्टृत्वेनोपयुक्तत्वात्	२-२७	नाद्राक्षमहमित्यस्मिन् (उ)	४-२३
द्विषन्तीमद्विषन्नात्मा	२-७२	नामादिभ्यः परो भूमा	२-५७
धर्मधर्मित्वभेदोऽस्याः	३-१३	नामादिभ्यो निराकृत्य	३-१२०
धर्मिणश्च विरुद्धत्वात्	२-३८	नायं शब्दः कुतो यस्मात्	३-८४
धावेदिति न दानार्थे	१-९७	नालुप्तदृष्टेर्दृश्यत्वं	२-४१

प्रतीकम्	अ.श्लो.	प्रतीकम्	अ.श्लो.
नाविरक्तस्य संसारात्	२-६	परीक्ष्य लोकानित्याद्या	१-८७
नाविरक्ताय संसारात्	४-७१	पश्यन्निति यदाहोच्चैः	४-३९
नासन्नुपायो लोकेऽस्ति	३-१०८	पापापनुत्तये वाक्यात्	१-८३
नाहंग्राह्यो न तद्धीने	२-५	पाप्मनां पाप्मभिर्नास्ति	१-८४
नाहं न च ममात्मत्वात्	२-११७	पारंपर्येण कर्मैवं	१-५२
नित्यमुक्तत्वविज्ञानं (वा.उ.)	४-३१	पारोक्ष्यं यत्तदर्थे स्यात्	३-७७
नित्यानुष्ठानतश्चैवं	१-१३	पूर्वाद्ध्यायेषु यद्वस्तु	४-१
नित्यां संविदमाश्रित्य	२-११५	प्रत्यक्तास्य स्वतोरूपं	३-७१
नित्यावगतिरूपत्वात्	२-११३	प्रत्यक्त्वादतिसूक्ष्मत्वात्	२-५५
नित्यावगतिरूपत्वादन्यः	३-४७	प्रत्यक्श्रवणतां बुद्धेः	१-४९
नियमः परिसङ्ख्या वा	१-८८	प्रत्यक्षं चेन्न शाब्दं स्यात्	३-८५
निरपेक्षश्च सापेक्षां	२-७५	प्रत्यक्षस्य पराक्त्वान्न	३-५१
निरस्तसर्वकर्मणः	४-७३	प्रत्यक्षादिविरुद्धं चेत्	३-८१
निराकुर्यात् प्रसङ्ग्यानं	३-८९	प्रत्यगुद्भूतपित्तस्य	३-३०
निर्दुःखित्वं त्वमर्थस्य	३-१०	प्रत्यर्थं तु विभिद्यन्ते	२-८६
निर्दुःखित्वं स्वतःसिद्धं	३-९४	प्रत्याचक्षाण आहातो	४-६४
निवृत्तसर्पः सर्पोत्थं	४-६०	प्रमाणतन्निभेष्वस्याः	२-७८
निवृत्तायामहंबुद्धौ	२-३०	प्रमाणबद्धमूलत्वात्	३-८८
निषिद्धकाम्ययोस्त्यागः	१-२८	प्रमाणमन्तरेणैषां	२-९९
नेहात्मविन्मदन्योऽस्ति	४-५३	प्रमाणव्यवहारोऽयं	३-५२
नोष्णिमानं दहत्यग्निः	२-२३	प्रमाणैश्चावगम्यत्वात्	२-३७
न्यायः पुरोदितोऽस्माभिः	४-७	प्रमां चेज्जनयेद्वाक्यं	३-९६
न्यायसिद्धमतो वक्ति	३-५०	प्रमित्सायां य आभाति	३-८
पदान्युद्धृत्य वाक्येभ्यो	३-३१	प्रसङ्ग्याने श्रुतावस्य	३-११५
परमात्मानुकूलेन	१-७२	प्रागनात्मैव जग्धं सत्	२-१२
परमार्थात्मनिष्ठं यत्	४-५२	प्रागसद्याति पश्चात्सत्	३-५५
पराञ्च्येव तु सर्वाणि (वा)	३-५४	प्रागात्मबोधाद् बोधोऽयं	४-५५
परिणामिधियां वृत्तं	२-८२	प्राप्तव्यपरिहार्येषु	१-३३
परिहतावाप्तयोर्बोधात्	१-३४	प्रामाण्याय न बाहुल्यं	१-८६

प्रतीकम्	अ.श्लो.	प्रतीकम्	अ.श्लो.
बलवद्धि प्रमाणोत्थं	१-३६	मन्यसे तावदस्मीति	२-१३
बाधितत्वादविद्यायाः	१-३८	महाभूतान्यहङ्कारः	२-४३
बाध्यबाधकभावाच्च (वा)	१-५५	मानान्तरानवष्टब्धं	६-३५
बाह्य आकारवान् ग्राह्यः	२-१०७	मित्रोदासीनशत्रुत्वं	२-४८
बाह्यां वृत्तिमनुत्पाद्य	३-५८	मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वात्	१-९
बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य	४-६२	मुक्तेः क्रियाभिः सिद्धत्वादिति	१-८०
बुद्धावेव विवेकोऽयं	४-१४	मृत्स्नेभके यथेभत्वं (वा)	१-५९
बुद्धिजन्मनि पुंसश्च	२-६१	मोहापिधानभङ्गाय	१-७०
बुद्धेरनात्मधर्मत्वं	२-९६	यत्कर्मको हि यो भावो	२-२४
बुद्धेर्यत्रात्यगात्मत्वं	३-१८	यत्नतो वीक्षमाणोऽपि	१-१५
बुद्ध्यन्तमपविद्धयैवं	४-१८	यत्र त्वस्येति साटोपं	२-११८
बुद्ध्यादीनामनात्मत्वं	३-३३	यत्र यो दृश्यते द्रष्टा	२-२५
बुभुत्सोच्छेदिनी चास्य (वा)	३-६७	यत्र स्यात्संशयो नासौ	३-३७
बुसग्रीहिपलालांशैः	२-१५	यत्सिद्धाविदमः सिद्धिः	१-४
बृहस्पतिसवे यद्वत् (वा)	१-५७	यथा जात्यमणेः शुभ्रा (वा)	२-६४
बोद्धृता कर्तृता बुद्धेः	३-१२	यथा प्राज्ञे तथैवायं	४-४८
बोद्धृत्वं तद्वदेवास्याः	२-१९	यथा विशुद्ध आकाशे	२-६८
बोधात् प्रागपि दुःखित्वं	२-९०	यथा स्वापनिमित्तेन	४-३६
बोधाबोधौ नभोऽस्पृष्ट्वा	३-१०७	यदर्थं च प्रवृत्तं यत्	३-१२२
बोधेऽप्यनुभवो यस्य	३-३८	यदवस्था व्यनक्तीति	२-६५
ब्रह्मात्मा वा भवेत्तस्य	१-६९	यदा ना तत्त्वमस्यादेः	३-१
ब्राह्मण्याद्यात्मके देहे	१-३९	यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते	१-४४
भगवत्पूज्यपादैश्च	४-१९	यद्धि यस्यानुरोधेन (वा)	१-६२
भङ्क्त्वा चान्नमयादींस्तान्	३-१२१	यद्यद् विशेषणं दृष्टं	२-९४
भयान्मोहावनद्धात्मा	१-३२	यद्यात्मधर्मोऽहङ्कारो	२-३३
भावनाजं फलं यत्स्यात् (वा)	३-९३	यावद् यावन्निरस्यायं	३-२८
भिन्नाभिन्नं विशेषैश्चेत्	१-७८	यावत्यश्चेह विद्यन्ते	१-१४
भेदसंविदिदंज्ञानं	३-६	युक्तिशब्दौ पुराप्यस्य	३-१२४
भ्रान्तिसिद्धमनूद्यार्थं	३-७३	युष्मदर्थे परित्यक्ते	३-५

प्रतीकम्	अ.श्लो.	प्रतीकम्	अ.श्लो.
युष्मदस्मद्विभागज्ञे (उ)	४-२१	वृत्तिभिर्युष्मदर्थाभिः	३-१०१
येनैवास्या भवेद्योगः	२-८१	वेदान्तोदरवर्ति भास्वदमलं	४-७७
यैरक्षाक्षीत्पुराऽऽत्मानं	४-११	वेदान्तोदरसंगूढं	१-३
योऽयं स्थाणुः पुमानेषः	२-२९	वेदावसानवाक्योत्थं	१-८
यो हि यत्र विरक्तः स्यात् (उ)	४-६५	व्यवधीयन्त एवामी	२-९८
रागो लिङ्गमबोधस्य	४-६७	व्युत्थिताशेषकामेभ्यो	१-४८
रिपौ बन्धौ स्वदेहे च	२-१८	व्योम्नि भूमतुषाराभ्र-	३-९९
रूपप्रकाशयोर्यद्वत्	४-४६	शब्दाद्याकारनिर्भासाः	२-६९
लक्षणं सर्पवद्रज्ज्वाः	३-२७	शब्दाद्याकारनिर्भासाः	२-९१
लिङ्गमस्तित्वनिष्ठत्वात्	३-५७	शमादिसाधनः पश्येत्	३-४
लिप्सतेऽज्ञानतो लब्धं	१-३१	शयानाः प्रायशो लोके	३-१०५
वर्चस्कं त्वन्नकार्यत्वात्	२-११	शिर आक्रम्य पादेन	२-१४
वर्चस्के संपरित्यक्ते	२-१६	शुद्ध्यमानं तु तच्चित्तम्	१-४७
वर्तमानमिदं याभ्यां	१-१२	शुभैः प्राप्नोति देवत्वं	१-४१
वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नः	२-६०	श्रावितो वेत्ति वाक्यार्थं	२-१
वस्त्वेकनिष्ठं वाक्यं चेत्	३-८२	श्रीमच्छङ्करपादपद्मयुगलं	४-७४
वाक्यप्रत्यक्षमानाभ्यां	३-६३	श्रुतयः स्मृतिभिः साकं	१-८५
वाक्यश्रवणमात्राच्च	२-३	श्रुतिश्चेमं जगादार्थं	१-४३
वाक्यैकगम्यं यद्वस्तु	१-८९	षट्सुभावविकारेषु	२-८५
वास्तवेनैव वृत्तेन	४-५६	षष्ठीगुणक्रियाजाति-	३-१०३
विक्रियाज्ञानशून्यत्वात्	३-६२	संसारबीजसंस्थोऽयं	४-१६
विदेहो वीतसन्देहो (वा)	१-५८	संसारिताऽद्वितीयेन	३-७९
विद्यात्तत्त्वमसीत्यस्मात्	४-८	सकृत्प्रवृत्त्या मृद्नाति (वा)	१-६७
विनाऽज्ञानप्रहाणेन	२-१०	सकृदात्मप्रसूत्यैव (वा)	४-५७
विपश्चितोऽप्यतस्तस्याम्	३-७२	संक्षेपविस्ताभ्यां हि	४-२
विरहय्य क्रियां नैव	१-१९	सदाविलुप्तसाक्षित्वं	२-३६
विशेषं कञ्चिदाश्रित्य	३-१३	सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः (उ)	४-३३
विशेषणमिदं सर्वं (उ)	४-२७	सन्निपत्य न च ज्ञानं (वा)	१-५४
विष्णोः पादानुगां यां	४-७६	समस्तव्यस्तभूतस्य (वा)	१-७३

प्रतीकम्	अ.श्लो.	प्रतीकम्	अ.श्लो.
सम्प्रसादेऽविकारित्वात्	४-४७	सुखदुःखादिभियोंगः	१-९४
संबन्धोक्तिरियं साध्वी	४-७८	सुखदुःखादिसंबद्धां (वा)	२-८०
सम्यक्संशयमिथ्यात्वैः	३-२०	सुभाषितं चार्वपि नाऽमहात्मनां	४-७५
सम्यग्ज्ञानशिखिप्लुष्ट- (वा)	४-५९	सुभ्रूः सुनासा सुमुखी	२-५२
सर्वजात्यादिमत्त्वेऽस्य	१-७४	सुषुप्ताख्यं तमोऽज्ञानं (उ)	४-४३
सर्वधीव्यञ्जकस्तद्वत्	२-६६	सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा	३-६६
सर्वप्रमाणासंभाव्यो	१-९३	स्थाणुः स्थाणुरितीवोक्तिः	३-७४
सर्वमेवानुजानाति	४-५१	स्थाणुं चोरधियाऽऽलाय (वा)	१-६०
सर्वसंशयहेतौ हि	३-३६	स्थाणोः सतत्त्वविज्ञानं (वा)	१-६१
सर्वाकारां निराकारः	२-७४	स्थूलं युक्त्या निरस्यैवं	२-२१
सर्वोऽयं महिमा ज्ञेयो	२-४	स्मृतिस्वप्नप्रबोधेषु	२-८३
साध्यसाधनभावोऽयं	१-२७	स्वमनोरथसंकल्पत-	१-१००
सामानाधिकरण्यं च (वा)	३-३	स्वमहिम्ना प्रमाणानि	३-८६
सामानाधिकरण्यादेः (वा)	३-९	स्वरूपलाभमात्रेण (वा)	१-६४
सामान्यं हि पदं ब्रूते	३-३२	स्वर्गं यियासुर्जुहुयात्	१-९२
सामान्याच्च विशेषाच्च	३-१७	स्वसाधनं स्वयं नष्टो	२-१०९
सामान्येतररूपाभ्याम्	१-७७	हितं संप्रेप्सतां मोहात्	१-२९
सावशेषपरिच्छेदि (न्यत एव)	२-८७	हेतुस्वरूपकार्याणि (वा)	१-६६

उद्धरणसूची

अग्निमुग्धो हैव	तै.ब्रा. ३.१०.११.१
अग्नीषोमीयं पशुम्	तै.सं. ६.१.११ (द्रष्टव्यम्)
अजमजरमभयम्	संन्यासोप. ४
अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्	गीता ५.१५
अतोऽन्यदार्तम्	बृ.उ. ३.७.२३
अथ तदेनं वाक्	कौषी. ३.३
अथ यो वेदेदं जिघ्राणि	छा. ८.१२.४
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	ब्र.सू. १.१.१
अथास्मिन् प्राण एवैकधा	कौषी. ३.३
अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्	गीता १२.१३
अनेकजन्मसंसिद्धः	गीता ६.४५
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते	छा. ६.५.१
अन्यथा गृह्णतः स्वप्नः	मा.का. १.१५
अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्	उप.सा. १८.१९१
अन्वयव्यतिरेकौ हि	उप.सा. १८.९६
अमानित्वमदम्भित्वम्	गीता १३.७
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः	कठ. २.५
अविद्याबद्धचक्षुष्ट्वात्	उप.सा. १८.१७५
अविविच्योभयं वक्ति	उप.सा. १८.७८
असुराणां ह्येषोपनिषत्	छा.उ. ८.८.५
अस्थूलमनणु	बृ.उ. ३.८.९
अहं ब्रह्मास्मि	बृ.उ. १.४.१०
अहं शब्दस्य या निष्ठा	उप.सा. १८.१०१
आचार्यवान् पुरुषो वेद	छा.उ. ६.१४.२
आत्मेत्येवोपासीत	बृ.उ. १.४.७
आदित्यो यूपः	तै.ब्रा. २.१.५
आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्	पू.मी. १.२.१
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्	गीता ६.३
आवृत्तिरसकृदुपदेशात्	ब्र.सू. ४.१.१

आसीदिदं तमोभूतम्	मनु. १.५
इति नु कामयमानः	बृ.उ. ४.४.६
इयमेवर्गग्निः साम	छां. १.६.१
एवं विज्ञातवाच्यार्थे	उप.सा. १८.९९
एषोऽस्य परम आनन्दः	बृ.उ. ४.३.३२
कर्मणा बध्यते जन्तुः	महाभा. शान्ति २४२.७
कर्मबन्धनमेवेदम्	
कामेनाऽतिग्रहेण गृहीतः	बृ.उ. ३.२.७
कार्यकारणबद्धौ तौ	मा.का. १.११
किंज्योतिरयं पुरुषः	बृ.उ. ४.३.२
कुतस्तु खलु सोम्य	छा. ६.२.२
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	ईश. २
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि	मु.उ. २.२.८
चात्वाले कृष्णविषाणम्	द्रष्टव्यं शतपथ. ४.४.५.२
छित्वा त्यक्तेन हस्तेन	उप.सा. ६.१
जन्माद्यस्य यतः	ब्र.सू. १.१.२
ज्ञातैवात्मा सदा ग्राह्यः	उप.सा. ६.४
ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत	
तत्सत्यं स आत्मा	छा.उ. ८.७.९
तम आसीत्	ऋग्वेद १०.१२९.३
तमेव विदित्वा	श्वेता. ३.८
तस्मात्यक्तेन हस्तेन	उप.सा. ६.२
दृश्यत्वादहमित्येष	उप.सा. १५.१६
देवो भूत्वा देवान्	बृ.उ. ४.१.२
द्वितीयाद् वै भयम्	बृ.उ. १.४.२
द्रष्टव्यः	बृ.उ. २.४.५
द्रष्टा श्रोता मन्ता	प्रश्न.उ. ४.९
धर्मात् सत्त्वं च ज्ञानं च	
न च पुनरावर्तते	छा.उ. ८.१५.१
न जायते म्रियते	कठ. १.२.१८
न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति	बृ.उ. ४.४.६
न तं विदाथ	ऋग्वेद १०.८२.७
न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः	बृ.उ. ३.४.२
नवबुद्ध्यपहारार्द्धि	उप.सा. १८.१७४

न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपः	बृ.उ. ४.३.२३
न हिंस्यात्	छां.उ. ८.१५.१
नाद्राक्षमहमित्यस्मिन्	उप.सा. १८.९७
नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा	बृ.उ. ३.७.२३
नासदासीन्नो सदासीत्	ऋग्वेद १०.१२९.१
नास्त्यकृतः कृतेन	मुण्डक उप. १.२.१२
नित्यमुक्तत्वविज्ञानम्	उप.सा. १८.१९०
निदिध्यासितव्यः	बृ.उ. २.४.५
नीहारेण प्रावृताः	ऋग्वेद १०.८२.७
नेति नेति	बृ.उ. ४.५.१५
परं ज्योतिरुपसम्पद्य	छां.उ. ८.१२.३
पराँचि खानि	कठ. ४.१
परीक्ष्य लोकान्	मुण्डक १.२.१२
पिप्पलं स्वाद्वत्ति	मुण्डक ३.१.१
पुण्यः पुण्येन कर्मणा	बृ.उ. ४.४.५
पुण्येन (धर्मेण) पापमपनुदति	महाना. २२.१
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च	गीता १४.२२
प्लवा ह्येतेऽदृढाः	मुण्डक १.२.७
ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्	बृ.उ. १.४.१०
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति	बृ.उ. ४.४.६
भावितैः करणैरेभिः	
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः	श्वे.उ. १.१०
महाभूतान्यहंकारः	गीता १३.५
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	श्वे.उ. ४.१०
मासमग्निहोत्रं जुहोति	द्रष्टव्यं ताण्ड्यब्रा. २५.४.१.२
य आत्मा सर्वान्तरः	बृ.उ. ३.४.१
य एषोऽक्षिणि पुरुषः	छा.उ. ८.७.४
यच्चक्षुषा न पश्यति	केनोप. १.६
यजमानः प्रस्तरः	तै.सं. २.६.५
यज्ञेन...(विविदिषन्ति)	बृ.उप. ४.४.२२
यतो वा इमानि भूतानि	तै.उ. ३.१.१
यतो वाचो निवर्तन्ते	तै.उ. २.४.१
यत् (यः) प्राणेन प्राणिति	बृ.उ. ३.४.१
यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्	बृ.उ. ४.५.१५

यत्र नान्यत् पश्यति	छां.उ. ७.२४.१
यत्र वा अन्यदिव स्यात्	बृ.उ. ४.३.३१
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते	बृ.उ. ४.४.७
यदा सुषुप्तः स्वप्नवन्न	द्रष्टव्यं कौषी.उ. ३.३
यदेव विद्यया करोति	छां.उ. १.१.१०
यद्यद्धि कुरुते जन्तुः	मनुस्मृ. २.४
यन्मदन्यन्नास्ति	बृ.उ. १.४.२
यमेवैष वृणुते	कठ. १.२.२३
यस्य सर्वे समारम्भाः	गीता ४.१९
यामिमां पुष्पितां वाचम्	गीता २.४२
यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्	वाराह श्रौतसूत्र १.१.१.८६
युष्मदस्मद्विभागज्ञे	उप.सा. १८.९०
यूपे पशुं बध्नाति (नियुंजन्ति)	तैत्ति.ब्रा. ३.८.१९.२
येन केन चन यजेत अपि दर्वी	
येन वा पश्यति	ऐ.उ. ५.२
योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु	बृ.उ. ४.३.७
विज्ञातारमरे केन विजानीयात्	बृ.उ. २.४.१४
विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत	बृ.उ. ४.४.२०
विद्यां चाविद्यां च	ईशोप. १५
विधिना त्वेकवाक्यत्वात्	पू.मी.सूत्र १.२.७
विमुक्तश्च विमुच्यते	कठ. २.२.१
विशेषणमिदं सर्वं	उप.सा. ६.३
शान्तो दान्तः	बृ.उ. ४.४.२३
शास्त्रैकदेशसम्बद्धम्	पद्मपु.पू. १८.२१-२२
श्रोतव्यो मन्तव्यः	बृ.उ. २.४.५
सदेवेत्यादिवाक्येभ्यः	उप.सा. १८.१९२
स यथाक्रतुरस्मिँल्लोके	छां.उ. ३.१४.१
स यदा प्रबुध्यते, यथाऽग्नेः	कौ.उ. ३.३
साध्याभावे महाबाहो साधनैः	
सुषुप्ताख्यं तमोऽज्ञानम्	उप.सा. १७.२३
सोऽरोदीद्	तै.सं. १.५.१
सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवाऽस्मि	छां.उ. ७.१.३